आज का भारतीय साहित्य

(भारत की सोलह भाषाओं के साहित्य का परिचय)

प्रस्तावना

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन

[भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति]

वि० कृ० गोकाक, खुशवंतसिंह, क़ाज़ी अब्दुल वदूद, मंगेश बिट्ठल राजाध्यक्ष, सी० कुज्जन् राजा, वे० राघवन्, सच्चिदानंद वात्स्यायन, के० आर० श्रीनिवास आयंगर आदि विद्वानों के समसामयिक भारतीय भाषाओं पर अनुसंधानपूर्ण लेख

साहित्य अकादेमी की ओर से

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

द्वारा प्रकाशित

प्रस्तावना

समकालीन भारतीय साहित्य पर साहित्य अकादेमी यह छोटी-सी पुस्तक प्रकाशित कर रही है, यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई। इसमें लेखकों ने प्रत्येक भारतीय भाषा की पार्श्वभूमि, साहित्य के विकास की संक्षिप्त रूपरेखा और वर्तमान धाराओं का सर्वेक्षण दिया है। इनके दृष्टिकोणों में एक प्रकार की अन्विति है; चूँकि विभिन्न भाषाओं के लेखक एक ही समान उत्स से प्रेरणा पाते हैं और सबका भावनात्मक और बौद्धिक अनुभव भी कम या अधिक मात्रा में प्रायः एक-सा है। हमारा देश बाहर से आनेवाले विचारों के प्रति कभी भी असंवेदशील नहीं रहा है; परन्तु उन सब विचारों को हमारे देश ने सदा अपना विशेष रंग और छटा प्रदान की है।

साहित्य एक पावन माध्यम है, और उसके सत्प्रयोग से हम अज्ञान और पक्षान्धता की तामसिक शक्तियों से संघर्ष कर सकते हैं; और राष्ट्रीय एकता तथा विश्वबन्धुत्व स्थापित कर सकते हैं। साहित्य में भूतकाल की गूँज, वर्तमान का प्रतिबिम्ब और भविष्यत् के निर्माण की शक्ति होती है। 'तेजोमय वाक्' के द्वारा ही पाठक जीवन के प्रति अधिक मानवी और उदार दृष्टिकोण विकसित कर सकते हैं, जिस दुनिया में वे जीते हैं, उसे अधिक समझ सकते हैं, अपने-आपको पहचान सकते हैं, और भविष्य के लिए विवेकमय योजना बना सकते हैं।

मैं आशा करता हूँ कि यह छोटी-सी पुस्तक पाठकों को हमारे मन और हृदय, आशा और आकांक्षाओं के निर्माण-क्षणों की वेदना का लेखा दे सकेगी।

—स० राधाकृष्णन्

तीसरे संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित 'कांटेम्पोरेरी इण्डियन लिट्रेचर' नामक अंग्रेज़ी ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद है। यह प्रसन्नता की बात है कि इसके दो संस्करणों को हिन्दी जनता ने हार्दिकता से अपनाया और हमें इसका तीसरा संस्करण प्रकाशित करने का अवसर मिला। दूसरे संस्करण में कुछ ऐसे अंश जोड़ दिए गए हैं जो अंग्रेज़ी के परिवर्धित संस्करण से हिन्दी अनुवाद में पहले नहीं आ पाए थे। ग्रंथ के हिन्दी-साहित्य-विषयक निबन्ध को छोड़कर अन्य निबन्धों का अनुवाद डॉ० प्रभाकर माचवे ने किया है। हिन्दी-साहित्य-विषयक निबन्ध मूलतः हिन्दी में ही लिखा गया था।

हमें आशा है कि इस नवीन परिवर्धित संस्करण का हिन्दी-जगत् स्वागत करेगा।

—मन्त्री, साहित्य अकादेमी

क्रम

आज का भारतीय साहित्य

असमिया

बिरिंचिकुमार बरुआ

सामान्य परिचय

भाषाओं के भारोपीय परिवार में से एक है 'असमिया'। यह उस परिवार की पूर्व की ओर की बिलकुल छोर की भाषा है। यह सब प्रकार से संपूर्णतया आर्य भाषा है; व्याकारण, शब्द-रूप, वाक्य-रचना आदि सभी दृष्टियों से। उड़िया और बंगला ही की तरह असमिया भी प्राच्य अपभ्रंश से निकली है।

असमिया साहित्य का सबसे प्राचीनतम लिखित उदाहरण तेरहवीं शती ईस्वी में मिलता है। यह नमूना धार्मिक साहित्य का है और प्रायः संस्कृत से निकला हुआ है। इस उदाहरण से कई शताब्दियों तक के साहित्य की धारा का पूर्वाभास मिलता है। चौदहवीं शती ईस्वी से असमिया साहित्य स्थानीय सामन्तों और छोटे-छोटे राजाओं के आश्रय में पनपता रहा। इसी काल में माधवकंदली ने 'महामाणिक्य' नामक कचारी राजा की प्रार्थना पर रामायण का अनुवाद किया। महाभारत में से कई कथानक असमिया में अनूदित हुए। 'नाग-देवी' मनसा के स्तुति-गीत और उसके विषय में लोकवार्ताओं का प्रणयन भी इसी काल में हुआ।

असमिया साहित्य, ईसा की पंद्रहवीं शती में, शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित नव्य-वैष्णव-आन्दोलन के उदय के साथ-साथ अधिक उभरकर सामने आया। मध्य-युग में असम के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन में, असम-निवासियों की दृष्टि में शंकरदेव का व्यक्तित्व सबसे बड़ी घटना है। शंकरदेव और उनके अनुयायियों के धार्मिक आन्दोलन का लक्ष्य केवल धर्मोपदेश देना और अपनी शिष्य-मंडली बढ़ाना ही नहीं था। उन्होंने असमिया जीवन और साहित्य को, बुद्धि और शिक्षा को बड़ी प्रेरणा दी। शंकरदेव और उनके अनुयायियों ने असमिया में युग-प्रवर्तक साहित्य निर्मित किया। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शती ईस्वी

में संत कवियों ने जो साहित्य निर्मित किया वह कई प्रकार का था : महाभारत रामायण और भागवत पुराण के अनुवाद, उनके आधार पर आख्यान, वैष्णव सिद्धान्तों के भाष्य और टीकाएँ, धार्मिक गीत तथा नाटक, जिन्हें क्रमशः 'बरगीत' और 'अंकिया नाट' कहा जाता था।

असमिया साहित्य ईसा की सत्रहवीं शती में, आहोम राजाओं के आश्रय में विकसित हुआ। इसी काल में उसमें बुरंजियों का सबसे अधिक विकास हुआ है। आहोम राज-दरबारों के मुख्यतः गद्य में लिखे ऐतिहासिक वृत्त या अभिलेखों को 'बुरंजियाँ' नाम से अभिहित किया जाता है। इस काल के इस विलक्षण ऐतिहासिक साहित्य के विषय में सर जी० ए० ग्रियर्सन ने आलोचना करते हुए लिखा है : "असमिया लोग अपने राष्ट्रीय साहित्य के प्रति गर्व अनुभव करते हैं। यह गर्व उचित ही है। ज्ञान की और अध्ययन की एक ऐसी शाखा में वे सर्वाधिक सफल हुए हैं जिसमें भारत सामान्यतः बहुत पिछड़ा हुआ है। बुरंजियों की ऐतिहासिक रचनाएँ अगणित हैं, और बहुत बड़ी-बड़ी हैं। असमिया नागरिक के लिए बुरंजियों का ज्ञान एक आवश्यक और अनिवार्य गुण माना जाता है।" (लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इण्डिया) धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त असमिया के और भी बहुत-से गद्य और पद्य के ग्रन्थ राज-दरबारों के आश्रय में लिखे गए; वे वैद्यक, ज्योतिष, गणित-शास्त्र, नृत्य और स्थापत्य के विषय में हैं। कई श्रृंगारिक प्रसंगों पर भी गीत और पद्य रचे गये, और 'गीत-गोविन्द' के कई अनुवाद भी हुए।

जब राजाश्रय में ऐतिहासिक और उपयोगी साहित्य का विकास हो रहा था, तब वैष्णव सत्रों और मठों की छाया में एक भिन्न प्रकार का साहित्य जन्म ले रहा था। इसका नाम 'चरितपुथी' (वैष्णव सन्तों की जीवनियाँ) था। यह हमारे साहित्य में एक नया ही प्रकार था। अब तक तो साहित्य देवी-देवताओं के एकछत्र अधिकार में था, परन्तु अब बुरंजियों और चरितपुथियों, दोनों में पहली बार मानव-चरित्र को भी उसका विषय बनाया गया।

आधुनिक काल

अट्ठारहवीं शती का अन्तिम भाग और उन्नीसवीं शती का प्रथम भाग असम के इतिहास के अँधेरे काल-खण्ड हैं। खानाजंगी और बलवे के अतिरिक्त मोआमरियों के बीच धार्मिक संघर्ष भी हुए। मोआमरिया वैष्णवों का एक लड़ाकू

सम्प्रदाय था। अन्त में बर्मियों के आक्रमण (ईस्वी १८१६–१८१९, १८२४) भी हुए और असम को स्वतन्त्रता खोनी पड़ी। अंग्रेज़ों ने असम को १८२७ में हथिया लिया। ब्रिटिश राज्य के आरम्भ में (१८३६–१८७२) असमिया भाषा को स्कूलों तथा कचहरियों में कहीं भी स्थान नहीं मिला। अतः असमिया भाषा के विकास और प्रगति का यह युग नहीं था। ईस्वी १८३६ में, जिस वर्ष असमिया की सरकारी स्थिति समाप्त हुई, उसी वर्ष असम में अमरीकन बैप्टिस्ट मिशन के कुछ सदस्य आये। अपनी और चीज़ों के साथ, धर्म-प्रचार के साधनों में वे एक छापाखाना भी वहां ले आये। १८४६ ईस्वी में अमरीकन मिशनरियों ने शिव-सागर से असमिया भाषा में 'अरुणोदय' नामक एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। धार्मिक पुस्तिकाओं के साथ-साथ, मिशनरियों ने विविध विषयों पर स्कूल के पाठ्य-ग्रंथ भी प्रकाशित किये। मिशनरियों के प्रयत्नों से और उस समय के स्थानीय नेताओं के मत से सहायता पाकर, असमिया को सन् १८८२ में अपनी उचित स्थिति पुनः प्राप्त हुई। इस काल के साहित्यिक कृतित्व के विषय में मिस्टर पी० एच० मूर नामक मिशनरी विद्वान और भाषाशास्त्रज्ञ ने १९०७ में कहा था :

"असमिया का आधुनिक साहित्य, चाहे वह ईसाई धर्म-विषयक हो याअन्य, उसे उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम आठ वर्षों की ही उपज मानना चाहिए। असमिया ईसाई साहित्य के संस्थापकों में ब्राउन, ब्रान्सन और निधि लेवी की त्रयी विशेष रूप से प्रख्यात है।"

फिर भी साहित्य संज्ञा को सार्थक करने वाला लेखन बीसवीं शती के आरम्भ में शुरू हुआ। उन दिनों कलकत्ता के कालेजों से जिन असमी तरुणों ने शिक्षा प्राप्त की थी उन्हींके प्रयत्न से यह कार्य बढ़ा। कलकत्ता में पढ़ने वाले सर्वश्री चन्द्रकुमार अगरवाल (१८५८–१९३८), लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ (१८६८–१९३८), हेमचन्द्र गोस्वामी (१८७२–१९२८) और पद्मनाथ गोहाँई बरुआ (१८७१–१९४६)— ये चारों मित्र थे। इन चारों तरुणों ने १८८९ में 'जोनाकी' (जुगनू) नामक एक मासिक पत्रिका शुरू की। इस पत्रिका में प्रायः उन्हीं स्वरों का आरोह मिलता है जो कि अंग्रेज़ी रोमांटिक आंदोलन में विशिष्टता से पाया जाता है। आधुनिक अस-मिया साहित्य के पुनर्जागरण की मूल उत्स वह राष्ट्रीय चेतना, इन लेखकों तथा उनकी मित्र-मंडली के लेखकों के द्वारा विविध रूपिणी अभिव्यंजना पाती रही।

इन लेखकों ने न केवल गीत, स्फूर्तिदायक, देशभक्तिपूर्ण कविताएँ और ओजस्वी, वर्णनात्मक कविताएँ, कई विषयों को छूते हुए निबंध, कहानियाँ, नाटक और साहित्यिक, सामाजिक तथा धार्मिक उपन्यास ही लिखे, बल्कि ऐतिहासिक गवेषणा तथा लोकगीत और लोकवार्ताओं के संग्रह जैसे कार्यों में भी बहुत दिलचस्पी ली।

आरम्भिक रोमांटिक

अंग्रेज़ी साहित्य से इन कवियों ने अपनी मुख्य स्फूर्ति ग्रहण की। वे सब प्रेम और सौंदर्य के भावगीतों के लेखक थे। इन कवियों में लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ सबसे अधिक सव्यसाची थे। वे उत्तम कवि तथा महान निबंधकार होने के साथ-साथ विख्यात पत्रकार भी थे। उनकी कविता ने सब रूढ़ शृंखलाओं को तोड़ दिया। उन्होंने न केवल भाव-जगत् में एक नवीन स्वर दिया था, अपितु वे ताज़े साहित्य-रूप और शैलियों को भी शुरू करनेवाले थे। प्रेम-गीत, प्रकृति-विषयक कविताएँ, आख्यान-काव्य, तथा वीर-काव्य उनकी विशेष देन हैं। उनके देशभक्तिपूर्ण गीतों और कविताओं में (उदाहरणार्थ 'अमोर जन्मभूमि', 'मोर देश', 'असम संगीत' और 'बीन बैरागी' में) लक्ष्मीनाथ ने असमिया संस्कृति और इतिहास की महत्ता को बड़ी उमंग और उच्छ्वसित आशंसा से वर्णित किया है। बेजबरुआ की राष्ट्रीय भावनाओं को अतीत के रोमांटिक आदर्शीकरण ने उत्प्रेरणा दी, और उन्होंने अपनी रचनाओं में असम की उस भावी प्रगति में अटूट आस्था प्रकट की जो केवल राजनीतिक और भौतिक ही नहीं, सौंदर्य समन्वित एवं नैतिक भी होगी।

देशभक्तिपूर्ण कविता के दूसरे लेखक कमलाकान्त भट्टाचार्य हैं। कमलाकान्त की देशभक्ति केवल एक विस्मृति और नींद में डूबे हुए देश को अपने अतीत सांस्कृतिक गौरव की दिशा में जगाने के लिए नहीं थी, बल्कि उनका उद्देश्य देश में लोकतन्त्रात्मक शासन की आवश्यकता सिद्ध करना भी था। कमलाकान्त के 'चिंता' और 'चिंता-तरंग' नामक दो प्रसिद्ध काव्य हैं। स्वतन्त्रता के अभाव और उसके कारण हुई देश की दुर्दशा को उन्होंने बहुत गहराई के साथ अनुभव किया है।

चन्द्रकुमार अगरवाल ने कई सुकोमल पद्य लिखे, जो अब 'प्रतिमा' और 'बीन

बैरागी' नामक काव्य-संग्रहों में संकलित हैं। इनपर फ्रांसीसी दार्शनिक आगस्ट कौंत और वैष्णवों के मानवता की पूजा के सिद्धांत का प्रभाव है। दुर्गेश्वर शर्मा और नीलमणि फूकन आध्यात्मिक विचारों वाले दो और कवि हैं। दार्शनिक कवि दुर्गेश्वर शर्मा का प्रधान विषय आत्मा और परमात्मा, तथा व्याकुल आत्मा की आत्म-ज्ञान के लिए शाश्वत आकांक्षा है। नीलमणि फूकन की कविताओं में भावों की अपेक्षा विचार अधिक हैं। उनकी 'मानसी' नामक कृति में कवि की सौंदर्य-पिपासा लक्षित होती है और उनकी 'सन्धानी' में भी इसी प्रकार की सत्य और सौन्दर्य की अमर टोह दिखाई देती है। फूकन १९४२ में अगस्त क्रान्ति में भाग लेने के कारण कारावासी हुए थे। कारागार की अपनी अनुभूतियों को उन्होंने 'जिजिरी' नामक कृति में अभिव्यक्त किया है।

हितेश्वर बड़बरुआ अंग्रेज़ी साहित्य के गम्भीर अध्येता थे। उनकी रचनाओं में शेक्सपियर, वर्डस्वर्थ और मिल्टन के प्रभाव का प्राचुर्य मिलता है। असमिया भाषा में अतुकांत मुक्तछंद, सानेट और विलापिका आदि उन्हीं के द्वारा शुरू हुए। अतुकांत पद्य-रचना के लिए उन्होंने माइकेल मधुसूदन दत्त के उदाहरण से परे जाकर शेक्सपियर तक के भण्डार को भी टटोला। उनके काव्यों में ऐतिहासिक 'कमतापुर ध्वंस' (१९१२) और 'युद्ध क्षेत्रत आहोम रमणी' विख्यात हैं। दोनों काव्य आहोम इतिहास में से हैं, और ये ऐतिहासिक भावों से भरे हैं। बड़बरुआ की अपने पितृदेश के प्रेम से परिपूर्ण ये वीर रस-युक्त पंक्तियाँ असमिया में लोकोक्ति का रूप धारण कर चुकी हैं:

> "जो रणांगन में अपना जीवन अर्पित करता है
> अपने पितृदेश की मुक्ति के लिए समर-रत,
> उसे मृत्यु के बाद आनन्द मिलता है।
> उसके लिए मृत्यु शाश्वत विश्राम है।
> सुख से भरा, विश्व माता के अंक में,
> उसके लिए अग्नि मधुर चाँदनी के समान है,
> मिट्टी का बिछावन फूलों की सेज है,
> और उसके बदन को छेदनेवाले भाले
> उस पर फूलों की वर्षा की तरह हैं।"

इसी काल के दूसरे मनोरंजक कवि हैं अंबिकागिरि रायचौधुरी। अंबिका-

गिरि असम में कवि, गायक, संगीत-रचनाकार, पत्रकार, राजनीतिक क्रांतिकारी और देशभक्त के नाते विख्यात हैं। अपने युवा-काल में उन्होंने कोमल प्रेम-गीत लिखे। उनका प्रतीकवादी काव्य 'तुमि' १६१५ में प्रथम प्रकाशित हुआ। छोटी-छोटी दशमात्रिक पंक्तियों में यह कविता अपनी कोमलता, मधुर लय और मनोहारी संगीत के कारण अद्वितीय बन पड़ी है। 'तुमि' की विषय-वस्तु कवि के सुन्दर और अतीन्द्रिय कल्पना-चित्रों से भरी हुई है। बाद के जीवन में, स्वतन्त्रता के आन्दोलन और उसमें बन्दी जीवन के अनुभव के कारण जीवन और काव्य के प्रति कवि का दृष्टिकोण बहुत अधिक बदल गया। अब अंबिकागिरि केवल उद्‌बोधपूर्ण राजनीतिक कविताएँ ही लिखते हैं।

इस काल के सबसे महत्त्वपूर्ण कवि हैं रघुनाथ चौधुरी, जिन्हें सामान्यत: 'विहगी कवि' (पक्षियों के कवि) कहा जाता है। उनके प्रथम कविता-संग्रह 'सादरी' (प्रिया) में पक्षियों और फूलों के प्रति कवि की विशेष ममता दिखाई दी थी। उसके बाद उनकी दो और लंबी कविताएँ अलग से प्रकाशित हुईं, जिनके नाम हैं 'केतेकी' (बुलबुल) और 'दहीकटरा' (पक्षी विशेष)। इन दो कविताओं में विहग-विषय ही कवि के मन में अधिक प्रतिष्ठित हुआ। 'केतेकी' की केन्द्रीय कल्पना यह है कि इस पक्षी के आगमन के साथ-साथ सारी पृथ्वी को एक नव-जन्म प्राप्त होता है। 'केतेकी' का गीत एक प्रकार का 'तनुरहित आनन्द' और मनुष्य के लिए अज्ञेय-पूर्णता का सुखद स्वर-मिलाप है। कवि ने यहाँ इस विषय के द्वारा प्रकृति के उन सौंदर्य-स्थलों का चित्रण किया है जो उन्हें प्रिय हैं। कालिदास की कृतियों ने उन्हें बहुत प्रभावित किया है।

यतीन्द्रनाथ दुआरा[1] में विनैतिक निराशावाद की रोमांटिक विकृति अपनी पूरी अभिव्यक्ति पाती है। उनकी रचनाएँ उनकी व्यक्तिगत भावनाओं, परस्पर विरोधी मनोदशाओं, लज्जालु प्रेम और भावनात्मक आशा-भंग आदि का लेखा है। दुआरा ने असमिया कविता को शाब्दिक और छांदिक विविधता की समृद्धि दी, मानो वे ही प्राकृतिक कल्पना-चित्रों की समृद्धि और ताज़गी से भरी नई फ़सल असमिया साहित्य में लाए। उन्होंने अपनी बहुत-सी कल्पना-प्रतिमाएँ नदी, नाव और नाविकों से प्रेरित होकर बनाई हैं। यतीन्द्रनाथ की एक पुरानी कृति

---

१. आपकी रचना 'बनफूल' को स्वतन्त्रता के बाद प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ असमिया ग्रंथ के नाते साहित्य अकादेमी पुरस्कार दिया गया।

'अमर तीर्थ' (१९२६) थी, जो कि खय्याम की रुबाइयों का एक भाव-कोमल और उत्तम अनुवाद है। वे अपने गद्यकाव्यों (कथा-कविता) के लिए विख्यात ही नहीं, वल्कि इस धारा में वे एकमात्र सफल असमिया लेखक हैं।

रत्नकांत बरकाकती की कविताओं में भौतिक प्रेम के कोमल भाव बड़े ही आकर्षक और सुन्दर ढंग से व्यंजित हुए हैं। रत्नकांत को रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अध्ययन से, विशेषतः छन्दों के मामले में, बहुत लाभ हुआ है। छन्द के क्षेत्र में देवकांत बरुग्रा ने असमिया कविता में एक नया चमत्कार उत्पन्न किया। देवकांत ने अपनी प्रेम-कविताओं को उस नाट्यात्मक स्वसंवाद (मोनोलॉग) के रूप में ढाला, जैसा कि राबर्ट ब्राउनिंग में पाया जाता है।

डिम्बेश्वर निओग और बिनन्दचन्द्र बरुआ ने कई सशक्त भक्तिपूर्ण क्रमबद्ध कविताओं की रचना की। उन्होंने मुख्यतः असम के गौरवमय अतीत को उसके दुखद वर्तमान के विरोध में अंकित किया। जहाँ-जहाँ उन्होंने प्राचीन को फिर से उठाया है, धैर्य, स्फूर्ति और वर्तमान और भविष्यत् के लिए प्रकाश पाने के लिए ही उठाया है। वे अपने पुरातन काल के श्रेष्ठ पुत्रों और पुत्रियों का स्मरण करके उगती हुई पीढ़ी को उनके आदर्शों पर चलने का आदेश देते हैं। विदेशी सत्ता और शोषण की श्रृंखलाओं को तोड़कर पुनः एक समृद्ध और जीवन की सब दिशाओं में प्रगतिशील असम के निर्माण का सन्देश देते हैं। साहित्य, भाषा, संस्कृति, सब-कुछ पुनः संजीवित करना होगा। अधिक ज्वलन्त देशभक्तिपूर्ण कविता प्रसन्नलाल चौधुरी के पद्यों में पाई जाती है।

इस अर्द्धशताब्दी में जिन अनेक महिलाओं ने साहित्य को योगदान दिया, उनमें नलिनीबाला देवी[१] सबसे अधिक प्रतिभाशालिनी हैं। रहस्यवादी कवयित्री के नाते नलिनीबाला देवी में अपरिभाषेय व्याकुलता है, एक ऐसी चीज़ के लिए प्यास है, जो किसी व्याख्या में नहीं बँधती। वही केन्द्रीय विषय उनके 'संधियार सुर', 'सपोनर सुर' तथा 'परशमणि' नामक तीनों काव्य-संग्रहों में मिलता है। उनकी सभी कविताओं में एक ऐसे हृदय के दर्शन होते हैं जो कि जीवन के व्यापक दुःख और दर्द से घायल है। धर्मेश्वरी देवी बरुआनी दूसरी प्रसिद्ध भक्ति-प्रधान कवयित्री हैं। धर्मेश्वरी देवी के 'फुलर शराई' (फूलों का टोकना) और 'प्राणर परश' (प्राण-स्पर्श) नामक दो काव्य-संग्रह, प्रकाशित हुए हैं। दोनों ही में प्रकृति

१. 'अलकनन्दा' शीर्षक काव्य पुस्तक पर इन्हें १९६८ में सा० अ० पुरस्कार मिला।

में परमात्मा के दर्शन और व्यक्तिगत आत्मा के विश्वात्मा में मिलन की इच्छा में गहरी आस्था व्यक्त हुई है। गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में आज की अनेक उदीयमान लेखिकाओं में सुप्रभा गोस्वामी, प्रीति बरुआ, लक्ष्यहिरा दास, सुचिब्रता रायचौधुरी आदि उल्लेखनीय हैं।

युद्धोत्तर कविता

गत महायुद्ध तक असमिया कविता के प्रधान विषय दैवी तथा मानवी दोनों प्रकार के प्रेम के अतिरिक्त प्रकृति और देशभक्ति थे। तब से हमारे कवि, विशेषतः नये कवि, समाजवादी और मार्क्सवादी सिद्धान्तों से अधिकाधिक परिचित होने लगे हैं। वे जीवन को अब सरल और सुगम नहीं, बल्कि अत्यन्त जटिल और परस्पर विरोधी समस्याओं से ग्रस्त मानते हैं। उनकी कविताएँ, अनिवार्यतः, असंबद्धताओं को लेकर लिखी जाती हैं और हास्य-व्यंग्य, दोनों ही की विविध जीवन-छवियों का सामंजस्य उनकी गंभीर कविताओं तक में पाया जाता है। ये तरुण कवि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यूरोपीय प्रतीकवादियों के सिद्धान्तों और टेकनीक की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने लगे हैं। इनमें से कुछ टी० एस० इलियट तथा कुछ बुद्धदेव बसु, जीवनानन्द दास, अमिय चक्रवर्ती आदि आधुनिक बंगाली कवियों से बहुत प्रभावित हैं, क्योंकि इनमें से बहुत-से असमिया लेखकों की कालेज की शिक्षा कलकत्ता में हुई या उन्होंने बँगला कविता गहरी सहानुभूति के साथ पढ़ी। ये कवि अपनी रचनाओं में पूंजीवादी शोषण का उल्लेख करके, वर्ग-संघर्ष और समाज-व्यवस्था में शीघ्र ही आमूल-चूल परिवर्तन करने की ओर संकेत करते हैं। नई समाज-व्यवस्था के कारण उत्पन्न सेक्स के उलझे हुए प्रश्न ओर अवचेतन मन की बारीकियाँ भी इस नई कविता में विचित्र शैली और अपरिचित भाषा में व्यक्त होती हैं। यही नहीं, इस नवीन शब्दावली के वास्ते इन कवियों ने अनेक अभिव्यक्तियों के लिए विज्ञान और मनोविज्ञान से शब्द लिये हैं। अतः न केवल विषय-वस्तु वरन् इस नई कविता का बाह्य रूप भी एकदम नया है। ये कवि ऐसे हैं कि जिन्होंने परम्परागत काव्य-रूप और टेकनीक भी छोड़ दिए हैं और उन्होंने मुक्त-छन्द को तथा छन्द के मुक्त रूपों को भी अपनाया है। उनके कल्पना-चित्र नये हैं, और जहाँ परम्परागत प्रतिमानों का प्रयोग भी उन्होंने किया है वहाँ एक विलक्षण ढंग में नया अर्थ ही उनकी रचनाओं

में परिलक्षित होता है।

इन लेखकों में इस प्रकार की प्रतीकवादी कविता के सबसे प्रथम प्रयोग करने का श्रेय हेम बरुआ को है। बरुआ की कल्पना-चित्रावली नवीन और व्यंग्यात्मक विपर्ययों से समन्वित है तथा टेकनीक क्षिप्त और असाधारण है। नवकांत बरुआ ने भी इसी शैली में प्रयोग किये हैं। उनका 'हे अरण्य, हे महानगर' एक ऐसी भाषा में लिखा गया है जिसमें बोलचाल की साधारण भाषा और कठिन संस्कृत शब्दों का विचित्र मिश्रण है। उनकी नई काव्य-शैली जटिल भाव-प्रतिमाओं से ग्रस्त है। नवकान्त बोरा और महेन्द्र बोरा दोनों ही एक-सी आलंकारिक शैली अपनाकर अपनी रचनाओं में अंग्रेज़ी, संस्कृत और असमिया के प्रायः सर्वविदित अथवा अज्ञात और अल्पविदित उद्धरणों का उपयोग करते हैं, और बाद की पंक्तियों में आम तौर से उन उद्धरणों की विवेचना ही रहती है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पत्रकारिता ने इस नई कविता के विकास में सहायता दी। विशेषतः 'रामधेनु' (इन्द्र-धनुष) नामक मासिक पत्रिका के आस-पास सब नये अच्छे लेखक जमा हो गए हैं, जैसे वे एक परिवार के सदस्य हों। क्योंकि इन तरुण कवियों में कई लोग साहित्य को राजनीतिक और सामाजिक वाद-विवाद तथा अराजकतापूर्ण और अव्यवस्थित रूप में प्रचार का माध्यम मानते हैं, अतः उनके पद्य पत्रकारिता के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाए। आधुनिक असमिया कविता में सबसे खेदजनक स्थिति यह है कि पुराने कवियों ने प्रायः लिखना बन्द कर दिया है, और तरुण कवि अभी प्रयोगावस्था में ही हैं। अभी असमिया में सच्चे अर्थों में, नई कविता का जन्म होना बाकी है।

नाटक

नाटक और रंगमंच दोनों क्षेत्रों में असमिया की परम्परा बड़ी ही समृद्ध रही है। अंकिया नाट (जो कि मध्ययुगीन नाट्य-रचना थी) अभी भी गाँवों में लोकप्रिय मनोरंजन के नाते अपना प्रभाव कायम रखे हुए हैं। परन्तु आधुनिक अर्थों में नाटक पश्चिम से ही आया है। असमिया में पश्चिमी ढंग के सबसे पुराने नाटककार गुणाभिराम बरुआ, हेमचन्द्र बरुआ और रुद्रराम बरदलै हैं। इस कला-रूप का पहला सुविकसित उदाहरण हमें लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ और पद्मनाथ गोहाँई बरुआ में मिलता है। बेजबरुआ के नाटकों में देशभक्ति की भावना सबसे

प्रधान थी। 'चक्रध्वजसिंह' में उन्होंने असम के इतिहास के एक गौरवपूर्ण अध्याय का चित्रण किया है। यह नाटक आहोम राजा चक्रध्वजसिंह (१६६३-१६६९) के राज्य पर आधारित है। उनके राज्य-काल में असम पर बार-बार मुस्लिम आक्रमण हुए और लचित बरफूकन के सुयोग्य नेतृत्व में आक्रामकों को मार भगाया और पूरी तरह हराया। 'बेलि-मार' (सूर्यास्त), जिसमें कि असम पर बर्मा के आक्रमण (१८१६) की कहानी है, न केवल तत्कालीन घटनाओं को चित्रित करता है, अपितु उसमें उस समय के आहोम-राजदरबारों की उस विलास-जर्जर ह्रासोन्मुखता की भी गंध है, जिसके कारण असम को अपनी स्वतन्त्रता खोनी पड़ी। एक दूसरे ऐतिहासिक नाटक 'जयमती' में इतिहास का चित्रण होने के साथ-साथ एक भोली-भाली नागा लड़की डालिमी के चरित्र के आस-पास रोमांटिक विस्मय का भाव-वलय बुना गया है। लक्ष्मीनाथ के प्रहसन खूब व्यंग्य और हास्य से भरपूर हैं।

पद्मनाथ गोहाँई बरुआ हमारे गद्य और पद्य के महान लेखकों में से एक हैं। उन्होंने ऐतिहासिक और पौराणिक दोनों प्रकार के विषयों पर नाटक लिखे और तीन प्रहसनों की रचना की। उनके चार नाटक 'जयमती' (१९००), 'गदाधर' (१९०७), 'साधनी' (१९११) और 'लचित फूकन' (१९१५) आहोम इतिहास पर आधारित हैं। कथानक के विकास की दृष्टि से उनके नाटकों में संयम का सर्वथा अभाव तो दृष्टिगत होता ही है, साथ ही उसने इनसे कोई नई दिशा या प्रकाश भी नहीं दिखाया। अति भावुकतापूर्णता, भूत-प्रेत, परलोक-विषयक वस्तुओं के अनावश्यक वर्णन, प्रकृति-प्रेम, प्रयोजनहीन संवाद और हास्य-भरे अनुचित दृश्यों के कारण इन ऐतिहासिक नाटकों में कथानक के सहज संगठित विकास में बाधा पड़ी है। गोहाँई बरुआ ने सामान्य जनता और ग्रामीण दृश्यों के चित्रण में बहुत कुशलता दिखाई है। अपनी 'गाँवबूढ़ा' नामक कृति में तो वे बहुत ही सफल हुए हैं। इस प्रहसन में उन्नीसवीं शती की अन्तिम दशाब्दी के ब्रिटिश शासन का बहुत यथार्थवादी चित्र दिया गया है। दीनबंधु मित्र के बंगाली नाटक 'नीलदर्पण' की भाँति 'गाँवबूढ़ा' एक प्रयोजन-प्रधान नाटक होने के साथ-साथ इस शताब्दी के आरम्भिक काल के नाट्य-साहित्य को एक सार्थक देन है। इस नाटक में गाँव की सरपंची का निःशुल्क रूप से काम करनेवाले एक बूढ़े की ज़िम्मेदारियों और कष्टों से भरी ज़िन्दगी का चित्र है। बेचारे का घर-बार और

व्यक्तिगत जीवन, अत्यधिक कार्यव्यस्तता के कारण, प्राय: शून्य हो गया। इस कार्य के लिए उसे कोई पुरस्कार आदि दिये जाने के स्थान में छोटे-बड़े सभी सरकारी इन्सपेक्टरों के हाथों झिड़कियाँ और अपमान तक सहना पड़ा।

चन्द्रधर बरुआ दूसरे प्रसिद्ध नाटककार हैं। उनके 'मेघनाद वध' (१९०४) और 'तिलोत्तमा संभव' नामक दो पौराणिक नाटक मुक्त-छन्द में हैं और दोनों में इन्द्रजीत के वध और तिलोत्तमा के लिए सुन्दोपसुन्द के परस्पर विनाश की कथा है। कथानक के विकास और चरित्र-चित्रण दोनों में माइकेल मधुसूदन दत्त का प्रभाव स्पष्ट है। 'भाग्य-परीक्षा' नामक प्रहसन में भाग्य और लक्ष्मी के बीच में परिहासपूर्ण निर्णय दिया गया है। इस प्रहसन में लेखक ने ग्राम-जीवन के बहुत-से चित्र समुचित परिपार्श्व और जनसाधारण की भाषा में उपस्थित किये हैं। यहाँ यह भी विचारणीय है कि इस काल के बहुत-से नाटककारों को गम्भीर नाटकों की अपेक्षा प्रहसन-लेखन में अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई। इन प्रहसनों में मित्रदेव महन्त के 'बिया विपर्यय', 'कुकुरीकनार' तथा 'अठमंगला' आदि बहुत लोकप्रिय हुए। उनकी विषय-वस्तु, संवाद और दृश्य हास-परिहास से युक्त और मनोरंजक हैं।

भारत-भर में स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था। ऐसे समय में ऐतिहासिक नाटक बड़ी संख्या में लिखे गए। असम के प्राचीन इतिहास से उन्हें कथानक के रूप में बहुत-सी तैयार सामग्री प्राप्त हुई। नकुलचन्द्र भुइयाँ का 'बदन बरफुकन', प्रसन्नलाल चौधुरी का 'नीलाम्बर', शैलधर राजखोवा का 'स्वर्ग देव प्रतापसिंह' और देवचन्द्र तालुकदार का 'भास्कर वर्मन' आदि कुछ ऐसे ऐतिहासिक नाटक हैं जो कि इस शताब्दी के प्रारम्भिक काल में लिखे गये थे। 'भास्कर वर्मन' में तालुकदार ने सचमुच ही एक धीरोदात्त वीर और विद्वान चरित्र निर्मित करने के साथ-साथ ऐतिहासिक पार्श्वभूमि को अत्यन्त स्पष्ट और सप्राण रूप से व्यक्त किया है। अतुलचन्द्र हज़ारिका[१] ने लगभग एक दर्जन पौराणिक नाटक लिखे हैं। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक विषयों पर भी उन्होंने अपनी लेखनी चलाई है, जैसे 'कन्नौज कुँअरी' और 'छत्रपति शिवाजी' में। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अतुलचन्द्र हज़ारिका ने असमिया रंगमंच की माँग पर अनेक नाटक लिखे,

१. इन्हें आसामी रंगमंच के अध्ययन पर अपनी पुस्तक 'मंचलेखा' पर १९६९ में सा० अ० पुरस्कार मिला।

चूँकि उनके नाटकों से पहले बंगाली लेखकों की रचनाएँ ही असमिया रंगमंच पर खेली जाती थीं। असमिया साहित्य से परमुखापेक्षिता की इस प्रवृत्ति का परिमार्जन श्री हज़ारिका ने किया।

स्वतन्त्रता के बाद, देश-भक्ति की विशेष भावना से परिपूर्ण क्रान्तिकारी ढंग के ऐतिहासिक नाटक और भी लिखे गये। चन्द्रकान्त फूकन के 'पियली फूकन' और प्रवीन फूकन के 'मणिराम दीवान' में उन्नीसवीं शताब्दी के उन दो देशभक्तों का जीवन व्यक्त है, जिन्होंने अंग्रेज़ों को भगाकर देश को मुक्त करने के गुप्त षड्यन्त्र किये थे। दुर्भाग्य से दोनों की मंत्रणाओं का पहले ही पता चल गया और बिना मुकद्दमा चलाए ही उनको फाँसी पर चढ़ा दिया गया। १९४२ के अगस्त-आन्दोलन के शहीद 'कुशल कोंवर' पर लिखा गया सुरेन्द्रनाथ सैकिया का नाटक बहुत सफलता प्राप्त कर चुका है।

कमलानन्द भट्टाचार्य का 'नगा कोंवर' और ज्योतिप्रसाद अगरवाल के 'शोनित कूँवरी' और 'कारेङ्र लिगिरा' रोमांटिक ढंग के नाटक हैं। ज्योतिप्रसाद अगरवाल आधुनिक असमिया नाटक और रंगमंच के इतिहास के सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं। वे उत्कट देश-भक्त, प्रथम श्रेणी के कवि और गीतात्मक नाटकों के प्रणेता हैं। यूरोप में शिक्षा ग्रहण करने के कारण श्री ज्योतिप्रसाद के गीतों, धुनों और नाटकीय रचना-कौशल पर बहुत-सा प्रभाव विदेशी है।

उपन्यास

बीसवीं शती से पहले असमिया साहित्य में उल्लेखनीय उपन्यास बहुत ही कम थे। रजनीकान्त बरदलै ने उपन्यास को सृजनशील कल्पना क्त गद्य-रचना का सही रूप दिया। रजनीकान्त ने अपने कथानक मुख्यतः बुरंजियों में से लिये। परन्तु उनका पहला उपन्यास 'मिरी जियरी' (मिरी बिटिया)[1] जो १८९५ में लिखा गया था, ऐतिहाहिक उपन्यास नहीं था। इस उपन्यास में एक मिरी युवक और युवती की प्रेम-कहानी दुहराई गई है। उपन्यास की घटनाएँ सुबनसिरी नदी के किनारे पर घटित होती हैं, जो कि उस करुणापूर्ण मानव-कथा की केवल मूक पार्श्वभूमि ही नहीं, अपितु उसमें सक्रिय भाग भी लेती है। आरम्भिक असमिया साहित्य में आदिवासियों के प्रति ऐसा प्रेम और आंचलिक प्रकृति का ऐसा सजीव

१. इस उपन्यास का हिन्दी अनुवाद साहित्य अकादेमी की ओर से प्रकाशित हो चुका है।

अध्ययन वास्तव में अद्भुत ही है। बरदलै के दो और उपन्यास 'मनोमती'[1] (१६००) और 'रहदई लिगिरी' (१६३०) भी प्रेम-विषय को लेकर ही हैं। दोनों का निर्माण असम पर बर्मा के आक्रमण की पार्श्वभूमि पर हुआ है। तीसरी रचना 'दंदुवा द्रोह' अट्ठारहवीं शती के एक राजनीतिक आन्दोलन पर आधारित है। बरदलै अपने इस उपन्यास (१६०६) की भूमिका में यह स्वीकार करते हैं कि सर वाल्टर स्काट और बंकिमचंद्र चटर्जी की रचनाओं के प्रभाव ने इन्हें अपने देश के पर्वत और घाटियों के सौन्दर्य की ओर आकृष्ट किया। फलतः उन्होंने अपने उपन्यासों के कथानक आसाम के इतिहास में से ही चुने। भूतकाल के नायकों के शौर्य और देश में प्रचलित वैष्णव धर्म के गुणों के लिए उनके मन में जो विशेष प्रेम था, उसके कारण बरदलै की रचनाएँ कहीं-कहीं प्रचारात्मक भी हो गई हैं। परन्तु कहानी कहना ही प्रधान उद्देश्य रहने के कारण उनके उपन्यास जनता पर अपना प्रभाव कायम रख सके हैं। पद्मनाथ गोहाँई बरुआ के 'लाहरी' और 'भानुमती' नामक दोनों ही उपन्यास प्रेम-विषय के आसपास केंद्रित हैं। उनमें आहोम-काल की पार्श्वभूमि है। ऐतिहासिक पार्श्वभूमि होने पर भी दोनों उपन्यासों में कोई ऐतिहासिक घटनाएँ या पात्र नहीं हैं। देवचन्द्र तालुकदार और दंडिनाथ कलिता ने अपने उपन्यासों में स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों की खोज करने का प्रयत्न किया है। फलतः इस दिशा में वे असमिया उपन्यास को रजनीकांत बरदलै से आगे बढ़ा ले गए। तालुकदार ने 'आदर्शपीठ' में गांधीवादी विचारों का प्रतिपादन किया है; और कलिता के 'साधना' में भी उसी आदर्श स्वर की प्रधानता है।

असमिया साहित्य में उपन्यास बहुत थोड़े हैं। गत दशाब्दी तक वे अपनी परिपक्व अवस्था तक नहीं पहुँच सके। इधर कुछ वर्षों से, उनका स्तर काफी ऊँचा उठा और हमारे उपन्यासों में कई नई प्रवृत्तियाँ आ गई। हमारे उपन्यासकार पुरानी रोमांटिक शैली से हटकर अब यथार्थवादी और मनोविश्लेषणात्मक शैली पर आ गए हैं। आज के उपन्यास-लेखकों ने उस ओर दृष्टि डाली है जहाँ समाज का उपेक्षित वर्ग बसता है; और वे उनका सामाजिक मूल्य भली भाँति आँक रहे हैं। ऐसे उपन्यासों में से एक आसाम के देहाती जीवन के विषय में है, जिसका नाम 'जीवनर बाटत' (जीवन की राह) है। इसमें ग्राम-जीवन का सच्चा चित्र खींचा गया है, जिसके कारण उसे व्यापक लोकप्रियता मिली है। हितेश डेका के

१. इस उपन्यास का अनुवाद भी अकादेमी प्रकाशित कर चुकी है।

'आजिर मानुह' (आज का मनुष्य), आथनाथ शर्मा का 'जीवनर तीन अध्याय' (जीवन के तीन अध्याय), चन्द्रकान्त गगै का 'सोनार नांगल' (सोने का हल), गोविन्द महन्त का 'कृषकर नाति' (कृषक के वंशज) आदि कुछ ऐसे उपन्यास हैं जिनमें सामाजिक जीवन का विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। नवकांत बरुआ का 'कपिलीपरिया 'साधु' एक प्रेम-कथा के आस-पास गुंफित, कपिली नदी के किनारे बसने वाले लोगों की दुर्भाग्यपूर्ण कहानी है। यह नदी हर साल मनमाने ढंग से अपना प्रवाह बदलती है। 'दावर आरू नाई' (अब और बादल नहीं है) में जोगेशदास ने समाज के आचार-विचार और रीति-नीति पर प्रथम विश्व-युद्ध का जो प्रभाव पड़ा था उसका चित्रण किया है। एक कहानी-लेखक के नाते उनमें विशेष प्रतिभा है। बीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य[1] ने अपने 'राजपथे रिंगियायी' नामक उपन्यास में एक ऐसे क्रांतिकारी युवक की जीवनी चित्रित की है, जो कि समाज की बुराइयाँ दूर करना चाहता है। लेखक का दृष्टिकोण बौद्धिक और शैली मनोवैज्ञानिक है।

इधर पिछले कई वर्षों में प्रकाशित कुछ और मनोवैज्ञानिक उपन्यास अपनी रचना-शैली, मानव-हृदय के अवचेतन हेतुओं और प्रेरणाओं के चित्रण के लिए प्रसिद्ध हुए हैं। प्रफुल्लदत्त गोस्वामी के 'केंचा पातर कँपनी' (हरी पत्तियों का कंपन) में एक युवक के मानसिक आदर्शों के बीच द्वन्द्व व्यक्त हुआ है, और राधिकामोहन गोस्वामी के 'चाकनैया' (परमोच्च बिंदु) में एक ऐसे निराश युवक के जीवन का चित्र है जो आज के समाज के साथ अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर सका।

कहानी

असमिया कहानी पश्चिम के प्रभाव से विकसित हुई। लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ कहानी को एक ऊँचे कलात्मक लोक में उठा ले गए। वह अपने जीवन-भर सम्पादक थे और सम्पादक के दृष्टिकोण से कहानी को जाँच सकते थे। जिसके पास बहुत थोड़ा स्थान हो, उसे कहानी के आकार और भाषा को संक्षिप्त करना ही पड़ता है। बेजबरुआ की सब कहानियाँ (जो कि अब 'साधुकथार कुकी', 'जोनबिरी' तथा 'सुरभि' नामक तीन संग्रहों में मिलती हैं) जीवन के अंशों को चित्रित करके

१. 'अयरुइगम' उपन्यास पर साहित्य अकादेमी से १९६१ में पुरस्कृत।

उसके अनुभव और क्षणिक बिंबों के टुकड़े व्यक्त करती हैं। शरच्चंद्र गोस्वामी और उन्होंने मिलकर अपनी कहानियों में स्थानीय रंग को प्रमुखता प्रदान की। यथार्थवाद उनकी कहानियों का विशेष गुण है। यद्यपि गहरी मानवीय सहानुभूति, करुणा और परिहास उनके क्षेत्र से परे नहीं है, फिर भी अपनी मध्यवर्गीय ग्रंथियों के कारण उनकी अभिव्यंजना कुंठित है। नगेन्द्रनारायण चौधरी और त्रैलोक्यनाथ गोस्वामी[1] की कृतियों में गहरी सामाजिक चेतना देखने को मिलती है। गोस्वामी के 'अरुणा' और 'मरीचिका' नामक संग्रहों में ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें हमारे आस-पास की ज़िंदगी के यथार्थ चित्र अंकित किये गए हैं। 'अरुणा' संग्रह की 'जारज' शीर्षक कहानी बहुत ही सबल है। उसमें यह दिखाया गया है कि उसके रतन नामक एक पात्र को विवाह के कारण कितने दुःख और सामाजिक अन्याय सहने पड़े हैं। अपनी दूसरी कहानी 'विधवा' में लेखक ने यह दरसाया है कि एक माँ और लड़की (जो दोनों दुर्भाग्यवश विधवाएँ हैं) सामाजिक उत्पीड़न की शिकार कैसे बनती हैं, और दोनों को क्या-क्या सहना पड़ता है। दूसरे महायुद्ध के साथ-साथ जो बुराइयाँ हमारे समाज में आईं, 'मरीचिका' की कहानियाँ अधिकतर उन्हींके विषय में हैं। गोस्वामी का 'जिया मानुह' (जीवित मनुष्य) इसी विषय पर लिखा गया एक छोटा उपन्यास है। युद्ध के कारण सामाजिक नैतिकता कैसे लड़खड़ा रही है, और उसमें कौन-से सुधार ज़रूरी हैं, इसका सही समाधान प्रस्तुत करना ही इस पुस्तक का मुख्य विषय है। मही बरा और लक्ष्मीनाथ फूकन[2] की कहानियों में असमिया-परिहास उत्कृष्ट रूप में अभिव्यक्ति हुआ है, और तोलाराम डेका की कहानियों में व्यंग्य का पुट अपनी विशेषता लिये हुए है।

असमिया में आधुनिक ढंग की कहानियाँ लक्ष्मीनाथ शर्मा ने सबसे अधिक लिखी हैं। नारी और उसकी भावनाओं को पहली बार ही उनकी कहानियों में स्थान मिला है। उनके बाद बहुत-से ऐसे लेखक इस क्षेत्र में आये, जिन्होंने आधुनिक नारी और उसके प्रेमाख्यानों के विषय में अपनी लेखनी चलाई।

---

१. इन्हें साहित्यालोचन विषय पर अपनी पुस्तक 'आधुनिक गल्प-साहित्य' पर १९६७ में सा० अ० पुरस्कार मिला।

२. 'महात्मार पोरा रूपकोन वारलाई' पुस्तक पर १९७० में इन्हें साहित्य अकादेमी ने पुरस्कृत किया।

बीना बरुआ, रमा दास इत्यादि ऐसे ही लेखक हैं। बीना बरुआ के 'पट-परिवर्तन' में अधिकतर कालेज की लड़कियों और उनकी चंचल भावुकतापूर्ण प्रेम-चर्चाओं की ही कहानियाँ हैं। उन्होंने ग्राम-जीवन के विषय में भी लिखा है। 'आधोनीबाई' नाम के उनकी ग्राम-कहानियों के संग्रह में प्रकाशित इसी शीर्षक की कहानी बहुत ही सशक्त बन पड़ी है। उसमें आधोनीबाई नाम की ऐसी ग्रामीण स्त्री का चित्रण किया गया है, जो अन्य ग्रामवासियों की सेवा-सहायता करती रहती है और फिर भी उसकी ऐसी दयनीय दशा है। उसमें ग्राम-जीवन के जो विशद चित्र गुम्फित किये गए हैं उनका अंकन लेखक ने बड़ी सूक्ष्मता से किया है। रमा दास के प्रति पाठक उनकी सुन्दर वर्णन-शैली और शिल्प-विधान के कारण आकर्षित होते हैं। वर्णन की स्पष्टता, संवाद की आकर्षकता, कथाकार के नाते विचारों का ठोसपन और भाषा द्वारा भावों की सूक्ष्म छटाओं को व्यंजित करने की क्षमता, असमिया की कुछ अत्यन्त श्रेष्ठ कथाओं में मिलती है। बहुत-सी कहानियों का आधार समाज-मान्य प्रेम-व्यापार से भिन्न प्रकार का प्रेम-व्यवहार है। इस चीज़ को व्यक्त करने के लिए लेखक मनोविश्लेषण और सहानुभूति का प्रयोग करते हैं। उनकी 'सेतु-बन्धन', 'बारिषा जेतिया नामे' (जब ग्रीष्म आता है) इत्यादि कहानियों में यह गुण स्पष्ट दिखाई देता है। दीनानाथ शर्मा के 'ऊषा' और 'संग्राम' नामक दो उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए हैं। परन्तु लेखक अपनी उन कहानियों के लिए विशेष विख्यात है, जो 'दुलाल' (१६५२), 'अकलसरिया' (१६५३), 'कोआ भातुरिया ओथर तलत' (१६५२) और 'कल्पना अरु वास्तव' नामक संग्रहों में प्रकाशित हुई हैं। शर्मा की अधिकतर कहानियाँ प्रेम-विषयक हैं और उनमें विशेषतः नारी के कुत्सित और अविश्वसनीय जीवन का चित्रण पाया जाता है। उनकी 'सोंवरन' शीर्षक कहानी में एक नव-विवाहिता पत्नी के असंतुष्ट प्रेम का बड़ा ही वास्तविक चित्रण हुआ है और उन्होंने नारी मन की जटिलताओं में बड़ी कुशलता से प्रवेश किया है। उनके विषय सीमित, पुनरावृत्तिपूर्ण और अपेक्षया अधिक संकीर्ण हैं।

लक्ष्मीधर शर्मा के बाद विगत दूसरे महायुद्ध तक लिखनेवाले अन्य कहानी-लेखक फ्रायड से बहुत प्रभावित हुए। फलतः वे अपनी रचनाओं में सेक्स की भावना भरते रहे। कदाचित् इसका कारण यूरोपीय लेखकों का अध्ययन भी रहा हो। इनमें से बहुत-से लेखकों ने अनैतिक प्रेम-रोमांस और अनियंत्रित सेक्स-

आकर्षण को बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार कर लिया, मानो जीवन की अन्य बातों के समान यह भी एक सामाजिक मान्यता हो। परिणामस्वरूप नग्न प्रेम के चित्रण में उन्हें कोई पशोपेश, शंका या संकोच नहीं जान पड़ा। ऐसा प्रतीत होता है मानो वे स्त्री-पुरुष के मौलिक सम्बन्धों का चित्रण करने में नये सामाजिक और वैयक्तिक वातावरण में पनपे विचारों का सर्वथा नये ढंग से मूल्यांकन करना चाहते हैं।

दूसरे महायुद्ध के बाद कहानी, कविता, नाटक उपन्यास आदि साहित्य के सब अंगों में आमूल-चूल परिवर्तन हो गया। आज की कहानी विशेषतः मध्यवर्ग, किसान और मज़दूरों की समस्या से अधिक सन्निविष्ट है। नये सामाजिक और आर्थिक परिवेश, उसकी असंगतियाँ, सन्धि तथा अवसर की विषमता आज की कहानी के विषय हो गए हैं। दूसरे महायुद्ध के कारण जो सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक उथल-पुथल हुई है, नई कहानी नये सामाजिक मूल्यों को उससे नापना चाहती है। वह पुरानी समाज-व्यवस्था में रहते आए किसानों के जीवन के सुख और संतोष की तुलना नई समाज-व्यवस्था में मज़दूरों की असंतुष्टि, व्यथा, शोषण-उत्पीड़न, चुनौती और घृणा के साथ करना चाहती है। ऐसे लेखकों में अब्दुल मलिक ने अपनी असाधारण कथानक-रचना और मनोरंजक भाषा के कारण विशेष ख्याति अर्जित की है। जोगेशदास, वीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य, हेमेन बरगोहाँई, भबेन्द्रनाथ सैकिया तथा अन्य कई लेखकों ने आधुनिक कहानी को अनेक प्रकार का रूप और वैविध्य प्रदान किया है।

निबन्ध

उन्नीसवीं शती में जो गद्य बहुत परिपक्व था, वह आगे जाकर निबन्ध के रूप में विकसित हुआ। लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ ने असमिया साहित्य में व्यक्तिगत निबन्ध की प्रतिष्ठा की। असमिया के स्फुट गद्य-लेखकों में उनका नाम सबसे अग्रणी स्थान रखता है। निबन्धकार के नाते उनमें अत्यन्त दुर्लभ मनोहारिता और परिहासयुक्त उदार आलोचना मिलती है। चेस्टरटन की भाँति बेजबरुआ भी कहानी और निबन्ध के बीच का एक साहित्य-प्रकार निर्मित करने में सफल हुए। इन्हीं विशेषताओं के कारण उनके निबन्ध मनोरंजक बन पड़े हैं। दैनंदिन जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं और अनेक घरेलू विषयों को उन्होंने

हास्य की सामग्री में परिवर्तित कर दिया है। अपने निबन्धों में उन्होंने असमिया साहित्य में सर रोजर दी कावरली के ढंग का एक चरित्र कृपाबर बड़बरुआ के रूप में निर्मित किया। कृपावर की सनक में असमिया जीवन और शिष्टाचार की पद्धतियाँ सन्निहित हैं। उन्होंने 'बड़बरुआर भावर बुरवुरनी (बड़बरुआ के विचार-बुद्बुद) शीर्षक से जो मनोरंजक निबन्धमाला लिखी है, वह असमिया साहित्य में सुपरिचित है। अधिकतर प्रासंगिक विषयों को लेकर ही वे निबन्ध लिखे गए हैं; उनमें देश के खोखले मनुष्यों और संस्थाओं का मज़ाक उड़ाया गया है। उनके निबन्धों में उच्चकोटि के परिहास और निरीक्षण की सूक्ष्म शक्ति के अद्भुत समन्वय के साथ समकालीन जीवन और समस्याओं पर गम्भीर विचार किया गया है, क्योंकि प्राय: सभी निबन्ध व्यंग्य-विनोदमयी शैली में लिखे गए हैं, इसलिए वे मनोरंजक और आकर्षक हैं। बाद में हलीराम डेका और हेमचन्द्र बरुआ ने आत्म-निबन्धों की यह शैली सफलतापूर्वक अपनाई।

यद्यपि सत्यनाथ बरा ने अपने समकालीन सामाजिक रेखाचित्रों के 'केन्द्र-सभा' नामक संग्रह में बेजबरुआ का ही अनुकरण किया है, फिर भी वे एक गंभीर महत्त्वपूर्ण गद्य-लेखक के नाते ही अधिक सफल हुए। उनके विचारपूर्ण तथा सुनिबद्ध निबन्ध 'सारथी' और 'चिताकली' नाम से प्रकाशित हुए हैं। अपने इन निबन्धों के द्वारा सत्यनाथ ने जहाँ असमिया भाषा का एक स्तर निर्मित किया वहाँ व्याकरण तथा मुहावरों को फिर से नया रूप देकर उसकी गद्य-शैली को भी निखारा। दूसरे प्रसिद्ध गद्य-शैलीकार हैं बाणीकांत काकती। अपने विशाल अध्ययन, विषयों के व्यापक ज्ञान और विद्वत्ता के कारण बाणीकांत इस प्रदेश के एक अत्यन्त मेधावी पुरुष बने। उनकी बुद्धि की भाँति ही उनकी लेखनी भी तीखी और प्रखर थी। काकती ने बड़ी ही स्पष्ट और सुलझी हुई शैली में असमिया भाषा और साहित्य के विषय में जो विद्वत्तापूर्ण और उत्कृष्ट निबन्ध प्रस्तुत किए, वे असमिया साहित्य की अमर निधि हैं।

इस बात में कोई सन्देह नहीं कि अंग्रेज़ी शिक्षा ने राष्ट्रीयता के विकास में अपूर्व सहायता ही नहीं दी, बल्कि उसने भाषा, संस्कृति तथा इतिहास में हमारी रुचि भी जाग्रत् की। फलत: कई विद्वान आसाम के प्राचीन साहित्य के अध्ययन में जुट गए और ऐतिहासिक निबन्धों के लेखन की दिशा में बड़ा कार्य हुआ। हेमचन्द्र गोस्वामी के प्राच्य विश्वविद्यालय शोध-निबन्ध सुन्दर गद्य में गुम्फित हैं।

सूर्यकुमार भुइयां के ऐतिहासिक ग्रन्थों में आहोम इतिहास की झलक स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। भुइयाँ हमारे साहित्य के विख्यात शिल्पी हैं और उनके ऐतिहासिक प्रबन्धों में पुरानी असमिया बुरंजियों में मिलनेवाले अनेक पुराने और अब लुप्तप्राय शब्द तथा मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं। बेणुधर शर्मा[1] के ऐतिहासिक निबंध भी बड़े ही मनोरंजक होते हैं। शर्मा की शैली सर्वथा अपनी शैली है एवं विशुद्ध असमिया शब्द-रूपों के लिए उनके मन में गहरा प्रेम है। सूर्यकुमार भुइयाँ ने बहुत-से पुराने ग्रन्थों के सम्पादन और प्रकाशन में अपना जीवन लगा दिया है। सर्वश्री हरिनारायण दत्त बरुआ, कालिराम मेधी, बिरिंचिकुमार बरुआ,[2] उपेन्द्र लेखारू, महेश्वर निओग सत्येन्द्रनाथ शर्मा आदि अनेक लेखक सफलतापूर्वक उनका अनुगमन कर रहे हैं। इन विद्वानों ने अनेक विषयों पर ऐसे बहुत-से पुराने ग्रन्थों को संपादित किया है, जिनके द्वारा उन्होंने असमिया भाषा के विकास और प्रगति को निश्चित करके असमिया जनता की परंपरा की अविच्छिन्नता को सिद्ध किया है। असमिया जनता के सांस्कृतिक और लोक-जीवन में पहली रुचि लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ और नकुलचंद्र भुइयाँ ने अपनी लोक-कथाओं और गीतों के संग्रह के द्वारा दिखाई। आधुनिक काल में सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विषयों पर कई महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावशाली रचनाएँ लिखी गई हैं। विगत आधी शताब्दी की साहित्यिक कृतियों की संख्या और विविधता इस बात का पूर्ण विश्वास दिलाती है कि असमिया साहित्य की परम्परा में एक महान और पूर्णतर सांस्कृतिक भविष्य के बीज निहित हैं।

सन्दर्भ-ग्रंथ

असमीज़ लिट्रेचर—डा० बिरिंचिकुमार बरुआ, प्रकाशक पी० ई० एन०, इण्डिया।

स्टडीज़ इन अर्ली असमीज़ लिट्रेचर—डा० बिरिंचिकुमार बरुआ।

---

१. अपनी राजनीतिक पुस्तक 'कांग्रेचार काचियाली रदत' पर १९६० में सा० अ० से पुरस्कृत।

२. १९६४ में 'आसामार लोक-संस्कृति' नामक सांस्कृतिक अध्ययन पुस्तक पर साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत।

स्टडीज़ इन लिट्रेचर—ऑफ असम—सूर्यकुमार भुइयाँ ।
एस्पेक्ट्स ऑफ अर्ली असमीज़ लिट्रेचर—प्रकाशक गोहाटी विश्वविद्यालय ।
लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया—जी० ए० ग्रियर्सन, खंड ५, भाग १, पृष्ठ ३९३–४४६ ।
असमी : इट्स फ़ार्मेशन ऐंड डेवलपमेंट—बाणी काकती ।
शंकरदेव ऐंड हिज़ प्रेडीसेसर्स—डा० महेश्वर नियोग ।

उड़िया

मायाधर मानसिंह

भाषा और लोग

भारतीय गणराज्य के दक्षिणी-पूर्वी अंचल में उड़ीसा राज्य की भाषा उड़िया है। उड़िया बोलनेवाले एक करोड़ पचास लाख लोग हैं। उड़ीसा राज्य की राजनीतिक सीमाओं के बाहर कई लाख उड़िया-भाषी लोग बसते हैं। प्राचीन भारत में जिन्होंने कलिंग, उत्कल तथा ओड्र नाम से सैनिक और नौसैनिक गौरव प्राप्त किया उन लोगों की भाषा उड़िया है। प्राचीन उत्कलों का साम्राज्य कई शताब्दियों तक गंगा के किनारे से गोदावरी के तट तक फैला हुआ था। उनके साम्राज्य समुद्र-पार कई उपनिवेशों के रूप में भी विख्यात हुए हैं। वस्तुतः प्रसिद्ध शैलोद्भवों का राज्य दक्षिण-पूर्वी एशिया के कई देशों में फैला हुआ था। परन्तु जैसा कि साधारणतया होता है, उपनिवेश और साम्राज्य तो अब मिट गए हैं, और प्राचीन कलिंग अब एक छोटे-से उड़ीसा राज्य के रूप में सिमट गया है। अब वह भारतीय गणतंत्र का एक भाग है, और उड़िया जनता के पास फिर भी श्रेष्ठ कला और स्थापत्य की भव्यता के रूप में एक महान साम्राज्य विद्यमान है। उन प्राचीन, सशक्त साम्राज्य और वस्तु के निर्माताओं ने अपनी रहस्यात्मक तथा पतित भावी पीढ़ियों के लिए एक अमूल्य धरोहर के रूप में यह कला-प्रेम सुरक्षित रखा है। उड़िया लोगों की भवन-निर्माण की शक्ति प्रायः एक सहस्राब्दि तक जीवित रही। इसका आरम्भ खण्डगिरि, उदयगिरि की दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व वाली जैन गुफाओं से हुआ, और वह परम्परा तेरहवीं शताब्दी ईस्वी में कोणार्क के अत्यन्त सुन्दर और भव्य पाषाण-स्वप्न में आकर जैसे रुक गई। वस्तुतः यह विचारणीय बात है कि साहित्यिक कला का विकास तभी हुआ जब ऐसी किन्हीं परिस्थितियों के कारण, जिनका कि पूरा परीक्षण अभी तक नहीं हो पाया है, इस देश की शिल्प-स्थापत्य-रचना सम्बन्धी कलात्मक अभिव्यंजना प्रायः समाप्त

हो गई।

असमिया, बंगाली और उड़िया पण्डित सभी 'बौद्ध गान ओ दोहा' (जो कि आठवीं और नवीं शताब्दी ईस्वी की रचना है) को ही अपनी भाषाओं का सर्व-प्रथम साहित्यिक ग्रन्थ मानते हैं। उड़िया आज जैसी बोली और लिखी जाती है वह प्रायः चौदहवीं शताब्दी में बँगला और असमिया जैसी अपनी भाषा-भगि-नियों के समान मुखरित हुई।

चौदहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक, जबकि अत्याधुनिक काल का आरम्भ होता है, पांच सौ वर्षों में उड़िया साहित्य का विकास और निर्माण प्रायः उन्हीं रेखाओं पर हुआ जिनपर अन्य आधुनिक भारतीय साहित्यों का। कहीं-कहीं रूप और सजावट में स्थानीय वास्तविकता आ गई है। समूचे साहित्य का रूप ऐसा है कि उसमें धार्मिक और साहित्यिक दोनों तत्त्वों का सम्मि-श्रण है। धार्मिक साहित्य में अकल्पनीय स्वप्न, भावना और कुंठाएँ उन लेखकों के मन में मिलती हैं जो कि रामायण-महाभारत और भागवत पुराण के तीन संयुक्त वर्तुलों के बाहर से कोई विषय लाने का साहस नहीं कर सके हैं। परन्तु इन संकुचित क्षितिजों में महान तथा अमर कृतियाँ रची गई हैं। इससे सम्बन्धित क्षेत्र में भी जितनी रचनाएँ हुई हैं वे संख्या में विशाल हैं। यदि असंख्य भाव-गीतों तथा गीत-काव्यों को छोड़ भी दें, तो उड़िया में कम से कम रामायण के बारह अनुवाद और महाभारत के चार अनुवाद प्रसिद्ध हैं।

आधुनिक युग

मध्य युग अपने पौराणिक वातावरण सहित आधुनिक युग से एकदम भिन्न है। पश्चिम के सम्पर्क से जनता के स्वप्न और दृष्टिकोण का पुनर्निर्माण हुआ है, और उन्हें एक नया मूल्यांकन करने की शक्ति प्राप्त हुई। इसीमें से एक आधु-निक सप्राण साहित्य निर्मित हुआ, जिसमें भाव-संवेदन और दृष्टिकोण के व्यापक क्षेत्र ऐसे हैं, जो कि प्राचीन महान लेखकों के लिए एकदम अज्ञात थे।

दुःखद ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण पश्चिम से यह सम्पर्क उड़ीसा में शायद बहुत देर से आया और इस प्रकार से आया कि जनता के लिए हानिकारक था। पड़ोसी भाषा-भगिनी बँगला की तुलना में उड़िया अपेक्षाकृत ज़्यादा पिछड़ी हुई है। उसका यह कारण नहीं है कि यह भाषा और भाषा-भाषी जनता कुछ

मूलत: हीनतर हैं। परन्तु वे अवसर, जो कि बंगाल को मिले और जिनके कारण बंगाल अंग्रेज़ी राज्य में कई दिशाओं में समृद्ध बना, उड़िया-भाषियों को कम से कम एक शताब्दी के लिए प्राप्त नहीं हो सके।

उड़िया भाषा-भाषियों को अपना राज्य केवल विगत बीस वर्षों से मिला है। सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब से उड़ीसा का स्वातन्त्र्य छिना तब से चार सौ वर्षों तक, यानी जब अंग्रेज़ों ने भारत छोड़ा उसके दस वर्ष पहले तक, उड़ीसा और उड़िया-भाषी चार अलग-अलग प्रदेशों में बँटे हुए दलितों और निर्दयता से शोषित अल्पसंख्यकों के रूप में मिलते हैं; उड़ीसा स्वायत्त खण्ड-राज्य के रूप में अभी-अभी आगे बढ़ा है। प्लासी के युद्ध के सौ वर्ष बाद जबकि बंगाल का अपना एक विश्वविद्यालय था, अंग्रेज़ी स्कूल और कालेज तो अगणित थे और उसके साथ बँगला उच्चस्तर पर विकसित हो चुकी थी, उसकी तुलना में उड़िया ग्रौर असमिया में दिखाने योग्य कुछ भी नहीं था। यहाँ तक हालत थी कि उड़ीसा में एक पूरा पक्का हाईस्कूल भी नहीं था, और इन सबके बावजूद यदि किसी प्रदेश की भाषा और साहित्य न केवल जीवित रहे बल्कि पनपे, तो उसका श्रेय मुख्यत: उस विद्रोह की शक्ति को देना चाहिए जो कि उड़िया भाषा में शोषण के विरुद्ध व्यक्त हुई। आधुनिक उड़िया साहित्य के जनक और उस विद्रोही शक्ति के प्रतीक अत्यन्त विद्वान और योग्य व्यक्ति थे फकीर मोहन सेनापति।

फकीर मोहन सेनापति (१८४३–१९१८) अपने गोत्र-नाम जैसे ही सचमुच में आधुनिक उड़िया साहित्य और राष्ट्रीयता के सेनापति बने। वे कई बातों में एक विलक्षण और अभूतपूर्व व्यक्ति थे। उनकी विधिवत् शिक्षा-दीक्षा केवल तीन या चार साल तक हुई। उन्होंने अपने चाचा के सहकारी के नाते ज़िन्दगी की शुरुआत की। उनके चाचा उन दिनों में, उनके जन्म-स्थान जहाज़ी व्यापार के लिए प्रसिद्ध बालासोर नामक बन्दरगाह में, टूटे हुए जहाज़ों को सुधारने के काम पर निरीक्षक थे। यहाँ से शुरू करके, अपनी प्रतिभा और परिश्रम की सहायता से, फकीर मोहन उड़ीसा की कई रियासतों के दीवान बनते गए। उन्हें पाँच भाषाओं का बहुत अच्छा ज्ञान था, थोड़ी-बहुत अंग्रेज़ी भी वे जानते थे। उड़ीसा में उन्होंने सबसे सहकारी ढंग पर मुद्रण, प्रकाशन और पत्रकारिता का काम किया। उन्होंने अकेले ही सम्पूर्ण रामायण और महाभारत का मूल से आधु-निक उड़िया भाषा में अनुवाद किया; यद्यपि उड़िया भाषा में दोनों ही महा-

काव्यों के बहुत-से अनुवाद पहले से थे। फिर उन्होंने कुछ ऐसी कहानियाँ लिखीं, जो कि उड़िया भाषा की सबसे पहली कहानियाँ थीं। गीतिकाव्य, भजन, खण्ड-काव्य, परिहास-व्यंग्य और बुद्ध पर एक महाकाव्य इत्यादि कई प्रकार की रचनाएँ लिखकर उन्होंने अपने अवकाशप्राप्त जीवन में करीब आधे दर्जन उत्तम उपन्यास लिखे। ये अभी भी अपनी टकसाली भाषा, धरती के प्रेम, गहरे स्पन्दनमय यथार्थवाद, परिहास और उच्च नैतिक स्तर के कारण अद्वितीय हैं।

फकीर मोहन को अभी भी उड़ीसा के बाहर के लोग नहीं जानते। मैंने कई ऐसे आई० ए० एस० अफसरों से, जो कि उड़िया-भाषी नहीं हैं परन्तु उड़ीसा में रहने के कारण जिन्हें अध्ययन के लिए फकीर मोहन के एक-दो उपन्यास पढ़ने 'आवश्यक' होते हैं। सुना है कि उपन्यासकार के नाते 'सेनापति' आधुनिक भारतीय साहित्य में सचमुच अद्वितीय हैं। जनता के लेखक होने के नाते वे इसी क्षेत्र के अन्य कई लेखकों के स्फूर्तिदाता और अग्रदूत थे। जब कि बंगाल के प्रसिद्ध बंकिम-चन्द्र अत्यधिक संस्कृतमयी शैली में नवावों, बेगमों, राजाओं, राजकुमारियों, उच्च-मध्यवर्गीय और भद्रवर्गीय बंगालियों के बारे में लिख रहे थे, तब यह उड़ीसा का अज्ञात उपन्यासकार, सीधे-सादे अशिक्षित जुलाहों, नाइयों और किसानों के बारे में, उन गाँवों के चौकीदारों बारे में जो कि खुद डाकुओं से मिलकर बदमाशी कराते हैं, शहरों और गाँवों में पाई जानेवाली निर्लज्ज और दुष्ट नौकरानियों के बारे में, अंग्रेज़ मजिस्ट्रेटों के यहाँ काम करनेवाले लोभी क्लर्कों, घमण्डी वकीलों, पुराने खानदानों के उन युवक बेटों के बारे में जो कि अंग्रेज़ी शिक्षा के पहले घूँट से ही मदमत्त हो गए थे और अपने-आपको तथा अपने माँ-बापों को बड़ी कठिनाइयों में डाल रहे थे, उन सबके बारे में फकीर मोहन ने लिखा है। फकीर मोहन को अंग्रेज़ी में कोई विधिवत् शिक्षा नहीं मिली थी। यह एक तरह से बड़ा लाभ ही हुआ। वह मुख्यतः जनता के आदमी थे। जनसाधारण की घरेलू सशक्त भाषा, जिसमें गाँवों की गलियों की सही गन्ध आती हो; धान के खेत और तालाब, जहाँ गाँव की स्त्रियाँ अपने कपड़े लेकर धोने के लिए और दैनिक गप-शप के लिए आन जुटती हों—यह सब फकीर मोहन के स्वाभाविक विषय थे। इन सबका उपयोग उन्होंने अपनी कहानियों तथा उपन्यासों में बहुत ही आकर्षक और प्रभावशाली ढंग से किया है। इन सारी चीज़ों को उन्होंने ऐसे असाधारण साहित्यिक महत्त्व और सहृदयता के साथ चित्रित किया है कि यदि

वे ऐसा न करते, तो आज वे सब असम्भव जान पड़तीं।

फकीर मोहन के उपन्यासों और कहानियों में हमें स्त्री और पुरुषों की ऐसी सजीव चरित्र-मालिका मिलती है कि उनकी यथार्थवादिता और सप्राणता के साथ-साथ उनमें एक दिव्य स्फुलिंग है जो कि महान साहित्यकार ही अपनी रचनाओं में निर्दिष्ट कर सकते हैं और जिनके कारण वे पात्र अमर हो जाते हैं; और सारे जीवित स्त्री-पुरुषों की अपेक्षा अधिक प्राणवान जान पड़ते हैं। उड़िया-समाज के सभी स्तरों की एक राष्ट्रीय चित्रशाला का जैसा निर्माण फकीर मोहन ने किया है, उससे मुझे बार-बार महान सर्वांतीस के 'दोन किखोते' नामक इस्पहानी क्लासिक ग्रन्थ की याद हो आती है, जिसमें कि स्पेन की आत्मा का स्पष्ट और कलात्मक प्रतिबिम्ब है, ऐसा कहा जाता है।

उनका उपन्यास 'छमाण आठगुण्ठा'[1] (छः एकड़ और आठ गुण्ठा) एक ऐसे सरल, शिशु-विहीन जुलाहे दम्पती की कथा है, जिसे कि एक गाँव के साहूकार ने अपनी क्रूरता से बहुत अधिक शोषित किया था। इस पुस्तक में सेनापति का ग्रामीण यथार्थवाद अपनी अन्तिम सीमा पर है। यह उपन्यास सबसे पहले 'उत्कल साहित्य' नामक पत्र में क्रमशः प्रकाशित हुआ। ऐसा कहते हैं कि उस उपन्यास में हत्या का जो मुक़दमा आता है उसकी खोज-बीन और पूर्व के वर्णन इतने सजीव थे कि दूर-दूर से गाँव के लोग यह देखने के लिए कटक आते थे कि यह मुक़-दमा सचमुच कैसे हो रहा है, और वे इस उन्पयास के पात्रों को सजीव मानकर चलते थे।

इस उपन्यासकार ने कई मौलिक बातों में प्रेमचन्द के 'गोदान' को पचास वर्ष पहले ही जैसे पूर्व-कल्पित कर लिया था, यद्यपि दोनों उपन्यासों की घटनाओं में कोई समानता नहीं है। सेनापति का 'लछमा' एक ऐसिहासिक उपन्यास है जिसमें कि बंगाल में और उड़ीसा में 'बर्गी' या मराठा आक्रमणकारियों के अत्याचारों का वर्णन है। उनके 'मामूँ' और 'प्रायश्चित्त' नामक उपन्यासों में यूरोपीय संस्कृति के प्रभाव से पुरानी समाज-व्यवस्था के विघटन का चित्र है, जो एक आदर्शवादी युवक के मन के द्वन्द्व के रूप में चित्रित किया गया है। इन्हें एक प्रकार से प्राय-

---

१. इस उपन्यास को साहित्य अकादेमी ने अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद के लिए चुना है। हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। विदेशी भाषाओं में भी इस उपन्यास के अनुवाद की सिफारिश की गई है।

श्चित्त और पुनर्जीवन के नीति-प्रधान ग्रंथ मानना चाहिए, क्योंकि इनमें जो पात्र दिखाए गए हैं, वे कई प्रकार के ऊँचे-नीचे अनुभवों में से गुज़रते हुए, गलतियाँ करते हुए, फिर सदाचार और सच्चे जीवन-पथ पर लाए गए हैं।

फकीर मोहन न केवल एक साहित्यिक रचयिता थे, बल्कि बंगाल के सांस्कृतिक और भाषा-सम्बन्धी आक्रमण के विरोध में जो आन्दोलन उड़ीसा में शुरू हो रहा था, उसके प्रमुख कार्यकर्ता भी थे। उन्होंने अपनी मातृभाषा के पुनर्जीवन के कार्य में बहुत बड़ी सहायता की, और उसके कारण उड़िया साहित्य में उनका स्थान अद्वितीय हो गया है।

राधानाथ और मधुसूदन

फकीर मोहन अपने कार्य में अकेले नहीं थे। उस समय प्रतिभाशाली लेखकों का जो एक दल प्राचीन उड़िया साहित्य और सांस्कृतिक परम्परा के पुनर्जीवन के लिए प्रशंसनीय सेवा-कार्य कर रहा था, उसके कुशल नेता फकीर मोहन थे। फकीर मोहन के साथ जो दो और बड़े नाम गिनाए जाते हैं और जिनसे उड़िया भाषा की बृहत्-त्रयी बन गई, वे हैं—राधानाथ राय और मधुसूदन राव। दोनों महाकवि थे। इस त्रयी ने मनुष्य, प्रगति और ईश्वर को अपने काव्यों का विषय बनाया, और इस प्राचीन भाषा में एक नया स्वायत्त और स्वयंपूर्ण साहित्य निर्मित किया। इन तीनों मित्रों की पूरी साहित्यिक कृतियाँ यदि हम पढ़ें तो यह पता चलेगा कि किसी भी समृद्ध साहित्य के सब तत्त्व इन कृतियों में भरे हुए हैं।

शहरों और गाँवों की दशा और शांत सामाजिक जीवन के नीचे जो मानवीय वासनाओं का अशंकित नाटक चल रहा है उसे फकीर मोहन ने सारे देश के सामने खोलकर रख दिया। 'मधुसूदन' (१८५३–१९१२) ने अपने भव्य काव्य में विश्व के साथ पवित्र जीवन और मानवीय आत्मा के आध्यात्मिक मिलन की गाथा गाई है। उनके विषय हिमालय के सुन्दर हिमजड़ित ऊँचे शिखरों से लेकर द्वन्द्वमय जीवन की साधारण छोटी-छोटी घटनाओं तक बिखरे हुए हैं। उन्होंने कभी भी साहित्यिक कीर्ति के लिए कोई सचेष्ट प्रयत्न नहीं किया। उनकी रचनाओं में छोटे-छोटे गीत, भाव-कविता, गीति-काव्य, सूत्र और सानेट असंख्य मात्रा में बिखरे हुए हैं। उन सबमें एक उच्च जीवन का वातावरण मिलता है। इनमें से कुछ, जैसे कि दस-बारह सानेट, 'नदी प्रति', 'आकाश प्रति' और 'ध्वनि', उनके

सूक्त और उनकी दो गीतात्मक कविताएँ 'हिमाचले उदयोत्सव' और 'ऋषि-प्राणे देवावतरण' ऐसी हैं जो कि किसी भी साहित्य के लिए अमूल्य कृति की तरह मानी जायेंगी। उड़ीसा की शालाओं और होस्टलों में हज़ारों बालक प्रतिदिन सायंकाल को उनके रचे हुए भजन गाते हैं। उड़ीसा के राष्ट्रीय जीवन में नहीं, तो कम से कम साहित्य में तो उनकी कविता एक सशक्त तथा चैतन्ययुक्त, नैतिक और आध्यात्मिक बल के रूप में अभी भी चल रही है।

राधानाथ (१८४८–१९०८) एक सच्चे कवि और सौन्दर्य-द्रष्टा थे। उन्होंने—सेनापति ने जो गद्य में किया, उसकी पूर्ति कविता के रूप में की। उन्होंने उड़िया-भाषियों के लिए एक सच्चा साहित्य निर्मित किया। यह धरती का साहित्य था और धरती के बेटों के लिए था; और फिर भी उसमें ऐसा सौन्दर्य और चमत्कार था जो कि अभूतपूर्व था। उड़िया-कविता में जो नवीनता राधानाथ के द्वारा आई, उसकी दोनों दिशाएँ स्पष्ट हैं। उन्होंने ही उड़िया पद्य को शाब्दिक कसरत से मुक्त किया। यह अलंकार-प्रियता उपेन्द्र भंज और उनके अनुयायियों के प्रभाव से मध्ययुगीन कविता के एक अनिवार्य अंग के नाते चल रही थी। अनुप्रासों का अनुपात कम करके तथा शैली पर विशेष ध्यान देकर राधानाथ ने अपने पद्य को सरल वेश-भूषा में इतना आकर्षक बना दिया कि वह किसी भी प्राचीन कवि की रचना के समकक्ष जान पड़ती है। शब्द और अर्थ के बीच में जो घनिष्ठ सम्बन्ध है उसके प्रति एक गहरा सम्मान उन्होंने सबसे पहले अपने पद्य में आरम्भ किया। इस विषय में यानी वागर्थ के संश्लेषण अर्थात् सही शब्दों और सही विशेषणों को चुनने में वे अपने गुरु 'कालिदास' का अनुकरण करते जान पड़ते हैं।

राधानाथ उड़िया कविता के माध्यम में जो क्रान्ति लाए, उससे भी अधिक आधुनिक उड़िया साहित्य और उड़िया के राष्ट्रीय जीवन में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान था उनके द्वारा प्रयुक्त अलंकार। एक प्रकार से उन्होंने उड़ीसा के समस्त प्राकृतिक दृश्य को सौंदर्यान्वित कर दिया। अपनी कविता की विषय-वस्तु के लिए उन्होंने उड़ीसा के प्राचीन इतिहास या लेटिन या यूनानी पुराण-कथाओं से जनश्रुतियाँ और ऐतिहासिक गाथाएँ लीं तथा जहाँ विदेशी कथा-वस्तु थी, उसे भी उड़िया वातावरण में ऐसा ढाल दिया कि उड़ीसा का सारा भू-भाग मानो इन्हीं नायक-नायिकाओं के लिए एक रंगमंच की तरह प्रस्तुत हो।

उनके पहले चार शताब्दी तक, उड़िया कवि (जिनमें कि सारलादास और बलराम-दास अपवाद हैं) केवल गंगा, यमुना और गोवर्धन पर्वत इत्यादि उत्तर भारत के प्राकृतिक स्थानों का ही वर्णन करते थे, जबकि उनमें से किसीने भी उन्हें शायद देखा नहीं था। अपने ही घर के सुन्दर प्राकृतिक दृश्य की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई थी। उड़ीसा की चौड़ी और बड़ी नदियाँ महानदी, ब्राह्मणी, वैतरणी और मलयगिरि, मेघासन और महेन्द्र जैसे चित्रोपम पर्वत अनगाए ही रह गए थे। उड़ीसा के सुन्दर भू-भाग का पहला सच्चा प्रशंसक और गायक, जिसने कि उस अंचल के प्राकृतिक सौंदर्य को सब प्रकार से और भाव-कविता के उत्साह से वर्णित किया, हमें राधानाथ के रूप में मिलता है। उन्होंने 'चिलिका' सरोवर पर एक लम्बा भावपूर्ण खण्डकाव्य लिखा है। चिलिका उड़ीसा की सुन्दर समृद्ध झील है। इस काव्य में चमत्कारपूर्ण, प्रसिद्ध और माधुर्य से भरे दो-दो पंक्ति वाले छन्दों में इस झील के विविध मनोरम रूपों का ऐसा सुन्दर गुणगान हुआ है कि मानो प्रकृति देवी के प्रति यह एक स्रोत ही हो; और वह भी इतनी आत्मीयता के साथ रचा गया है कि ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वह झील मानो एक जीवित व्यक्ति हो। इस काव्य में स्थान-स्थान पर उड़ीसा के उन समकालीन संस्मरणीय दिवसों और सर्वसाधारण के जीवन पर कई विचार व्यक्त किये गए हैं। इसी कारण से राधानाथ की 'चिलिका'[1] उड़िया साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण पथचिह्न बन गई है।

राधानाथ के सुरचित पद्यों में न केवल चिलिका झील अपितु कोई भी प्रसिद्ध पर्वत, नदी, दृश्य, ऐतिहासिक स्मारक, लोकप्रिय देवी-देवता ऐसे नहीं हैं, जिन्हें अमरता प्रदान न की गई हो। वस्तुतः अनेक स्थानों (जैसेकि स्वयं चिलिका झील) को आज जो इतना यश मिला है, वह उनकी कविता के द्वारा ही सम्भव हो सका। प्रकृति के कवि के नाते राधानाथ ने उड़ीसा के लिए वही किया जो कि 'कालिदास' ने सारे भारतवर्ष के लिए किया। यूनान ने अपने साहित्य में हैलैनिक विश्व की जैसी अवतारणा की है; राधानाथ ने भी सारे उड़ीसा को ऐसे ही सजीव देवी-देवताओं से भर दिया, जो कि मानवी व्यवहार में अधिक प्रगाढ़ रस लेते थे और मौलिक रूप से प्रकृति सुन्दरी का मानवीकरण करते थे। संक्षेप में उड़ीसा

१. यह काव्य साहित्य अकादेमी द्वारा अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद के लिए चुना गया था। इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

को उन्होंने एक विलक्षण काव्यमय सुन्दरता का देश बना दिया। अलौकिक पात्रों की रंगभूमि, गाथा और जन-श्रुतियों का प्रदेश, सुन्दर वीर योद्धाओं और रमणीय नायिकाओं का भूखण्ड बना दिया। आजकल कटक का नागरिक शाम को जिस ऐतिहासिक पत्थर के बने नदी के किनारे पर घूमने जाता है और काठजोड़ी नदी के उस पार जो पर्वत-मालाएँ देखता है, उन्हें राधानाथ की जादुई लेखनी ने छुआ और उनमें एक नवीन रमणीयता पैदा की। जहाँ कहीं संवेदनशील सुशिक्षित उड़िया विचरण करता है, राधानाथ की कुछ पंक्तियाँ उसके होंठों पर स्वभावतः थिरकती हैं, जो कि उस विशेष स्थान की आत्मा को उचित रीति व्यक्त करती हैं।

राधानाथ मूलतः महाकवि थे। उन्होंने गीत बहुत थोड़े लिखे हैं। उनकी रचनाओं में मुक्तक काव्य है, जिनके विषय, जैसा कि ऊपर कहा गया है, ऐसे लगते हैं जिन्हें पहले किसीने नहीं छुआ मालूम होता। अर्ध ऐतिहासिक गीत, सरल विषय, प्रवाहपूर्ण सुखद वर्णन-शैली, देश-भक्तिपूर्ण स्थानीय वातावरण और भाषाएँ, जीवन और जगत् के प्रति दार्शनिक विचार—इन गुणों के कारण राधानाथ की रचनाएँ उड़िया कविता में अद्वितीय हो गई हैं, और उन्हें यह समुचित सम्मान दिया जाता है कि उड़िया साहित्य में नवयुग का निर्माण उनके काव्यों से हुआ।

उनकी कृतियों में उनका सबसे बड़ा महाकाव्य 'महायात्रा' नाम से प्रकाशित हुआ है। यह उदात्त मधुर और चित्रोपम मुक्त-छन्द में है। कवि की इच्छा थी कि वे उसे इक्कीस सर्गों में पूरा करते, परन्तु सात सर्गों के बाद ही उनकी मृत्यु हो गई। इस असमाप्त रूप में भी उनका वह काव्य एक विलक्षण कृति है। कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद पाण्डवों के स्वर्गप्रयाण की अन्तिम यात्रा उन्होंने महाभारत से ली, और इस कथानक की नींव पर वे पूरे भारतवर्ष के इतिहास और विदेशी आक्रमणों के उत्थान-पतन तथा भविष्य के लिए एक दिशा-निर्देश का चित्र उपस्थित करना चाहते थे। उन्होंने इस काव्य में पाण्डवों को जगन्नाथपुरी में आता हुआ दिखाया है, जहाँ उन्हें अग्निदेव मिलते हैं, जो कि उड़ीसा और मध्य प्रदेश के आदिम जंगलों में से उन्हें सह्याद्रि के शिखर पर ले जाते हैं। वहाँ अग्नि-देव उन्हें भारतीय इतिहास की पूरी कहानी विस्तार से बतलाते हैं; और आर्यों के अपने देश में आनेवाले कलियुग से क्या-क्या पतन हो गया, इसका भी वर्णन करते हैं। पृथ्वीराज को मुहम्मद गोरी ने पराजित किया, इन घटनाओं तक कवि

यह कहानी लाते हैं। इसमें युद्धों और प्रकृति का वर्णन महाकाव्योचित भव्यता से किया गया है। अन्तिम युद्ध के आरम्भ में हिन्दू सेनापति का देशभक्तिपूर्ण भाषण बड़ा ही उत्साहवर्द्धक और अविस्मरणीय है।

परवर्ती लेखक

राधानाथ, फकीर मोहन और मधुसूदन के पीछे-पीछे उनके कई अनुयायी आए। स्थानाभाव के कारण उन सबका या उनमें से कुछ का भी पूरा विवेचन करना यहाँ असम्भव है, फिर भी कम से कम उनमें से दो लेखकों का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है, क्योंकि एक में तो उसके अत्यल्प लेखन में भी मौलिकता के दर्शन होते हैं और दूसरे की काव्य-शक्ति में विलक्षण कुशलता दिखाई देती है।

नन्दकिशोर बल राधानाथ औत मधुसूदन के अनुकरण में ही बहुत-कुछ लिखते थे। उन्होंने अपनी कविताओं में उड़ीसा के गाँवों का चित्रण किया है। लोक-गीतों और लोक-धुनों को वह आधुनिक भावगीतों के क्षेत्र में लाए। उनके 'पल्ली-चित्र' नामक काव्य में ऐसी गहरी भावनाएँ व्यक्त हैं, जो कि प्रत्येक उड़िया व्यक्ति के हृदय में, अपने शान्त, सुन्दर, स्वयंपूर्ण तथा पवित्र ग्रामीण वातावरण की ओर लौट जाने के लिए होती हैं और अब वहाँ का ग्रामीण वातावरण इतना वदल गया है कि वे वापस लौटकर नहीं आ सकते। उसपर भी आधुनिक सभ्यता का क्रूर आघात हुआ है। उनका 'नाना बाया-गीत, (कुछ शिशु छंद) उड़िया में अभी भी बच्चों की कविता का एक महत्त्वपूर्ण संग्रह माना जाता है।

गंगाधर मेहेर सम्बलपुर के एक गरीब जुलाहे कवि थे, जो कि अपनी काव्य-कुशलता के लिए प्रसिद्ध हैं। कम पढ़े-लिखे होने के कारण उनका क्षेत्र भी बहुत छोटा है, परन्तु प्राचीन पुराण-गाथाओं के विषयों में वे एक नवीन जादू और रस लाए। उनकी पंक्तियों में नवीन संगीत और उनके छन्दों में नया मँजाव है। उनके चित्रों में एक विशेष दृष्टि और वास्तविकता है, जो कि उड़ीसा में पहले न तो कभी देखी गई, और न सुनी गई। सम्बलपुर के उस विश्व-विख्यात हाथ से बुने कपड़े की तरह, जो कि वह वंश-परम्परा से अपने जीवन-यापन के लिए पैदा करते थे, मेहेर ने कविता को भी एक सजीव, रंगीन और सचित्र कला का रूप दिया। उनका एक-एक काव्य चीनी चित्र-कला के नमूने की तरह है। उनमें

भावनाएँ, रंग और घटनाएँ बोलती हैं। उनका क्षेत्र सीमित था, परन्तु उस छोटी-सी दुनिया में, उन्होंने अनेक छोटे-छोटे स्वर्ग निर्मित किए। उनके कई छन्द और श्लोक अब जनसाधारण की बोल-चाल के भाग हो गए हैं, और उनकी छन्द-रचना उड़ीसा में अब तक सर्वोत्तम काव्य-कला का मापदण्ड मानी जाती है। प्राचीन और आधुनिक सभी भारतीय काव्यों में उनके प्रास सबसे पुराने और संगीतमय माने जाते हैं। उनके प्रसिद्ध काव्य 'तपस्विनी' की सीता नारी-आदर्श का एक बहुत ऊँचा नमूना है।

सत्यवादी शाखा

इस शताब्दी के तीसरे दशक तक राधानाथ और मधुसूदन के अनुयायी अपनी परम्पराएँ बार-बार चलाते आए हैं, फिर भी यह कहना होगा कि साहित्यिक शक्ति के नाते उनका प्रभाव पहले दशक में ही प्रायः समाप्त हो गया था, क्योंकि बुद्धिवादियों की एक नई पीढ़ी धीरे-धीरे आगे आ रही थी।

१९०३ में, अर्थात् उड़ीसा में ब्रिटिश आधिपत्य के ठीक सौ वर्ष बाद, 'उत्कल सम्मिलनी' की स्थापना हुई। इसके मंच पर राजा और रंक, सामन्त और साधारण जनता, कन्धे से कन्धा मिलाकर उड़िया-भाषी भू-प्रदेश के संयुक्तीकरण की मिली-जुली माँग कर रहे थे। तब उड़िया-भाषी लोग चार अलग-अलग प्रदेशों में बिखरे हुए थे। वस्तुतः भारत में एक भाषा-भाषी प्रान्त की यह सबसे पहली माँग थी। १९०३ से प्रथम महायुद्ध के अन्त तक, और गांधीजी के आगमन और उनके असहयोग आन्दोलन तक उड़िया लोगों का यह सबसे बड़ा स्वप्न और सबसे महत्त्वपूर्ण आकांक्षा थी। यह प्रादेशिक राष्ट्र-प्रेम आधुनिक भारत के जिस एक बहुत बड़े सपूत के रूप में अभिव्यक्त हुआ वे थे पंडित गोपबन्धु दास (१८७७–१९२८)। उनके गद्य, पद्य और भाषणों ने उड़ीसा की जनता को इस तरह से अनुप्राणित कर दिया, जैसा न तो कभी पहले हुआ और न बाद में ही। ऐसा लगता था कि मानो उनके शब्द समूची जनता के हृदयों से—अन्तरात्मा से—आ रहे हों। उन्होंने पुरी के पास साखीगोपाल नामक स्थान पर एक 'विहार' स्थापित किया, जहाँ अनेक बड़े-बड़े विद्वान (जैसे पंडित नीलकण्ठ दास, पंडित गोदावरीश मिश्र और पंडित कृपासिन्धु मिश्र) बहुत छोटी-छोटी आय पर काम करते रहे। उन्होंने विदेशी स्वामियों के नीचे बड़े-बड़े वेतन वाली

नौकरियाँ ठुकरा दीं। वे चाहते तो ऐसी नौकरियाँ उन्हें सहज ही मिल सकती थीं। यह 'विहार' नाम की शाला प्रायः बारह वर्ष तक चलती रही और यही था उड़ीसा का सांस्कृतिक केन्द्र। इस शाला के सब अध्यापक पंडित गोपबन्धु के प्राणदायक नेतृत्व के नीचे शिक्षा और साहित्य की सेवा तथा पुर्नर्निर्माण में जुट गए। यद्यपि वस्तुतः यह एक पुनर्जीवनवादी आन्दोलन था, जो कि जनता को फिर से वैदिक संस्कृति की ओर ले जाने की माँग करता था, फिर भी उनके आदर्श थे सादा जीवन और उच्च विचार। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को देश की सेवा में निरन्तर बलि देने का और गीतों में बतलाई हुई मानवता का वे प्रचार करते थे। परन्तु उनके महान नेता गोपबन्धु दास के जीवन को छोड़कर यह आदर्श व्यवहार में बहुत कम दिखाई देता, इसलिए देश के जीवन में नैतिक शक्ति के नाते इस संस्था ने कोई बहुत बड़ा प्रभाव नहीं छोड़ा। उसका कुछ स्थायी रूप, इस संस्था के छोटे-से जीवन में निर्मित उत्तम साहित्य में मिलता है। वे 'सत्यवादी' नाम का एक मासिक पत्र निकालते थे और 'साप्ताहिक समाज' की स्थापना भी उन्होंने ही की थी। इन पत्रों के पृष्ठों में गोपबन्धु ने अपनी पूरी भावनाएँ, आकांक्षाएँ और उमंगें ऐसी गद्य शैली में व्यक्त कीं, जो कि अपनी भव्यता, शुद्धता, व्यंजना-चातुर्य, विचारों की शिष्टता और सच्चे काव्य-रस से भरी हुई हैं। यह गद्य-शैली अब उड़िया में देखने को नहीं मिलती। उनकी 'बन्दी का आत्म-चिन्तन' नामक कृति उड़ीसा में लोक-गीतों की भाँति अत्यन्त लोक-प्रिय है।

पंडित नीलकंठ दास ने, जो गोपबन्धु के निकटतम अनुयायी हैं, अपनी 'आर्य-जीवन' नामक पुस्तक में पांडित्यमयी शैली में ब्राह्मण आदर्शों का फिर से प्रचार किया। उन्होंने 'कोणार्क' पर एक सप्राण और वन्य सुन्दरता से युक्त काव्य रचा। इस काव्य की भूमिका में उड़ीसा के इतिहास का स्पष्ट और विचारप्रक्षोभक सिंहावलोकन किया गया है, जो कि सत्यवादी 'विहार' के विद्यार्थियों के स्वप्नों के रूप में चित्रित है। इन विद्यार्थियों को वे कोणार्क में शैक्षणिक यात्रा पर ले गए थे। पंडित दास राजनीति के वीरान बीहड़ में बहुत दिन भटकने के बाद अब साहित्य के रचनात्मक जगत् की ओर लौटे हैं और इधर उन्होंने एक नई दिशा दिखलानेवाला सामाजिक साहित्यिक इतिहास लिखा है। अनेक खण्ड वाले 'ओडिया साहित्यर क्रम-परिणाम' नामक गद्य ग्रंथ को सर्वसाधारण पाठकों ने

उनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ माना है। उसी धारा के पंडित कृपासिन्धु मिश्र ने अपनी 'कोणार्क' और 'बारबाटी' नामक दो पुस्तकों में प्रथम श्रेणी का ऐतिहासिक साहित्य निर्मित किया और पंडित गोदावरीश मिश्र[१] ने मन को हिला देने वाले राष्ट्रीय नाटक, कविताएँ और उत्तम वीर-गाथाएँ लिखीं हैं। कुल मिलाकर अब तक उड़ीसा में सामूहिक रूप से निर्मित साहित्यिक उपलब्धियों में यह सबसे अच्छा युग और सबसे सुन्दर रचयिताओं का दल है। 'सत्यवादी' धारा क्यों लुप्त हो गई, इसका चाहे कुछ भी कारण हो; किन्तु यह तो सच है कि उड़ीसा के राष्ट्रीय जीवन में उस धारा के नष्ट होने से एक ऐसा स्थान रिक्त हो गया, जो फिर कभी नहीं भर सका। अपने छोटे-से जीवन में यह धारा उड़ीसा के लिए वैसी ही थी, जैसी बंगाल के लिए 'शान्ति-निकेतन'।

नाटक और रंगमंच

इन वर्षों में नाटक धीरे-धीरे ऊपर आ रहे थे। न केवल साहित्य की एक प्रतिष्ठित शाखा के रूप में, बल्कि उड़ीसा के राष्ट्रीय जीवन के अंग के नाते भी राष्ट्रीय वृत्ति में से यह नाटक निर्मित हुए। क्योंकि उड़ीसा में बंगाली नाटक मंडलियाँ मंच पर बंगाली नाटक खेलती थीं और यह एक चुनौती थी, जिसका उत्तर उड़िया नाटक के रूप में आगे आया। रामशंकर राय, कामपाल मिश्र, भिखारीचरण पटनायक और गोविन्द सुरदेव धीरे-धीरे रंगभूमि को एक सशक्त और सम्मानित प्रभाव के रूप में इस प्रदेश में प्रतिष्ठित कर रहे थे। उनके द्वारा रंगभूमि केवल मनोरंजन का स्थान न रहकर, समाज-सुधार और राष्ट्रीय पुनरुत्थान का भी मंच बन गई। जिस प्रकार बंगाली नाटककारों को राजस्थान और महाराष्ट्र के इतिहास से बहुत-सी सामग्री मिली थी, उसी प्रकार उड़िया नाटककारों को उड़ीसा-इतिहास के वीरों से आवश्यक सामग्री प्राप्त हुई; उदाहरणार्थ वीर राजा खारवेल, कपिलेन्द्र, पुरुषोत्तम और अनंगभीम आदि के नाम लिये जा सकते हैं; जिनकी पताका के नीचे उड़ीसा ने अपना विजय-अभियान और साम्राज्यों का विस्तार किया। उड़ीसा देश की बहुत समय तक खण्डित जाति के लिए यह वीर-पूजा एक स्वाभाविक प्रिय भावना थी।

---

१. 'अर्धशताब्दीर ओडिसा ओ तांहिरे मो स्थान' (आत्मकथा) पर १९६१ में सा० अ० ने इन्हें पुरस्कृत किया।

इसी युग में वैष्णव पाणी ने ग्राम-नाटकों को क्रान्तिकारी ढंग से सुधार दिया और समूचे ग्रामीण उड़ीसा में 'यात्रा' का आधुनिक परिष्कृत रूप प्रचलित किया। अब इन यात्राओं में समकालीन घटनाओं का प्रतिबिम्बन होने लगा और यह ग्राम-नाटक रंगभूमि के नाटकों के निकट आने लगे, यद्यपि उनकी आकर्षक संगीतमयता कम नहीं हुई। उड़ीसा के कवियों में इस एक अकेले प्रतिभाशाली व्यक्ति ने जो कमाल कर दिखाया, वह समूचे आधुनिक भारत के नाटकीय इतिहास में अद्वितीय है।

गाँधी : ठाकुर और 'सबूज'-दल

इस समय तक गाँधी की आँधी देश में फैल चुकी थी। पंडित गोपबन्धु और उनके कार्यकर्त्ताओं के दल ने अपने-आपको राष्ट्रीय आन्दोलन में तन्मयतापूर्वक लगा दिया था और तब उड़ीसा का जो एकमात्र सांस्कृतिक केन्द्र था, वह भी इस प्रकार खो दिया गया। इस प्रकार से जब 'सत्यवादी' दल समाप्त हो चुका था, तब कटक के कुछ थोड़े-से अण्डर-ग्रेजुएट नवयुवक एक नया साहित्यिक शगूफ़ा लेकर बढ़ रहे थे, जिसपर बंगाल का ट्रेड मार्क लगा हुआ था। उस समय रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपनी कीर्ति और लोकप्रियता के शिखर पर थे। यह सच है कि उनका प्रभाव अदम्य है, परन्तु उस प्रभाव में उस समय के युवकों के पैर लड़खड़ाने लगे, और सिर चक्कर खाने लगा। 'ठाकुर' की कविता और विवेक के महान भण्डार में से यह तरुण कोई बहुत महत्त्वपूर्ण चीज़ अपने साथ नहीं लाए। उन्होंने केवल कुछ बाह्य गौण बातों का ही अनुकरण किया, जैसे कि तुकों या तर्क और संगति के अभाव का और कुछ रहस्यप्रियता के नाम पर अर्थहीन रचना का; जो कि हमें कभी-कभी ठाकुर की कविता में भी मिलती है। यह लोग अपने-आपको 'सबूज' कहते थे। यह नाम भी उधार लिया गया था, क्योंकि शुरू में 'ठाकुर' और प्रथम चौधरी ने यह नाम, बंगाल में उस समय जो रूढ़िबद्ध और सनातन विचारों के विरोध में एक आन्दोलन चला था उसके लिए प्रयुक्त किया था। और बंगाल के 'सबूज' पत्र की तरह से इन लोगों ने भी एक अपनी पत्रिका निकाली, जिसका नाम था 'युग-वीणा'।

उड़ीसा के साहित्यिक जगत् में इस दल ने एक नया आन्दोलन शुरू कर दिया। पाँच-छः वर्ष तक वे बहुत-सी नेई-नई चीज़ें उड़िया साहित्य में लाये। यद्यपि

प्रत्येक व्यक्ति यह जानता था कि ये चीजें उन्होंने बाहर से आयात की हैं, और उनकी जड़ें उड़ीसा की मिट्टी में नहीं हैं। इन लोगों ने अपना प्रकाशन-गृह भी शुरू किया। आश्चर्य की बात है कि बहुत जल्दी यह 'सबूज' (हरे) पीले पड़ गए।

गत दो दशाब्दियों में तरुण पीढ़ी पर 'सबूज' दल का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रास-रचना को उन्होंने उड़िया साहित्य में प्रतिष्ठित किया और उसके साथ-साथ वे देशज छन्द-रचना भी लाए। अन्नदाशंकर राय और बैकुण्ठनाथ पटनायक[1] की कई कविताएँ, जो कि उन दिनों के आरम्भ में लिखी गई थीं, सभी समीक्षकों के द्वारा उड़िया साहित्य के भण्डार के लिए स्वागत-योग्य मानी गई हैं। उन कविताओं को पढ़कर ऐसा आभास होने लगता है कि जैसे सचमुच हम एक नई दुनिया में पहुंच गए हैं। उनमें अपने ही ढंग के शब्द-संगीत का जादू है। उनमें प्रेम, सौन्दर्य और जीवन के नये स्वप्न हैं। ऐसी नई कल्पना-प्रतिमाएँ हैं, जो सुसंस्कृत उड़िया कानों को बहुत अटपटी और विचित्र लगने वाली नहीं थीं। प्रास तो हैं ही, क्योंकि उड़िया व्यक्ति के कान, 'सारळा-दास' से लगाकर गंगाधर मेहेर और नीलकंठदास के काव्यों तक में कवि-मालिका के देशज-अनुप्रास से इतने परिचित थे कि उन्हें जनता की आत्मा और भाषा के सच्चे मुहावरे इस पारम्परिक कविता में मिले थे। परन्तु सबूज-दल ने जैसे उस रूढ़ि-रीति को तोड़ दिया। एक समय इस दल के लेखकों द्वारा मिलकर लिखा हुआ उपन्यास 'बासन्ती' बहुत लोकप्रिय हुआ और तरुण पीढ़ियों पर उसने कुछ अच्छा प्रभाव छोड़ा। कालिन्दीचरण पाणिग्राही का उपन्यास 'माटीर माणिष'[2] (मिट्टी का पुतला) इस दल के चरमोत्कर्ष के दिनों में लिखा गया। उनकी कई कहानियाँ बहुत लोकप्रिय हुईं, जो कि उनके सम्मान योग्य ही था। आज समूचे उड़ीसा में कालिन्दीचरण पाणिग्राही समकालीन समस्याओं के अच्छे प्रचारक और विशिष्ट गद्य-शैलीकार के नाते बहुत प्रसिद्ध हैं।

जनता के कवि

'सबूजों' के बाद सोशलिस्ट, या कहिए कम्युनिस्ट, तीसरे दशक के मध्य में

१. 'उत्तरायण' (काव्य-संकलन) पर १९६५ में सा० अ० से पुरस्कृत।

२. साहित्य अकादेमी ने इसे अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद के लिए चुना है और इसका हिन्दी अनुवाद 'मिट्टी का पुतला' नाम से प्रकाशित भी हो चुका है।

आये। वे अपने साथ फ्रायड, वाल्ट विटमैन और कार्ल मार्क्स को लाये। यद्यपि उड़ीसा मुख्यत: कृषि-प्रधान प्रदेश था और है, तथा कल तक उसका एकमात्र उद्योग कुछ धान की मिलें ही था, ये नवयुग के लाने वाले जोशीजी हिंसात्मक कविताएँ वर्ग-युद्ध पर लिखते थे। बेचारा गरीब रिक्शे वाला, जो कि कटक की गंदी धूलभरी सड़कों पर रिक्शा चलाता था, यह नहीं जानता था कि वह अगणित छोटी कहानियों का नायक बन गया है। जो लोग इनके गोल में नहीं आते उनका मध्ययुगीन या अफ़यूनसेवी कहकर मज़ाक उड़ाया गया। परन्तु सच्ची बात कहें तो वह वर्ग-युद्ध की घोषणा एक अस्थायी अन्तर्राष्ट्रीय फैशन-मात्र थी। और 'जनता' की बात तो छोड़िए, इन स्वयंभू 'जनता के कवियों' में से अधिकांश की मार्क्सवादी संध्या-भाषा पढ़े-लिखे बुद्धिजीवियों के लिए भी अगम्य होती है।

बहुत-से वामपक्षी लेखकों में कुछ नाम निस्सन्देह प्रतिभा के कारण चमक उठते हैं। उनका स्थान उड़िया कविता में इसलिए नहीं है कि वे वामपक्षी प्रचार-काव्य लिखते थे, परन्तु इसलिए कि उनमें मानवीय भावना और सामाजिक व्यक्तिवाद का सच्चा पुट मिलता है। सची राउत राय[1] की 'पल्लि-श्री' उड़ीसा में लोकप्रिय है और उनकी कुछ कहानियों तथा कविताओं में आधुनिक युग की निराशा का प्रतिबिंब है, जो कि साहित्य में स्थायी महत्त्व की वस्तु रहेगी। अनन्त पटनायक की कविताओं और मनमोहन मिश्र के कुछ गीतों में भावनामयता है, जिसने कि कई रसिक हृदयों को स्पर्श किया है, उनमें राजनीतिक झुकाव चाहे किसी ओर हो।

परन्तु अब तो वामपक्षी विचारधारा साहित्यिकों का सामान्य विषय हो गया है। आक्रामक युद्ध-घोषणाएँ अब नहीं सुनाई देतीं। अब इलियट और एज़रा पाउण्ड की छायाएँ मंच पर चलती हैं। प्रति मास या प्रति सप्ताह हमें कुछ ऐसा साधारण गद्य पढ़ने को मिलता है, जिसे जानबूझकर असंबद्ध या तर्कहीन बनाकर छन्द-रूप में काटकर प्रगतिशील कविता के नाम से प्रदर्शित किया जाता है। यह समझ में नहीं आता कि छन्द-परम्परा का बड़ी सतर्कता से रखा जाने वाला यह बहाना भी आखिर क्यों?

लेकिन ऐसे भी लेखक हैं जो विगत तीस वर्षों तक कई ऐतिहासिक आन्दो-

१. 'कविता—१९६२' शीर्षक काव्य-संकलन पर १९६३ का सा० अ० पुरस्कार इन्हें प्राप्त हुआ।

लनों के उत्थान-पतन के बीच में भी क्रमशः बराबर राजनीतिक दासता (चाहे वह वामपक्षी हो या दक्षिणपक्षी) से बचे रहे। उन्होंने जो कुछ बुरा था उसकी बुराई की, और जो कुछ अच्छा था उसकी प्रशंसा की। व्यक्ति की परवाह न करके वे अपनी साहित्य-रचना का कार्य निरन्तर धैर्यपूर्वक करते रहे। इस प्रकार के सश्रद्ध प्रामाणिक दल में से एक श्री राधामोहन गडनायक हैं, जिनकी कविता उड़ीसा में अपने सौन्दर्य, प्रेम और वीरतापूर्ण घटनाओं के निर्दोष छन्दोबद्ध अंकन के लिए प्रसिद्ध है। इनका प्राचीन साहित्य और छन्द-शास्त्र का कला-सम्बन्धी अध्ययन भी बहुत गहरा है। शान्तिनिकेतन के डॉ० कुंजबिहारीदास की हमें प्रशंसा करनी चाहिए जिन्होंने साहित्य की शुद्ध भक्ति की है। आजकल वे उड़ीसा के ग्राम-गीतों को इकट्ठा करने के बड़े कार्य में लगे हैं।

कुल मिलाकर कविता का बाजार अब उठता जा रहा है। एक-आध कवि अपवाद हैं। उड़ीसा में विगत दशक मुख्यतः नाटकों और उपन्यासों का रहा है, जिसके बारे में कुछ और कहना आवश्यक है।

उपन्यास, नाटक और गद्य

फकीर मोहन के बाद उड़िया उपन्यासों में कोई उल्लेखनीय कृति नहीं आई। हर साल एक-दो जो नये नाम आते रहे, वे विशेष प्रसिद्ध नहीं थे। उपन्यासों के क्षेत्र में अगला युग 'सबूज-दल' का था। उसमें भी दो ही उपन्यास प्रसिद्ध हुए। गत दस वर्षों से उड़िया साहित्य में फिर उपन्यासों की बाढ़ आई है। दो भाई—गोपीनाथ[1] और कान्हूचरण महान्ती[2] और चन्द्रमणी दास तथा नित्यानन्द महापात्र इत्यादि। यदि सस्ते सनसनीखेज़ उपन्यासों को छोड़ दें तो हमें कान्हूचरण, गोपीनाथ और नित्यानन्द महापात्र के उपन्यासों में एक गम्भीर प्रयोजन मिलता है। गोपीनाथ महान्ती आदिवासियों के क्षेत्र में नई वस्तु की खोज में गये, जबकि उनके बड़े भाई कान्हू ने सामाजिक समस्याओं पर उपन्यास लिखे हैं। दोनों ने इस क्षेत्र में बहुत अधिक लिखा है।

---

१. आदिवासियों के जीवन पर लिखे गए इनके 'अमृतर सन्तान' नामक उपन्यास पर साहित्य अकादेमी ने १९५५ में पुरस्कार दिया, और इसका हिन्दी अनुवाद साहित्य अकादेमी की ओर से 'अमृत सन्तान' नाम से प्रकाशित हुआ।

२. 'का' नामक उपन्यास पर १९५८ में इन्हें सा० अ० ने पुरस्कृत किया।

रंगमंच

उड़ीसा में स्वतन्त्र प्रदेश के निर्माण के बाद रंगमंच को एक नई प्रेरणा मिली। वह कटक के नागरिक जीवन में एक स्थायी वस्तु बन गया। उड़ीसा में चार सजीव, समृद्ध थियेटर हैं और नाटक लिखने वालों को अपने पेशे से अच्छी आमदनी हो रही है। उपन्यासों की तरह नाटकों की भी बड़ी माँग है। उड़िया नाटक की परम्परा को पंडित गोदावरीश मिश्र तथा गोविन्द सुरदेव ने जहाँ छोड़ा था, श्री अश्विनीकुमार घोष और कालीचरण पटनायक ने अखण्ड रूप में आगे बढ़ाया है। अब पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों के दिन समाप्त हुए। केवल सामाजिक नाटक ही मंच पर खेले जाते हैं।

गद्य

उड़िया में सामान्यत: गद्य ही अधिक विकसित हुआ है। इसका श्रेय राम-शंकर, फकीर मोहन, श्री रत्नाकर पति, बिपिन बिहारी राय, पंडित नीलकंठ दास[1] और श्री शशिभूषण राय (राधानाथ राय के पुत्र) आदि, उसके बाद के उपन्यासकारों के निबंधों और गोपाल चन्द्र प्रहराज के पैने व्यंग्यों तथा पंडित गोपबन्धु दास के काव्यमय निबन्धों एवं भाषणों को है। प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य में वैज्ञानिकता का जो अभाव था, उसे भी शीघ्रतापूर्वक पूरा किया जा रहा है। अन्य आलोचनात्मक अध्ययन भी चल रहे हैं। तारिणी चरण राठ ने इस शताब्दी के प्रारम्भ में एक छोटे-से प्रबन्ध द्वारा उड़िया साहित्य का प्रामाणिक इतिहास लिखने की जो शुरुआत की थी, वह समय के साथ विकसित होती गई है और विनायक मिश्र तथा सूर्यनारायण दास[2] जैसे पंडितों ने इस विषय पर बृहदकाय ग्रंथों की रचना की है। पंडित नीलकंठ दास ने सामाजिक-साहित्यिक अध्ययन पर दो खंडों में एक विशाल ग्रंथ 'ओडिया साहित्यर क्रम-परिणाम' लिखकर इसमें योगदान किया। हाल में ही फकीर मोहन और गंगाधर मेहेर जैसे कवियों पर स्वतंत्र रूप से लिखी गई पुस्तकों की भी बाढ़ आ गई है। बीसवीं-

१. १९६४ के सा० अ० पुरस्कार इन्हें 'आत्म-जीबनी' (आत्मकथा) पर मिला।

२. 'ओडिया साहित्यर इतिहास' पुस्तक पर इन्हें साहित्य अकादेमी का १९६७ का पुरस्कार प्राप्त हुआ।

शताब्दी के आरम्भ में पंडित गोपीनाथ शर्मा ने 'ओडिया भाषा तत्त्व' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ रचकर जिस कार्य का समारम्भ किया था, उसे भी पंडित विनायक मिश्र ने उड़िया भाषा का इतिहास लिखकर तथा गिरजाशंकर रॉय और गोलोक बिहारी ढल ने अन्य विद्वत्तापूर्ण कार्य करके आगे बढ़ाया है। छोटे-बड़े लगभग एक दर्जन कोशों में से प्रमुख हैं : पंडित गोपीनाथ नन्द शर्मा का 'ओडिया शब्द-तत्त्व-बोध अभिधान' और लगभग डेढ़ लाख रुपये की लागत से सात खंडों में प्रकाशित श्री गोपालचन्द्र प्रहराज का चतुर्भाषीय कोष 'पूर्णचन्द्र ओडिया भापा कोश'। पाठकों को सभी प्रकार का आवश्यक और रोचक ज्ञान प्रदान करने वाले चार-पाँच लोकप्रिय और बृहदाकार विश्वकोश प्रकाशित हो चुके हैं और अभी हाल में ही इस दिशा में जो वास्तविक कार्य आरम्भ किया गया है, वह है—श्रेष्ठ विद्वज्जनोचित पद्धति पर उत्कल विश्वकोश का संग्रह। इस आयोजन को पूरा करने का भार अब उत्कल विश्वविद्यालय ग्रहण कर रहा है।

उड़ीसा के पाठक-वर्ग में ज्ञान-विज्ञान का साहित्य पढ़ने की लालसा अव इतनी अधिक और तीव्र हो गई है कि विभिन्न प्रकाशक विश्व-इतिहास पर बड़े-बड़े ग्रंथ, खेती-बारी के सभी पहलुओं पर मोटी-मोटी किताबें और अणु-परीक्षण तथा शिक्षा-दीक्षा जैसे विषयों पर विज्ञान-प्रचार समिति की समीक्षात्मक पुस्तकें प्रकाशित करने लगे हैं; इस अत्यन्त सुन्दर समिति का निर्माण उड़ीसा के उन तरुण वैज्ञानिकों ने किया है, जो उड़िया भाषा में विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। यह क्षेत्र अभी तक अछूता ही पड़ा था और इस सम्बन्ध में गोकुलचन्द महापात्र तथा डा० वी० के० बेहुरा के नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय हैं। मनमोहन प्रेस के नवयुवक और साहसी प्रकाशक प्रफुल्लकुमार दास की भी प्रशंसा करनी ही चाहिए कि उन्होंने नोबल पुरस्कार-प्राप्त सभी लेखकों की पुरस्कृत कृतियों का अनुवाद उड़िया में करने का श्लाघनीय दायित्व अपने ऊपर लिया है। उनके कुछ अनुवादों के विषय में यह कहना उचित ही होगा कि समूचे एशिया अथवा भारत की किसी भी भाषा में उस समय तक उक्त अनुवाद नहीं हुए थे, उदाहरणार्थ आइसलैंड के लेखक हैलडोर लैक्सनेस के 'इंडिपेंडेंट पीपुल' का अनुवाद। युवक प्राध्यापक वैद्यनाथ मिश्र का कार्य भी प्रशंसनीय है। हमारे राष्ट्रीय जीवन के प्रभूत पक्षों के विषय में उड़ीसा के बुद्धिजीवी वर्ग को सम्यक् रूप से शिक्षित करने के उद्देश्य से उन्होंने जनतन्त्र, संसदीय सरकार-व्यवस्था और

सामाजिक-राजनीतिक विषयों पर पुस्तकें और लेख लिखने का एक तरह से बीड़ा ही उठा लिया है। ओषधिशास्त्र, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, पशु एवं कुक्कुट-पालन आदि पर भी क्रमशः पुस्तकें बाज़ार में आती जा रही हैं। भारत की किसी भी भाषा में शायद ही हाथियों के सम्बन्ध में कोई ऐसी प्रामाणिक पुस्तक हो जैसी कि 'उत्कल साहित्य' के पृष्ठों में बिखरी पड़ी है। समस्त तकनीकी और वैज्ञानिक विषयों का समावेश करने वाला एक शब्दकोश अनेक खंडों में प्रकाशित हो चुका है। इस कोष के संग्रह का कार्य, उड़ीसा सरकार के तत्त्वावधान में एक समिति ने किया, जिसके प्रधान डा० आर्त्तवल्लभ महान्ती थे। बाल-साहित्य का भी पर्याप्त विकास हो रहा है। गो कि इस क्षेत्र में अधिक पूँजी लगाने में प्रकाशक निश्चय ही हिचकिचाते हैं। 'शिशु-संखलि' अर्थात् बच्चों का खज़ाना सारस्वत प्रेस द्वारा प्राकाशित एक उत्कृष्ट बाल-विश्वकोश है, यद्यपि यह अभी भी पूर्ण होने को है।

उड़ीसा में प्राचीन और मध्य युग में भी कुछ प्रसिद्ध लेखिकाएँ हुई और आधुनिक काल में भी कई हैं। उनमें से दो लेखिकाओं का वर्णन उनकी असाधारण प्रतिभा के लिए करना आवश्यक है।

स्वर्गीया डा० कुन्तला कुमारी साबत, जो कि दिल्ली में रहती थीं और वहीं उनका देहान्त हुआ। अपने समय में कवयित्री, उपन्यास-लेखिका और देश-सेविका के नाते विख्यात थीं। इस समय एक अन्य प्रधान प्रतिभाशाली लेखिका हैं, श्रीमती विद्युत्प्रभा देवी जिनकी भाव-कविता अपने सहज प्रवाह, निर्दोष प्रास और कल्पना-चित्रों के लिए प्रसिद्ध है।

उड़ीसा राज्य के निर्माण के बाद जैसी पहले स्थिति थी उससे अब कहीं अधिक आशादायक चित्र साहित्य के क्षेत्र में मिलता है। हमारी कालेजों के पढ़ाई के दिनों में तीस साल तक सिर्फ एक या दो साप्ताहिक पत्रिकाएँ प्राप्त थीं; अब उड़ीसा में पाँच दैनिक पत्र हैं, जिनमें से एक अंग्रेज़ी का भी है। पुस्तकों का व्यवसाय भी तेज़ी से प्रगति कर रहा है। उड़ीसा को आगे आशा और विश्वास के साथ एक उज्ज्वल भविष्य की ओर देखने के पर्याप्त कारण हैं। केवल इसलिए नहीं कि उड़ीसा के पास प्राकृतिक सम्पत्ति की सम्भावनाएँ और कोष बहुत बड़े-बड़े हैं, परन्तु इसलिए भी कि कला और संस्कृति के क्षेत्र में उसकी बड़ी ऊँची परम्परा रही है; जो कि अभी भी उन्नति कर रही है, और विविध अन्य रूपों में प्रकट हो रही है।

संदर्भ-ग्रन्थ

उड़ीसा—डब्ल्यू० डब्ल्यू० हण्टर
ए कम्पैरेटिव ग्रामर आफ़ द फ़ोर ईस्टर्न इंडियन लैंग्वेजेज़—जान बीम्स
टिपिकल सेलेक्शंस आफ़ उड़िया लिट्रेचर (३ खंड)—बी० सी० मजूमदार, कलकत्ता विश्वविद्यालय
माडर्न उड़िया लिट्रेचर—प्रियरंजन सेन, कलकत्ता विश्वविद्यालय
लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया—जी० ए० ग्रियर्सन, खंड ५, भाग २, पृष्ठ ३६७–४४६

उर्दू

ख्वाजा अहमद फ़ारूक़ी

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

१८५७ के राष्ट्रीय आन्दोलन की घटनाएँ बहुत महत्त्व रखती हैं। उन दिनों मुगल साम्राज्य दम तोड़ रहा था, और विगत तीन सदियों में उसने जिन सांस्कृतिक मूल्यों को बढ़ाने का प्रयत्न किया था, वे मिट्टी में मिल चुके थे। अंग्रेज़ लोग अपने साथ औद्योगिक क्रान्ति और नये विज्ञान के सब साधनों को लेकर आए थे; उन्होंने भारत में अपने पैर जमाए और अपने स्वार्थ के लिए नये रूप से इस देश का शोषण आरम्भ किया। प्राचीन देशी शासन-व्यवस्था बदलकर एक नया विदेशी राज्य यहाँ आ गया, जिसमें कई त्रुटियाँ होने के साथ-साथ नई प्रगतिशीलता के गुण भी विद्यमान थे। इस नई व्यवस्था में हम पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के अधिक निकट आए और उनका प्रभाव हमारे सामाजिक जीवन तथा मानसिक वृत्तियों पर भी पड़ा।

विदेशी साम्राज्य की स्थापना के कारण आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में ब्रिटिश और भारतीय हितों के बीच एक तीखा संघर्ष शुरू हुआ। १८५७ का विद्रोह अलग से कटी हुई घटना या इतिहास का एक योग मात्र नहीं था। भारतीय जनता के मन में जमा हुआ असन्तोष १८५७ के विद्रोह के रूप में फूट पड़ा, क्योंकि अंग्रेज़ों की विजय के कारण जनता राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत पीड़ित थी। यह विद्रोह केवल फ़ौजी बगावत न था, मगर डॉ० डफ़ के शब्दों में यह बलवा और क्रान्ति दोनों एकसाथ था। एक प्रकार से यह आगे आने वाले स्वातन्त्र्य-संग्राम का विधिवत् रिहर्सल था और उसमें से संयुक्त आन्दोलन की परम्परा ने जन्म लिया। पुराने समाज की सामाजिक परम्पराएँ १८५७ में अपनी शक्ति के पुनस्संस्थापन के अन्तिम प्रयत्न में पूरी तरह से विनष्ट हो गईं। १८७० के बाद अन्य सामाजिक परम्पराएँ जाग उठीं।

सन् १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। १८७० से १८८५ के बीच का युग किसानों के असन्तोष, दस्तकारों और कारीगरों के धन्धों को कुचलने, १८६७–१८८५ के बीच में भयानक अकाल, १८७५ में दक्षिण के किसानों के विद्रोह और धीमे-धीमे बढ़ने वाले राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के लिए प्रसिद्ध है। पढ़े-लिखे मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों का वर्ग धीरे-धीरे जाग रहा था और राजनीतिक दृष्टि से उनकी ज़बान खुल गई थी। इसके पीछे जो प्रेरणाएँ काम कर रही थीं उनमें अमरीका की जनता का स्वातन्त्र्य-युद्ध, आस्ट्रेलिया के कब्ज़े से आज़ाद होने के लिए इटली की राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-संघर्ष की कहानी, टामस पेन, स्पेन्सर, मिल और वाल्तेयर के ग्रंथ और गैरीबाल्डी तथा मैज़िनी की जीवनियाँ आदि प्रमुख हैं। उस समय के उदारदलीय नेताओं ने बड़ा प्रगतिशील कार्य किया, परन्तु धीरे-धीरे जनता में बेकारी और निराशा फैलने लगी। भारत में युयुत्सु राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। १९०५ से १९१८ के बीच में राष्ट्रीय आन्दोलन अधिकाधिक संघर्षपूर्ण, चुनौती देने वाले और व्यापक आधारयुक्त बनने लगे। पहले महायुद्ध, होमरूल के आंदोलन और महायुद्ध के बाद के आर्थिक संकटों ने भारत में ब्रिटिश राज्य की जड़ों को खोखला कर दिया।

रौलट एक्ट पास हुआ, पंजाब में मार्शल ला लग गया और ख़िलाफ़त आन्दोलन भी हुए। इन सब घटनाओं ने राष्ट्रीय असन्तोष की धारा के वेग और गहराइयों को और भी बढ़ाया। ब्रिटिश सरकार ने राष्ट्रीय नेताओं के विरुद्ध सख़्त कदम उठाए। मौलाना आज़ाद का 'अल-हिलाल', मौलाना मोहम्मद अली का 'कामरेड' और 'हमदर्द' नामक पत्र ज़ब्त किए गए तथा १९१५ में हमारे कई प्रसिद्ध नेताओं को जेल में डाल दिया गया। महात्मा गांधी ने खिलाफ़त आन्दोलन का समर्थन किया और १९२१ में अपना प्रसिद्ध असहयोग आन्दोलन शुरू किया। भारतीय राजनीति के क्षेत्र में गांधी जी अपनी अन्तिम सांस तक सर्वोपरि रहे। १९३० से १९३४ और सन् १९४२ के राष्ट्रीय जन-आन्दोलनों तथा द्वितीय महायुद्ध के समानान्तर चलने वाले साम्प्रादयिक तत्त्वों ने भी ज़ोर पकड़ा, जिनका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि देश का विभाजन होकर पाकिस्तान बन गया। गांधी जी ने 'साम्प्रदायिकता के सर्वनाश के लिए अपने रक्त का तर्पण देकर अपने-आपको एक सजीव बलि के रूप में अर्पित किया।'

साहित्यिक पृष्ठभूमि

राष्ट्रीय विकास की इन सब ऐतिहासिक मंज़िलों में उर्दू साहित्य बराबर हमक़दम और हर माँग पर जवाब देता हुआ चला। उसमें जनता के मनोवैज्ञानिक निरीक्षण, भावनात्मक अनुभव और कानाफूसियाँ भी मिलती हैं। ईमानदारी से जीवन का यथातथ्य चित्रण करने के लिए उसे अपनी गुलो-बुलबुल की दरबारी कुण्ठित परम्पराएँ, लफ़्ज़ों की नक़्क़ाशी और मीनाकारी, भड़कीली कहन की ख़ूबी तथा बासी कल्पना-चित्र छोड़ देने पड़े। अवध (१८५६ में) और दिल्ली के राज्य के (१८५७ में) पूरी तरह नष्ट होने के साथ यह परिवर्तन हुआ और तभी भारत में ब्रिटिश राज्य भी मज़बूत बनता जा रहा था। उर्दू साहित्य पर भी दूरगामी महत्त्व की इन घटनाओं का प्रभाव पड़े बिना न रहा। संक्रांति की सभी अवस्थाएँ—भयानक संघर्ष, विकृत प्रतिक्रियावादिता और स्वस्थ समन्वय—स्पष्टतया उर्दू साहित्य में दिखाई देते हैं। अंग्रेज़ी शिक्षा के कारण पुरानी विचार-धारा के साथ-साथ नया सशक्त चिन्तन सामने आया। छापेखानों और आधुनिक यातायात के साधनों ने इसकी और भी सहायता की।

ब्रिटिश संस्कृति की पहली प्रतिभाशाली छाप दिल्ली में उर्दू के पुनरुत्थान के रूप में मिलती है। यह उन्नीसवीं शती के दूसरे चरण की घटना है। दिल्ली में एक उत्साही दल ने पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान को उर्दू में लाने की कोशिश की। १८२५ में स्थापित पुराने दिल्ली कालेज ने वहाँ एक वैज्ञानिक पुनर्जागरण पैदा किया। उस वक्त के विज्ञान के प्रयोगों से दिल्ली कालेज के विद्यार्थी 'मन्त्रमुग्ध' हो गए। "वे अपने-आपको एक नये ज़माने का मसीहा मानने लगे, और उन्होंने सपने देखे और ख़याली नक्शे बनाए।" १८४४ में दिल्ली कालेज में 'वर्नाकुलर ट्रांसलेशन सोसाइटी' की स्थापना हुई, जिसने वैज्ञानिक विषयों में किताबें छापनी शुरू कीं। प्रोसफेर रामचन्द्र ने 'मुफ़ीदन नाज़रीन' और 'मोहिब्बे हिन्द' नामक दो पत्र प्रकाशित किये; इनका उद्देश्य मुख्यतः पश्चिमी विचारों और वैज्ञानिक मूल्यों का प्रचार करना था। १८६४ में एक दिल्ली सोसाइटी की स्थापना हुई, जिसके मंत्री प्यारेलाल 'आशोब' थे, जिन्होंने बाद में उर्दू अदब में एक स्वस्थ परिवर्तन लाने में 'आज़ाद' (मृत्यु १९१०) और 'हाली' (मृत्यु १९१४) की सहायता की।

यह परिवर्तन एकदम तेजी से नहीं आया। यह धीरे-धीरे भारत की समस्याओं और स्वभाव के अनुसार होता रहा। शुरू के लोग सुधार करना चाहते थे, क्रान्ति नहीं। वे अपने अतीत से पूरी तरह कटे हुए नहीं थे, बल्कि उन्होंने अपने उच्चकोटि के साहित्यकारों को नये ढंग से प्रस्तुत किया, उनमें नये अर्थ खोजे। उनका वास्तविक उद्देश्य उर्दू साहित्य में हार्दिकता और उत्साह का भाव पैदा करना था, जिससे कि वह जीवन के सत्य के अधिकाधिक निकट आ सके। वे पश्चिम के अतिरंजित अनुकरण से बचते रहे तथा नकली अप्रामाणिकता, लम्बे-चौड़े कल्पना-चित्र और शब्द-बाहुल्य की निन्दा करते रहे।

इस नये आन्दोलन के अग्रदूत 'आज़ाद' और 'हाली' थे। 'कर्नल हाल रॉयड' के सुझाव पर उन्होंने १८७४ में मुशायरे शुरू किए, जिनमें नये ढंग की नज़्में पढ़ी जाती थीं। हाली ने 'बरखा रुत', 'उम्मीद', 'इन्साफ़' और 'हुवे-वतन' नामक नज़्में लिखीं, जिनमें उर्दू कविता के नये सचेतन दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व है। सर सैयद अहमद ख़ाँ अलीगढ़-आन्दोलन के जन्मदाता थे। उनके कहने पर, हाली ने 'मुसद्दस' लिखी। वह उर्दू कविता में एक श्रेष्ठ रचना है; और उसने इस युग पर अपनी छाप छोड़ी। 'हाली' ने सामाजिक चेतना और सार्थक प्रयोजन की दृष्टि से प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन किया। उनका विश्वास था कि यदि साहित्य का कोई अर्थ है तो वह यही है कि साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब बने और उसकी सेवा करे। सर सैयद अहमद ख़ाँ (मृत्यु १८९८) को इस बात का बड़ा श्रेय देना चाहिए कि उन्होंने उर्दू साहित्य की धारा को अपने पुराने प्रभाव और सुधारवादी उद्देश्य से पूरी तरह मोड़ दिया। सामन्ती वातावरण में वर्षों से उर्दू में जो बर्फ़ जमा हो गई थी, उसे उन्होंने अंग्रेज़ी साहित्य के सम्पर्क से पिघला दिया। पुराने मूल्य परे ठेल दिए गए, और सुधार को उन सब भारी ज़ंजीरों से मुक्त कर दिया गया। इस तरह से उर्दू में नवजागरण का प्रभात हुआ।

इस नई धारा और आन्दोलन के बीच सुल्तान कुली कुतब शाह (मृत्यु १६११) की कविताओं में, 'मीर' (मृत्यु १८१०) के 'शहर आशोब में', सौदा (मृत्यु १७८०) की कविताओं में, मीर हसन (मृत्यु १७८६) की मसनवियों में, 'अनीस' (मृत्यु १८७४) के मर्सियों में 'नज़ीर' अकबराबादी (मृत्यु १८३०) की शायरी में और 'मिर्ज़ा ग़ालिब' (मृत्यु १८६९) की ग़ज़लों में पाए जाते हैं। अन्त में जिनका नाम लिया गया है उन 'ग़ालिब' के बारे में यह बहुत ही सही

बात कही गई है कि यदि वे न होते तो न 'हाली' (मृत्यु १९१४) होते, और न इक़बाल (मृत्यु १९३८)। यह दोनों ही आधुनिक उर्दू कविता के स्तम्भ थे। मगर यह काव्य-साहित्य ही सब कुछ नहीं है; यह तो एक भूमिका के रूप में था। इसे पश्चिमी शिक्षा की सप्राण प्रेरणा की आवश्यकता थी, जिसके कारण उसमें एक नवीन स्फूर्ति पैदा हुई।

साहित्य के हर क्षेत्र में परिवर्तन के यह लक्षण दिखाई देते हैं। पुरानी कृत्रिम कविता ढलती जा रही थी। परम्परित ग़ज़ल बहुत सीमित जान पड़ने लगी थी। अब उसका क्षेत्र विस्तृत बनाया गया और उसमें सामाजिक तथा राजनैतिक विषयों का भी समावेश हुआ। अब कविता नये विषयों में लिखी जाने लगी, जो प्रकृति और देश-प्रेम के बारे में थी। धीरे-धीरे उर्दू के कवि अपना उत्तरदायित्व, जीवन के प्रति अधिक संवेदनशीलता और मानवीय रुझान की आवश्यकता अनुभव करने लगे। रूढ़ शैली की लीक को छोड़कर नये साहित्यिक रूप प्रयोग में लाए गए, जिससे कि कविता को बहुत अधिक स्वतन्त्रता मिल गई। संक्षेप में हाली की सुधार-वादी भावनाएँ और समालोचनात्मक दृष्टि, इस्माइल (मृत्यु १८९७) की पार-दर्शिता, दुर्गासहाय 'सरूर' (मृत्यु १९१०) का देशभक्तिपूर्ण उत्साह, अकबर (मृत्यु१९२१) के सुनहले शेर, जिसमें कि सूक्ष्म व्यंग्य और उत्तम परिहास पिरोये गए थे, इन सब तत्त्वों से मिलकर ही नये आन्दोलन की प्रगति सरलतापूर्वक हुई। असंख्य विषयों पर सृजनात्मक साहित्य के साथ-साथ अख़बारों, पत्र-पत्रि-काओं और पश्चिमी भाषाओं से तर्जुमों की मानो बाढ़ आ गई।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व उर्दू कविता किसी धीमी बहने वाली नदी के समान थी, जिसकी तह में उपजाऊ मिट्टी जमा हो रही थी। उन्नीसवीं शती के लिबरल-आन्दोलन के कारण जीवन-प्रवाह की गति भी ज़रा धीमी थी। भारत की दुर्दशा के बारे में सबसे पहले दुःख व्यक्त करते हुए, राष्ट्रभक्ति की भावनाएँ कविता में लाने वाले 'हाली' थे। उनकी कविता अब जीवन से विच्छिन्न नहीं थी, बल्कि जीवन के सब प्रकार के रंग उसमें प्रतिबिम्बित थे। हाली की कविता ने बाद में आने वाले लेखकों के लिए एक नया मानदण्ड क़ायम किया। नये विषयों पर कविताएँ लिखी जाने लगीं, यद्यपि वह शुरू-शुरू में प्रायः अनुवादित या आधारित होती थीं। पर ऐसी अनेक मौलिक कविताएँ भी लिखी गईं, जिनमें उदार देशभक्तिपूर्ण विचार थे; और कहीं-कहीं तो देश के प्रति स्त्री-सुलभ

एकनिष्ठ प्रेम भी व्यक्त किया गया था। ये कवि तारों-भरी रातों, खिलते हुए फूलों और चहचहाते हुए पक्षियों के बारे में इस तरह गाते थे, मानो उन्होंने अपनी मातृभूमि को नये सिरे से खोजा हो। 'चकबस्त' (मृत्यु १९२६), 'बेनज़ीर शाह' (मृत्यु १९३०), 'सरूर' जहाँनाबादी (मृत्यु १९१०), वहीउदीन सलीम (मृत्यु १९२८), 'शौक' क़िदवाई (मृत्यु १९२८) और नादिर (मृत्यु १९१२) की कविताओं में १९२४ के पहले की धारा का सही-सही चित्र मिलता है।

ग़ज़ल में भी धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा था। हाली ने उसके क्षेत्र को बढ़ाया और उसे एक सामाजिक आधार दिया। उन्होंने पुरानी रूढ़िगत अलंकार-बहुल शैली की निन्दा करके नई ग़ज़ल के नवयुग की घोषणा की। इन नई ग़ज़लों में विचार और भाव सरल से सरल भाषा के साथ गुँथे हुए थे। यद्यपि मीर (मृत्यु १९००) और दाग़ (मृत्यु १९०४) जनता में अभी भी लोकप्रिय हैं, फिर भी उर्दू ग़ज़ल मीर और ग़ालिब की परम्परा और रचना-शिल्प की ओर वेग से मुड़ गई है। मीर और ग़ालिब उर्दू-काव्य-क्षेत्र में उच्चकोटि के महाकवि हैं। जहाँ हाली के सुधार की निन्दा की गई, वहाँ मीर और ग़ालिब ने ग़ज़ल को एक नया रंग दिया। साक़िब (मृत्यु १८६९), अज़ीज़ (मृत्यु १९३५) और 'असर' ने इन पुराने महाकवियों के चरण-चिह्नों का अनुकरण किया तथा हसरत मोहानी (मृत्यु १९५१) ने मुसहफ़ी (मृत्यु १८२४) और नसीम देहलवी (मृत्यु १८४३) के चरण-चिह्नों का। दिल्ली और लखनऊ के पुराने भेद मिट गए और दोनों की शैलियाँ बड़ी ख़ूबी से एक-दूसरे में मिल गईं।

इक़बाल अपनी महान प्रतिभा-शक्ति से आगे आए और उन्होंने ग़ज़ल को नया मोड़ दिया। उन्होंने समकालीन समस्याओं, सांस्कृतिक संघर्षों और सामाजिक उत्थान-पतन को ग़ज़ल के रूप में विवेचित किया, जबकि ग़ज़ल का विषय मुख्यत: प्रेम ही था। वे रूढ़ शैलियों को (जैसे ग़ालिब की) अपने उद्देश्य के लिए नये ढंग से अपनाने वाले थे। उनके दर्शन की सब मौलिक बातें, जो कि उनके भाव-लोक का अंश बन गई थीं, उनकी ग़ज़लों की बनावट में बहुत कुशलता से गुँथी हुई मिलती हैं। उनके काव्य में बहुत विविधता, भाँति-भाँति के स्वर और प्रगतिशील सामाजिक चिन्तन सब गड्ड-मड्ड हैं; फिर भी उन्होंने ग़ज़ल को जीवन की समस्याओं को और अधिक अभिव्यक्त करने वाला एक नया अर्थपूर्ण रूप दिया।

शाद अज़ीमाबादी (मृत्यु १९२७) 'नासिख़' (मृत्यु १८३८) के अलंकार-

तत्त्वों को मीर में पाई जाने वाली तीखी ताज़गी, पैनेपन और संगीत से मिलाते हैं। रियाज़ (मृत्यु १९३४) ने अपनी तबीयत के अनुकूल इस कठोर और कष्टप्रद जीवन से पलायनवाद ग्रहण करके शराब की कविता लिखने की शरण ली। 'आरज़ू' में स्पष्टता और साहसिकता थी तथा उन्होंने जन-साधारण की आम-फ़हम भाषा का प्रयोग किया। उनकी शैली की विशेषता यह है कि उनकी भाषा अत्यन्त सरल है, और इस दृष्टि से उन्होंने उर्दू-कविता में एक सच्चा और पक्का सुधार किया। 'यास-ओ-यगाना' में ग़ालिब की निराश संवेदनशीलता मिलती है, यद्यपि और बातों में वे ग़ालिब की निन्दा करते हैं। उनमें न तो कल्पना-शक्ति थी, जो कि शब्दों को पंखमय बना देती, न उनमें सूर्य-किरण जैसा आनन्द और वह गहरी दृष्टि थी, जिससे कि पाप भी दैवी जान पड़े। फिर भी 'यास' की कुछ कविताएँ कविता के प्रगाढ़ सार से भरी हैं, क्योंकि उनमें कविता का भावात्मक अहं एक नये स्वर में अभिव्यक्त हुआ है। उनका नाम उन 'आरज़ू', 'अज़ीज़' (मृत्यु १९३५), 'साक़िब' और 'असर' के साथ-साथ लिया जाएगा, जिन सबने लखनऊ-शैली की ग़ज़ल को एक गहरी और सार्थक आत्मा प्रदान की।

समकालीन काव्य-प्रवाह

आधुनिक भारत के सबसे बड़े ग़ज़ल-लेखक 'हसरत' मोहानी कहे जाएंगे। उन्होंने अपनी कविता तब लिखनी शुरू की जब 'हाली' द्वारा लखनवी शैली की ग़ज़ल की रूढ़िवादिता पर की हुई समीक्षा से सारा वातावरण भरा हुआ था। इस समीक्षा ने दो प्रकार की परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाएँ शुरू कीं। अज़मतुल्लाह ख़ाँ (मृत्यु १९२७) तो चाहते थे कि 'ग़ज़ल को पूरी तरह से ख़त्म कर दिया जाय, क्योंकि उसमें न तो कोई विचारों का क्रम ही बँधता है और न उसमें कोई सहजता और स्वाभाविकता है।' हसरत मोहानी ने उर्दू-ग़ज़ल को नयापन दिया और बहुत चतुराई से दिल्ली और लखनऊ की दोनों शैलियाँ मिला दीं। 'हसरत' जीवन के प्रत्येक विभाग में अतिवादी और क्रान्तिकारी थे। केवल कला के क्षेत्र को छोड़कर उन्होंने उन सब पुराने प्रतीकों और विषयों का उपयोग किया है जो पारम्परिक ग़ज़ल में पाए जाते हैं। और इसके बावजूद उन्होंने एक नया स्वर एवं वातावरण प्रदान किया। वे प्राचीन और नवीन को अपनी ग़ज़ल में मिलाते हैं। प्राचीन की सप्राणता, नवीन और वर्तमान की नई चेतना तथा भविष्यत् की

सम्भावनाएँ उनकी ग़ज़ल में एकाकार हो गई हैं। उनके प्रेम-सम्बन्धी विषय बासी और घिसे-पिटे न होकर सच्चे, यथार्थ और प्रामाणिक हैं। उनके गीति-काव्य में एक घरेलू स्पर्श, प्राच्य रस और गम्भीर शक्तिमयता है। 'हसरत' ने कोई नई ग़ज़ल खोजकर नहीं निकाली, उन्होंने पुरानी ग़ज़ल को ही नई जान दी। वे 'मुसहफ़ी' (मृत्यु १८२४) और 'मोमिन' (मृत्यु १८५१) की पंक्ति में आते हैं। उन्होंने उन दिनों कवियों के अच्छे गुणों को मिलाकर अपने प्रत्यक्ष जीवनानुभवों से प्राप्त उत्साहपूर्ण सामाजिक-राजनैतिक चेतना को भी उसमें मिलाया और इस तरह से 'हसरत' ने अपना मार्ग स्वयं निर्माण करके अपनी कलात्मक प्रेरणा के लिए सही माध्यम खोज निकाला।

'फ़ानी' की ग़ज़ल इसलिए मधुर है कि उसमें उनके करुण भावों की व्यंजना है। वे सर्वोत्तम भावनाओं को सौन्दर्य, प्रामाणिकता और करुणा के साथ व्यक्त करते हैं। उनकी ग़ज़लें इतनी अधिक लोकप्रिय क्यों हुईं, इसका कारण यह है कि वे अपने दर्द का उत्कट वर्णन करते हैं और उनका शब्दों पर असाधारण अधिकार है। वे बहुत अधिक ईमानदार कवि हैं और जो कुछ देखते और अनुभव करते हैं, उसे ही लिखते हैं। शुद्ध कविता में वे अपने सब समकालीनों से श्रेष्ठतर हैं। उनका जीवन एक लम्बी तकलीफ और भयानक असन्तुलन की कहानी है। उनकी कविता में सब जगह करुण रस का एक ही स्वर मिलता है और कदाचित् वही उनके सुन्दर संगीत का स्रोत है। किसी दैवी निराशा की गहराई में से उनके आँसू उमड़ते हैं, मानो वे उस चीज़ को खोज रहे हैं, जो कहीं नहीं है। प्रायः कहा जाता है कि उनके विचारों का संसार बहुत छोटा और अयथार्थ है।

असग़र (मृत्यु १९३६) पर 'ग़ालिब' और 'मोमिन' का गहरा प्रभाव है। उनकी कल्पनाशील वृत्ति ने ग़ज़ल को व्यापक अर्थ प्रदान किया। उनके पद्यों में उत्कृष्ट कोटि की सूक्ष्मता और कल्पना-चित्रों में इन्द्रिय गोचरता मिलती है, जो कि उनकों ग़ज़ल-लेखको में बहुत ऊंचा स्थान दिलाती है।

'असर' की गीति-काव्य-रचना की शक्तियाँ असाधारण विविधता लिए हुए हैं, और बहुत सहज प्रवाहयुक्त शैली में वे मानवीय भावनाओं के समूचे विश्व को व्यक्त करते हैं।

'जिगर'[1] भी ग़ज़ल-लेखक के नाते प्रसिद्ध हैं। संगीत और लय, सुकोमल

१. आतिश-ए-गुल (काव्य-संकलन) पर १९५८ में साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत।

संवेदनशीलता, सौम्य तथा दार्शनिक विवेक, भावनाओं की सब तरह की छटाओं और वृत्तियों के प्रति जागरूकता आदि गुणों में वे अनन्य हैं। उनकी कल्पना अद्भुत विविधता लिए हुए है और संगीत तथा छन्द में भी उनकी विलक्षण अनेकरूपता दिखाई देती है। उनकी कल्पना के दो मुख्य विषय—प्रेम और सौंदर्य हैं। उनके सुस्पष्ट गीति-काव्य में मानव-आत्मा का अंकन बड़ी सूक्ष्मता से हुआ है, उसमें एक सरस उन्मुक्ति और मादक भाव है। 'जिगर' का बहुत बड़ा असर तरुण कवियों पर हुआ है। उन्होंने 'जिगर' की बाह्य विशेषताओं का अनुकरण-मात्र करने का प्रयत्न किया, लेकिन उससे कुछ लाभ नहीं हुआ। 'फ़िराक़'[1] ने पश्चिमी कवियों के स्रोत से गहरा रस-पान किया और उस संस्कृति के कई गुण उन्होंने इस तरह अपनाए कि उससे पूर्वी संस्कृति को भयंकर हानि पहुंची। आज की समस्याओं के प्रति उनकी रागात्मक प्रक्रिया में प्रेम, साहस और क्रान्ति की भावनाएँ विशेष रूप से दिखाई देती हैं। वे हर मन:स्थिति और परिस्थिति के प्रति बहुत भावनायुक्त चेतना से पेश आते हैं। उनके भाव-लोक पर विचार हावी हैं और उनके ज्ञान-भण्डार की व्यापक सीमा ने उनकी कल्पनाओं को समृद्ध किया है। परन्तु अनेक बार उनमें संयम का भी अभाव खटकता है।

फ़ैज़ की ग़ज़ल स्पष्ट और दिल को हिलाने वाली होती है। वे अपने रूपक बहुत दूर-दूर के क्षेत्रों से लेते हैं। उनका कल्पना-लोक सहज, स्वाभाविक और प्रभावशाली है। वे कई वर्षों तक राजनीतिक बन्दी रहे हैं। बन्दी-जीवन के कारण उनके प्रतीकों में एक विशेष आकर्षण पैदा हुआ है और उनके पद्यों में एक स्वप्निल मधुरता आई है। 'फ़िराक़' की भांति ही इनकी कविता में भी ऊबड़-खाबड़पन है और वे दोनों आध्यात्मिक अरक्षितता की भावना से पीड़ित हैं। जज़्बी की ग़ज़ल मुक्त और स्वाभाविक अभिव्यंजना की ओर बढ़ना चाहती है, जिसमें कि इंद्रिय-संवेदना वाली कविता भाव-दशा से रस-दशा की ओर जाना चाहती है। उनकी विचार-भरी करुणा उनके स्वर को और भी प्रभावशाली तथा गहरा बना देती है। 'रविश' के लिए सौंदर्य-जगत् एक छिपने का स्थान है, परन्तु उनका विचार-लोक कमज़ोर और उनकी शैली हठाकृष्ट है। 'मजरूह', नदीम

१. फ़िराक़ को गुले-नग़मा' पर १९६० में साहित्य अकादेमी पुरस्कार तथा १९७० में भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुए हैं।

क़ासमी और अख़्तरुल ईमान[1] ऐसे उदीयमान ग़ज़ल-गो हैं, जो अपनी ज़मीन टटोल रहे हैं।

१९३८-४६ बीच उर्दू-ग़ज़ल को भारी आलोचना का सामना करना पड़ा, परन्तु वह इस सारे आक्रमण से बच निकली। यह युग विद्रोह और प्रयोग का युग था। वर्णनात्मक कविताएँ, सानेट, गीत, अतुकान्त छन्द और मुक्त छन्द आदि सब लिखे गए तथा उनकी लोकप्रियता भी बढ़ती गई। थोड़ी देर के लिए तो ऐसा लगा कि ग़ज़ल अब पिछड़ गई, मगर फिर भी वह उसमें से विजयी होकर बाहर निकली। 'फ़ैज़' के 'दस्ते सबा' का प्रकाशन ग़ज़ल के इतिहास में ऐसी ही एक अभूतपूर्व घटना थी। देश के विभाजन और उसके साथ-साथ जो भयानक समस्याएँ सामने आईं, उन सबने ग़ज़ल की लोकप्रियता को पुनर्जीवित किया, क्योंकि ग़ज़ल आत्मनिष्ठ मनःस्थितियों का चित्रण करने के लिए अत्यन्त उपयुक्त माध्यम है। शरणार्थियों के दुःख-दर्द और पुरानी परम्पराओं के लिए दौहार्द साहिर, जगन्नाथ आज़ाद, अर्श मलसियानी, महरूम, हरीचन्द अख़्तर, हफ़ीज़ होशियारपुरी, सालिक, तबस्सुम, ज़हीर, क़तील, नासिर काज़मी इत्यादि की ग़ज़लों में साफ झलकता है। यह कविता कभी-कभी बहुत भड़कीली, चीख़ती हुई और वृथा भावुकता से भरी होती है, मगर यह दिखावटी या बनावटी नहीं है। इसमें मनोवृत्ति, स्वर और कल्पना की अन्विति मिलती है औरयह उर्दू-ग़ज़ल के एक विशेष रूप को प्रकट करती है।

आज की उर्दू-ग़ज़ल पुरानी उर्दू-ग़ज़ल से सिर्फ़ स्वर और स्वराघात में भिन्न है। अब शायर लटकती हुई ज़ुल्फ़ों, रुख़सारों और माशूक़ के चेहरे के तिल के बारे में नहीं लिखते, बल्कि वे नग़माए-रूह की आवाज़ प्रकट करते हैं और आवश्यकता से अधिक नक़्क़ाशी या अलंकारों से बचते हैं। अब पुराने रहस्यवादी स्वर कम होते जा रहे हैं। इन्सान और दुनिया के बारे में अधिक लिखा जा रहा है। दुर्भाग्य से, नवीनता का शौक़, बौद्धिक अनुशासन का अभाव और छन्द-शास्त्र के सिद्धान्तों का ज्ञान कम होना आदि ऐसे अनेक दोष हैं, जिनसे आधुनिक ग़ज़ल का आकर्षण और प्रभाव दूषित हो गया है। यद्यपि कुशल कवि के हाथों ग़ज़ल में भी उच्चतम कविता का निर्माण सम्भव है।

दूसरी तरह की कविताओं में इक़बाल का १९१४ के तूफ़ानी दिनों में लिखा

---

१. इन्हें 'यादें' शीर्षक काव्य-संकलन पर १९६२ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

गया। 'ख़िज्रे राह' आधुनिक उर्दू-कविता में एक पथ-चिह्न और बाद के कवियों के लिए एक उज्ज्वल निर्देश है। वे द्रष्टा और मानवतावादी थे। उन्होंने सभी सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं को, जो कि उस समय पूर्व के देशों के सामने थीं, जाँचा, परखा और अपने क़ुरान वाले अक़ीदे से उन्हें देखा। अपनी प्रतिभा के पारस-स्पर्श से उन्होंने जो कुछ लिखा, उसे कुन्दन बना दिया और कविता का अभिव्यंजना-क्षेत्र संकेतमयता से बहुत व्यापक बनाया। 'बाग़े दरा', 'बाले जिब्रील' और 'ज़र्बे कलीम' ने उर्दू में एक नवयुग निर्मित किया तथा उर्दू-कविता इतनी समृद्ध हो गई कि वह किसी भी समुन्नत साहित्य के साथ तुलना में खड़ी हो सकती है।

जोश मलीहाबादी 'शायरे-इन्क़लाब' कहलाते हैं। दो महायुद्ध, १९२१ का असहयोग आन्दोलन, १९२९-३० के आर्थिक संकट, १९३१ का अवज्ञा आन्दोलन, श्रम और पूँजी के बीच संघर्ष और समाजवादी विचारों का बढ़ता हुआ प्रभाव उर्दू साहित्य को भी झकझोरता रहा और उसमें से यह क्रान्ति की भावना पैदा हुई। 'जोश' इस क्रान्ति के प्रतीक हैं, मगर वे आवश्यकता से अधिक शोर मचाने वाले, उथले और ऊबड़-खाबड़ लिखने वाले हैं। उनमें एक तरह का अनर्थक उत्साह है, मगर वे बहुत बार कुत्सित रूप ले लेते हैं। वे सिर्फ़ सतही चीज़ों को छूते हैं और चमकीले शब्द-शिल्प के आकर्षक पहनावे के नीचे अपना हल्कापन छिपाते हैं। इक़बाल के बाद तरुण कवियों पर उनका सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। तरुणों की दृष्टि में वे 'शायरी के जादूगर मुल्ला' हैं। उपमा और उत्प्रेक्षा पर उनका बहुत अधिकार है तथा सुपरिचित देहाती दृश्यों के वर्णन में इन अलंकारों का वे बड़ा सुन्दर और आकर्षक उपयोग करते हैं।

जाफ़र अली ख़ाँ प्रसाद गुण-युक्त ऐसे कवि हैं, जिन्होंने बहुत-कुछ लिखने के बावजूद अपनी शक्ति का दुरुपयोग क्षणिक महत्त्व के क्षुद्र विषयों पर लिखने में अधिक किया है। सीमाब (मृत्यु १९५१) भी अच्छे कवि थे, जिनका छन्द पर अधिकार था। उन्होंने कुछ जल्दी में लिखा, मगर बड़े आत्म-विश्वास के साथ। उनकी कविता का प्रभाव, जिन विषय-वस्तुओं को उन्होंने छुआ, उनके महत्त्व की तुलना में विशेष नहीं है।

हाली से लेकर इक़बाल, जाफ़र अली ख़ाँ, एहसान और माहिर तक उर्दू-नज़्म अपनी उस ऊँचाई पर पहुँची है जहाँ कि वह पहले नहीं पहुँची थी। 'हफ़ीज़'

जालन्धरी ने 'शाहनामा-ए-इस्लाम' लिखा, जो कि फ़िरदौसी की नक़ल में एक लम्बी ऐतिहासिक कविता है। दक्खन में 'नुसरती' (मृत्यु १६७३) ने 'अली-नामा' लिखा और 'रुस्तमी' ने 'ख़्वारनामा' रचा, जो कि उर्दू में विवरणात्मक कविता के सबसे पहले नमूने हैं। परन्तु हफ़ीज़ जालन्धरी के 'शाहनामा-ए-इस्लाम' में जितनी बुलन्दी और विराटता है उससे पाठक की कल्पना-शक्ति आश्चर्यचकित हो जाती है। इस काव्य के पहले दो हिस्से तीसरे की अपेक्षा अधिक सफल हैं। तीसरे हिस्से में तो ऐसा लगता है कि मानो उनकी काव्य-शक्ति उन्हें छोड़ गई। हफ़ीज़ की याद उनके गीतों के लिए भी की जाएगी, जो कि संगीत और लय-कारी में अपनी विशेषता रखते हैं।

आधुनिक साहित्यिक धारा में एक सबसे मनोरंजक विधा है उर्दू में हिन्दी ढंग के गीतों का निर्माण। यह विधा ऐसी कविता की है जिसमें पुराने इतिहास और मिली-जुली तथा संश्लिष्ट संस्कृति के सबसे अधिक दर्शन होते हैं। अज़मत-उल्लाह ख़ाँ, हफ़ीज़ जालन्धरी, अख़्तर शीरानी, तासीर, ख़ालिद, मक़बूल अहमदपुरी हफ़ीज़ होशियारपुरी, साग़र निज़ामी, आबिद और इन्द्रजीत शर्मा ने सुन्दर मँजी हुई उर्दू में गीत लिखे हैं, जिनमें हमारे घरेलू जीवन की निकटता का सौरभ है। शौक़ किदवाई, 'आरज़ू' और 'रज़ा' ने ग़ज़ल में भी उसी तरह की गीतिकाव्यात्मकता व्यक्त की है, परन्तु अज़मतुल्लाह ख़ाँ में उसकी सबसे अधिक उत्कटता दिखाई देती है। उनके गीतों में एक तरह की गहरी शांति और मन को बराबर स्पन्दित करने वाला वातावरण मिलता है। अख़्तर शीरानी रोमांटिक धारा के सबसे बड़े अगुआ हुए, इनकी कविता में जादू जैसा गुण है। यही कारण है कि उर्दू में अब तक अज्ञात ऐसे वर्णनों की बारीकी और विविधता तथा इन्द्रिय-गोचरता उनमें मिलती है। कल्पना-चित्रों की रंगीनी, छन्दों के नये आविष्कार और ऐसे प्रेम-विषयों के, जिन्हें समाज में स्वीकृत नहीं किया जाता था, वर्णन का साहस भी अद्वितीय है। इन तीनों गुणों से उनकी कविता बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त करती है।

१९३५ में 'तरक़्क़ी-पसन्द अदब' (प्रगतिशील साहित्य) शुरू हुआ, जिसमें एक नये 'जिहाद' का-सा कट्टरपन और प्रचारकों वाला उत्साह था। इस आन्दोलन ने पुराने सिद्धान्तों को तोड़ने की शुरुआत की। परन्तु जो नये सिद्धान्त उसने अपनाए, वे इस देश के सांस्कृतिक धरातल में अधिक गहरी जड़ें न जमा

सके। प्रगतिशील लोग हर पुरानी चीज़ के तीखे आलोचक थे, और उन्होंने अपने प्रयोगों को अतिरंजना की सीमा तथा स्पष्टवादिता को अश्लीलता के किनारे तक ले जाने का प्रयत्न किया। छद्म प्रगतिशील 'मीराजी' और 'राशिद' इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। उन्होंने अपनी राजनैतिक विचार-धारा की तुरही बजाई, वह सनसनीख़ेज़ तो ज़रूर थी, लेकिन उसमें श्रेष्ठ काव्य की एकाग्रता और गहराई का अभाव था। बहरहाल एक विशेष राजनैतिक विचारधारा पर ज़ोर देने के बावजूद यह आन्दोलन, पहले उत्साह का ज्वार उतर जाने के बाद, उर्दू-साहित्य को एक नई प्रेरणा, संजीवन और स्वतन्त्र चेतना दे गया। जोश, फ़ैज़, फ़िराक़, ज़ज्बी मजाज़, मख़दूम[1], जाँनिसार अख़्तर और सरदार जाफ़री इस धारा के प्रमुख उद्‌गाता हैं। इनमें एक चिरंतन सप्राणता और सशक्त यथार्थवाद है। समाज-व्यवस्था को बदलने और उसका नये सिरे से निर्माण करने की चुनौती को उन्होंने अनुभव किया तथा अपने तरीक़े से भारत की व्याधियों का रामबाण उपाय खोजने की भी कोशिश की। कहीं-कहीं चुनकर पढ़ने पर, उनकी कविता एक गुलदस्ते की तरह सुन्दर लगती है। वह इसलिए और भी दिलचस्प है कि उसमें ग़रीबी, ग़ुलामी और शोषण के ज़माने की एक उत्कट भावपूर्ण अभिव्यंजना मिलती है। १९३१ के बाद जनता का ज़बरदस्त आन्दोलन शुरू हुआ। श्रमिक वर्ग समाजवादी शासन क़ायम करने के लिए संघर्ष करने लगा। इन प्रगतिशील कवियों की कविता में इस जागरण का चित्र है। यद्यपि यह सही है कि उनमें सम्पूर्णता और स्थायित्व नहीं है। फिर भी वे तीखे, असन्तुष्ट और बेदार हैं। उन्होंने खिड़कियों को खोला और हमें भी बुलाया तथा कहा कि झुककर बाहर झाँको!

पूरे उर्दू-काव्य-साहित्य पर विचार करते हुए ऐसा लगता है कि वह बहुत प्रेरणादायक और असंख्य सम्भावनाओं से भरा हुआ है। उसमें हमारी देशभक्ति का जज्बा, असाम्प्रदायिकता और उदार दृष्टिकोण, स्वातंत्र्य-संग्राम और आर्थिक विषमता के विरुद्ध संघर्ष, दंगों से लहू-लुहान देश का दर्द और पुनर्वास-सम्बन्धी भयानक समस्याएँ, इन सब बातों का तटस्थ प्रतिबिंब मिलता है। विभाजन के बाद जो दु:ख-दर्द आया, धीरे-धीरे वह कम हो गया है। ज़ख़्म भर रहे हैं, कड़वाहट कम हो रही है। हमने अब एक कल्याणकारी राज्य और समाजवादी

१. १९६९ में 'बिसाते-रक़्स' (काव्य-संकलन) पर साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

ढंग से समाज की भी नींव रखी है। साथ ही साथ हम एक ऐसे नये सौन्दर्यदर्शी दृष्टिकोण की नींव रख रहे हैं, जिसमें संस्कृति के हमारे गहरे ज्ञान के साथ-साथ अन्य संस्कृतियों के अतीत और वर्तमान का भी ज्ञान सन्निहित होगा। आज के उर्दू-कवि में प्रयोजन की गम्भीरता और आगे बढ़ने का साहस है। वह नये हिन्दुस्तान के स्वप्न को पकड़ना चाहता है। उसकी पहुँच और पैठ एकसाथ व्यापक और स्फूर्तिदायक है। अधिक प्रभावशाली होने के लिए उसमें भावना और विचार का सन्तुलन तथा सहकार आवश्यक होगा। सच्ची काव्य-कला के सृजन की यही एक आवश्यक शर्त है। समकालीन अभिरुचि के लिए उसे बहुत अधिक स्पष्टता, और सर्वसाधारण तथ्यों को दोहराना आदि बातें कम करनी होंगी।

कहानी

उर्दू में आधुनिक कहानी का जन्म प्रेमचन्द (१८८०–१९३६) के साथ हुआ। वे संवेदनशील और विचारशील थे। उन्होंने सीधी-सादी साफ़ ज़बान में हमारे मेहनतकश किसान भाइयों के जीवन की चुनी हुई सार्थक घटनाओं और उत्कट क्षणों को चित्रित किया। लेकिन नियाज़, यलदरम और लाम० अहमद यथार्थ को एक ओर ठेलकर दूसरी ओर बड़ी मौलिकता दिखला रहे थे। उनका कृत्रिम कल्पनाशील और सुपरिचित यथार्थ को रोमांटिक ढंग से चुनना ऐसा था कि उनका प्रभाव उस युग के प्रत्येक लेखक पर हुआ। प्रेमचन्द ने कहानी को रोमांटिकवाद की दलदल से उबारा; नियाज़ और यलदरम की एकतरफ़ा कोशिश से कहानी उस स्थान पर पहुँची थी। उर्दू की कहानी को प्रेमचन्द ने इस तरह से एक मज़बूत नींव पर रखा। उनके सामने चेखव और मोपासाँ जैसे विदेशी आदर्श लेखक थे। प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन ने कहानी लिखने की रुचि को बढ़ाया, और १९३६ के बाद तो वह समसामयिक साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा ही बन गई। प्रेमचन्द ने उर्दू कहानी को एक प्रयोजनशील दिशा देकर जैसे अपने तूफ़ानी ज़माने की आत्मा का इतिहास व्यक्त कर दिया।

प्रेमचन्द (१८८०–१९३६) कभी-कभी सुधारवादी हो उठते हैं, लेकिन उन्होंने अपने देश के लोगों की ज़िन्दगी में से महत्त्वपूर्ण घटनाएँ और भावनाएँ चुनकर उनका यथातथ्य अंकन मानवतावादी ढंग से किया। उनकी कहानियों में

कला और जीवन का बड़ा सुखद संगम मिलता है, उदाहरणार्थ 'कफ़न' उनकी एक उत्कृष्ट कहानी है। उर्दू कहानी के इतिहास में यह एक नया मोड़ है। १९३५ में विभिन्न लेखकों की कहानियों का एक संग्रह 'अंगारे' नाम से प्रकाशित हुआ और वह ज़ब्त हो गया, फिर भी उसका समकालीन कहानी-लेखकों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। लेकिन १९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना वह महत्त्वपूर्ण घटना थी, जिसके साथ कहानी के विकास का एक और दौर सामने आया।

१९३६ से १९४६ तक उर्दू-कहानी में प्रगति-धारा के घोषणा-पत्र की ही गूँज और प्रतिगूँज सुनाई देती है। हुसैनी कृश्न चन्दर, बेदी,[1] अख़्तर अंसारी, अहमद अली, इस्मत चुग़ताई, हयातुल्लाह, बलवन्तसिंह, अहमद नदीम क़ासमी, हसन अस्करी, गुलाम अब्बास, मुमताज़ शीरीं, मुमताज़ मुफ़्ती, इब्राहीम जलीस और मन्टो में से हरेक ने अपने-अपने ढंग से कहानी के विकास में सहायता दी। उनकी कल्पनाशील प्रतिभा सब प्रकार की रूढ़ियों और परम्पराओं को तोड़कर आगे बढ़ी, और उन्हें नया रास्ता तथा नई शैली बनाने में उसने सहायता दी। यह लेखक जितना ही प्रवृत्तियों के आन्तरिक द्वंद्व से उलझते दिखाए हैं उतना ही सामाजिक और समाज-वैज्ञानिक समस्याओं से भी। अहमद अली की 'हमारी गली', और 'मेरा कमरा', कृश्न चन्दर की 'दो फ़र्लांग लम्बी सड़क', मन्टो की 'नया क़ानून', हयातुल्लाह की 'आख़िरी कोशिश' और बेदी की 'गर्म कोट' शीर्षक कहानियाँ मेरे कथन की उत्तम उदाहरण हैं। इनमें हमें कला और जीवन का उत्तम संगम मिलता है। कुछ कहानियाँ दुर्भाग्य से सेक्स के मामले में कैशोर्य-भरी, अति प्रगल्भ और चीत्कारमयी हैं।

मन्टो, बेदी, कृश्न चन्दर, इस्मत, हयातुल्लाह, अख़्तर औरानवी और अहमद अली इत्यादि की कहानियाँ इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि उनमें एक व्यापक क्षेत्र, विविधता और भाँति-भाँति के स्वर पाये जाते हैं। कल्पना और निरीक्षण का उनमें सुखद मिश्रण हुआ है, और यह भविष्य के लिए बहुत अच्छा चिह्न सिद्ध हुआ है। नदीम क़ासमी, बलवन्तसिंह, ग़ुलाम अब्बास, हिजाब इम्तियाज़, मुमताज़ मुफ़्ती, आग़ा बाबर, इब्राहीम जलीस, हाजरा मसरूर, सालिहा, आबिद हुसैन,

---

१. राजेन्द्रसिंह बेदी को अपने उपन्यास 'एक चादर मैली-सी' पर १९६५ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

ख़ादीज़ा मस्तूर, मुमताज़ शीरीं, तसनीम, महेन्द्रनाथ, सुहैल, क़ुर्रतुल-ऐन और शफ़ीकुर्रहमान प्रमुख कहानी-लेखकों के नाते आए, जिन्होंने मनुष्य-स्वभाव के अपने निरीक्षण बड़ी ईमानदारी और नाटकीय प्रभाव से कहानियों में आँके। मगर कुछ कमज़ोर कलाकारों के द्वारा कहानी सेक्स की कुण्ठा, सनसनीख़ेज़ चमत्कारवाद और वृथा-भावुकता की भद्दी व्यंजनाओं के रूप में भी लिखी गई। प्रगतिशीलों का साहित्य उत्तम गुण और कूड़ा-कचरा दोनों का ऐसा मिश्रण है कि विवेकी समीक्षक ही भूसे में से अनाज चुनकर निकाल सकता है।

१९४७ में देश का विभाजन एक भयानक ट्रेजेडी थी; और उसके साथ-साथ अकथनीय दु:ख और दर्द लाखों लोगों को उठाना पड़ा। बहुतों के घर-बार नष्ट हो गए और बहुत-से या तो हिन्दुस्तान में आए या उन्हें पाकिस्तान में जाना पड़ा। कुछ उर्दू-कहानी-लेखकों ने इस ट्रेजेडी का बड़ी तटस्थता और तीखेपन से वर्णन किया। कृश्न चन्दर की 'हम वहशी हैं' समझदारी और उदारता के लिए की गई उनकी हार्दिक अपील है। उनकी काव्यमयता और मानववाद यहाँ स्पष्ट दिखाई देते हैं और यह सचमुच एक उत्तम कला-कृति है। इस्मत ने भी दंगों और उनके साथ उठने वाली समस्याओं पर लिखा है। उनकी कहानी 'सोने का अंडा' और 'चौथी का जोड़ा' काफी सशक्त हैं। मगर उनकी कुछ कहानियाँ कृश्न चन्दर की कुछ कहानियों की ही तरह बहुत खुली और चीख़-भरी हैं। ऐसा लगता है कि कलाकार का व्यक्तित्व सोद्देश्यता की भीड़ में बौना हो गया है। अहमद नदीम क़ासमी एक प्रामाणिक यथार्थवादी कुशल कहानी-लेखक हैं, उन्होंने प्रवृत्तियों की आन्तरिक हलचलों का चित्रण करके मानवीय समस्याओं पर ज़ोर दिया है। उनका दृष्टिकोण राजनैतिक न होकर कलात्मक अधिक है, और उनकी कहानियों में कल्पना और भावना के द्वारा जीवन का नया अर्थ पाने की कोशिश दिखाई देती है। 'नया फ़रहाद', 'आतिशे गुल' और 'अलहमदुलिल्लाह' में वे बहुत प्रामाणिक और प्रेरणादायक हैं तथा उनकी अपनी विशेष शैली है। ख़्वाजा अहमद अब्बास भी दिलचस्प लेखक हैं, मगर उनके दोष वही हैं जो कृश्न चन्दर के; और उनकी कहानियों में जहाँ राजनैतिक संदेश है, वहाँ स्पष्टतः सृजनात्मक शक्तियों का ह्रास दिखाई देता है।

उदीयमान कहानी-लेखकों में से निम्न लेखकों का उल्लेख किया जा सकता है—देवेन्द्र इस्सर, अनवर, अज़ीम, अशफ़ाक अहमद, जमीरुद्दीन, इब्नुल हसन,

ख़लील अहमद, शौक़त सिद्दीक़ी, अनवर और इन्तज़ार हुसैन। इनमें कहानी के शिल्प के कई ढंग दिखाई देते हैं, जो कि पाठक में सजीव अनुभव का स्पर्श जाग्रत् करते हैं। इनमें रचना की साहसिकता और यथार्थवादी व्यंजना दिखाई देती है। जहाँ तक विषय-वस्तु और उसकी शिल्पगत विविधता का प्रश्न है, वे सबसे अधिक पठनीय हैं। प्रकृति-वर्णन की पृष्ठभूमि पर इन्होंने संकेत और विषय-वस्तु को बुनने की कोशिश की है। थोड़े-से कुशल आघातों से वे उन सूक्ष्म मनःस्थितियों का अनुभव हमें करा देते हैं, जो घटना और परिस्थितियों के बन्धन को नहीं मानतीं। जब कुरूपता का आग्रह कम होता जा रहा है, तब ये लेखक जीवन में छोटे-छोटे स्थल चुन रहे हैं। चरित्र और घटनाओं के नये अर्थ की भी इन्हें टोह है। सृजनशील कलाकारों के नाते उनमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। लेकिन वे समकालीन युग का भावनात्मक इतिहास दे रहे हैं और अश्रद्धा की छाया से मुक्त होते जा रहे हैं।

उपन्यास

उर्दू उपन्यास 'दास्तान' या 'कहानियों की परम्परा' में विशेष समृद्ध रहे हैं। ये ज़्यादातर फ़ारसी से अनुवादित होते थे और नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित होते थे। ये मानवोपरि कहानियाँ, साधारणतया साहस, स्त्री-दाक्षिण्य और प्रेम-भरी घटनाओं का बहुत लम्बा-चौड़ा वर्णन देती थीं। इनमें अलौकिक शौर्य और सद्गुणों से भरे हुए नायक होते थे और ये क्रमशः कई तरह के जादूगरों और राक्षसों के साथ लोमहर्षक सामना करते हुए चले जाते थे। इन खलनायकों में भी जो ईर्ष्या और दुष्टता होती थी वह अकल्पनीय थी। नज़ीर अहमद (मृत्यु १९१२) के बाद उर्दू उपन्यास का पण्डित रतननाथ सरशार (मृत्यु १९०२) से वास्तविक आरम्भ हुआ, जिन्होंने १८७८ में 'फ़साना-ए-आज़ाद' की पहली क़िस्त 'अवध अख़बार' के स्तम्भों में लिखनी शुरू की। यह एक अमर पुस्तक है, जो कि लखनऊ की ज़िन्दगी को उसकी सारी विशेषताओं के साथ व्यक्त करती है, और कहीं भी उसका आदर्शीकरण नहीं करती। अब्दुल हलीम शरीर (मृत्यु १९२६) की 'दिले-गुदाज़' भी ऐतिहासिक उपन्यासों में एक उपयोगी देन थी। उपन्यासकार, इतिहासकार, आलोचक, निबन्धकार तथा पत्रकार सभी दृष्टि से 'शरर' एक ऊँचे लेखक थे। बहुत अधिक लिखकर भी वे बराबर एक हास्य-लेखक ही

बने रहे। लखनऊ की एक पढ़ी-लिखी नर्तकी की आत्मकथा के रूप में 'उमराव जान अदा' नामक पुस्तक लिखने के कारण मिर्ज़ा हादी रुसवा प्रसिद्ध हैं। नज़ीर अहमद के 'ज़ाहिरदर बेग', सरशार के 'खोजी', रुसवा के 'बिसमिल्ला' और राशिदुल ख़ैरी के 'नानी आसोब' बहुत ही मनोरंजक और सजीव चित्र हैं, जो उर्दू साहित्य में सदा याद किये जाएँगे।

उपन्यासकारों में सबसे ऊँचे प्रेमचन्द थे। वे यथार्थवादी और ग़रीब-दलितों के दु:ख-दर्द का सही चित्रण करनेवाले थे। वस्तुतः उन्होंने हाँके जाने वाले गूंगे पशुओं को भी वाणी दी और उनमें सरल मानवीयता की भव्यता भर दी। भारत की जनता के आर्थिक संघर्ष और आत्मिक जागरण की झाँकी हमें प्रेमचन्द में देखने को मिलती है। वे कहानी-लेखक और उपन्यासकार के लिए पथ-निर्देशक प्रकाश की तरह थे। उनका उपन्यास 'मैदाने-अमल' शरर, रुसवा और राशिदुल खैरी के उपन्यासों से इतना भिन्न है कि वह आधुनिक उर्दू उपन्यासों का आरम्भ है। उनका 'गोदान' एक शाहकार है। ग्रामीण जनता की ज़िन्दगी यहाँ उपन्यास के रूप में बड़ी स्पष्टता से नाट्यमय ढंग से अंकित की गई है। इसमें इतनी विविधता की रंगीनी है कि जो पहले उर्दू उपन्यास में कभी नहीं दिखाई दी थी।

'प्रगतिशील आन्दोलन' मुख्यतः कहानियों पर ज़ोर देता रहा, उपन्यास पर उतना नहीं। १९३६ से १९४६ के काल-खण्ड में उर्दू में कहानी ही प्रमुख विधा रही। इस दशक में सिर्फ़ कृश्न चन्दर का 'शिकस्त' एकमात्र पठनीय उपन्यास लिखा गया, गोकि उसमें कोई विशेषता नहीं है।

आज के प्रसिद्ध उपन्यासकारों में इस्मत चुग़ताई, अज़ीज़ अहमद, क़ुर्रतुल-ऐन हैदर और सालिहा आबिद हुसैन का उल्लेख किया जा सकता है। इस्मत की 'टेढ़ी लकीर' की कल्पना मौलिक नहीं है, लेकिन उसका शिल्प और ढंग नया है। उसने इस उपन्यास में एक मध्यवर्गीय मुस्लिम परिवार का गहन चित्रण करके उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि में सेक्स की भावना का अध्ययन प्रस्तुत किया है। अज़ीज़ अहमद का 'गुरेज़' बड़े चमकीले ढंग से लिखा गया है। मगर सेक्स की समस्या को उन्होंने जिस तरह से प्रस्तुत किया है उसके नंगेपन और स्थूलता से कई पाठक चौंकते हैं। अज़ीज़ अहमद की 'ऐसी बुलन्दी ऐसी पस्ती' और 'शबनम' बस पढ़ने ही योग्य हैं, और कुछ नहीं।

क़ुर्रतुल-ऐन हैदर[1] ने दो महत्त्वपूर्ण उपन्यास लिखे हैं, 'मेरे भी सनमख़ाने' और 'फ़सानाए-ग़मे-दिल'। उन्होंने जेम्स जॉयस की नक़ल करने का प्रयत्न किया है, और कभी-कभी सफलतापूर्वक अचेतन मन के प्रवाह को अंकित करने का शिल्प अपनाया है।

सालिहा आबिद हुसैन के अतिरिक्त आज के प्रायः सभी उपन्यासकार श्रद्धा-शून्य हैं। वह भी बहुत चैतन्यमय या गहरी लेखिका नहीं हैं, मगर उन्हें कुछ कहना है। एहसन फ़ारूक़ी में आधुनिक जीवन के ढकोसलों पर पैना व्यंग्य है। उनकी 'आशनाई' और 'शामे-अवध' आकर्षक हैं, लेकिन उनमें गहराई नहीं है। फ़य्याज़ अली के उपन्यास 'अनवर' और 'शमीम' मनोरंजक हैं। शायद उन जैसे लेखक बहुत थोड़े हैं, जो कि जन-रुचि को सही-सही समझते हैं। रामानन्द सागर का उपन्यास 'और इन्सान मर गया' पहले पृष्ठ से अन्तिम पृष्ठ तक पाठक का ध्यान खींचकर रखता है। १९४९ के साम्प्रदायिक दंगों में एक संवेदनशील आत्मा की क्या दशा होती है और उसमें कैसे उद्वेलन मचते हैं, इसका यह एक सुन्दर अध्ययन है। इस उपन्यास में सुदृढ़ सशक्त मानवतावादी दृष्टिकोण संव्याप्त है।

उर्दू उपन्यास में कई कमियाँ हैं। उर्दू में ऐसे बहुत थोड़े कलाकार हैं जिन्होंने दुनिया के बड़े साहित्य का अध्ययन किया हो और जो कि मानवीय चेतना की जटिलता में गहरे घुस सके हों या सजीव अनुभव का प्रामाणिक स्पर्श पाठक को दे सके हों। अहमद अली, कृश्न चन्दर, इस्मत, अज़ीज़ अहमद, ख़्वाजा अहमद अब्बास, सालिहा आबिद हुसैन, क़ुर्रतुल-ऐन हैदर, ए० हमीद, इंतज़ार हुसैन, आदिल रशीद, रशीद अख़्तर, जमनादास अख़्तर और शौक़त थानवी प्रभावशाली तथा उदीयमान उपन्यासकार हैं। कुल मिलाकर वे उर्दू की मानवतावादी परम्पराओं के प्रति पूर्ण आस्था रखते हैं।

रेखाचित्र और रिपोर्ताज़

रेखाचित्र-लेखकों में फ़रहतुल्ला बेग, रशीद अहमद सिद्दीक़ी, क़ाज़ी अब्दुल ग़फ़्फ़ार, मौलाना अब्दुल मजीद दरियाबादी, नियाज़ फ़तेहपुरी, डा० आबिद हुसैन और ख़्वाजा हसन निज़ामी के नाम बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दुस्तानी जीवन

1. 'पतझर की आवाज़' उपन्यास १९६७ में साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत।

और रिवाजों की बहुत रंगीन झांकी उनके स्केचों में मिलती है और उन्हें पढ़कर पाठकों को आनन्द होता है।

उर्दू साहित्य में रिपोर्ताज़ अभिव्यंजना का नया माध्यम है। कृश्न चन्दर के 'पौधे', 'सुबह होती है', आदिल रशीद के 'ख़िज़ां के फूल', फ़िक्र तौंसवी का 'छठा दरिया', ताज़वर सामरी का 'जब बंधन टूटे' और इब्राहीम जलीस का 'दो मुल्क एक कहानी' पत्रकारिता की विजय दिखलाकर यही सिद्ध करते हैं कि विभाजन के बाद भी उर्दू के लेखकों ने अपना मानवतावादी दृष्टिकोण कैसे दृढ़ रखा।

नाटक

उर्दू में सबसे पहला नाटक 'अमानत' की 'इन्दर-सभा' था। यह संगीतमय सुखान्त नाटक अवध के अन्तिम शाह वाजिद अली के ज़माने में खेला गया। १८५६ में उन्हें गद्दी से उतार देने के बाद, पारसी थियेट्रिकल कम्पनी ने जनता के मनोरंजन के लिए नाटक खेले। मोहम्द मियाँ रौनक़ बनारसी, तालिब और एहसान लखनवी इस कम्पनी के प्रसिद्ध नाटककार थे। आग़ा हश्र काश्मीरी को 'उर्दू का मार्लो' कहा जाता है। इस युग के अधिकतर नाटक बड़े ही कठिन और लययुक्त गद्य में लिखे गए हैं।

उर्दू में बड़े नाटकों का बहुत अभाव है। इश्तियाक़ हुसैन क़ुरैशी, सैयद इम्तियाज़ अली 'ताज', प्रोफेसर मोहम्मद मुजीब, डा० आबिद हुसैन, अहमद शुजा, शाहिद अहमद देहलवी, आबिद अली आबिद, फ़ज़ल हक़ क़ुरैशी, मिर्ज़ा अदीब, उपेन्द्रनाथ अश्क, मोहम्मद हुसैन, के० एल० कपूर और शौक़त थानवी ने उर्दू नाटक के क्षेत्र को काफ़ी प्रसिद्धि दी। देश की स्वतन्त्रता और विश्व-संस्कृति को अपनाने के साथ-साथ उर्दू नाटक भी आगे बढ़कर पहले की कमियों को पूरा करने का प्रयत्न कर रहा है। एकांकी नाटक और रेडियो-नाटक भी बहुत लोकप्रिय हैं। फिल्म-संवादों की भी बाढ़-सी आई है मगर वे साहित्य के लिए देन न होकर जनता की अभिरुचि पर टिप्पणी हैं।

भारत में उर्दू थियेटर विकसित करने की गहरी कोशिश हो रही थी। आधुनिक थियेटर देशज नहीं हैं। पश्चिमी रंगमंच के प्रभाव से क़रीब एक सदी से उनका विकास हो रहा है। जन-नाट्य के पुराने रूप जो अभी बचे हैं वे गांवों और मेले-ठेलों के घुमन्तू अभिनेताओं तथा मण्डलियों के रूप में हैं और वे भी कम

होते जा रहे हैं। यह ज़ोरों से कोशिश की जा रही है कि इस पुरानी परम्परा को भी जीवित रखा जाय। हबीब तनवीर का 'आगरा बाज़ार' पुराने और नये ढंग के नाटकों का एक सुखद मिश्रण है, जो उर्दू नाटक के उज्ज्वल भविष्य का संकेत है।

आलोचना

आलोचनात्मक लेखन और संपादन में डॉ० अबुल हक़, प्रोफ़ेसर हामिद हसन क़ादरी, नियाज़ फ़तेहपुरी, सज्जाद ज़हीर, डॉ० अब्दुल्ला, प्रोफ़ेसर कलीमुद्दीन, प्रोफ़ेसर मसूद हुसैन रिज़वी[1], मजनूँ गोरखपुरी, इबादत बरेलवी, फ़िराक़, असकरी और मुमताज़ हुसैन के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। प्रोफ़ेसर आले अहमद सरूर और एहतिशाम हुसैन प्रसिद्ध समीक्षक हैं,जो कि साहित्य को उसके सही सामाजिक रूप में देखते हैं और आलोचना में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हैं। आलोचना के नाम पर इम्प्रेशनिज़्म (प्रभाववाद) की धारा ज़ोरों से बह रही है, और उसे 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त का समर्थन भी प्राप्त है, लेकिन अब वह धारा बहुत धीमी हो गई है। साहित्य के इतिहासकारों में मोहम्मद शेरानी, ग़ुलाम रसूल मेहर, हामिद हसन क़ादरी, नसीरुद्दीन हाशमी, अब्दुस्सलाम नदवी, डॉ० रामबाबू सक्सेना, मालिकराम, वक़ार अज़ीम, तन्हा, प्रोफ़ेसर सरवरी, डॉ० ज़ोर आदि कई लेखक और प्रसिद्ध हैं, जिनकी शोधों ने नये तथ्यों पर प्रकाश डाला है और कई ग़लतियों को सुधारा है। इनमें से कुछ विद्वानों ने विख्यात कृतियों को चिकित्सक जैसी तटस्थता से परखा है। उर्दू साहित्य के क्षेत्र में क़ाज़ी अब्दुल वदूद, इम्तियाज़ अली ख़ाँ अर्शी[2] और डॉ० अब्दुल सत्तार सिद्दीक़ी का नाम भूस्तर-वैज्ञानिकों जैसा है, जिन्होंने अतीत काल के चित्रों वाले जो पत्थर बचे हैं उन्हें खोज निकाला और जाँचा है। इधर की दशाब्दी में आलोचनात्मक साहित्य में बड़ी बाढ़ आई है, जिसमें से यदि चुनी हुई सामग्री को पढ़ा जाए तो उसमें गंभीरता का अभाव न मिलेगा और यह प्रकट होगा कि साहित्य-समीक्षा और समकालीन इतिहास में बड़ा जटिल सम्बन्ध रहा है।

---

१. १९५९ में 'उर्दू ड्रामा और स्टेज' पुस्तक पर साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत।

२. इन्हें 'दीवाने ग़ालिब' नामक अपनी आलोचनात्मक पुस्तक पर १९६१ में साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

परिहास और व्यंग्य

उर्दू की विशेषता यह है कि उसमें व्यंग्य साहित्य की फ़सल आ गई है। इम्तियाज़ अली ताज, पतरस, रशीद अहमद सिद्दीक़ी, क़ाज़ी अब्दुल ग़फ़्फ़ार, डॉ० आबिद हुसैन, कन्हैयालाल कपूर और शौक़त थानवी ने बड़ी मधुरता और विच्छित्ति (विट) के अतिरेक के साथ लिखा है, और उनकी शैली में बड़ी हाज़िर-जवाबी है।

गंभीर और ऐतिहासिक साहित्य

वैज्ञानिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, शैक्षणिक और अन्य गम्भीर विषयों में लिखने वाले कई लेखकों में बहुत ही थोड़े लेखकों का उल्लेख किया जा सकता है। मौलाना अबुल कमाल आज़ाद, डॉ० आबिद हुसैन[1], ख़्वाजा गुलामुस्सैयदेन,[2] डॉ० ज़ाकिर हुसैन, सैयद सुलेमान नदवी, मौलाना अब्दुल मजीद दरियाबादी, नियाज़, अबुलहसन अली, शाह मोईनुद्दीन, ज़फ़र हुसैन, सईद अहमद, हफ़ीजुर्रहमान, मौलाना हुसैन अहमद, मनाज़िर एहसन गेलानी, ख़लीक़ अहमद निज़ामी, मौलाना अशरफ़ अली, शहाबुद्दीन अब्दुर रहमान और मौलाना मौदूदी ने बहुत-सा गम्भीर साहित्य लिखा है, जिनमें स्पष्टता, विद्वत्ता, शोध या रूपान्तर सभी गुणों के आदर्श मिलते हैं।

पत्र-साहित्य

उर्दू इस क्षेत्र में बहुत ही समृद्ध है। उर्दू ख़तूत में बड़ी विविधता और व्यापकता मिलती है। साहित्यिक इतिहास में रज्जब अली बेग़ सुरूर, वाजिद अली शाह, मिर्ज़ा ग़ालिब, हाली, शिबली, मेहदी अफ़ादी और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद जैसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने ये पत्र लिखे हैं। विचार और भावनाओं का यह अन्तर्द्वंद्व, जो कि इन संवेदनशील आत्माओं में पाया जाता है और जो उत्कट हार्दिक भाषा-शैली में व्यक्तिगत बातचीत के ढंग पर व्यक्त किया गया है, उसकी स्पष्ट झाँकी इन पत्रों में मिलती है। नियाज़ के पत्र साबुन के बुलबुलों की तरह

१. 'क़ौमी तहज़ीब का मसला' (भारतीय संस्कृति : एक सर्वेक्षण) पुस्तक पर १९५६ में सा० अ० द्वारा पुरस्कृत।

२. 'आंधी में चिराग़' (शब्दचित्र) पर १९६३ में साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत।

हैं, इतने नाज़ुक और हसीन कि उन्हें छूते हुए डर लगता है। मौलवी अब्दुल हक़ और हामिद हसन क़ादरी के पत्र ऐसे अनौपचारिक और प्रत्युत्पन्न हैं कि जैसे उनकी दैनिक बातचीत होती थी; और उन लेखकों की तरह से ही वे स्पष्ट-वादिता और सहजता से भरे हैं। डॉ० इक़बाल और सैयद सुलेमान नदवी विविध प्रकार की साहित्यिक हलचलों के बीच में अपने पत्र भी लिखते रहे हैं, लेकिन उनमें उनके मन का पूरा संकेत मिलता है। मौलाना आज़ाद के पत्र 'ग़ुबारे ख़ातिर'[1] जल्दी में नहीं लिखे गए थे, उन्हें पकने के लिए अवकाश मिला और वे तब तक नहीं भेजे गए जब तक कि हर जुमला खिलकर एक फूल नहीं बन गया। रेशम के कीड़े की तरह उन्होंने इन ख़तों को अपने जेल के दिनों में काता है, शब्दों की नक़्क़ाशी और सुकोमलता तथा निर्दोष कलात्मकता की दृष्टि से ये पत्र लासानी हैं। सज्जाद ज़हीर ने भी जेल में से चिट्ठियाँ लिखीं, मगर वे पढ़ने में बहुत ही रसहीन और भयानक लगती हैं। सफ़िया अख़्तर की चिट्ठियों में बड़ी ताज़गी और भावनाओं की गहराई दिखाई देती है। उनके पत्रों की शक्ति और संयम का सामूहिक प्रभाव पढ़ने वाले पर ऐसा ही होता है जैसा किसी दवा या समुद्री हवा का। उनकी अपनी एक विशेष शैली है।

हिन्दुस्तान के इतिहास की तूफ़ानी नदी में आज का युग आशा और सम्भा-वनाओं के जादुई द्वीप की तरह अलग खड़ा है; और इस देश की उन्नति के बड़े आन्दोलन में एक महत्त्वपूर्ण मंज़िल की तरह से है। तूफ़ान और अँधेरे की रात गुज़र चुकी है। आज के उर्दू साहित्य में यह सब धाराएँ झलकतीं हैं; वह जीवन और प्रेम का एक संश्लेषण है। कई कमियों के बावजूद वह उदार, प्रेरणादायक और मानवतापूर्ण है। और नये भारत के निर्माण में उसका जो सामाजिक उत्तर-दायित्व है उसे वह भूला नहीं है।[2]

१. इस पुस्तक का कठिन शब्दों के अर्थ-सहित नागरी लिपि में रूपांतर साहित्य अकादेमी से प्रकाशित हो चुका है।

२. इस लेख के लेखक ख़्वाजा अहमद फ़ारूक़ी को 'मीर तक़ी मीर' शीर्षक आलोचनात्मक पुस्तक पर १९५७ में साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला है।

संदर्भ-ग्रंथ

इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ इस्लाम, खंड ४, भाग २, १९३४, पृष्ठ१०२३-२९, उर्दू साहित्य पर डॉ० अब्दुल हक़ का निबंध।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, ग्यारहवां संस्करण, खंड १३, पृष्ठ ४७९-४९१। हिन्दुस्तानी और हिन्दुस्तानी साहित्य पर लेख : उसी का नवीनतम संस्करण, पृष्ठ ५७२-५७४, उर्दू साहित्य पर श्री आर० रसेल का निबंध।

हिस्ट्री आफ़ उर्दू लिट्रेचर—डॉ० राम बाबू सक्सेना; रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९२७।

द इन्फ़्लूएन्स आफ़ इंगलिश लिट्रेचर आन उर्दू लिट्रेचर—एस० अब्दुल लतीफ़; लंदन, १९२४।

उर्दू प्रोज़ अंडर द इन्फ़्लूएन्स आफ़ सर सैयद अहमद—शेख़ मोहम्मद अशरफ़; लाहौर, मार्च १९४०।

द आरडेंट पिलग्रिम, ए स्टडी आफ़ डा० इक़बाल—इक़बाल सिंह; लंदन, १९५१।

उर्दू ग़ज़ल—ए स्टडी आफ़ उर्दू लिरिकल पोएट्री विद सेलेक्शंस— डा० यूसुफ़ हुसैन; दिल्ली, १९५२।

पोएम्स फ़ाम इक़बाल, अनुवादक—विक्टर जी० कीरनान; लंदन, १९५५

इंटरप्रिटेशन्स आफ़ ग़ालिब—जे० एल० कौल; आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली १९५७।

लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया—जी० ए० ग्रियर्सन, खंड ९, भाग १, पृष्ठ ४२–२७०।

कन्नड

वि० कृ० गोकाक

भूमिका

नव-निर्मित कर्नाटक प्रदेश में कई भाग ऐसे हैं जो पहले बम्बई, मद्रास और हैदराबाद राज्य में थे। उसी में मैसूर और कुर्ग के राज्य भी शामिल हैं। इस नये राज्य का क्षेत्रफल क़रीब ८५,००० वर्गमील और जनसंख्या लगभग ढाई करोड़ है। यहाँ के लोगों का एक समृद्ध, प्राचीन इतिहास है, और उन्होंने भारतीय संस्कृति, कला तथा स्थापत्य को कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयसळ और विजयनगर साम्राज्य के नीचे बहुत महत्त्वपूर्ण देन दी है।

भारत में पुरातनता की दृष्टि से कन्नड-साहित्य का नाम तमिलनाड के साहित्य के बाद लिया जाता है। कर्नाटक में जैनों के आगमन से कन्नड साहित्य आरम्भ हुआ और छठी-सातवीं शताब्दियों के शिलालेखों में उसका सार्थक रूप पाया जाता है। इस काल के कई कवियों की रचनाएँ अब नहीं मिलतीं। इस भाषा का पहला प्राप्य ग्रंथ 'कविराज मार्ग' (८२५ ईस्वी) है, जो कि काव्य-शास्त्र-विषयक है। प्रथम गद्य-ग्रंथ 'वड्डाराधने' (९२५ ईस्वी) है। ९२५ से ११५० के बीच का काल-खण्ड चंपू महाकाव्यों का स्वर्ण-युग था। उस समय के रचयिताओं में पंप, पोन्न और रन्न सबसे प्रसिद्ध हैं। ११५० से १३३६ के बीच का कालखण्ड साहित्य और जीवन में वीरशैव क्रांति का युग है। इनमें से नई साहित्य-विधाएं—जैसे 'वचन' या छोटे गद्य-गीत और नये छंद जैसे रगळे, त्रिपदी और षट्पदी निकलीं। गद्य-शैली बोलचाल की भाषा के निकट आ गई। १३३६ से १५७५ तक का युग स्वर्ण-विजयनगर-युग था, जिसमें 'दासों' या वैष्णव संत कवियों की, कुमारव्यास, लक्ष्मीश और रत्नाकरवर्णी जैसे महाकवियों की, निजगुण शिवयोगी जैसे वीरशैव रहस्यवादियों की रचनाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। १५७५ से १७०० तक मुख्यतः पुरानी साहित्यिक विषय-वस्तु ही आगे

चलती रही। विजयनगर के विध्वंस के बाद बदली हुई समाज-व्यवस्था की ओर सर्वज्ञ जैसे व्यंग्यकार निर्देश करते हैं। अट्ठारहवीं शती में मैसूर के चिक्कदेव राय के नीचे चंपू काव्य का पुनर्निर्माण होता है, और गद्य का विशेष रूप से, जैसे इतिहास आदि के लिए प्रयोग पाया जाता है। उन्नीसवीं शती के द्वितीय दशक तक ये विषय बराबर चलते रहते हैं। आधुनिक काल प्रायः इसी समय शुरू हुआ।

आधुनिक काल

आज के भारत की नाना रूपों में उपलब्धियों का निर्माण जीवन के जिस नये विचार और आचार-आन्दोलन से शुरू हुआ, उसका आरम्भ एक शताब्दी से पहले हुआ। उसका पूरा प्रभाव, और जिस संश्लिष्ट परिवर्तन की ओर यह अखंड और अदम्य रूप से हमें ले जा रहा है उसका पूरा अनुभव अभी नहीं हो पाया है। कन्नड साहित्य पर इन नई शक्तियों का प्रभाव पिछली शती के मध्य में शुरू हुआ। उस समय के कुछ विद्वानों और ईसाई मिशनरियों के लेखन में यह प्रभाव दिखाई देता है। उस समय कन्नड भाषा भी मध्य युग से आधुनिक रूप और शैली की ओर बदल रही थी। केम्पु नारायण का 'मुद्रामंजूषा' (१८२३) मध्य युग से आधुनिक कन्नड की ओर स्थित्यन्तर का पथ-चिह्न है। यह गद्य में एक रोमांस है, जिसमें कि संस्कृत के नाटक 'मुद्राराक्षस' की कहानी को एक ऐसी भाषा में मौलिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है, जिसमें कि मध्ययुगीन और आधुनिक व्याकरण-रूपों का विचित्र मिश्रण है। मुम्मडि कृष्णराय, जो कि १७९४ से १८६८ तक मैसूर राज्य के राजा थे, कला और साहित्य के बड़े आश्रयदाता और स्वयं एक उत्तम साहित्यकार थे। उनके नाम पर जो कन्नड रचना मिलती है वह मुख्यतः गद्य में है। वह स्वयं इस बात का चिह्न है कि आने वाला युग क्या था, यानी कन्नड में इस काल के बाद गद्य अधिक महत्त्व प्राप्त करने लगा। यह कहा जाता है कि जहां पद्य समाप्त होता है वहां गद्य शुरू होना चाहिए, मगर इससे पूर्व के १४०० वर्षों के कन्नड साहित्य में गद्य तो कहीं भी शुरू नहीं हुआ था और गद्य अनन्त था। कन्नड साहित्य के इस आधुनिक गणराज्य के स्वामी के नाते एक मैसूर का राजा प्रख्यात है।

पश्चिमी प्रभाव

आधुनिक भारतीय साहित्य का निर्माण देशज या विदेशी प्रभाव से हुआ, वह कुछ दिनों के बाद केवल विद्वानों की चर्चा का गौण विषय बन जायगा। लेकिन यह बात बहुत सही है, और इसे शुरू में ही कह देना चाहिए कि पश्चिम ने भारतीय क्षितिज पर ऐसे दीपक जलाए जो कि पहले कभी नहीं देखे गए थे। भारतीय लेखकों के विचार-विश्व में १०० वर्ष पहले जो भाव तैरकर आया वह एक नया नक्षत्र ही नहीं था, बल्कि एक समूचा आकाश था। अंग्रेज़ी साहित्य ने भारतीय लेखकों को नई आंखें और नये कान दिए। उपन्यास, छोटी कहानी, शोकान्तिका, जीवन-चरित, आत्म-कथा, निबन्ध, डायरी, पत्र, गीति-काव्य या ऐसी ही और नई साहित्यिक विधाएँ तथा उनकी आकर्षक उपशाखाएँ उनके सामने अनन्त वैविध्य और समृद्धि का कोष खोलने लगीं। उन्होंने बड़ी दिलचस्पी से शेक्सपीअर और मिल्टन, एडीसन और स्विफ़्ट, जॉनसन, गोल्डस्मिथ और बर्क, वर्डस्वर्थ, शेली, कीट्स, स्कॉट, जेन आस्टीन और मेकाले, डिकन्स और थैकरे की रचनाएँ पढ़ीं। स्कॉट ने जो स्फूर्ति बंगला में बंकिम और मराठी में आप्टे को दी थी, वह इन सब उपन्यासकारों ने कन्नड में वैंकटाचार्य और गळगनाथ को प्रदान की।

शेक्सपीअर ने कन्नड अतुकान्त नाटक, शोकान्तिका और ऐतिहासिक नाटकों के निर्माण को प्रभावित किया। यहाँ तक कि कन्नड-पौराणिक नाटकों पर भी शेक्सपीअर की रचना का प्रभाव है। गोल्डस्मिथ और शेरीडन ने कन्नड में 'कामेडी आफ़ मैनर्स' और शॉ विवेचन-प्रधान नाटकों के। कन्नड-गीति-नाट्य की उद्भावना की। इब्सन कन्नड-सामाजिक नाटकों के स्फूर्तिदाता थे, और संगीतिका भी अंग्रेज़ी साहित्य-परम्परा से विकसित हुई। यद्यपि यह मानना होगा कि कर्नाटक की जन-परम्पराओं में उनके समान कुछ पहले से ही एक जीवित शक्ति के रूप में उपस्थित था। पो, हौदर्न और कानन डाइल ने कन्नड कहानी की नामकरण-विधि की। कइयों के नाम न भी दें तो बॉस्वेल और मेकाले कन्नड-जीवनी-लेखकों के आदर्श बने। वर्डस्वर्थ के 'दि प्रिल्यूड' और मिल, टाल्सटाय तथा आस्कर वाइल्ड की आत्म-कथाओं ने त्रिविक्रम, दिवाकर और मधुर चेन्न जैसे लेखकों को अपनी आत्म कथाएँ लिखने के लिए प्रेरित किया। लेम्ब, हैज़लिट और दूसरे निबन्धकारों के आत्म-निबन्धों ने 'गप्पों'

और 'चमक' नामक संग्रहों के लिए भूमिका बनाई। कोलरिज, आर्नल्ड और ब्रैडले की समालोचनाओं ने कन्नड के आलोचना-साहित्य को दिशा प्रदान की। पैलग्रैव की 'गोल्डन ट्रेज़री' ने कन्नड-काव्य में नई क्रान्ति पैदा कर दी। बी० एम० श्रीकंठय्या जैसे अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध अध्यापक इन भाव-गीतों से आकर्षित हुए और उन्होंने उनमें से कई गीतों का कन्नड में अनुवाद किया। इन अनुवादों के संकलन काव्य में कई धारा के प्रवर्त्तक हो गए। उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि इस रूप में मानो कन्नड-काव्य के लिए नये छन्दों का भंडार मिलेगा, क्योंकि नये कन्नड छन्द अंग्रेज़ी छन्द-शास्त्र से बहुत अधिक प्रभावित हैं यद्यपि वे मध्ययुगीन छन्द-रचना के सहज विस्तार के बीच में भी माने जा सकते हैं।

नये साहित्यिक रूपों और हेतुओं का वह प्रभाव आधुनिक कन्नड के लिए असीम अर्थपूर्ण घटना थी, जैसे कि वह अन्य भारतीय साहित्यों के लिए भी रही हो। इसने भारतीय साहित्य को एकदम बदल दिया; मानो समूचे वैज्ञानिक चिंतन और कर्म में आणविक शोध ने क्रान्ति कर दी। कन्नड साहित्य की इमारत में इस घटना ने कई नये कमरे बनवा दिए। जो तरुण साहित्यिक ऊँची शिक्षा के लिए इंग्लैंड या अमरीका गए थे, उन्होंने मूल स्रोत से इन प्रभावों को ग्रहण किया और नया रूप-शिल्प आरम्भ किया। उदाहरणार्थ कैलासम् और आद्य के नाटकों में और गोकाक[1] तथा पी० सदाशिवराव की कविता में।

इंग्लैंड के साथ सांस्कृतिक सम्पर्क या अस्थायी और अ-ललित (अप्लाइड) साहित्य पर भी उतना ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। मध्य युग के प्रारम्भ से पहले मानो भारतीय वैज्ञानिक चिन्तन का विकास रुक गया था। परन्तु हमारे विश्व-विद्यालयों में अंग्रेज़ी शिक्षा-पद्धति जो शुरू हुई उसके चाहे और कुछ भी दोष रहे हों, किंतु एक बात उसने ज़रूर की, और वह थी—नये वैज्ञानिक लेखन को बड़ी प्रेरणा देना। अब कन्नड में सभी प्रमुख भौतिक और सामाजिक विज्ञानों पर पुस्तकें मिलती हैं। जब कर्नाटक के विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम कन्नड बन जाएगा तब इस क्षेत्र में और भी प्रगति हो सकती है। जब कन्नड वैज्ञानिक और अर्थशास्त्र-वेत्ता आगे बढ़ेंगे और कन्नड में वे अपने आविष्कार तथा सृजनात्मक निरीक्षणों को व्यक्त करेंगे, तभी एक सच्चा अ-ललित साहित्य

---

१. वि० कृ० गोकाक को 'द्यावा-पृथ्वी' (काव्य) मई, १९६० का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

भाषा को समृद्ध बनाएगा। परन्तु कन्नड पत्रकारिता एक ऊँचे स्तर पर पहुँच गई है। पत्रकारों की सहिष्णुता और स्वार्थ-त्याग के इतिहास को धन्यवाद है; यद्यपि वह भी अंग्रेज़ी परम्परा की उपशाखा के नाते शुरू हुई और उसने अंग्रेज़ी रंगत वाली कन्नड भाषा के माध्यम से समाचारों और विचारों को देना शुरू किया। वह पहले हमारी भाषा में अटपटी शैली जान पड़ती थी। अब वह अपनी बहार पर आ गई है, जैसा कि भारतीय प्रजातन्त्र भी अब अपने पैरों पर खड़ा है। और ये दोनों सब तरह के लोगों तथा कार्य-कलापों पर, इस धरती की भाषा में, खण्डन-मण्डन कर सकते हैं। बच्चों और निरक्षर प्रौढ़ों के लिए भी नया साहित्य आगे बढ़ रहा है, जिसमें अनुवाद, अनुकरण और मौलिक सृजन—ये तीनों ही प्रक्रियाएं (यद्यपि सीधी इसी क्रम से नहीं) चल रही हैं।

क्लासिकल पुनर्जागरण

जब हम भारतीय साहित्य पर पश्चिम के प्रभाव की छान-बीन करते हैं तब हमारे सामने एक विचित्र 'वदतो व्याघात' उपस्थित हो जाता है। एक ओर तो हमें विदेशी आदर्शों में पूजा की भावना बढ़ती दिखाई देती है और साथ ही साथ दूसरी ओर प्राचीन गौरव का पुनर्जारण भी उसमें मिला हुआ दिखाई देता है। एक ऐसा प्रेरणादायक राष्ट्रीयवाद, जो कि जागरूक मध्य वर्ग पर छा गया था, स्वेज़ नहर के माध्यम से भारत में आया। हमने वेदों और उपनिषदों तथा कालि-दास, शूद्रक और पाणिनी की सच्ची महत्ता को शोपेनहावर, मैक्समूलर, राइडर और कीथ द्वारा पुनः खोजा। गाडविन, मिल और बर्ट्रेण्ड रसेल के माध्यम से हम कई बार ऐसे खतरे के निकट पहुँच जाते हैं कि कहीं हम वेदों और उपनिषदों को जला न डालें। इस नव जागरण की आत्मा इतनी सर्वव्यापी थी कि कई बार हमें ऐसा अनुभव होने लगा कि कहीं इस नये आन्दोलन का सार-मात्र पुनर्जागरण ही न हो। बसवप्प शास्त्री ने, जो कि इस नये प्रभाव के सबसे पहले ग्रहणकर्ताओं में से थे और जिन्होंने कन्नड में 'ओथेलो' का अनुवाद किया था, कालिदास के 'शाकुंतल' का श्रेष्ठ अनुवाद किया। मुळबागल ने 'उत्तररामचरित' और तुरमरी ने 'कादम्बरी' का रूपान्तर आधुनिक कन्नड में प्रस्तुत किया। धीरे-धीरे कन्नड साहित्य में संस्कृत के श्रेष्ठ ग्रंथों के नये अनुवाद एक लम्बी परम्परा के रूप में चलते रहे और अब वह एकदम भिन्न प्रकार के वातावरण में पुनर्जीवित किये

गए हैं। कन्नड में पुराणों के अनुवाद भी हुए। ऐसा लगता है कि जब हम महान यूरोपीय लेखकों की वेदी पर धूप जलाते थे तब उस नई उमंग के साथ-साथ यह भी निश्चय करते थे कि हम अपने स्वाभिमान और अपनी उस महान परम्परा को भी न भूलें, जिसे कि हम कुछ समय के लिए भूल गए थे।

विदेशी मिशनरियों ने हमारे प्राचीन की पुनर्प्रतिष्ठा में बड़ा योग दिया, यद्यपि उनकी दृष्टि अधिकतर ईसाई धर्म के प्रचार की ही थी। राइस द्वारा 'दि एपिग्राफ़िका कर्नाटिका' के प्रकाशन से आधुनिक दृष्टिकोण से ऐतिहासिक अध्ययन शुरू होता है। किटेल की 'कन्नड-इंग्लिश डिक्शनरी' ने साहित्यिक जिज्ञासुओं के लिए कन्नड भाषा के उस व्यापक भण्डार को खोल दिया, जिससे वे लगभग १५०० वर्षों से वंचित थे। 'कविचरिते' के खण्डों से आलोचनात्मक और जीवन-चरित्र-विषयक अध्ययन आरम्भ हुआ; इसमें कन्नड के साहित्यकारों की जीवनियों और लेखन का ऐतिहासिक अध्ययन है। 'काव्य कळानिधि' के प्रकाशकों ने प्राचीन कन्नड-कविता के कोष को पाठकों के सन्निकट उपस्थित किया। श्री हलकट्टी ने कन्नड साहित्य के एक मूल्यवान विभाग 'वचन साहित्य' को खोज निकाला। रत्नाकर वर्णी, जो कि प्रायः विस्मृति में खो गए थे, फिर आगे लाए गए और उन्हें अपने उचित स्थान पर कन्नड-काव्य की प्रमुख पंक्ति में प्रतिष्ठित किया गया। सर्वज्ञ और सब हरिदास भी अपने उचित स्थान पर आए। कैक्सटन के छापेखाने ने उसके देशवासियों की जेबें अत्यधिक सोने से भर दीं, यह सही है; परन्तु उसने कन्नड जनता को एक सूत्र में गुम्फित किया। इसका प्रभाव यह हुआ कि कन्नड जनता भारत के अन्य भाषा-भाषियों की भाँति संयुक्त हो गई और वह फिर अपनी पुरानी धरोहर तथा परम्परा से उत्कटतापूर्वक प्रेम करने लगी।

महान साहित्य-परम्परा की यह नव्य जागरित चेतना कन्नड-साहित्य की एक सप्राण घटना थी। बेन्द्रे ने कन्नड-सरस्वती को सम्बोधित करके कहा है :

"तुममें योग और भोग दोनों विकसित हैं,
ओ जैन मधुकोष के मधु !
वीरशैव रहस्यवादी आहें भरते रहे
तुम्हारे लिए, ओ उनके आत्मा की प्रेयसी !
ओ गायक सन्तों की नर्तकी,

तुमने उनके आनन्द और अभियोगों को वाणी दी ।
मुद्दण्णा के प्रेम और कोमलता को
तुम्हारे इन्द्रधनुषी शब्द पहुँच सके और आशीर्वाद दे सके ।
ओ देवी ! अद्भुत सुन्दरी कुमारी !
मेरी अन्तरात्मा से मिल जा !
मैं कितनी देर से देख रहा हूँ,
गीत, ओह, गीत !"

लोक-कविता का पुनर्जागरण, जिसमें बेन्द्रे और मधुर चेन्न ने बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया, अपने-आपमें वीर-गाथाओं और अन्य गीतों के लिए एक-प्रेरणा थी। पुराने शिला-लेख और उन वीरों के मृत्यु-लेख खोजे गए जिन्होंने हमारे इतिहास में बड़ी देन दी थी। लोक-गाथाओं और कहावतों की भी खोज हुई, और जब वे एकत्रित करके प्रकाशित की गईं तो यह पता लगा कि वह हमारी संस्कृति के कोष हैं। कन्नड की बोलियों का वैज्ञानिक अध्ययन करके उन स्थल-नामों की खोज हुई, जिन्होंने हमारी कविता और नाटकों को रंगीनी दी। कन्नड साहित्य में भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी खोज इन्हीं कार्यों से प्रारम्भ हुई।

आधुनिक भारतीय भाषाओं के परस्पर सहयोग को भारतीय पुनर्जागरण की जिन दो धाराओं के प्रस्फुटन से बल मिला वे पश्चिमीकरण और पुनर्जागरण की धाराएँ थीं। कर्नाटक के 'यक्षगान' ने मराठी नाटक के विकास को प्रभावित किया। मराठी उपन्यास ने आप्टे के ऐतिहासिक उपन्यासों के द्वारा कन्नड उपन्यास के विकास को दूसरी ओर मोड़ा।

महान भारतीय विचारक—जैसे राजा राममोहन राय, महर्षि दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, योगिराज अरविन्द, श्रीमती एनी बेसेण्ट, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्री रमण महर्षि किसी एक प्रान्त या प्रदेश के नहीं, समूचे भारत के थे। ये विचारक इस नवीन जागरण के, जो कि बहुविध होकर भी एकाकार है, महत्त्वपूर्ण प्रतीक थे; और देश ने उन्हें इसी प्रकार से ग्रहण किया। उनकी जीवनियों और उनके उद्‌गारों ने अगणित सुसंस्कृत पुरुषों तथा स्त्रियों के दृष्टिकोण को आकार दिया और देश में उनमें से प्रत्येक का प्रभाव अपने-अपने ढंग से आज भी उतना ही शक्तिशाली है जैसा कि उसके आरम्भ के दिनों में था। इनके सन्देशों के सम्प्रेषण का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम

अंग्रेज़ी भाषा थी, यथा श्री अरविन्द और पंडित नेहरू के लेखन के लिए परोक्ष रूप से और रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा गांधी जी के लिए अपरोक्ष रूप से, अंग्रेज़ी का उपयोग बहुत मूल्यवान सिद्ध हुआ।

एक विश्लेषण

पुनर्जागरण का प्रमुख विषय कलाकार की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता और उसकी रचनात्मक प्रेरणा था। कलाकार पुरातत्त्वज्ञों की भाँति भूतकाल को केवल भूतकाल के लिए खोदकर नहीं निकालना चाहता। जैसे कोई अहंकारी यूरोपीय प्रवासी अपने सामान पर सब तरह के लेबल लगाने और उन्हें प्रदर्शित करने में बड़ा सन्तोष अनुभव करता है, वैसे कलाकार नहीं चाहता। यथार्थ की उसकी अपनी अन्तरानुभूति और वर्तमान तथा भविष्यत् के उसके अपने अनुमान होते हैं। यदि वह प्राचीन काल की ओर मुड़ता है और उसकी समृद्ध परम्परा से स्फूर्ति ग्रहण करता है तो वह भी एक प्रकार से अपने निरीक्षणों को सिद्ध करने के लिए और बल देने के लिए ही। यदि वह आस-पास देखकर और दूसरे देशों की साहित्यिक हलचलों में रस लेता है तो वह इसीलिए कि उनमें उसे एक समान धर्म, लय तथा उसी प्रकार का स्पन्दन मिलता है। यदि उसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो तो वह इसीलिए होता है कि वह रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कस्तूरी-मृग की तरह अपने भीतर की सुगन्धि से मस्त और दिग्भ्रमित होता है। वह अपने जीवन-दृष्टिकोण के विस्तार को ऊर्ध्व तथा समतल दोनों आयामों में देखता है। आधुनिक भारतीय भाषाओं ने अंग्रेज़ी साहित्य से इस अद्भुत ढंग से ऋण लिया और वे अपने अभूतपूर्व अभियान पर चल पड़ीं। उन्होंने अपने प्राचीन स्फूर्ति-स्रोतों का यथेच्छ आस्वादन करके अपनी शक्ति को पुनर्नूतन बनाया, क्योंकि जो स्त्री-पुरुष इस काल में इन भाषाओं को बोलते थे, उन्हें अपना नया जीवन-निर्माण करना था। उनकी अपनी कुछ आकांक्षाएं थीं, जिनके लिए वे काम करना चाहते थे।

यह नया जीवन क्या था ? यह अब कन्नड जनता के संदर्भ में परिभाषित किया जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी का प्रथमार्ध उनके लिए विचार और जीवन की नवीन धारा का सामान्य महत्त्वपूर्ण आरम्भ था। भाषा का गठन अदृश्य रूप से बदल रहा था और गद्य ने अपने न्याय्य क्षेत्र पर अपना अधिकार

जमाया था।

कन्नड पुस्तकों का मुद्रण आरम्भ हो गया था और मैसूर के 'कर्नाटक प्रकाशिका' जैसे कन्नड पत्र १८६५ में शुरू हो गए थे। इंजील का कन्नड अनुवाद १८२३ में प्रकाशित हुआ था। दक्षिण कर्नाटक में मैसूर के राजाश्रय ने कन्नड की साहित्यिक परम्परा को स्थापित करने और चलाने में बड़ी सहायता दी। शेष कर्नाटक प्रदेश अगणित शासकीय सुविधाओं वाले टुकड़ों में बँटा हुआ था। कन्नड को यहाँ भी केवल अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ा। परन्तु उसने इस कारण से बहुत अधिक प्रभाव ग्रहण किया और वह जल्दी ही जनतंत्रात्मक विचार-पद्धति तथा व्यंजना सीख सकी। इस काल की रचनाओं में अनिश्चितता का स्वर और संक्रान्ति का स्पर्श है। परन्तु मध्ययुगीन साहित्यक परम्परा अक्षुण्ण रही और वह धीरे-धीरे साहित्य-जगत् में अपने अधिकार जमाती रही।

प्रथम अवस्था

उन्नीसवीं शती का उत्तरार्ध नवजीवन की हलचल से स्पंदित है। पश्चिमीकरण की प्रतिक्रिया और पुनर्जागरण इस युग के मुख्य विषय हैं। अनुवादों के द्वारा संस्कृत और अंग्रेज़ी के श्रेष्ठ ग्रंथों का प्रभाव कन्नड में बराबर आता रहा। नाटक, उपन्यास, जीवनियाँ और आलोचना धीरे-धीरे अपने सच्चे रूप में विकसित होने लगे। इन सब विधाओं में उपन्यास सबसे अधिक सुस्थापित था। एम० एस० मुद्दण्ण कन्नड कथा-साहित्य में वास्तववाद के सबसे पहले महत्त्वपूर्ण प्रवर्त्तक थे। मुद्दण्ण के 'रामाश्वमेध' नामक महाकाव्य के रूप में इस नई चेतना की सौंदर्यमयी एकरूपता अभिव्यंजित हुई। यह महाकाव्य औपन्यासिक रूप का तथा नया है। इसमें परम्परित जनश्रुति को ऐसे ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि वह नई लगती है, क्योंकि उसमें एक नया जीवन-दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है। इसके रचयिता मुद्दण्ण और उनकी पत्नी मनोरमा का प्रेम ऐसा ही है जैसा बैनेडिक और बिएट्रिस का। इस युग में कई साहित्यिक पत्रिकाएँ शुरू हुईं और नये साहित्यिक रूप चुपचाप प्रचलित होते गए। शैली, छन्द और कल्पना-चित्रों में भाव-गीत परम्परित अवस्था में थे। नये प्रभाव के कारण ये गीत भी बदलते गए। शरीफ़ साहब जैसे प्रतिभाशाली ग्रामीण गायक सूत की मिल की नई

विचित्र इमारत को देखकर आश्चर्य करते रहे और उसके प्रति उन्होंने अपनी श्रद्धा व्यक्त की। यद्यपि वह केवल उन्होंने अपने आध्यात्मिक विषय के प्रतीक के रूप में ही किया। इसी युग में ईसाई मिशनरी संस्थाएँ बाइबल के भजनों और धार्मिक गीतों के अनुवाद करती रहीं।

१६०० से १६२० का काल अधिक निश्चित और विविध उपलब्धियों का काल है। बी० रामाराव, आलूर, मुदवीडु, मुळिय तिम्मप्पय्य, पंजे मंगेशराव और एस० जी० नरसिंहाचार जैसे लेखक इस काल में आगे आए। एस० कट्टी, बी० एम० तट्टी, शांतकवि, काव्यानन्द इत्यादि की काव्य-रचनाओं और उपरिलिखित लेखकों की रचनाओं में आधुनिक कन्नड कविता निश्चित रूप से विकास प्राप्त कर रही थी। एच० नारायणराव और बी० एम० श्रीकंठय्य के भावगीत-अनुवाद पहले ही प्रकाशित हो चुके थे। केरूर बड़े प्रतिशाली अग्रदूत थे और उन्होंने बड़े अच्छे नाटक, उपन्यास और कहानियाँ लिखी हैं। पत्रकार तो वह अच्छे थे ही। १६१४ में कन्नड देश में साहित्य परिषद् की स्थापना के बाद पुनर्जागरण प्रतिष्ठित हुआ।

स्वर्ण-युग

१६२० के बाद आधुनिक कन्नड साहित्य अपने स्वर्ण-युग में प्रवेश कर रहा है। सारे कर्नाटक में गायक पक्षियों के नीड़ मानो चहचहाने लगे। 'तळिरु' मण्डली बी० एम० श्रीकंठय्य, मास्ति और डी० वी० गुण्डप्पा के नेतृत्व में, मंगळीर की 'मित्र-मण्डली' पंजे और गोविन्द पै के नेतृत्व में तथा बेन्द्रे के नेतृत्व में धारवाड़ का 'गेळेयर गुम्पु'—ये और अन्य दल सारे प्रदेश में सक्रिय थे एवं उन्होंने अत्यन्त सुन्दर कविताएँ रचीं। प्रतिभाशाली छोटे कवि, जैसे के० वी० पुट्टप्प, वी० सीतारमय्य, पु० ति० नरसिंहाचार, राजरत्नम् कडेंगोंडलु, मधुर चेन्न और मुगळि[1] इन्हीं दलों में से आगे आए। बेटिगेरी और सेलि ने भी बड़ी आकर्षक कविताएँ लिखी हैं। उन्होंने ऐसी कविताएँ लिखीं, जिनमें कि धरती का प्रेम और जिस युग में वे थे—उसकी बढ़ती राष्ट्रीयता का पूरा भावलोक व्यक्त हुआ है। प्रगाथा (ओड), विलापिका गीतिकाव्य, सानेट, गाने और

---

१. १६५६ में इन्हें 'कन्नड साहित्य चरित्रे' पुस्तक पर साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

भजन; वर्णनात्मक कविता, खण्ड-काव्य, वीर काव्य, रोमांस, दार्शनिक कविता, नाट्य-गीत और स्वगत-भाषण : ये और अन्य काव्य-विभाग उत्कट आनन्द और सच्ची प्रेरणा से विकसित किये गए। उन दिनों कई तरह के विशिष्ट उपन्यास लिखे गए, जिनके कई उदाहरण आज भी प्रकाशमान हैं—बेटिगेरि के 'सुदर्शन' में सामाजिक शिष्टाचार के उपन्यास, ए० एन० कृष्णराव के 'संध्याराग' में चरित्र-प्रधान उपन्यास, कस्तूरी के 'चक्रदृष्टि' में व्यंग्य-प्रधान उपन्यास, देवुडु के 'अंतरंग' में मनोवैज्ञानिक उपन्यास, कारन्त के 'मरळि मण्णिगे' में काल-प्रधान उपन्यास, मुगळि के 'कारण पुरुष' में समस्या-प्रधान उपन्यास, और आद्य के 'विश्वामित्र सृष्टि' में अचेतन संज्ञा-प्रवाह वाला उपन्यास। कारन्त का 'बेट्टद जीव' आंचलिक उपन्यास का एक उत्तम उदाहरण है। बेटिगेरि, केरूर, मास्ति और के० वि० अय्यर के ऐतिहासिक उपन्यास बड़े मनोरंजक हैं। जासूसी उपन्यास अभी अपटु हाथों में ही हैं। ए० एन० कृष्णराव के 'नट-सार्वभौम', के० वि० पुट्टप्प के 'कानूर सुब्बम्म' और गोकाक के 'समरसवे जीवन' आदि उपन्यास सम्मिश्र ढंग के हैं।

इस युग में टी० पी० कैलासम्, हुइलगोळ, गरूड, संस और आद्य आदि नाटकों के भी बहुत प्रसिद्ध लेखक हुए। विभिन्न प्रकार के नाटक बड़ी सफलतापूर्वक लिखे जाने लगे—पौराणिक नाटक (गरूड का 'पादुका पट्टाभिषेक' और सि० के० वेंकटरामय्य का 'मण्डोदरी'), ऐतिहासिक नाटक (संस का 'सुगुण-गम्भीर' और मास्ति का 'ताळीकोंटे'), सामाजिक नाटक (हुइलगोळ के 'शिक्षण-संभ्रम', कैलासम् के 'होमरूल' और आद्य के 'हरिजन्वार') और व्यंग्य-नाटक (कारन्त के 'गर्भगुडी' और मुगळि के 'नामधारी')। तीखी ट्रेजेडी के लिए संस के नाटक और कैलासम् के 'कौन दोषी है ?' जैसे नाटकों की ओर हमें जाना चाहिए। रोमांटिक सुखान्त नाटक के लिए गोकाक के 'युगान्तर' जैसे नाटक पठनीय हैं। कैलासम् आद्य और बेन्द्रे एकांकी नाटकों के अधिकारी लेखक हैं। गीति-काव्य का अपना विशेष इतिहास है, जिसमें 'श्री' के 'अश्वत्थामन' और के० वि० राघवाचार के 'एण्टीगोनी' (प्राचीन यूनानी से सीधे अनूदित), अतुकान्त पद्य-नाटक जैसे शेक्सपीअर के पुट्टप्प और डी० वी० जी० द्वारा रूपान्तरित

और मास्ति के 'यशोधरा', 'तिरुपाणि' और पु० ति० नरसिंहाचार[1] का 'अहल्या जैसा संगीत-रूपक और कारन्त के 'सौमिय सौभाग्य' और 'यारो अन्दरु' (किसी ने कहा था) जैसे शोकान्त तथा सुखान्त ऑपेरा आदि। अतुकान्त पद्य कन्नड के 'रगळे' छन्द में से एक-से मिलते-जुलते हैं और इसी कारण नाट्य-लेखन के लिए अत्यंत आवश्यक अतुकान्त पद्य बड़ी सरलता से कन्नड में प्रचलित हो गए।

कहानी आधुनिक साहित्य-विधाओं में सबसे लोकप्रिय है। मास्ति कन्नड कहानी के पिता थे और उन्होंने दार्शनिक कहानियों (जैसे 'सारि-पुत्र के अन्तिम दिन'), देशभक्तिपूर्ण कहानियों (जैसे 'वसुमती'), ऐतिहासिक कहानियों (जैसे 'निजगल की रानी'), ग्रामीण जीवन की कहानियों (मोसरिन मंगम्म) और गीतिकाव्यात्मक कहानियों (जैसे 'यह इन्दिरा है या नहीं') में कई उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किए। बेटिगेरिआनंद, गरूड, गोपालकृष्णराव, कृष्णकुमार, श्रीमती गौरम्मा आदि कई अन्य लेखकों ने कहानी को समृद्ध करके उसके क्षेत्र को घटना और चरित्र, भावना और विचार, वातावरण और मनोविज्ञान आदि दिशाओं में व्यापक बनाया।

निबन्ध आधुनिक कन्नड-साहित्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण विभाग है। इसका आरम्भ बहुत पहले टीका-व्याख्या और पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हुआ। परन्तु व्यक्तिगत निबन्ध 'गप्पें' और 'चमक' जैसे निबन्धों के संग्रह से ही आगे बढ़ा और अब उसमें विविधता और व्यापकता भी कुछ संग्रहों में मिलती है, जैसे—ए० एन० मूर्तिराव का 'हगलुगनसुगळु' (दिवा-स्वप्न), नारायण भट्ट का 'उपन्यासगळु', एन० के० कुलकर्णी का 'मुंगैल पुटिगे' और आद्य का 'स्वारस्य'। एस० कृष्ण शर्मा और बेन्द्रे के 'रेखा-चित्र', टी० एन० श्रीकंठय्य और ए० एन० कृष्णराव के 'आलोचनात्मक निबंध', पुट्टप्प के 'वर्णनात्मक निबन्ध', 'भावना चित्रगळु' में पु० ति० न० के कथात्मक निबंध' और गोकाक के 'पत्रात्मक और भौगोलिक-सांस्कृतिक निबंध' मोटे तौर पर यह दर्शाते हैं कि इस क्षेत्र में कितनी और कैसी उपलब्धियाँ हुईं। हमारे साहित्य में डी० वी० गुण्डप्पा[2] के 'गोखले' जैसे क्लासिकल जीवन-

१. इन्हें १९६६ का साहित्य आकादेमी पुरस्कार अपनी संगीत-विषयक पुस्तक 'हमसा दमयन्ती मात्तु इतारा रूपकागलु' पर मिला।

२. 'श्रीमद्भगवद्गीता-तात्पर्य अथवा जीवन-धर्मयोग' पुस्तक पर १९६७ का सा० आ० पुरस्कार।

चित्र हैं और पुट्टप्प के 'विवेकानन्द' जैसे रोमांटिक जीवन-चित्र भी हैं। कन्नड में आत्म-कथा के विविध रूप मधुर चेन्न के 'प्रेल्यूड' जैसे आध्यात्मिक, राजरत्नम् के 'दस वर्ष' जैसे साहित्यिक, गोकाक के 'सौन्दर्य-स्वरूप' जैसे सौंदर्यात्मक और दिवाकर के 'सेरेमने' जैसे मुख्यतः राजनयिक मिलते हैं। साहित्यिक रूप की नई डायरी का उत्तम उदाहरण गोकाक के 'समुद्र पार से' और अश्वत्थनारायणराव के 'मुक्ति का मूल्य' में मिलते हैं। वी० सीतारामय्य, गोसावि, मानवि आदि ने बड़े मनोरंजक प्रवास-वर्णन लिखे हैं। इस काल में साहित्यिक आलोचना अधिकतर प्राचीन आन्दोलन के घोषणा-पत्र को परिभाषित करने के रूप में है। उसमें नवीन कन्नड साहित्य की विशाल समृद्धि का नया अर्थ और यूरोपीय साहित्य को संजीवन देने वाले आदर्श की विवेचना है। उसमें प्राचीन और नवीन का सम्मिलन है। इस संदर्भ में टी० एन० श्रीकंटय्य के 'भारतीय काव्य मीमांसे', मुगळि के 'कन्नड साहित्य चरित्रे', कृष्णमूर्ति के 'ध्वन्या-लोक' अनुवाद और टीका और कर्की के 'छन्दोविकास' का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। पिछले पृष्ठों में उल्लिखित कई लेखकों ने साहित्यिक समालोचना में भी योगदान दिया है। कई समालोचकों जैसे माळवाड़ और रंगण्ण ने भी इस क्षेत्र को समृद्ध बनाया। बसवनाळ और कुंदणगार जैसे विद्वानों ने प्राचीन कन्नड के श्रेष्ठ ग्रंथों के शास्त्रीय पाठ वाले शुद्ध संस्करण प्रकाशित किये। कुछ प्रसिद्ध साहित्यिकों के सम्मान में प्रकाशित अभिनंदन-ग्रंथों में भी कन्नड साहित्य-समीक्षा की मूल्यवान सामग्री देखने को मिलती है। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि उनमें से कइयों ने एक से अधिक साहित्यिक विधाओं में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

१९३९ और बाद

अगली धारा १९३९ के लगभग शुरू हुई। उसी वर्ष दूसरा महायुद्ध भी छिड़ गया और सन् '३० में जिस 'प्रगतिशील' आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था वह इस समय तक और भी ज़ोर पकड़ गया, और इस युग के साहित्य पर उसने बड़ा गहरा प्रभाव डाला। वह मानो नवीन तरुण साहित्यिक पीढ़ी के उदय का एक धुरी-बिन्दु बन गया। 'रसऋषि' इस नवीन चेतना को सिद्ध करने वाले गीतों का संकलन था। पहले समय के लेखक भी बराबर लिख रहे थे और कुछ नवीन दिशाओं में उन्होंने नेतृत्व भी किया। तभी भारत में सन् '४२ का 'भारत छोड़ो

आन्दोलन', १९४७ में 'स्वतन्त्रता का आगमन', साम्प्रदायिक दंगे, भारतीय रियासतों का विलीनीकरण, गांधी जी का खून, गोआ का मुक्ति-आन्दोलन और भारत में भाषावार प्रदेशों का पुनर्गठन आदि अनेक नाटकीय घटनाएँ घटित हुईं। नवीन साहित्यिक पीढ़ी इस वातावरण की छाया और प्रकाश में बढ़ी। पुरानी पीढ़ी के लेखकों ने इन स्थितियों पर एक विकसित कला और परिपक्व दृष्टि से ध्यान दिया। परन्तु तरुण लेखक उनकी ओर नई ताज़गी और उत्कटता से देखकर मानसिक प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करते थे।

कविता के क्षेत्र में और नई शक्ति आई। के० नरसिंहस्वामि अडिग, श्रीधर, कणवि, एक्कुण्डि, किन्निगोळि, शर्मा और अन्यों ने गीत-काव्य में नई संवेदना फूँकी। लम्बी कविता में कई तरह की विशेषताओं और विविधता की उपलब्धि हुई। पुट्टप्प ने अपनी 'रामायण'[1] पूरी की। डी० वी० गुडप्पा ने 'कग्ग' नाम से पद्य में अपने विश्वासों की दार्शनिक प्रस्तावना प्रकाशित की। मास्ति ने 'नवरात्रि' के नाम से अपना कथाचक्र प्रस्तुत किया, जो कि अंग्रेज़ी कवि चॉसर की कैंटरबरी कहानियों की तरह से था। बेन्द्रे की 'सखी गीता' में रोमांटिक महाकाव्य की पूरी मस्ती और मुक्ति है। गोविन्द पै की ईसा और बुद्ध पर लिखी कविता ऐसी ही 'घटना' है जैसी कि आर्नल्ड का 'सोहराब रुस्तम'। 'विनायक' की गीत-सरणि 'बाळदेगुलदल्लि' भारतीय पुनर्जागरण का शिल्पमय प्रकटीकरण है। अडिग की 'कन्दर' और 'गोंदलपुर' ऐसी नई रचनाएँ थीं, जैसी टी० एस० इलियट की 'दि वेस्ट लैंड'। विनायक के 'समुद्र-गीतों' ने कविता में मुक्त-छन्द और नई विषय-वस्तु आरम्भ की। रचना का रोमांटिक ढंग, चाहे वह लोक-गीतों के रूप में हुआ या अन्य रूपों में, कविता में सुप्रतिष्ठित हो गया था। अतः नये काव्य-प्रयत्नों के लिए, नई शैली और कल्पना-चित्र, नये छन्द और रचना-विधान अत्यन्त आवश्यक थे। आधुनिक टेकनीक में बहुत कुछ आशा दिखाई दी। विनायक, अडिग, शर्मा शिवरुद्रप्प, कणवि और अन्य इन रास्तों पर साहस के साथ चल पड़े। आधुनिकतावादी रास्ता काव्य लिखने के अनेक रास्तों में से एक है और उन आधुनिकतावादियों में भी कई रास्ते और हैं। अब इन सबका अन्वेषण हो रहा है।

१९३९ में विविध साहित्य-प्रकारों में क्या और कितनी उपलब्धियाँ हुईं,

---

१. यह एक तुकान्त महाकाव्य है, जिसे साहित्य अकादेमी का पुरस्कार मिला है, और १९६८ में ज्ञानपीठ पुरस्कार भी।

उनका लेखा-जोखा देने के लिए यहाँ स्थान नहीं है। परन्तु साहित्य के क्षेत्र में मिर्जी, कत्तीमणि, इनामदार, कुळकुन्द शिवराव, त० रा० सुब्बाराव, के० टी० पुराणिक और हेग्गडे आदि कुछ नये नामों का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें से कुछ लेखकों ने छोटी कहानियाँ भी लिखी हैं, जिनके साथ हुइलगोळ और अनन्त-मूर्ति और वरगिरि जैसे लेखक प्रसिद्ध हैं। नाटक के क्षेत्र में पर्वतवाणि, एल० जे० बेन्द्रे, एन० के० कुलकर्णी आदि कुछ नये नाम हैं। नाडिग, गदगकर और वाडप्पि ने आत्म-निबन्धों को आगे बढ़ाया। के० कृष्णमूर्ति, के नरसिंहमूर्ति और कइयों ने साहित्य-समालोचन में योग दिया।

द्वितीय महायुद्ध की पार्श्वभूमि में कई उपन्यास और कहानियाँ लिखी गई हैं। वे कविता के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण विषय थे। गोविंद पै कहते हैं, "जब तक मानव मानवतापूर्ण रहेगा तब तक युद्ध-भूमि शांति की माता रहेगी।" इंचल कहते हैं, "यह महायुद्ध इसी धरती पर हुआ, जहाँ ईसा, बुद्ध और बसव ने अपना शांति-मंत्र प्रचारित किया।" विनायक ने 'असुर' में हिटलर के साथ कवि के एक काल्पनिक इंटरव्यू का वर्णन करके आसुरी प्रवृत्तियों का अर्थ दिया है। चित्ताल ने हिरोशिमा में हुए क़त्ले-आम के बारे में बहुत ही तीखी करुणा से लिखा है और कस्तूरी ने अणु-अस्त्रों का मज़ाक उड़ाया है। हास्य-वीर-रस-मिश्रित छन्दों में श्री राव ने युद्ध का महत्त्वपूर्ण वर्णन पद्य में दिया है।

'भारत छोड़ो आन्दोलन' इनामदार और कत्तीमणि के उपन्यासों में प्रभाव-शाली ढंग से व्यक्त हुआ है। वी० सीतारामय्य एक शक्तिशाली प्रगाथ में इस बड़े आन्दोलन का वर्णन इस प्रकार करते हैं :

> "यह जनता !
> इसके आगे बढ़ने वाले अभियान को कौन रोक सकता है ?
> इसकी असीम आशाओं को कौन सीमा में बाँध सकता है ?
> ऊँचे-ऊँचे मंदिर ऊपर उठेंगे।
> अपने शिखर वे आकाश की नीलिमा तक उठायँगे।
> ये लोग नक्षत्रों के चमकीले प्रकार पर खिलखिलायँगे।
> अनाप हवाओं को ये नाप लेंगे।"

राव ने एक लम्बी कविता में नेताजी सुभाषचंद्र बोस की आज़ाद हिन्द फ़ौज की विजय का वर्णन किया है। १९४३ के बंगाल के अकाल ने कन्नड में कई कहा-

नियों और उपन्यासों (जैसे मुगळि के 'अन्न' इत्यादि) को प्रेरणा दी। उसी समय गोविन्द पै ने एक कविता में लिखा :

"समृद्ध होने पर भी हम भूख से मर रहे हैं।
जीवन होने पर भी हम लोग मुर्दों की तरह जी रहे हैं।"

आज़ादी आने के साथ-साथ सभी हृदय स्पन्दित हो उठें। हर कवि ने मानो साहसी गाने लिखे। उपन्यासों और नाटकों ने भी कविता के साथ स्पर्द्धा शुरू की। इस घटना में सभी विधाओं में विजयोल्लास और भाव-व्यंजना की गई—जैसे आद्य का नाटक 'शोकचक्र'। दक्षिण कन्नड के कवियों ने 'उद्घोष' नाम से एक कविता-संग्रह प्रकाशित किया, जिसमें स्वतंत्रता-प्राप्ति का आनन्द मनाया गया। परन्तु इस आनन्द की भावना के साथ ही साथ स्वप्न-भंग की छाया भी गहरी हुई। विनायक ने भारत माता को दु:ख के साथ दो चेहरे वाली देवी जेनस के रूप में देखा है :

"ओ दो रूपों की पीड़ा,
ओ दो जीवन और दो प्रेम की !"
यह एक उलझा हुआ रास्ता है, यह रास्ता एक के दो बनने का है !

गांधीजी के जन्म-दिन के अवसर पर बेंद्रे ने लिखा : "कम से कम आज के दिन हम सच बोलें। बाक़ी साल-भर तो हम झूठ को पूरी तरह देते ही हैं।" चित्ताल ने लिखा : "सड़क की बत्तियों पर दीपक लटकाकर आज़ादी के आने की घोषणा कर रहे हैं, पर साथ ही साथ मैं कैसे भूलूँ यह राक्षस जैसी चिमनी, जिसमें से काला धुआँ निकल रहा है और जो आदमी को इस तरह खा रहा है जैसे ईंधन हो !"

गांधीजी की हत्या के कारण लोगों की चेतना जागी और उनमें एक नया मूल्य-भाव उत्प्रेरित हुआ। कन्नड कवियों ने राष्ट्रपिता को अपनी श्रद्धांजलि एक मार्मिक गीत-संग्रह के रूप में अर्पित की। 'हेमंत' ने देश की एकता के स्थपति वल्लभभाई पटेल पर एक हृदयस्पर्शी विलापिका लिखी। कवि धीरे-धीरे रचनात्मक और विधायक काम के मंत्र की ओर मुड़े, क्योंकि इस सारी निराशा में से वही एक रास्ता था। अडिग ने लिखा है : "ओ मित्र, अभी भी यहाँ वह बगीचा है, जिसमें आशाएँ अंकुरित होती हैं। इन काँटों और पत्थरों के नीचे बड़ी समृद्ध ज़मीन है, उसमें कई फ़व्वारों और झरनों का खेल छिपा है।"

विनायक ने कल्पना की है कि भारत माता कह रही है :

"इसके लिए संतों ने मानव अवतार लिया।
विश्वास करो इस पर, मेरे बच्चो।
देश से दरिद्रता के दुःख को बाहर करो !
समानता और समदृष्टि को सिंहासन आसीन करो !
तब कहीं जाकर स्वतन्त्रता की यह शाख जिसे तुमने आज यहाँ बोया है—
फिर स्वतन्त्रता का सही अर्थ देगी और प्रकाश-पुष्पों में खिल उठेंगी।"

नये आन्दोलन का मूल तत्त्व

नये युग की मनोवृत्ति के उदाहरण के रूप में मैंने अधिकतर कविता को ही चुना। साहित्य के अन्य विभागों में भी काफ़ी काम किया गया है। अब इस अध्याय का शेष अंश, मैं जीवन और विचारों के इस नये आन्दोलन के मूल तत्त्व के विवेचन के लिए देना चाहता हूँ, जो अपनी सम्पूर्णता में पुनर्जागरण कहलाता है।

जिन व्यक्तियों ने यह साहित्य निर्मित किया या कर रहे हैं उनके विविध सिद्धान्त और मान्यताएँ हैं। उनमें हिन्दू हैं, उत्तंगी जैसे ईसाई हैं, अकबर अली जैसे मुस्लिम हैं। उनमें जैन, लिंगायत, ब्राह्मण ओक्कलिंग रेड्डी आदि हैं। उनकी शिक्षा भी अलग ढंग से हुई है। यदि शरीफ़ साहब को कन्नड अक्षरों का ज़रा-सा ज्ञान था तो 'कैलासम्' जैसों को सर्वोत्तम अंग्रेज़ी विश्वविद्यालयों की बहुत अच्छी शिक्षा भी उपलब्ध हुई थी। बि० के० लक्ष्मेश्वर जैसे प्राथमिक शालाओं के अध्यापक भी उनमें हैं, वसवनाळ जैसे माध्यमिक शालाओं के अध्यापक, होनापूरमठ जैसे वकील, देसाई दत्तमूर्ति जैसे क्लर्क, मुद्दण्ड जैसे ड्रिल मास्टर और गोविंद पै जैसे ज़मींदार। उनमें मिशनरी, पुरोहित, स्वामी और मठाधीश भी हैं, उनमें पत्रकार हैं, वेंकट शेट्टी और वालि जैसे दुकानदार हैं, पंजे मंगेशराव जैसे शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर हैं, विश्वविद्यालय के अध्यापक हैं (जो कि आज लेखकों का एक बड़ा वर्ग है), मास्ति जैसे सिविलियन हैं, और शिवराम जैसे चिकित्सक हैं, सिद्दवन-हळि कृष्णशर्मा जैसे राजनीतिक कार्यकर्ता और आन्दोलनकर्ता भी हैं, जिनमें से कुछ बड़ी ऊँची महत्त्वपूर्ण जगहों पर हैं—जैसे बिहार के भूतपूर्व राज्यपाल आर० आर० दिवाकर। कन्नड साहित्य का गणतंत्र चॉसर की कैंटरबरी कहा-

नियों के तीर्थयात्रियों की तरह, कई तरह के और कई विश्वासों के लेखकों का एक पंचमेल है। हवा ज़ोरों से और हल्की दोनों तरह से बहती है, और अपने स्पर्श से सैलानी गायकों के होंठों में और साथ ही साथ गंभीर विद्वानों की वाणी में अमर उत्साह पैदा करती है। कुछ लोगों ने साहित्य को अपना व्यवसाय बना लिया है, जैसे कारंत और ए० एन० कृष्णराव ने।

नवीन लेखक के कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों में एक आत्माभिव्यंजना है। मनुष्य की व्यक्तित्व की पवित्रता पर उसका आग्रह है। लेखकों के लिए यह नया साक्षात्कार था कि साहित्य व्यक्तित्व की अभिव्यंजना होकर स्वयं पूर्ण होता है। इस खोज ने नये लेखकों को उन्मत्त कर दिया। गीत और निबंध, उपन्यास और नाटक इत्यादि भी इसी व्यक्तिवाद के सम्प्रदाय का गुणगान करने लगे। बहुत हाल में, कवि अब सचेस्ट होकर इस विषय के दूसरे पहलू की ओर मुड़े हैं, साहित्य व्यक्तिवाद से पलायन भी है, वह विश्व-मानव की अभिव्यंजना है। कलाकार के हृदय में भावों की जो शोभा-यात्रा चल रही है, उसकी ही व्यंजना काफ़ी नहीं है, बल्कि कलाकार में जो विश्व-मानव छिपा हुआ है, उसकी व्यंजना भी आवश्यक है।

इन लेखकों ने प्रकृति को नई आंखों से देखा। आधुनिक काल के आरम्भ तक के कन्नड साहित्य में 'जोग' नामक विश्व-विख्यात जल-प्रपात पर कोई काव्य-रचना नहीं हुई थी, यह एक आश्चर्य की बात है। परन्तु आधुनिक कन्नड में उस प्रपात की ध्वनि और लय भरपूर गुंजित हुई। आधुनिक कन्नड कविता में प्रकृति के प्रति रोमांटिक दृष्टिकोण पूरी तरह से व्यक्त हुआ है। प्रत्येक सुन्दर दृश्य कन्नड कल्पना-जगत् का एक भाव बन रहा है। कर्नाटक की कला और स्थापत्य कई गीत और निबन्धों के विषय बने। पुट्टप के उल्लासमय गीत 'सह्याद्रि' के विषय में हैं, बेन्द्रे ने उषःकाल और शांति के प्रतीक प्रयुक्त किये हैं, सीतारामय्या ने खुले रास्ते और फ़व्वारों से भरे सरोवर पर गीत लिखे हैं, 'विनायक' ने समुद्र की भव्यता और भयानकता व्यक्त की है, और पु० ति० नरसिंहाचार ने कृत्तिका का वर्णन एक अमर प्रश्न की तरह किया है, जो कि आकाश के अवकाश में भटकता रहता है। कन्नड कविता में कारखाने की आवाज़ और टर्बाइन के विद्युत्-इंजन की ध्वनि भी सुनाई देने लगती है। यह कहना आवश्यक नहीं कि इन विषयों पर नई साहित्यिक विधाओं में भी बहुत कुछ लिखा गया है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण स्वर राष्ट्रीयता का है। बेन्द्रे का 'तैंतीस करोड़ों का गीत' एक उदात्त सामूहिक संगीतयुक्त रचना है। उनकी 'स्वप्न में दृश्य' नामक कविता में एक व्यक्ति है, जो कि इस देश की आत्मा है, और जब वह माँग रखती है कि "तुम सिद्ध करो, यदि तुम मनुष्य हो तो मेरी वेदी पर अपना बलिदान करो !" तब वह भय से घबराकर जाग पड़ता है। उनकी कविता 'तरुण संन्यासी' में यह विषय है कि आन्तरिक मुक्ति बाह्य मुक्ति की पहली आवश्यकता है। परम्परित प्रेम-विषयक वृत्ति वासनामय, सौन्दर्यमय अथवा नैतिक अधिक थी, आध्यात्मिक कम। परन्तु अब कई उपन्यासों, नाटकों और कविताओं में प्रेम का अर्थ है, एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति की आत्मा की पहचान और खोज। स्त्री और पुरुष सम्बन्धी कविता लिखी जा रही है, जिसमें विविध प्रकार के अगणित मानवीय चरित्रों का चित्रण है। सामाजिक न्याय की कविता और भी मार्मिक है। बेन्द्रे के 'भोजन के एक कौर की झोली' नामक भावपूर्ण गीत में भारत के मूक लाखों जनों की व्यथा है। उनकी 'अंधा सोना नाच रहा था' नाटक-कविता पूंजीवाद पर एक प्रखर अभियोग है :

> "उस (सोने) ने मन्दिरों में घण्टियों को टन-टन बजाना शुरू किया।
> उसने महलों में वायलिन और वीणा में कोमल राग भर दिए।
> उसने बाज़ारों में सिक्के के झोले खनखनाते हुए छोड़ दिए।
> पागलों की तरह, भ्रमित की तरह नाचते हुए,
> धरती पर चित्त होकर वह गिर पड़ा,
> जबकि यह खेल चरम सीमा पर था।"

राजरत्नम् 'रत्न के पद' कन्नड के बोलचाल के मुहावरों का प्रभावशाली उपयोग करते हैं और समाज में जो विषमता तथा अन्याय फैला है उसका दम्भ-स्फोट करते हैं। 'तिरूपाणि' नामक गीति-नाट्य में मास्ति ने एक हरिजन सन्त की शुद्धि का विषय लिया है; और अस्पृश्यता के विषय पर 'जलगार' और 'उद्धार' नामक सशक्त नाटक एवं 'चोमनदुडी' नामक उपन्यास लिखे गए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति से भी कन्नड कविता बहुत उद्वेलित हुई और उसने पुट्टप्प की 'कोकिल और सोवियत रूस' जैसी कविता में भविष्यवाणी की। और बेन्द्रे ने 'रुद्रवीणा' में लिखा है :

"पृथ्वी में ज्वालामुखी फूट पड़ा है।
पर्वत टूट रहे हैं।
चट्टानों के बाँध झरनों को व्यर्थ ही बाँध रहे हैं
लाल मिट्टी बेकार ही उछाल रहे हैं।
न्यायासन उलट गया है।
राजाओं के सिंहासन शव-पात्र बन गए हैं
मन की उथल-पुथल के पीछे
जाति और वर्ण लौटकर आर हे हैं।"

गीतों, कहानियों, उपन्यासों और नाटकों में से भी आध्यात्मिक कल्पनाएँ प्रमुखता से आगे आ रही हैं। 'श्री' की 'शुक्र-गीता', मधुर चेन्न की 'मेरी प्रेयसी' और बेन्द्रे की 'जीवन की तलवार' जैसी कविताएँ, मास्ति के 'उषा' जैसे एकांकी, गोकाक के 'समरसता ही जीवन है' जैसे उपन्यास में, कारन्त[1] के 'मुक्तद्वार' जैसे संगीत-रूपकों में इस प्रवृत्ति का प्रमाण है। पुनर्जागरण का एक प्रमुख लक्षण इस तरह के रुझान हैं।

पौराणिक विषयों और पात्रों का मानवीकरण दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय है। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि पुराणों के खलनायक, जैसे 'रावण' का पक्ष भी समर्थनीय बना है, जैसे पुट्टप्प की 'रामायण' में, सी० के० वैंकटरामय्य के 'मन्डो-दरी' में, या आद्य के 'निरुत्तर कुमार' में उत्तर कुमार का। आधुनिक कन्नड कविता, उपन्यास, नाटक और अन्य रूपों में कला तथा प्रेरणा के विषय में विचार एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। मास्ति[2] के 'सुब्बण्ण', ए० एन० कृष्णराव के 'संध्या-राग', गोकाक के 'कलोपासक' और 'विमर्शक वैद्य', कैलासम् के 'शूर्पणखा', आद्य के 'पूर्वरंग' और 'सम्पुष्ट रामायण' तथा पु० ति० नरसिंहाचार के 'रस सरस्वती' आदि इस दिशा में कुछ उदाहरण हैं।

आठ सहायक उप-नदियाँ

आधुनिक कन्नड साहित्य के संगम में कई नदियां आकर मिलती हैं। ये धाराएँ

---

१. डॉ० के० एस० कारन्त को 'यक्षगान बयलता' पुस्तक पर १९५९ का० सा० अ० पुरस्कार मिला है।

२. 'सन्नकाथेगलु' (कहानियां) पर १९६८ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

सभी आधुनिक साहित्यों में पाई जाती हैं और वे इस बात का उदाहरण हैं कि भारतीय पुनर्जागरण कितना विविध और समृद्ध रहा है। नये युग के साथ-साथ इनमें से कुछ धाराएँ अधिक सक्रिय बनी हैं। कुछ धाराओं का बल बढ़ता गया। ऐसा भी लगता है कि कुछ धाराएँ एक-दूसरे के विरोध में हैं। परन्तु जीवन का यह लक्षण है कि वह परस्पर विरोधी चीज़ों को अपना लेता है और उनसे ऊपर उठता है तथा विरोध में अविरोध पैदा करता है। संगम-स्थान पर उन्हें देखने से यह पता लगता है कि इस नई धारा की जटिलता एवं सर्वव्यापी एकता कहाँ है।

सबसे पहले व्यंग्य लेखकों का या यथार्थवादियों का दल है। इनके मन में कई आदर्श छिपे हुए हैं और उन्हीं के प्रकाश में वे मानवीय अपूर्णताओं को परखते और उनकी निन्दा करते हैं। ये एक तरह से उलटे हुए कवि हैं। कैलासम्, कारन्त, कस्तूरि, बीचि, आद्य, अडिग, कत्तीमणि और वि० जी० भट्ट जैसे लेखक हमारी महान् मूर्खताओं और अंधश्रद्धाओं पर हँसते हैं। हमारे दैनिक जीवन के ढोंग और ढकोसलों का वे पर्दाफ़ाश करते हैं। हमारी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक सस्थाओं के झूठे विश्वासों और खोखलेपन को वे खोलकर रखते हैं। वे युटोपिया के ढंग की काग़ज़ की नौकाएँ नहीं चलाना चाहते, किन्तु वे साथ ही साथ, अपने-अपने ढंग से, रूढ़िवादी या रूढ़ि-विरोधी व्यक्तित्व के भीतर छिपी हुई कोमलता, अच्छाई और मधुर समझदारी भी व्यक्त करते हैं। इस दृष्टि से वे सब मानवतावादी हैं। अन्य धाराओं के लेखक भी यथार्थवादी लेखकों के इन विश्वासों के समान ही हैं। परन्तु इनके व्यक्तित्व का मुख्य झुकाव या प्रेय इतना ही नहीं है, इनमें से कुछ यथार्थवादी डी० एच० लारेंस या आरम्भिक टी० एस० इलियट के ढंग पर घोर शोक, विध्वंस तथा अभिशाप की भविष्यवाणी व्यक्त करते हैं। उनकी कराहें या निराशा-भरी चीखें कभी-कभी अंग्रेज़ी आधुनिकतावादियों की लय, स्वराघात और विराम-चिह्नों को भी पकड़ती हुई चलती हैं। भारत में जब कि इतने दुःख-दैन्य पहले से हैं तब बाहरी लेखकों से भारतीय लेखकों को दुःखी, संशयात्मा या क्रोधी होना सीखना आवश्यक नहीं है। कन्नड उपन्यास और नाटक हमारे सामाजिक जीवन की विषमता पर तीखा प्रकाश डालते हैं। बेन्द्रे के 'हास्य की झड़ी' नाटक में नायिका ने विवाह के बारे में यह कहा है : "अगर यह सच हो कि विवाहिता को ही मुक्ति मिलती है, तो उसकी आत्मा स्वर्ग में पहुँचे,

इसका कोई मूल्य नहीं। यदि उसकी आत्मा नरक में सदा के लिए बन्द रहे तो उसमें उसे सुख मिलेगा। क्योंकि यदि स्त्री का पुनर्जन्म हुआ तो न तो उसे या उसके माता-पिताओं को कभी शान्ति मिलेगी।" आद्य को तो विवाह में 'अश्वमेध' जैसी कठिनाइयाँ जान पड़ती हैं: "यहाँ इस पृथ्वी पर वेंकप्पा की पुत्री यह कमला है इस समय इस यज्ञ का अवसर उसके विवाह का प्रसंग है। जो व्यक्ति उसका चिरन्तन यजमान बनना चाहे, वह उसे राह में रोके और उससे शादी कर ले।" सास, विधवा, पढ़ी-लिखी लड़की, संयुक्त परिवार, वेश्या-व्यवस्था, प्रौढ़ कुमारिका ये सब कई उपन्यास और नाटकों के विषय बने हैं। कैलासम् के 'खोखले और ठोस', आद्य के 'सरस्वती की सरकस' और एन० के० कुलकर्णी के 'बार रूम' में आज की शिक्षा की समस्या है। बेन्द्रे ने 'मृत्यु के नाटक' में सामन्तवाद पर अभियोग लगाया है और कैलासम् ने 'होमरूल' नाटक में मूर्खों के प्रजातंत्र का मज़ाक उड़ाया है, जैसे कि म्यूनिसिपल काउंसलर लोगों के लिए यह नियम उस नाटक में है: "जब भी चुने जायँ तो दो काउंसलर कभी भी उसी एक गली में न रहें। इससे करदाता को यह आश्वासन मिल जाएगा कि कम से कम शहर की एक से अधिक गलियाँ साफ रहेंगी, जितने काउंसलर कारपोरेशन में होंगे उतनी ही गलियाँ साफ रहेंगी।"

फिर एक प्रगतिशील लेखकों का दल है जो कि मुख्यत: समाज की पुनर्व्यवस्था की समस्या से ही सम्बद्ध है। दिनकर देसाई, एस० दोड्डमणि, आर्चिक, वैकण्णा और कुळकुन्द शिवराव में एक सशक्त सामाजिक चेतना राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय रूप में है। उसमें से कुछ तो ज़बरदस्त प्रचारक हैं और वे मार्क्सवादी विचारों में डूबे हुए हैं। परन्तु मार्क्सवाद स्वयं जिन बहुत-से परिवर्तनों में से गुज़रा है, उनमें 'स्तालिनवाद' और 'स्तालिनवाद-विरोध' दो प्रमुख हैं। कई लेखक अब कल्याण राज्य के आदर्श के प्रति सचेष्ट और समुत्सुक हैं। ग़रीब जीवन के असंख्य चित्र हैं, जिनमें समाजवाद के लिए ज़ोरों से अपील की जाती है—बेन्द्रे के 'भिखारियों की बुराई' राजरत्नम् के 'नरक या न्याय' और रमाकांत के 'कल्कि' इसके प्रमुख उदाहरण हैं। हमारे कई यथार्थवादियों और व्यंग्यकारों ने समाजवाद में एक निश्चित सम्प्रदाय पा लिया है।

तीसरे कुछ रूढ़िवादी हैं, जो कि अपने सुप्रतिष्ठित विश्वास के मूल्य मानते हैं और अपनी शक्ति तथा समय उन्हीं विश्वासों के लिए अर्पित करते हैं। वे उस

सिद्धान्त के साहित्य की खोज और पुनर्स्थापना में संलग्न हैं। मठों के स्वामी इस क्षेत्र में विशेष रूप से सक्रिय हैं। इस दिशा में पुराने ग्रंथों की टीकाएँ, पाण्डुलिपियों की समालोचना और सम्पादन का महत्त्वपूर्ण कार्य एफ़० जी० हळकट्टि और आर० एस० पंचमुखि ने किया है। कुछ और लोगों ने भी ऐसे विश्वासों के लिए कार्य किया है, जिनमें उनका जन्म नहीं हुआ था; जैसे—राजरत्नम् ने बौद्ध धर्म के लिए। परन्तु इस दिशा में लेखक उतने सृजनात्मक नहीं हैं, जितने कि आलोचनात्मक। हमारे जैसे क्रांतिकारी युग में रूढ़ियों में विश्वास शायद ही प्रेरणादायक शक्ति हो सके। यदि उनका सम्पर्क अन्य प्रकार के विचारों के साथ उचित रूप से न हो पाए तो दूसरी ओर यह भी डर है कि उनके धार्मिक विश्वास कट्टरपन और बौद्धिक संकीर्णता तक पहुँच सकते हैं, परन्तु सदियों से कर्नाटक में विविध प्रकार के विश्वास बराबर साथ-साथ चलते रहे हैं। इस बारे में यह प्रदेश सौभाग्यशाली है। जैन, वीरशेव, वैष्णव, श्री वैष्णव और अद्वैतवाद की जड़ें प्राचीन कन्नड साहित्य में मिलती हैं। इस्लाम और ईसाई धर्म की कलमें भी इस वृक्ष पर लगाई गईं और वे जमीं। इन सब धर्मों के वर्णन के विषय में जो कार्य हो रहा है, वह अमूल्य है। वह एक नये संश्लेषण की रचना में उपयोगी सिद्ध होगा, यदि उसमें पारस्परिक स्पर्द्धा और वाद-विवाद न उत्पन्न हो।

प्रतिष्ठित धर्म और रूढ़िवाद की बुराइयों के कारण लेखकों का एक नया दल आगे आया —यह अद्वैतवादी मानवतावादी है। आद्य के 'निरुत्तर कुमार', वी० जी० भट्ट की कविताएँ, शर्मा के 'हृदय-गीत' इस धारा के उदाहरण हैं। डी० वी० गुंडप्पा भी एक संशयवादी हैं, जिनका झुकाव रहस्यवाद की ओर है। वे 'कग्ग' में अपने संशयवाद का भव्य काव्यात्मक प्रमाण ग्रंथ-रूप में प्रस्तुत करते हैं। वि० सीतारामय्य उस मानवतावादी स्वभाव का विशेष दिग्दर्शन करते हैं जो कि पश्चिम का एक प्रमुख भाग रहा है। इनका स्वभाव कुछ रहस्यवाद की ओर झुका हुआ है। परन्तु पूरी तरह से नहीं। चूँकि इसमें व्यक्तित्व के समर्पण के लिए स्थान नहीं है और यह अधिक बुद्धिवादी है, फ्रायड और युंग के ढंग पर अवचेतन और उत्तोलन आदि मानसिक क्रियाओं की खोज में अधिक दिलचस्पी लेते हैं; इन्हें आइन्स्टाईन जैसे वैज्ञानिक के सिद्धान्त से भी अधिक लगाव है। जो भी कारण हो, सीतारामय्य, एस० वि० रंगण्ण[1], ए० एन० मूर्तिराव और

१. १९६५ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार इन्हें 'रंग बिन्नपा' (दर्शन) परा मिला।

कश्यप जैसे मानवतावादी लेखकों की रचनाएँ दुर्मिल सुकोमलता और करुणा तथा दृढ़ प्रामाणिकता और सूक्ष्म संवेदनशीलता से भरी हुई हैं। सीतारामय्य ने कन्नड देश का वर्णन बहुत ही मधुर ढंग से किया है, उन्होंने बड़े सुन्दर परिहास के साथ प्रतिभा के क्षणिक और चंचल आगमन का वर्णन किया है। अंध साम्प्रदायिक उन्माद के समय जब एक विद्यार्थी हिन्दू और मुसलमान दोनों को बचाने में मर गया, उसके प्रति उन्होंने हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित की। वह यह भी जानते हैं कि भौतिकी प्रयोगशाला में प्रकाश के जो प्रयोग किये जाते हैं, जिनसे अशिक्षित का अन्धकार आलोकित होता है, वह शिक्षितों के लिए भी अँधेरे की तरह हो सकते हैं।

लेखकों का एक पाँचवाँ वर्ग ऐसा भी है, जिसका स्वभाव काव्यात्मक-धार्मिक ढंग का है। उनमें मास्ति, पु० ति० नरसिंहाचार, गोविंद पै, देवुडु सालि, कर्कि, इन्चल और एक्कुंडि आदि उल्लेखनीय हैं। रूढ़ियाँ, मन्दिर, पुराण-गाथाएँ आदि सब उन्हें आर्कापित करती हैं। लेकिन वह ऐसे अधिकार और अनुभव की सूक्ष्मता के साथ बोलते हैं कि हमारे हृदय में घर कर जाते हैं। उनमें से कुछ अपने विश्वासों के प्रति बहुत मुखर नहीं हैं। लेकिन कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनके हिसाब से मानवात्मा चेतना का एक प्रकाशमय कण-मात्र नहीं है वह मिट्टी में बसे हुए परमेश्वर का अमर स्फुलिंग है। इसी दृष्टि से वे जीवन, प्रकृति और मनुष्य को देखते हैं।

अब ऐसे भी कुछ लेखक हैं, जिनका चरम उद्देश्य सौंदर्य-जगत् में साहसपूर्ण अभियान ही है। पुट्टप्प और 'आनन्द' जैसे लेखकों के लिए आत्मा का सौंदर्य-जगत् में अभियान ही जीवन का अर्थ है, पुट्टप्प का परमात्मा भी सौंदर्य है। कला और जीवन का यह सुखद समीकरण ऐसा है कि पुट्टप्प अपने समृद्ध इन्द्रिय-संवेदन में मज़े से रहते हैं। कलासुन्दरी नामक काल्पनिक देवी की धनुषाकार पलकों का अदम्य जादू उनके ऊपर है। उनका सौंदर्यवाद साधारण नहीं है, क्योंकि उनमें श्री रामकृष्ण, विवेकानन्द और श्री अरविंद के प्रभाव के लिए भी स्थान है, जैसे कि उनके रूपकात्मक महाकाव्य 'रामायण' में व्यक्त है।

यह भी आवश्यक हैं कि नीतिशास्त्रीय, विचारपूर्ण या दार्शनिक लेखन का उल्लेख यहां किया जाए, जिसमें एक विशेष उदात्त सोद्देश्यता है। होन्नापूरमठ, तारानाथ, दिवाकर और बूदिहाळमठ आदि इस धारा के लेखक हैं। उनके

लेखन का उद्देश्य समाज का नैतिक और बौद्धिक पुनर्जागरण है।

फिर लेखकों की एक आस्तिक धारा भी है। श्री अरविंद का प्रभाव भी, जिससे कि पुट्टप्प की रचनाएँ रंजित हैं, इस धारा के लेखकों की प्रमुख प्रेरणा है। श्री अरविंद का दर्शन ऐसा है कि उसमें आत्मा और भौतिक जगत्, समाज और व्यक्ति, विवेक और अन्तरानुभाव का बहुत सुलझा हुआ समन्वय मिलता है। व्यापक रूप से यह कई मूल्यों को सन्तुलित करता है। बुद्धिवाद और रहस्य-वाद, सौंदर्यवाद और समाजवाद, कर्म और ज्ञान जैसे परस्पर विरोधी तत्त्वों का वह समाहार करता है। इसके कारण बेन्द्रे, मधुर चेन्न, गोकाक, मुगळि आदि लेखक भी श्री अरविंद की ओर आकर्षित हुए। उनकी चेतना का वैयक्तिक और सामाजिक विकास वाला दूसरा छोर किसी ढंग से परिपूर्ण नहीं हो सकता था। प्रत्येक की वैयक्तिक प्रतिक्रिताएँ भिन्न-भिन्न रही हैं। यह सच है कि मधुर चेन्न ने व्यक्तिगत पक्ष को अधिक विकसित किया। उन्होंने सोचा कि उनके व्यक्तित्व के भीतर की गहराई में गीत का मूल्य खोजा जाय :

> "बिजली की तरह दूर तक कौंधती हुई,
> मैं आश्चर्य करता हूँ, ओ चंचल, तुम कौन हो ?
> यहाँ-वहाँ चमकती, थिरकती हुई
> इतनी सुन्दर और चमकीली तुम कौन हो ?"

बेन्द्रे[1] इस द्विविध विकास के विषय में पहले से ही बहुत सचेत थे। जिस कवि ने यह रोमांटिक कल्पना-चित्र दिया था :

> "मेरी हमेशा से इच्छा है
> कि मैं उस सुकोमल ढेर पर सोऊँ
> जहाँ बादलों का तकिया हो और बिलकुल घृणा करूँ
> दु:ख की स्मृति-मात्र से !"

और जिन्होंने ऐसी कविता लिखी, जो कि आन्तरिक चेतना के प्रकाश और रंगों से प्रतिभासित थी, उन्होंने यह भी लिखा :

> "और उन गरीबों की अन्तर्-ध्वनि
> जो कि अधभूखे, अधखाए हैं,

१. डी० आर० बेन्द्रे को अपनी काव्य पुस्तक 'अर्लु-मर्लु' पर १९५८ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

बाढ़ की तरह से गरजती हुई चुनौती देती हुई आ रही है,
जब कि वे रोटी के लिए चीख रहे हैं :
ईश्वर को हम ज़मीन में दफ़ना देंगे
और रात के वक़्त जब गश्त देंगे तब उसकी क़ब्र पर
जायँगे !
चीखते हुए मनुष्यों के धर्म और सम्प्रदायों को हम आग
लगा देंगे,
और उस ईश्वर की क़ब्र पर धूप की तरह जलायँगे ।
मृत्यु के घण्टों में जो आत्मा है उसे हम हिलायँगे
और उनके पीछे-पीछे चीखते हुए पहुंचेंगे ।
मृत्यु के भय से पागल और उन्मत्त
हम इस धरती का ही एक ग्रास बना लेंगे ।"

मैं यह समझता हूँ कि प्रत्येक भारतीय प्रदेश में इन आठ दलों के लेखकों के समान और भी लेखक मिलेंगे, क्योंकि भारतीय पुनर्जागरण कहीं कम, कहीं ज़्यादा, इन सब साँचों में ढल रहा है। यह एक समृद्ध और बहुमुखी जागरण है, जो कि भारतीयों को विश्व में अपने सांस्कृतिक मिशन को पूरा करने के लिए सक्षम बनायगा, यह निश्चित है; प्रत्येक लेखक के विश्वास उसकी परिस्थितियों से आबद्ध रहते हैं; उसके वातावरण और रुझान पर भी ध्यान रखना चाहिए। सब प्रकार के विश्वास साहित्य के लिए वहाँ तक सच हैं जहाँ तक कि वे लेखक के लिए सच हैं और उसके लेखन को किसी तरह मिथ्या नहीं कर देते । इस कारण से, वह कौन-सा दर्शन मानता है या किसका प्रचार करता है, इस बात से लेखक को नहीं जाँचना चाहिए, बल्कि उसे उसकी चेतना में जो ज्योति जल रही है, उसकी उत्कटता से जाँचना चाहिए। दर्शन तो उस खूंटी की तरह है जिस-पर कोई भी टोपी या बहुरंगी कोट टाँगा जाता है। महत्त्वपूर्ण वस्तु वह टोपी या कोट है, न कि वह कोई खूँटी या हैंगर।

कुछ अधिक सूक्ष्म विश्लेपण करने पर हमें यह तथ्य मिलेगा कि इन सब धाराओं का परिणाम यह है कि वह मिल-जुलकर एक तथा नया जीवन बना देते हैं; एक जटिल, व्यक्तिगत और सामाजिक चेतना का निर्माण करते हैं। यथार्थवाद समाज की नींव को साफ करता है, अज्ञान, भ्रष्टाचार और अन्ध-

विश्वास का बहुत-सा कूड़ा-करकट जड़ से बाहर निकालता है; उससे व्यक्ति में एक प्रकार की सुदृढ़ प्रामाणिकता और सचाई जगती है। प्रगतिवाद उसके सही रूप में एक नवीन समाज का आदर्श सामने रखता है, एक ऐसा समाज, जिसमें यह विश्वास हो कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने सर्वोत्तम सम्पूर्ण विकास का स्वतन्त्र और बेरोक मौका मिले। परम्परावाद परिश्रमपूर्वक हमारे विश्वासों की मूल-भूत बातों को खोलकर बतलाता है और कहता है कि हमारी जनता में कहीं-न-कहीं एकता के महत्त्वपूर्ण बीज मौजूद हैं तथा स्वस्थ सन्देहवाद किसी भी कट्टर-पन को नहीं पनपने देता; और वह हममें यह इच्छा जगाता है कि मुक्त एवं खुली आंखों से हम अनुभव ग्रहण करें तथा मानवीय चेतना को उसपर ढालें। नीतिवाद का तर्क है कि एक सुव्यवस्थित सामाजिक आदर्श और व्यक्तिगत अनु-शासन हो। मानवतावाद में हमारी जनता के मस्तिष्क और हृदय की दुर्मिल संवेदनशीलता भरी है। सौंदर्यवाद उनमें उसके सब आणविक और विश्वासात्मक रूपों में सौंदर्य का प्रेम अंकुरित करता है। आस्तिकवाद अस्तित्व की दूसरी ओर ऊँची ऊर्ध्व चेतना की समृद्ध संवेदनशीलता पैदा करता है। यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति के विकास की ऊँचाई की कोई सीमा नहीं है। इच्छामय आत्मा के बदले चेतन आत्मा और इस चेतन आत्मा की ओर भी ऊँची किसी परम स्थिति में यह विश्वास ले जाता है, और इस प्रकार मनुष्य में उस शक्ति का रहस्य निर्मित करता है, जिससे कि इस पृथ्वी पर नया स्वर्ग बन गया है। भारतीय पुनर्जागरण का यह एकमात्र उद्देश्य है। साहित्य उसी जागरण की पारदर्शी अभिव्यंजना है, इसलिए साहित्य में भी इन सब मोर्चों पर हलचल दिखाई दे रही है और इन विविध केन्द्रों पर साहित्य सक्रिय हो रहा है। इस सारी विविधता में एकता है और वह एकता उस नये सर्वंकष संगीत की एकता है, जिससे साहित्य जीवन पाना चाहता है।

यह नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक कन्नड साहित्य सर्वंकषता की गहराई तक पहुँच सका है, या समस्त ज्ञान के हृदय में वह अपनी संवेदना ले जा सका है। आज तो हमारा साहित्य एक नये संश्लेषण की ओर विकसित हो रहा है। भारत में सभी स्थानों पर यह दिखाई दे रहा है, चाहे उसका आरम्भ कितना ही अक्षम दिखाई देता हो और वैयक्तिक सौंदर्य-शोध के अभियानों में कई बार एक अतिरेक से दूसरे अतिरेक पर परिवर्तन दिखाई देता हो, फिर भी साहित्य की दिशा उसी समन्वय की ओर है।

संदर्भ-ग्रंथ

ए स्टडी आफ़ कन्नडीज़ लिचट्रेर—ई० पी० राइस
द हेरिटेज आफ़ कर्नाटक—डा० आर० एस० मुगळी
पॉपुलर कल्चर इन कर्नाटक—मास्ति वैंकटेश आयंगर
लिट्रेचर इन द माडर्न इंडियन लैंग्वेजेज़—संपादक वी० के० गोकाक ; पब्लिकेसंस डिवीज़न, सूचना मंत्रालय, भारत सरकार
लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया—जी० ए० ग्रियर्सन, खंड ४, पृष्ठ ३६२–३८४

कश्मीरी

पृथ्वीनाथ 'पुष्प'

भूमिका

आज का कश्मीरी साहित्य कश्मीर के पिछले लगभग पचास वर्षों के सामाजिक-सांस्कृतिक विकास की एक अकालपक्व उपज है। वह अकालपक्व इस दृष्टि से है कि गुणात्मक रूप में उसने तीन दशकों से भी कम समय में वह उपलब्धि करने की चेष्टा की है, जिसे भारत के अन्य प्रमुख साहित्यों ने लगभग एक शताब्दी में प्राप्त किया है। इसमें संदेह नहीं कि छः सौ वर्षों से भी अधिक समय के दौरान में संस्कृत और फ़ारसी में जो श्रेष्ठ साहित्य रचा गया उसकी विरासत कश्मीरी को मिली, लेकिन वह कभी भी राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हुई। प्रबुद्ध ज़ैनुल-आबदीन (पंद्रहवीं शताब्दी) ने अवश्य कश्मीरी भाषा को धर्मनिरपेक्ष साहित्यिक माध्यम के रूप में उदारतापूर्वक प्रश्रय दिया, लेकिन वह कभी इतनी सशक्त न हो सकी कि सुलतानों या उनके उत्तराधिकारियों के दरबार से फ़ारसी को हटाकर राजभाषा का स्थान ग्रहण कर ले। बँगला, गुजराती, मराठी आदि अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं ने अपने-अपने प्रदेश में प्रचलित अपभ्रंशों से विकसित होकर जैसा स्वरूप धारण किया, वैसा कश्मीरी न कर सकी। परिस्थितिवश वह शिष्टजनों के बीच निन्दित ही रही, उसका उपयोग अधिक से अधिक कुछ ललित संगीत-रचना के लिए ही हुआ जो कि प्रायः फ़ारसी नमूनों पर आधारित होती थी।

बाद के शासकों की बेरुखी के फलस्वरूप निश्चय ही जागरूक कलाकार कुछ उपयोगी कार्य कर सकते थे लेकिन राजनीतिक चालें चलनेवाले लोगों की कारंवाइयों की वजह से इस प्रदेश में पर्याप्त समय तक शांति और व्यवस्था न बनी रह सकी। बहरहाल; अपनी प्रारंभिक स्थिति की आध्यात्मिक और रहस्यवादी प्रवृत्तियों के बावजूद कश्मीरी को अनिवार्यतः किसी न किसी दिन जन-

साधारण की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना ही था। शायद यही वह वजह थी कि शितिकंठ (तेरहवीं शताब्दी) लोकाभिरुचि की तांत्रिक छन्द-रचना के सर्वोत्तम माध्यम के लिए भी (कश्मीर की) 'सर्वगोचर देवभाषा' की ओर प्रवृत्त हुए, गोकि उनके प्रारम्भिक सम्बन्ध-सूत्र संस्कृत के साथ संलग्न थे।

अस्तु, अपने जीवन की विविध बाधापूर्ण स्थितियों में से गुजरती हुई कश्मीरी भाषा संस्कृत, फ़ारसी और उर्दू के साहित्यिक एकाधिपत्य में भी जीवित रह सकी। उसके जीवित रहने का कारण यह था कि उसने इन सभी भाषाओं का सारतत्त्व सूझ-बूझ के साथ ग्रहण किया। इसलिए स्वभावतः आज 'हिन्दू' कश्मीरी और 'मुस्लिम' कश्मीरी जैसी कोई चीज़ नहीं रह गई है, यद्यपि ग्रियर्सन की 'दृष्टि' में ऐसी चीज़ का अस्तित्व था। वास्तव में, कश्मीरियों की भाषा सिर्फ 'कश्मीरी' ही मिलेगी। यह ज़रूर है कि बोली-सम्बन्धी कुछ विभिन्नता दिखाई दे सकती है पर उसका यह कारण नहीं है कि ऐसे लोग निर्विवाद रूप से किसी धर्मविशेष के मानने वाले हैं, बल्कि यह कि वे स्वभावतः अलग-अलग तबकों और व्यवसायों के लोग हैं। गाँव और शहर की आबादी के बीच या मराज़ (श्रीनगर के उत्तर) और कामराज़ (श्रीनगर के दक्षिण) के निवासियों के बीच कश्मीरी बोली-संबंधी जो रूपान्तर हैं, वे उस किंचित् अन्तर की अपेक्षा कहीं अधिक सुस्पष्ट रीति में देखे जा सकते हैं जो कि तथाकथित हिन्दू कश्मीरी और मुस्लिम कश्मीरी की बोली में होंगे।

कुछ भी हो, यह दुःख का विषय है कि अभी कुछ समय पहले तक कश्मीरी प्राइमरी स्कूलों में भी न पढ़ाई जाती थी। इससे स्पष्ट है कि कश्मीरी में पत्रकारिता के अविकसित रहने और श्रेष्ठ गद्य का उदय न हो पाने के कारण क्या हैं। यह नहीं कि रचनात्मक प्रतिभा की कोई कमी है; वास्तव में बात यह है कि प्रकाशन की सुविधाओं का भयंकर अभाव है और उसी अनुपात में पाठकों के मन में भी कश्मीरी के प्रति घोर अरुचि है क्योंकि कश्मीरी के ज्ञान से न तो उन्हें कोई बढ़िया नौकरी मिल सकती है और न भविष्य के ही सुधरने की कोई आशा रहती है।

इसके बावजूद, कौन इसमें सन्देह करेगा कि केवल कश्मीरी के अर्थात् अपने घरेलू मुहावरे के ही माध्यम से इस भूभाग की आत्मा को भली प्रकार अभिव्यक्ति मिल सकती है और इसके जनसाधारण का जीवन चित्रित किया जा सकता है?

इस प्रश्न का अत्यन्त सटीक उत्तर है वे अनेक कहानियाँ और गद्यखंड जो तमाम असुविधाओं के बावजूद हाल में ही यदा-कदा प्रकाशित होने लगी हैं। सोमनाथ जुत्शी, उमेश कौल, रोशन, नादिम और हारवोन के प्रारंभिक प्रयत्नों के पश्चात् अख़्तर मोहिउद्दीन[1] की 'सतसंगर' एक सराहनीय उपलब्धि है, और इधर हाल में कामिल, अली मोहम्मद लोन तथा अन्य लेखकों (जैसे ताज बेग़म) ने उन आशाओं की पुष्टि की है जो इस क्षेत्र में उनके पूर्ववर्तियों की रचनाओं द्वारा उत्पन्न हुई थीं। इसी प्रकार जगन्नाथ वली ने हब्बा ख़ातून पर अपने नाटक 'ज़ून' और मोहिउद्दीन हजीनी[2] ने 'ग्रिस्त सुन्दगरा' के द्वारा जो समारम्भ किया था, उसे बाद में पुष्करमान, अली मोहम्मद लोन, कामिल, जुत्शी और रोशन के नाटकों से समुचित बढ़ावा मिला। कश्मीरी रंगमंच की स्थापना का प्रयत्न करते हुए आज से लगभग तीस साल पहले नन्दलाल कौल मंडाल् ने हरिश्चन्द्र पर 'सताच कहावत' नामक जो पौराणिक नाटक लिखा था, उससे कहीं अधिक विकसित वे सामाजिक नाटक हैं जो अभी सिर्फ़ तीन साल पहले 'कुणीकथ' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश, प्रथम कश्मीरी उपन्यास अभी भी पुस्तक रूप में प्रकाशित नहीं हो सका है। इस विधा के अंतर्गत जो भी लेखन-कार्य हुआ, वह अभी पांडुलिपियों की ही शक्ल में है। इनमें से कम से कम तीन उपन्यास, जिनके लेखक हैं—अख़्तर, कामिल[3] और लोन—और जो प्रकाशन-संबंधी बाधाओं पर विजय प्राप्त करने में संघर्षरत हैं, निश्चय ही इस दिशा में एक अच्छी शुरुआत साबित होंगे।

इन रचनाओं में कोई नई शैली या रचनाओं की दृष्टि से उन्नति तो नहीं दृष्टिगत होती, पर उनकी विषय-वस्तु में धरती की वह सोंधी बास है जो उस नई ज़िंदगी की ओर अचूक निर्देश करती है जो कि कश्मीर में जाग रही है। गतिशील राजनैतिक कार्यकर्त्ता, बेदार किसान, ढुलमुल मध्यवर्गीय मेहनती कारीगर, तेज़ माँझी, पसीने से लथपथ मजदूर, पागल क्लर्क, मनमौजी सैलानी,

१. १९५८ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार इन्हें अपने कहानी-संग्रह 'सत्संगत' पर मिला।

२. इन्हें 'मकलारा' (निबन्ध) नाम पुस्तक पर १९७० का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

३. श्री अमीन कामिल को अपनी पुस्तक 'लावाह ते प्रवाह' (काव्य) पर १९६७ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

और ग़रीब दयनीय स्त्रियां—ये सब मानो एक नये सबेरे की ताज़गी में साँस लेते हुए बदलती हुई दुनिया की नई समस्याओं में प्रवेश कर रहे हैं। इसमें से बहुत-सा लेखन, निःसंदेह एक प्रकाशमय विहान की आशा से भरा हुआ है; लेकिन उसमें से बहुत बड़ा हिस्सा आज की कठोर वास्तविकता से उलझा हुआ है। और वही सुखद धारा है, जो आज के कश्मीरी पद्य में सर्वाधिक मुखरित हुई है।

प्राचीन परंपरा

कश्मीरी गद्य तो अभी घुटनों के सहारे ही रेंगना सीख रहा है। परन्तु उससे उलटे कश्मीरी पद्य की स्थिति काफ़ी ऊँची है और वह बहुत सार्थकता लिये हुए है। कश्मीरी पद्य की साहित्यिक परंपरा १३वीं शती जितनी पुरानी है, जब कि शितिकंठ ने अपने 'महानय प्रकाश' नामक शैव तांत्रिक ग्रंथ के लिए 'जन-सुलभ भाषा' का प्रयोग किया। यह स्पस्ट था कि जनता की भाषा लोकप्रिय धार्मिक गाथाओं के प्रचार के लिए एक सुविधाजनक माध्यम के नाते चुनी गई, परन्तु वह जल्दी ही दूसरे साहित्यिक कार्य भी करने लगी। उन दिनों का कश्मीर राजनैतिक संकट से पीड़ित था; और शैव दर्शन के मुस्लिम मर्सिया द्वारा प्रचारित सूफ़ी मत के अनिवार्य संपर्क से नये सामाजिक-सांस्कृतिक रूप गढ़े जा रहे थे। इस संश्लेषण का नया स्वर स्पष्टतः लल्ल द्यद (१४वीं शती) के उद्‌गारों में और उस कवयित्री से उम्र में छोटे समकालीन शेख़ नूरुद्दीन वली (नुन्द ऋषि) के उपदेशात्मक पद्यों में मिलता है। लल्ल द्यद के वचनों में परम सत्ता की कल्पनाओं से परिपूर्ण रहस्यवादी गीतात्मकता के कुछ सुन्दर अंश मिलते हैं। यह परम सत्ता सर्वतोव्यापी और फिर भी सबसे ऊपर है। इस प्रकार से आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ तत्त्व एक सुन्दर चित्रबंध में गुँथ गए हैं। नुन्द ऋषि के छंदों में भौतिक और आध्यात्मिक के संतुलन के लिए ज़ोरदार आग्रह है। इन दोनों संत कवियों में कबीर के पूर्व दर्शन मिलते हैं। इन कवियों की रचनाओं में कबीर की भाँति अंतःसंयम की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया है और धर्म के नाम पर ढोंग तथा बाह्याचार के महत्त्व की ख़ूब निंदा देखने को मिलती है। उनके पद्यों में हिन्दुत्व और इस्लाम एक ही भाषा में बोलते हैं, और उस मानवी बंधुत्व, सामाजिक समता और आध्यात्मिक एकता के लिए सोत्साह प्रार्थना करते हैं, जो कि सब जाति, वर्ण-भेद से परे हैं और सैद्धांतिक

जड़ता के बंधनों को काटती जाती है।

बाद में फ़ारसी 'मसनवियों' ने इस साहित्यिक विकास में सुविधापूर्ण टेकनीक दी। और महमूद गामी ने रहस्यवादी परंपरा को एक नया मोड़ दिया। 'यूसुफ़-ज़ुलेख़ा', 'लैला-मजनूँ' और 'गुलरेज़' जैसे फ़ारसी के श्रेष्ठ काव्यों के कश्मीरी अनुवाद रूपकात्मक प्रेमाख्यानों जैसी मौलिकता लिये हुए हैं; जब कि 'हमील' इस बात का उत्तम उदाहरण है कि कला के क्षेत्र में सहकारिता से कैसे काम लिया जाता है। उनका वर्णनात्मक अंश वली उल्लाह मट्टू और उसके गीत ज़रीफ़ की प्रतिभा से भरे हैं; फिर भी इनका संगम आश्चर्यजनक ढंग से संपूर्ण है।

लंबी (वर्णनात्मक) कविताएँ, जो कि विगत दो शताब्दियों में बहुत ही लोकप्रिय थीं, कई शतक पहले भी लिखी जाती थीं। पन्द्रहवीं शती के बहुश्रुत सुलतान जैनुल आबदीन के दरबारी कवियों ने न केवल फ़िरदौसी का 'शाहनामा' कश्मीरी भाषा में अनूदित किया, प्रत्युत कश्मीरी भाषा में 'बाणासुर-वध' नामक एक महाकाव्य, 'जैनचरित' नामक एक पद्य-जीवनी और 'जैन-विलास' नामक एक नाटक भी लिखा। इस राजाश्रयदाता की मृत्यु के बाद जो अराजकता फैली उसमें ये सब और इस काल की अन्य रचनाएँ नष्ट हो गईं। उन्नीसवीं शती में यह परम्परा फिर जागी और रहस्यवादी रोमांसों के लिए महमूद गामी ने उनका फिर से उपयोग किया। परमानन्द ने उसे नया अर्थ देकर, कृष्ण और शिव के विषय में प्रचलित लोक-परम्पराओं से प्रेरणा ली। उनके 'राधा-स्वयंवर', 'सुदामा-चरित' और 'शिवलग्न' आदि काव्य ऊँचे काव्य-गुणों से भरे हैं। उनमें वैष्णव-उत्साह शैव-उन्मुक्ति से मिला हुआ है। पौराणिक विषयों के बावजूद, अपने सामाजिक प्रभाव में वे बहुत आनन्ददायक और वास्तविकतापूर्ण जान पड़ते हैं। प्रकाशराम कुरिगामी (अठारहवीं शती) के लोकप्रिय 'रामावतार-चरित्र' के रूप में रामायण कविता, इससे बहुत पहले अपनी बहार पर पहुँच चुकी थी। वहाब परे (उन्नीसवीं शती) के ऐतिहासिक आख्यान ने भी नई राह पकड़ ली थी।

लल्ल द्यद वचनों के रूप में कश्मीरी साहित्य में गीति-काव्य के जो बीज बोये गए, वे हब्बा ख़ातून और अरणिमाल के उत्कट विरह-काव्यों और उच्छ्वसित टोह के रूप में सुपुष्पित हुए। वस्तुतः हब्बा ख़ातून (यूसुफ़ शाह चक की प्रतिभा-शाली पत्नी) ने सोलहवीं शती में साहित्यिक परम्परा को पुनर्जीवित किया। इससे

कश्मीरी साहित्य में एक प्रकार के रचनात्मक साहित्यिक कार्य का नवयुग आरम्भ हुआ। एक किसान लड़की ने, जिसे कि रानी की ऊँची प्रतिष्ठा मिली, कश्मीरी गीति-काव्य को भौतिक जीवन-स्पन्दन से झंकृत कर दिया। उसके गीतों से मुसुक और कसक की ऐसी करुण रागिनी उमड़ पड़ी कि उसने सारे युग को आप्लावित कर दिया। अठारहवीं शती में एक ब्राह्मण फ़ारसी कवि की परित्यक्ता पत्नी अरणि-माल ने कश्मीरी भाषा को कुछ सुन्दरतम गीत दिए, जिनमें कि वैयक्तिक और पारस्परिक भावनाओं का सहज प्रवाह उमड़ा पड़ता था। यह धारा बाद में धार्मिक कविता के रूप में दूसरे ही रास्ते पर चली गई, और उसमें से हमें 'लीला' और 'नात' मिले। कृष्ण राज़दान और नाज़िम ने लोक-साहित्य के स्वरों का उपयोग करके उनका एक उत्तम समृद्ध पट बुना। परन्तु यह रहस्यवादी गीता-त्मकता भी अखंड रूप से आज तक बहती आ रही है, और वह मास्टरजी[1] (ज़िंदा कौल) के आध्यात्मिक मानवतावादी स्वर की चरम पराकाष्ठा तक पहुँची।

विगत शताब्दी के अन्त में कश्मीरी कविता में समकालीन जीवन सीधा व्यक्त होने लगा। मक़बूल करलावारी और वहाब परे के व्यंग्य ने वह राह बनाई, जिसे आज हम यथार्थवादी कविता कहते हैं। इस काल के कई कवियों ने कई तरह की साहित्यिक विधाएँ आज़माईं; जैसे व्यंग्य, हज़लगोई, कार्टून, पैरोडी, करुणा-हास्य-मिश्रण, स्तोत्र-'रोह' (लोक-नृत्य-गीत) और अंत में, किन्तु गुणों में अन्तिम नहीं, ऐसी गज़ल को रसूल मीर ने एक अभूतपूर्व ऐन्द्रिकता और ऐसा माधुर्य दिया जो स्मृति में मँडराता रहता है। मीर की ग़ज़ल ने महजूर (१८८५—१९५२) को प्रेरणा दी, और 'महजूर' आधुनिक कश्मीरी कविता के अग्रदूत बने।

समकालीन स्थिति

विगत ढाई दशकों की कश्मीरी कविता में कश्मीर के सामाजिक, राजनीतिक जागरण का प्रतिबिम्ब बहुत अच्छी तरह दिखाई देने लगा। इस कविता में सामन्ती ज़ुल्मों के नीचे दबी हुई जनता की आज़ादी के लिए महान संघर्ष का भी चित्र मिलता है। कश्मीर की जनता की नये कश्मीर के लिए कितनी अधिक

१. इनकी पद्य-पुस्तक 'सुमरन' को साहित्य अकादेमी ने १९५६ का पुरस्कार दिया है।

जागरूक चेतना है, यह भी इस कविता में व्यक्त हुआ है। जनता में जो यह नया परिवर्तन आ रहा था, उसकी चेतना 'महजूर' ने ही सबसे पहले जाग्रत् की। उनकी देशभक्तिपूर्ण राष्ट्रीय कविता ने कश्मीरी कविता को नया स्वर ही नहीं, एक नया दृष्टिकोण भी दिया। गुल-ओ-बुलबुल और बम्बुरयम्बरज़ल (भौंरा और नरगिस) आदि रूढ़ संकेतों में उन्होंने एक नई जान ही नहीं फूँकी, बल्कि नई उमंगों के लायक नये संकेतवाद भी उन्होंने विकसित किए। इस संकेतवाद से एक बड़ा लाभ यह हुआ कि वह सरकारी सेंसर से बच गई, नहीं तो सामन्ती निरंकुश शासन में जनता में नई सामाजिक चेतना जाग्रत् करने वाले जेल जाने से कैसे बच पाते ? उनसे छोटे समकालीन कवि अब्दुल अहद आज़ाद अधिक स्पष्ट-वक्ता थे। उनकी उत्साहपूर्ण वाणी, जिसमें देश-प्रेम कूट-कटकर भरा था, धार्मिक सम्प्रदायवाद तअस्सुब और राष्ट्रीय संकीर्णता के विरुद्ध एक ज़बरदस्त जिहाद थी। वस्तुत: अहद आज़ाद की वाणी सब तरह के अतिवादों के विरुद्ध थी। अपवाद उनका अपना विश्वास था, वे इस बात के ज़बरदस्त प्रचारक थे कि एक ऐसा वर्ग-हीन समाज स्थापित हो, जहाँ व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में कोई भेद न किया जाय।

उन दिनों कश्मीरी अमानुष द्विविध राष्ट्रीय पद्धति के शाप से पीड़ित थे। एक ओर सामन्ती राजाशाही थी तो दूसरी ओर साम्राज्यवादी रेज़ीडेंटशाही। जनता को बड़ा ही सख़्त मुक़ाबला करना पड़ा और तब आरिफ़ ने अपनी कविता 'मगर कारवाँ सोन'··· (मगर हमारा आज़ादी का कारवाँ बढ़ता ही गया) में इस युद्ध की वीर-गाथा गाई। कश्मीरी साहित्य का सारा वातावरण क्रान्तिकारी उत्साह से भरा हुआ है, यहाँ तक कि एक ओर आसि नामक कुली-कवि ने उन मेहनतकश मज़दूरों के दुःख-दर्द का चित्र खींचा, जो कि सामन्ती व्यवस्था के बोझों के नीचे पीसे जा रहे थे। मास्टर जी जैसे रहस्यवादी ने सरल, किन्तु फिर भी अत्यन्त आधुनिक स्वर में न केवल चिरन्तन लगन और उल्लास का गान किया, वरन् यह भी कहा कि इस काल-सरिता में से मुझे एक ऐसे आदर्श मानवों के (वर्गहीन) समाज में ले जा, जहाँ घरेलू, साम्प्रदायिक, राष्ट्रीय और अन्त-र्राष्ट्रीय जीवन पूरी तरह सुख-शान्ति के साथ समन्वित हो।

क़बाइली हमलावरों के पहले कश्मीर का साहित्यिक दृश्य इसी प्रकार का था। इस हमले ने आज़ादी की लड़ाई को जनता के मोर्चे के रूप में बदल दिया। १९४५ के शिशिर में न केवल कश्मीर की राजनीतिक ज़िन्दगी ने एक नया मोड़

लिया, अपितु देश की साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा में जो कुछ भव्य और दिव्य था वह पुनर्जीवित हो उठा।

नये सांस्कृतिक आन्दोलन के प्रमुख संघटकों में से एक नादिम थे। वे पूरी तरुणाई और चैतन्य आशावाद के सबसे उदीयमान कश्मीरी कवि हैं। उन्होंने अपने आस-पास तरुणों का एक दल मित्रों के रूप में पाया, जिसमें रोशन, राही,[1] प्रेमी और कई लोग थे। आरिफ़, आरिज़, अम्बरदार और फ़ाज़िल जैसे पुराने कवि भी इस नई धारा के साथ-साथ चलने लगे तथा कई नौसिखिए कवि नई प्रेरणा एव आकांक्षाओं के गान गाने लगे। उस समय का वातावरण संकटपूर्ण था और मातृभूमि का भविष्य अनिश्चित था। 'महजूर' इन सबको आशीर्वाद देने के लिए ही थे।

क़बाइली हमले के ख़िलाफ़ पूरे देश में गुस्से की एक धारा उमड़ी, जिसमें कि राष्ट्रीय कविता प्रस्फुटित हुई। असामाजिक और अलोकतन्त्रीय तत्त्वों के विरुद्ध सब तरह की लोकप्रिय शक्तियाँ मोर्चा बनाने लगीं। नादिम की 'मेरी जवानी ताज़ी है' इस धारा को व्यक्त करने वाली एक विशिष्ट कविता है। इस धारा में जनता आर्थिक और राजनीतिक दोनों प्रकार की दासता के बन्धनों से मुक्त होने के लिए लड़ने का नया निश्चय करती है। आन्तरिक शान्ति और सुव्यवस्था उस घड़ी की सबसे अनिवार्य आवश्यकता थी। कवि ने इस माँग का पूरे जोश के साथ उत्तर दिया और उसने देश की सांस्कृतिक परम्परा में जो कुछ भी मूल्यवान था, उसमें ज़ोर देकर इस संघर्ष को बल दिया। उन्होंने अपने देश-वासियों को यह दिखाया कि कृषि-सम्बन्धी सुधारों का क्या महत्त्व है, साहूकारी और गाँव की क़र्ज़दारी को पूरी तरह ख़त्म करना कितना ज़रूरी है। इस तरह मेहनतकश के नये रूप पर बल दिया गया। यह रूप इस भविष्य के समाज-निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। और कवि ने किसानों को पुकारा :

"हल लेकर
हर साल
नया नसीब लिखते हैं
धरती माता की पेशानी पर···"

किसलिए ?

---

१. इन्हें 'नौरोजेसबा' (काव्य) पर साहित्य अकादेमी का १९६१ का पुरस्कार मिला।

"ज़ख़्मी धरती को सुखी बनाने,
उसके ललाट पर गुस्से की सलवटें दूर करने,
उसके चेहरे पर की शिकनें
उसकी आँख का मोतियाबिन्द दूर करने के लिए।"

हवा ने कवि से कहा :

"मैंने गुलाब की आँखों को देखा
गुस्से से लाल थीं :
इन्क़लाब ने नई जान फूँक दी है
झरनों में;
घास को मैंने होड़ लेते हुए देखा
उत्साही फूलों के साथ—
मुझे एक नया निश्चय दिखाई दिया
अखण्ड दौड़ते हुए जल-प्रपात में;
मुझे यह सरो के पेड़ चट्टान की तरह खड़े दिखाई दिए,
और घास की पत्तियां भी
अपने पैरों पर खड़ी हो रही थीं।"

प्रकृति को देखकर नादिम का हृदय उछल उठता है। वह लिखता है :

"पर्वतों से खेलता हुआ झरना
जिसके घाघरे में घुँघरू लगे हैं,
और मोती जड़े हुए हैं,
बहुत सवेरे जाग उठा,
जब कि चाँद ढल रहा था
और वह अपने उन्मत्त यौवन के साथ आकर खेलने लगा
पत्थर के गोल टुकड़ों के साथ।"

परन्तु कवि को यह देखकर बड़ा दुःख हुआ :

"मज़दूर से उसका हिस्सा चुराकर
साहूकार ने अपने भण्डार भरे हैं
और वह बड़ी अकड़ के साथ हर बाज़ार में घूम रहा है
आदमी का मांस जो वह बेचता है ग्राहक को देख रहा है।"

कश्मीर राज्य में जो नई आर्थिक रचनाएँ हुई हैं उनके साथ जनवादी विषयों के प्रति यह आग्रह बहुत स्वाभाविक है। विगत कुछ वर्षों में लोक-साहित्य की विधाओं के प्रति विशेष प्रेम प्रदर्शित करने वाली जो एक और लोकप्रिय धारा प्रवाहित हुई उससे फ़सल के सामूहिक गान, पालने और लोरी के गीत, तथा मज़दूरों के गाने इत्यादि का स्वर और भी तेज़ी से गूँजा। रोशन ने कश्मीर की चित्रोपम ऋतुओं पर कई सुन्दर कविताएँ और कल्पना-चित्र लिखे हैं। इन चित्रों में जन-साधारण अपने सब तरह के काम करते हुए शान्ति और समृद्धि की ओर मज़बूती से कदम उठाते हैं। प्रेमी ने भी मज़दूरों की ज़िन्दगी के कई पहलू अपनी कविता में आँके हैं। विशेष आनन्ददायक तो वे गीत हैं, जिनमें कि उन क़िसानों के चित्र हैं, जो खेती पर गोड़ाई, बुआई तथा निराई करते हैं, और जो घास-फूस उखाड़कर फेंकते हैं, जो फ़सल काटते हैं, जो केशर चुनते हैं। अपनी 'हारुद' (फ़सल) कविता में उसने एक नये नृत्य-गीत की धुन में एक बदली हुई किसान-जाति का बहुत सुन्दर लयपूर्ण चित्रण किया है।

संक्रांति-काल सदा ही कठिन और एकरसतापूर्ण होता है; लोग बहुत जल्दी अधीर हो जाते हैं। उन्हें विकास की गति धीमी लगती है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं यदि कहीं-कहीं स्वप्न-भंग और निराशा की धारा भी बही हो। प्राय: वे सब कवि, जिन्होंने कि नई व्यवस्था का स्वागत किया था, कभी-कभी निराशा की आह भी भरते हैं। जन-साधारण जिन कष्टों में से गुज़र रहा था वे सब सामाजिक बुराइयों और नौकरशाही की पोल के कारण और भी अधिक बढ़ गए; और कवि को इन सब बुराइयों के विरुद्ध, जैसे चोर-बाज़ार और भ्रष्टाचार के विरुद्ध, आवाज़ बुलन्द करनी पड़ी। स्वर्गीय 'महजूर' की कुछ ग़ज़लों और 'आरिफ़' की रुबाइयों का बहुत बड़ा हिस्सा इन्हीं कड़वे व्यंग्यों और सच्ची आलोचनाओं से भरा हुआ है। इनमें यह दिखाया गया है कि 'पुरानी व्यवस्था' का कुछ प्रभाव अभी भी कैसे शेष है। उदाहरणार्थ 'महजूर' ने नई पाई हुई 'आज़ादी' का मज़ाक इस तरह उड़ाया है:

"यह आज़ादी एक स्वर्गीय परी है;
भला वह दर-दर कैसे भटक सकती है?
नहीं, वह तो एक-आध दो घरों में ही मौज मनाती है...
जनता दुखी है; नौकरशाही दूल्हों की तरह से

आज़ादी की शहज़ादी के साथ अपने घरों में सुहागरात
मनाते हैं !"

इन दुष्टों का सबसे बुरा चित्र और कठिन प्रताड़ना रोशन की एक कविता में है, जिसमें एक शहीद की दुखिया माँ उन ढोंगियों का पर्दाफ़ाश करती है जो कि प्रतिवर्ष उसके लड़के की क़ब्र पर जमा होते हैं और बड़े स्वांग से फूल बरसाते हैं। वह माँ अपने लड़के की अमर आत्मा से शिकायत करती है कि इन लोगों ने आज़ादी के साथ विश्वासघात किया है, इन्होंने लड़ाई आधे रास्ते में छोड़ दी और अब यह आराम से पुराने ढंग की राज-व्यवस्था के सहारे सो रहे हैं। एक दूसरी शक्तिशाली कविता 'भ्रम' में कवि ने कश्मीरियों के उस निश्चय को वाणी दी है जो कि उस साज़िश को तोड़ देना चाहती है, जिसमें कि कश्मीर को हिन्दुस्तान से अलग काटने का जाल रचा जा रहा है।

कश्मीर के भविष्य के बारे में सुरक्षा-परिषद् के अनिश्चय के कारण, जो विषम त्रिशंकु जैसी स्थिति जनता में है, उसने भी कश्मीरी कविता को बहुत-सा नया विषय दिया। कवि यह सब जानते हैं कि पर्दे के पीछे क्या हो रहा है, सुरक्षा-परिषद् की घटनाओं को वे बहुत उत्सुकतापूर्वक और अधीरता से देख रहे हैं। उन्होंने युद्ध-पिपासुओं की निन्दा की, अपने राष्ट्र से उन्होंने सारी दुनिया के लिए शान्ति की इच्छा का स्वाभाविक समर्थन किया, जिस शान्ति के बिना वे अपने आदर्श स्वप्नोंवाले नये कश्मीर को कभी नहीं बना पायँगे। कश्मीरी भाषा को इस बात पर गर्व है कि उसने शान्ति के समर्थन में बड़ी ही मार्मिक रचनाएँ दीं। शान्ति कश्मीरियों के लिए कोई अमूर्त आदर्श नहीं है, बल्कि एक प्रत्यक्ष वास्तविकता है—दुनिया-भर के जन-साधारण के लिए आज की घड़ी में वह एक अपरिहार्य आवश्यकता है। कश्मीरी कवि ने शान्ति के बारे में इस तरह सोचा :

"आज मैं नहीं गाऊँगा···
कोई वासना से भरा कोमल और सान्त्वना देने वाला गीत
गुल-ओ-बुलबुल का···
न झरने का, और न फूलों के कुंजों का,
न शबनम का, न बहार का···
क्योंकि आज, क्योंकि आज···

पतझड़ की विषैली साँस
बसन्त की हवा को दूर भगा देना चाहती है;
मनुष्य बड़ी तेज़ी से तैयारी कर रहा है
मनुष्य का फिर से शिकार करने के लिए···
इसलिए आज मैं चल पड़ूँगा,
आज चल पड़ूँगा, आज ही चल पड़ूँगा
मैं रास्ता बनाऊँगा,
मैं सब विघ्न-बाधाओं को चूर-चूर कर एक साथ कर दूँगा;
मैं दुश्मन से, डाकू से मुक़ाबला करूँगा,
और चिल्लाकर कहूँगा—'हाथ ऊपर उठा लो';
हँसिया, हथौड़ा और क़लम से सुसज्जित
दृढ़ निश्चय के साथ
मैं बराबर पहरा देता रहूँगा
एक चौकी से दूसरी चौकी तक !"

कुछ शान्ति की कविताएँ युद्ध-पिपासुओं को जनता की उत्कट चुनौती के रूप में हैं, परन्तु सबसे अधिक प्रभावशाली वे हैं जिनमें कि जन-साधारण के रचनात्मक प्रयत्नों पर बल देकर जीवन के विविध क्षेत्रों में जनता के रचनात्मक कार्य को दिखलाकर शांति की परम्परा का महत्त्व स्पष्ट किया गया है। नादिम, रोशन, राही और कामिल की कविताएँ इन्हीं विषयों पर आधारित हैं। यही नहीं, उनमें प्रकृति की सुन्दर पार्श्वभूमि पर घरेलू और राष्ट्रीय दिशाओं में जीवन के व्यापक चित्रपट को भी खोलकर व्यक्त किया गया है।

वस्तुतः बहुत-सी आधुनिक कविता इस कल्पना से प्रभावित है कि यदि जन-साधारण को एक प्रिय और सुरक्षित भविष्य का आश्वासन मिल जाय तो वह कितना कमाल करके दिखला सकता है। इसलिए कवि उस चमकते हुए सूरज के गीत गाता है, जो कि क्षितिज पर नया संदेश लेकर घूमता है, जो कि सदियों के अंधेरे को दूर करता है और नये मानवता के सवेरे की अगवानी करता है। राही पूछता है :

"अँधेरा, बिजली और तूफ़ान कैसे रह सकेंगे
जबकि सूरज उगेगा और सवेरे की किरणें फूटेंगी ?

पतझड़ का पीलापन काँपता हुआ भाग जायगा
जबकि सुन्दर वासन्तिक संगीत गूँज उठेगा···"

राही ने अपने अन्य बड़े समकालीनों पर भी कल्पनात्मक व्यंजनों में मात दी है। कश्मीरी ग़ज़ल में, जिसे महजूर, आज़ाद और मास्टरजी ने एक नया सामाजिक, राजनीतिक रस दिया था, राही ने सफलतापूर्वक प्रयोग किया। कामिल ने भी इक़बाल के ढंग पर ऐसी कई ग़ज़लें लिखी हैं जिनमें भावना को बौद्धिक रूप दिया गया है। उनका 'मास मलार' नामक संग्रह औसत से कहीं अच्छी काव्य-रचना का एक सुन्दर उदाहरण है।

ग़ज़ल ही अकेला कोई ऐसा रूप नहीं है जिसमें कि नई चेतना फूँकी गई हो। समकालीन कश्मीरी कविता ने कश्मीरी छन्दशास्त्र के क्षेत्र को भी बहुत व्यापक बनाया है और उसमें कई तरह के पुराने छंद फिर से नये किये गए हैं और कुछ छंद नये भी गढ़े गए हैं। उदाहरणार्थ वाख्य, रुबाई, मसनवी, शेर और लोक-छंदों के साथ-साथ सानेट भी अब बहुत सफलतापूर्वक लिखे जा रहे हैं। आपेरा और (रेडियो) पद्य-रूपकों ने भी मुक्त छंद और दूसरे नये छंद-रूपों तथा चित्र-बन्धों के प्रयोग की नई सम्भावनाएँ दी हैं। मुक्त छंद कश्मीरी भाषा के लिए बहुत उपयुक्त है, क्योंकि उसमें बड़े समृद्ध आन्तरिक अनुप्रास और लचीले स्वर-प्रयोग की क्षमता है।

कश्मीरी में आपेरा और गीति-नाट्य बहुत हाल में लिखे गए हैं और नादिम ने एक पुरानी लोक-कथा को बहुत कुशलतापूर्वक एक संगीत-रूपक के साँचे में ढाला है। बम्बुर (भ्रमर) और यम्बरज़ल (नरगिस) के पुनर्मिलन को दिखलाते हुए कवि ने शीतकाल और उसके साथियों के आक्रमण के कारण इन दोनों प्रेमियों के वियोग तथा अन्ततः रचनात्मक शक्ति, ध्वंस की शक्ति पर अन्तिम विजय का प्रतीकात्मक चित्रण किया है। एक तरह से इस रूपक में उन्होंने दुष्टों के चंगुल से कश्मीर की मुक्ति ही सूचित की है। कामिल के 'रवरूपि' में बसन्त द्वारा शिशिर के अन्तिम पराजय का चित्रण है; सबसे नये आपेरा 'हीमाल त नागराय' में नादिम और रोशन ने मिलकर (एक पुरानी लोक-कथा का ही आधार लेकर) अपमानव के मानबीयकरण की कल्पना प्रस्तुत की है। और इसके लिए उन लोगों को 'सभ्य' बनाने का रास्ता नहीं अपनाया, बल्कि सच्चे प्रेम के सर्वव्यापी प्रभाव द्वारा उनमें नव-जीवन भरने का यत्न किया है।

कश्मीरी कविता में सबसे नई धारा प्रतीकवाद की ओर फिर से लौटने की है, गोकि इसमें पहले से बड़ा अन्तर है; फिर भी इस कविता में व्यक्त करने की अपेक्षा छिपाने की ओर अधिक प्रवृत्ति है और जब रूपवाद प्रधान हो उठे तो कविता धीरे-धीरे साहित्यिक व्यायाम का एक ढंग बन जाती है। फिर भी हम यह देखते हैं कि नये कश्मीरी साहित्य में कुल मिलाकर 'आज' की घटनाओं में बड़ी सजीव दिलचस्पी दिखाई देती है। उसमें प्रकाशमय आगामी 'कल' के लिए भी प्रामाणिक चिन्ता है। यह निःसन्देह वर्तमान से भरी हुई है, जिसमें दुःख भी है और सुख भी; समस्या भी है और सफलता भी; स्पन्दन भी है और कंपन भी; आह भी है और आनन्द भी; आशा भी है और निराशा भी। फिर भी इन सबके साथ-साथ कश्मीरी साहित्य को अपने भविष्य की चिन्ता बराबर है, क्योंकि भविष्य का वर्तमान पीढ़ी पर बहुत सख्त दावा है।

उगते हुए कश्मीरी गद्य ने भी सुखद आरम्भ कर दिया है। ज़िन्दगी जैसी है उसके साथ उसका घना सम्पर्क है और जैसी वह होनी चाहिए उस आदर्श व्यवस्था की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्नशील है। यह आशा की जा सकती है कि कश्मीरी भाषा में पत्रकारिता के विकास के साथ-साथ निबन्ध, समालोचना इत्यादि उपेक्षित विभाग भी धीरे-धीरे विकसित होंगे। अब राजनीतिक अनिश्चय और आर्थिक अव्यवस्था की निराशा उत्पन्न करने वाली मनःस्थिति मिट चुकी है, अब ऐसा कोई कारण नहीं कि कश्मीरी साहित्य फिर से उठकर कलात्मक व्यंजना के नये क्षेत्र न खोज सके। कला के जीवन में सामाजिक उद्देश्य की बढ़ती हुई चेतना में चैतन्य, यथार्थवाद की धारा अब कश्मीरी साहित्य में प्रत्यक्ष उपलब्धियों के रूप में अधिकाधिक परिमार्जित हो रही है। केवल रूप-शिल्प और विषय-वस्तु में नवीनता की सनक अब बहुत कम होती जा रही है, उसे एक नई समन्वित शिल्प-पूर्णता की सचेष्ट प्रयोगशीलता में परिवर्तित किया जाना चाहिए। कश्मीर के साहित्यिक कलाकारों की आज की पीढ़ी के आगे यह एक बड़ा काम है।

संदर्भ-ग्रन्थ

एसेज़ आन कश्मीरी ग्रामर—जी० आर० ग्रियर्सन; थैकरस्पिन्क ऐंड को०, कलकत्ता

डिक्शनरी आफ़ द कश्मीरी लैंग्वेज—जी० आर० ग्रियर्सन, लंदन
हातिम्स टेल्स—संपादक : स्टीन ऐंड ग्रियर्सन, लंदन
कश्मीर शब्दामृतम्—ईश्वर कौल; ए० एस० बी०, कलकत्ता
डिक्शनरी आफ़ कश्मीरी प्रावर्ब्स—जे० एच० नोल्स, लंदन
लल्ल वक्यानी—संपादक : जी० आर० ग्रियर्सन, लंदन
शिव-परिणय—कृष्ण राजदान; संपादक : जी० आर० ग्रियर्सन; ए० एस० बी०, कलकत्ता
रामावतारचरित—प्रकाशराम। संपादक : जी० आर० ग्रियर्सन; ए० एस० बी०, कलकत्ता
परमानंद-सूक्ति-सार—संपादक : मास्टरजी, श्रीनगर
कश्मीरी लिरिक्स—संग्रहकर्ता और अनुवादक : जे० एल० कौल, श्रीनगर
लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया—जी० ए० ग्रियर्सन, खंड ८, भाग २, पृष्ठ २३३–३४१

गुजराती

मनसुखलाल झवेरी

सामान्य परिचय

भारत के पश्चिमी समुद्र-किनारे पर गुजरात प्रदेश की जनता की भाषा गुजराती है। आजकल इस प्रदेश में गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ, ये तीनों सम्मिलित हैं। गुजराती भाषा-भाषियों की संख्या डेढ़ करोड़ से ऊपर है।

गुजराती भाषा संस्कृत से निकली है। शौरसेनी, प्राकृत और गौर्जर अपभ्रंश मँझली अवस्थाएँ थीं। गुजराती क़रीब १२०० ईस्वी में अपने स्वतन्त्र रूप में शुरू हुई, परन्तु इस विशेष नाम से वह १७वीं सदी से ही जानी गई, जबकि उस प्रदेश का नाम गुजरात रखा गया।

कवि नर्मदाशंकर (या कि लोकप्रिय ढंग से जैसे उन्हें कहते हैं नर्मद) आधुनिक गुजराती साहित्य के जनक माने जाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि नर्मद के पहले कोई साहित्य नहीं था। गुजरात का साहित्य तो गुजराती कविता के चॉसर जैसे प्रथम महाकवि नरसिंह मेहता के समय से विकसित होता आ रहा है। चार शताब्दियों तक, (१४१४ से १८५२ ईस्वी तक) गुजरात में सैकड़ों कवि हो गए; जिनमें छः कवि गुजराती लेखकों में सदा के लिए प्रथम श्रेणी के लेखक माने जाते हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी में नरसिंह मेहता और मीराँबाई, दो बहुत प्रसिद्ध गुजराती भक्त कवि हुए। सत्रहवीं शताब्दी की बृहत्त्रयी थे—अखो प्रेमानन्द और शामल। अखो एक सुनार थे, जो व्यंग्य-तीखी आलोचना और निर्भय दम्भ-स्फोट के आचार्य थे; प्रेमानन्द आख्यान-कवि के नाते प्रसिद्ध हैं, उन्होंने गुजराती कविता में विविध रसों का बहुत सुन्दर अंकन किया है, और शामल पुराने लेखकों में बड़े साहसी कवि थे, जिन्होंने लीक-लीक चलना छोड़कर रोमांटिक कथा के क्षेत्र का पूरा-पूरा उपयोग किया। अट्ठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में मधुर कवि दया-

राम हुए, जिनकी 'गरबीओ' के कारण उनका नाम गुजरात के अमर गीतकारों में लिया जाता है। इन छः श्रेष्ठ लेखकों के अतिरिक्त मध्ययुगीन गुजराती कवियों में भालण भी हुए; जिन्होंने मुक्त अनुवाद की परम्परा प्रतिष्ठित की। पदम्नाभ ने 'कान्हड़-दे-प्रबन्ध' में ऐतिहासिक वीर रस की व्यंजना की, भीम ने 'भागवत-पुराण' के ढंग पर श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया, धीरो और भोजो ने इस जीवन की असारता पर ज़ोर दिया तथा स्वामी नारायण सम्प्रदाय के ऐसे कई कवि हुए जिन्होंने मानवी शरीर को हा परमात्मा एवं मुक्ति के पाने का माध्यम मानकर उसका महत्त्व वर्णित किया।

सामान्यतः कविता चार शताब्दियों की लम्बी अवधि में भौतिक यथार्थ के स्पर्श से अछूती रही। जीवन की अनन्त विविधता इन कवियों का विषय नहीं थी, वे प्रेम के गीत गाते थे, परन्तु वह प्रेम केवल दैवी राधा-कृष्ण का ही था। जो कुछ साम्प्रदायिक नहीं है वह काल्पनिक और वायवी है, ऐसा वे मानते थे। इस प्रकार से उस समय की कविता ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की प्राचीन परम्परित लीकों में ढलकर धीरे-धीरे जम गई और अट्ठारहवीं शती के अन्त तक वह मृतप्राय हो गई।

गुजरात का जीवन अट्ठारहवीं शती के अन्त तक प्रायः जड़ और निरानन्द हो गया। १७९९ में सूरत के नवाब की मृत्यु के बाद और उसी साल श्रीराम-पुर में पहला मिशनरी स्कूल खुलने के बाद पुरानी व्यवस्था बदल गई और नई व्यवस्था ने जन्म लिया। १८१८ से १८५७ तक भारत में ब्रिटिश शक्ति की जड़ें गहरी और मज़बूत हो गई थीं।

पश्चिम का प्रभाव

ब्रिटिश राज्य के साथ-साथ पश्चिमी सभ्यता का बलशाली प्रभाव भी आया। विज्ञान के आविष्कारों ने दूरी कम करके जनता का मानसिक क्षितिज विस्तृत बनाया। धीरे-धीरे स्थानीय राजनीतिक असन्तोष समाप्त होने लगा और गुजरात के तरुण समाज-सुधार के कार्यक्रम में पूरी तरह जुट गए। वे अशिक्षा, अंधश्रद्धा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह और अनमेल विवाह आदि समस्याओं के समाधान में पूरी तरह जूझ पड़े। इन सब कार्यों में उन्होंने पश्चिम को अपना आदर्श माना।

इस युग का साहित्य, जिसके एक प्रतिनिधि नर्मद (१८३३ से १८८६) गए थे, ऐसा है कि उसमें कविता ने पहली बार आत्मनिष्ठता के तत्त्व का पूरा मुक्त रूप पाया। ऐतिहासिक उपन्यास विकसित होने के साथ-साथ सामाजिक व्यंग्य रूपक, निबन्ध, जीवन-चरित्र, आत्मकथा, नाटक और साहित्य-आलोचना ने भी गद्य में निखार पाया।

१८८६ में नर्मद की मृत्यु के उपरान्त गोवर्धन (१८५५–१९०७) का युग शुरू हुआ। इस युग में पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियों को सर्वोत्तम संश्लेषण के रूप में प्रस्तुत किया गया। यह संश्लेषण केवल यान्त्रिक सम्मिश्रण नहीं था; उसका आधार पूर्व की संस्कृति और केवल वही तत्त्व थे जो कि अनिवार्यतः पश्चिम से लिये गए थे। उनकी कलम इस पौधे पर ही लगाई गई थी। यह युग उदात्त और सन्तुलित मस्तिष्क वाले ऐसे विचारकों का था, जो अपने विषय का व्यापक ज्ञान रखते थे। उनका विश्वास था कि विवेक—और केवल अन्धश्रद्धा तथा केवल रूढ़िवादिता ही मनुष्य के विचार और कर्म के नियन्ता नहीं होते। इसी दृष्टि से उन्होंने अपने समय के मौलिक प्रश्नों का जो विवेचन और विश्लेषण किया वह ऐसे ढंग से किया गया कि जिससे रूढ़ सनातनी लोगों को चौंकाने वाला धक्का भी पहुँचे और तरुणों की उपेक्षा या निष्कासन भी न हो।

इसी युग (१८८६ से १९१४) में गद्य में कहानी और पद्य में खण्डकाव्य, सानेट और विलापिका आदि का जन्म हुआ। चार खण्डों में 'सरस्वतीचन्द्र' नामक उपन्यास भी इसी युग में लिखा गया, जो कि गुजराती भाषा का सर्वोत्तम ऐतिहासिक ग्रंथ है। इस युग में गुजराती का एकमात्र हास्य रस का उपन्यास 'भद्रंभद्र' भी लिखा गया। निबन्ध, नाटक, संवाद और पत्र गद्य की कुछ ऐसी विधाएँ हैं जो इसी युग में विकसित हुईं। इसी युग में संस्कृत और अंग्रेज़ी के श्रेष्ठ ग्रन्थों के प्रामाणिक अनुवादों ने भी साहित्य को समृद्ध बनाया तथा गुजराती रंगमंच विकसित होकर अपने परमोच्च बिन्दु पर पहुँचा। इसी युग में नान्हालाल, कान्त, कलापी बलवन्तराय और नरसिंहराव जैसे कवि हुए। कई प्रकार के मुक्त छन्द के प्रयोग भी इसी युग में किये गए। भाषा-विज्ञान, ऐतिहासिक शोध, व्याकरण, छन्द-शास्त्र और साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में इस युग में बहुत मूल्यवान कार्य हुआ। मणिलाल द्विवेदी, आनन्दशंकर और केशवलाल ध्रुव तथा दूसरे कई महत्त्वपूर्ण लेखक भी इस युग में हुए।

गांधी-युग

१९१४ गुजराती साहित्य का युगान्तरकारी काल है। इसी समय महात्मा गांधी अफ्रीका से लौटे थे और थोड़े-से महीनों में ही उन्होंने पूरे भारत-खण्ड के वातावरण को जैसे चमत्कृत कर दिया था। गांधीजी, होमरूल-आन्दोलन और जलियाँवाला बाग़ तथा देश के बाहर प्रथम महायुद्ध, उसके परिणाम और रूस की क्रांति इत्यादि घटनाओं ने गुजरात के भाव-जीवन के अन्तरतम को छू लिया। केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता ही नहीं, अपितु धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और साहित्यिक सभी क्षेत्रों में सारे गुजरात की आत्मा स्वतन्त्रता की भावना से भर उठी। गुजरात नवीन जीवन से स्पन्दित हो उठा।

साहित्य के क्षेत्र में इस युग में कई प्रमुख साहित्यिकों की जयन्तियाँ और पुण्य-तिथियाँ मनाई गईं, कई साहित्यिक व्याख्यानमालाएँ आयोजित की गईं। शरदोत्सव और वसन्तोत्सव हुए, कला-प्रदर्शनियाँ और वाद-विवाद तथा लोक-गाथाओं एवं लोक-गीतों की सभाएँ भी हुईं। इसी समय अव्यावसायिक रंगमंच का जन्म भी हुआ।

गांधी-युग के लेखकों ने जीवन को कई दृष्टिकोणों से देखा था। आर्थिक विषमता के कारण समाज की जो असह्य स्थिति थी वह उसे खटकती थी। गांधीजी के सन्देश से प्रेरणा पाकर गुजराती लेखक सेवा और त्याग, दरिद्रनारायण के उद्धार के प्रयत्न, गाँवों के पुनरुत्थान तथा दलितोद्धार इत्यादि कार्यक्रमों में रुचि लेने लगे और इस प्रकार से धनिक वर्ग की ओर से उनकी दृष्टि हटकर ग़रीब और अशिक्षित देहाती जनता की ओर मुड़ गई।

गद्य-साहित्य के रचनात्मक पक्ष में गद्य-युग के लेखक अपनी रचनाओं में कला-पक्ष के प्रति अधिक जागरूक हो गए। इस युग में उपन्यास पिछले युगों की अपेक्षा विषय-वस्तु और शैली दोनों में भिन्न हैं। साहित्य की स्वतन्त्र विधा होने के नाते कहानी इसी युग में आगे बढ़ी और लघु निबन्ध, एकांकी, स्वगत-भाषण तथा डायरियाँ इत्यादि लिखी जाने लगीं। लोक-साहित्य एवं लोक-गाथा में शोध-कार्य हुए, बच्चों के लिए साहित्य लिखा गया और इसी युग में विज्ञान, अर्थशास्त्र, कृषि इत्यादि विषयों पर बहुत-सी पुस्तकें निर्मित हुईं। इस प्रकार विषय-वस्तु का क्षेत्र व्यापक बना और शैली तथा अभिव्यंजना भी पूरी तरह बदल गई। इस

युग के पूर्ववर्ती गोवर्धन-युग में साहित्य ऐसी शैली में लिखा जाता था जो कि अलंकारमयी और कृत्रिम थी। ऐसा साहित्य केवल ऊँची अभिरुचि वाले सिद्धान्तों के लिए लिखा जाता था। गांधी-युग में भाषा के सब अतिरंजन और शब्द-बहुलता को दूर किया गया तथा गद्य शैली सरल, सीधी, स्वाभाविक और प्रत्येक अर्थछटा को व्यक्त करके अस्तित्व में आई। गांधी-युग में साहित्य केवल ऊँचे वर्ग के लिए नहीं, किन्तु जन-साधारण के लिए भी लिखा जाने लगा।

कविता के क्षेत्र में रास, गरबी, खण्ड-काव्य, सानेट, प्रतिकाव्य (पैरोडी) विलापिका से पद्य-संवाद और मुक्तक इत्यादि विधाएँ जन्मीं और इसी काल में वे परिपक्व भी हुईं। इन सब रूपों में आख्यान-शैली की व्यंग्य कविताओं का विशेष रूप से उल्लेख करना चाहिए।

गांधी-युग का कवि केवल प्रेम, प्रकृति और परमात्मा के विषय में ही कविता नहीं लिखता था। उसने विश्व-प्रेम और विश्व-बन्धुत्व के गीत भी गाए। जीवन के ताने-बाने में मृत्यु का भी एक विशेष स्थान उसे दिखाई देने लगा। उसने यह भी देखा कि सौन्दर्य की भांति करुणा और व्यथा का भी इस वस्तु-जगत् में अपना विशेष स्थान है।

१९१४ तक साधारणतया यह माना जाता था कि कविता के उच्च विषय बादल, चाँद, पर्वत, तारे, कमल तथा कोयल जैसी परिचित सुन्दर या भव्य चीज़ें ही हो सकती हैं। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि कविताएँ अब सूअर, भंगी, काग़ज़ी फूल, शौचालय की मक्खी, गोबर का ढेर, चुसी हुई आम की गुठली, बूट पालिश करने वाला लड़का और ऐसे ही अन्य विषयों पर भी लिखी जाने लगीं। इसका कारण यह था कि कवि अब यह पहचानने लगा कि कविता की महत्ता या श्रेष्ठता विषय की महत्ता या श्रेष्ठता पर ही अवलम्बित नहीं है, परन्तु कवि का उस विषय के प्रति क्या रुख़ है इसपर भी वह अवलम्बित है। फिर भी कुछ समय तक लोग नवीनता के लिए नवीनता के पीछे दौड़ते रहे। मानवीय सहानुभूति के चिर व्यापक और सर्वंकष क्षेत्रों को ध्यान में रखकर कुछ हद तक यह अनिवार्य था। इस कारण, नग्न यथार्थवाद—कभी-कभी अश्लीलता और जुगुप्सा भी—आज के साहित्य में कोई असाधारण तत्त्व नहीं रहे।

स्वतन्त्रता और उसके बाद

१५ अगस्त, १९४७ ने भारत के लम्बे और विषम इतिहास में एक नया गौरव-शाली अध्याय आरम्भ किया। गुजराती साहित्य में स्वतन्त्रता के पूर्व का और स्वतन्त्रता के बाद का अन्तर इतना तीखा नहीं है कि इस स्वातंत्र्योत्तर स्थिति को नया युग माना जाए। जो कवि, उपन्यासकार, कहानी-लेखक, नाटककार और निबन्धकार १९४७ से पहले आगे आए हुए थे वे ही इस क्षेत्र में अभी भी सक्रिय और प्रभावशाली हैं।

स्वतन्त्रता से पूर्व के युग में कविता में राष्ट्रीयता की भावना प्रधान थी। यों कहा जा सकता है कि गुजराती कवि ने अपने-आपको पूरी तरह से इस राष्ट्रीय आन्दोलन में समर्पित कर दिया था। उसकी कविता का मुख्य स्वर स्वतन्त्रता था। उसके गीत, गाने, वीर-काव्य, लम्बी वर्णनात्मक या विचारात्मक कविताएँ इत्यादि सभी किसी न किसी तरह इसी भावना से आप्लावित थीं। इतिहास और पुराण-गाथाओं में से उसने केवल वे घटनाएँ और विषय चुने जो कि उसकी इच्छाओं और उमंगों को व्यक्त करते थे। उसके लिए उद्देश्य स्पष्ट था, मनुष्य की शक्ति निश्चित रूप से उसी दिशा में लगी हुई थी।

स्वातंत्र्योत्तर युग में राष्ट्रीयता के संघर्ष की प्रेरणा नहीं रही और अब लिखने के ऐसे कोई उद्देश्य सामने नहीं रहे जो कि उसका पूरा ध्यान समो लेते। आज देश में राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की कई विराट योजनाएँ चल रही हैं। पर कुछ भी कहिए, लेखक को उनसे स्पष्ट रूप से दर्शनीय मात्रा में स्फूर्ति नहीं मिल रही है। यह स्थान इस सर्वसाधारण असहानुभूति के कारणों की मीमांसा करने का नहीं है। परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि समकालीन गुजराती कवि ने अब तक उसी उत्कटता के साथ इन आन्दोलनों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त की जितनी कि उसके पूर्ववर्ती कवियों ने २५ वर्ष पहले विदेशी जूए से स्वतंत्रता की ललकार लिखी थी।

जहाँ तक विषय-वस्तु का सम्बन्ध है, गुजराती कविता समूची दुनिया को अपने घेरे में ले आना चाहती है। यह जहाँ भी, जो कुछ भी सुन्दर और भव्य है उन तत्त्वों को अपना लेना और सौन्दर्य के उत्तम भावों को ग्रहण करना चाहती है। गांधी-युग के गुजराती कवि के लिए, आज के कवि के लिए भी, जीवन की

सभी व्यंजनाएँ एक-सी पवित्र और एक-सी आदरणीय हैं ।

लगभग २५ वर्ष पहले ऐसा समय था जबकि कविता और संगीत के सम्बन्ध क़रीब-क़रीब टूटने को थे, क्योंकि संगीत कुछ क्षेत्रों में कविता की सजीवता के लिए आवश्यक नहीं माना जाता था । सौभाग्य से कवियों ने इस भ्रम से अपने-आपको बहुत जल्दी मुक्त कर लिया और वे सुन्दर गीत लिखने लगे, साथ ही शुद्ध संस्कृत छन्दों में कविताएँ भी लिखने लगे । आज के गुजराती कवियों ने अधिक मात्रा में गीत लिखने में सफलता प्राप्त की है । इस प्रकार से समकालीन कविता संगीत और लय की ओर अधिक झुकी है, प्राचीन संस्कृत छंदों की ओर कम ।

यह स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति में लम्बी वर्णनात्मक या विचारात्मक कविताएँ कवि को अधिक अदम्य रूप से आकर्षित नहीं कर सकतीं । परन्तु गीत में अधिक से अधिक एक मूड या भाव-दशा ही व्यक्त होती है; सूक्ष्म और अमूर्त विचारों को व्यक्त करने का वह सहज साधन नहीं हो सकता । गुजराती कवि ने कुछ समय के लिए कम से कम महाकाव्य लिखने का प्रयत्न तो मानो छोड़ दिया है । मैं यह नहीं मानता कि मुक्त छन्द जैसे किसी उचित छन्द के अभाव में यह हुआ है । इसमें अधिक सचाई यह है कि सच्ची महाकाव्योचित प्रतिभा या बड़ा कवि हमने अभी निर्मित ही नहीं किया है ।

कविता के क्षेत्र में पुराने बड़े नामों में उमाशंकर जोशी[१], सुन्दरम् और सुन्दरजी बेटाई अभी भी सक्रिय हैं। आज की पीढ़ी के सबसे बहुमुखी प्रतिभाशाली लेखक उमाशंकर ने कुछ महीने पहले अपना पाँचवाँ काव्य-संग्रह 'बसन्त वर्षा' नाम से प्रकाशित किया है। इस संग्रह के कुछ गीतों में प्रकृति की विविध मनोदशाओं का चित्रण हुआ है और महान भावगीतात्मक स्वर में प्रकृति के सुख-दु:ख गाए गए हैं । सुन्दरम् का 'यात्रा' नामक कविता-संग्रह कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था, कवि के भाव-लोक में प्रवास का यह कलात्मक लेखा-जोखा है । सुन्दरम् अब 'वसुधा' का कवि नहीं रहा । अब वह उन रहस्यवादी अनुभवों के विश्व का यात्री है जो कि अत्यन्त व्यक्तिगत हैं । उमाशंकर धरती माता के आकर्षक सौंदर्य के दर्शन-मात्र से गीतमय हो उठते हैं तो सुन्दरम् भीतर के सौन्दर्य के दर्शन से दर्शन के ऊँचे विश्व में उड़ने लगते हैं । दोनों अन्तिम सत्य चाहते हैं, परन्तु एक की इच्छा सौन्दर्य के

१. उमाशंकर जोशी को अपनी काव्य-पुस्तक 'निशीथ' पर १९६८ में डा० कु० वे० पुटप्प (कन्नड) के साथ सम्मिलित रूप से ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला है ।

रूप में उसे पाने की है, दूसरा उसे योग के माध्यम से पाना चाहता है। बेटाई की 'विशेषांजलि' की गम्भीरता और भव्य संयम में कवि के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। इस पीढ़ी के अन्य उल्लेखनीय कवि हैं—स्नेहरश्मि, पूजालाल, करसन दास मानेक और कृष्णलाल श्रीधराणी।

नई पीढ़ी के कवियों में निम्न कवियों का उल्लेख करना आवश्यक है : राजेन्द्र शाह[१], निरंजन भगत, बालमुकुन्द दवे, वेणीभाई पुरोहित और उशनस्। राजेन्द्र अपनी प्रतिमाओं की समृद्धता और दृष्टि की स्पष्टता के लिए, निरंजन अपनी लय की असाधारण भावना और वस्तु तथा शैली के प्रति मुक्त साहसिक झुकाव के लिए, बालमुकुन्द अपनी मधुरता के लिए, वेणीभाई संगीतमय प्रवाह के लिए और उशनस् अपनी चित्रोपमता के लिए गुजराती कविता के नवयुग के प्रतिनिधि कवि हैं। समकालीन कविता पर अन्यान्य कवियों के साथ ही, मार्कंड दवे, प्रजाराम, जयंत पाठक, पिनाकिन ठाकोर और प्रियकान्त मणियार की भी छाप पड़ी है।

आज का तरुण गुजराती कवि, ऐसा कोई विषय न पाकर कि जिसमें वह अपना पूरा हार्दिक उत्साह लगा सके, फिर प्रेम और प्रकृति के पुराने विषयों की ओर मुड़ गया है। उसका प्रेम यौवन से भरा है, अतः बहुत उत्कट, मधुर और ताजा है। इस प्रेम को किसी प्रकार का दुःख, अनुत्तरित या अपूर्त्त प्रेम की वेदना ज्ञात नहीं है। उसे अभी भी मानवीय हृदय की अन्तरतम गहराई में डुबकी लगानी है।

आज के कवि ने छंद और लय पर विशेष रूप से अपना अधिकार व्यक्त किया है। उसकी शब्दावली समृद्ध और प्रासों की रचना प्रौढ़ है। परन्तु संस्कृत शब्दों के प्रयोग में वह कई बार लड़खड़ाता है; या अधूरे तथा प्रत्ययहीन शब्दों का प्रयोग करता है। कभी-कभी वह केवल उक्ति-चमत्कार दिखलाता है और उसकी कविता शब्दों का खिलवाड़ बनकर रह जाती है। कभी-कभी उसकी कविता निरी लयकारी होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती। कभी-कभी उसकी काव्य-दृष्टि सहसा समाप्त हो जाती है और वह अपनी पूरी परिपक्वता पर नहीं पहुंच पाती। कभी-कभी उसके लिए एक मुक्तक से परे जाना भी कठिन जान पड़ता है। लम्बी सुगठित कविता, जिसमें विचार, कल्पना-चित्र और दृष्टि भरी हुई हो, ऐसी वस्तु है जो कि साहित्य में प्रतिदिन निर्मित नहीं होती। इसलिए समकालीन गुज-

१. १९६३ साहित्य अकादेमी से इन्हें 'शान्त कोलाहल' शीर्षक काव्य-संकलन पर पुरस्कार मिला।

राती कविता में उनके अभाव पर हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिए। परन्तु इस बात पर ध्यान दिए बिना नहीं रहा जा सकता कि वर्तमान कविता अधिकतर संक्षिप्त, मधुर, संगीतमयी और प्रवाहपूर्ण होती जा रही है। आज की कविता को गहराई, चौड़ाई और लम्बाई यह तीनों आयाम अभी प्राप्त करने हैं। जहाँ तक दार्शनिक दृष्टि का सम्बन्ध है, इस पीढ़ी ने कोई नई ज़मीन नहीं छुई है।

आजकल जो कई साहित्य-विधाएँ विकसित हो रही हैं उनमें सबसे महत्त्व-पूर्ण है 'नाट्य-रूपक' नाट्य-रूपक न तो नाटक है, और न केवल लम्बी कविता। उसमें सार्थक और जीवन की रहस्यमयता से गर्भित एक नाटकीय स्थिति मुख्य विषय रहती है और पद्य-सवादों के रूप में उसे व्यक्त किया जाता है। उमाशंकर जोशी ने अपने 'प्राचीना' में इस विधा के कुछ बहुत सुन्दर नमूने दिए हैं।

फिर एक दूसरी विधा है नृत्य-रूपक। गुजराती में इसे इसी नाम से अभिहित किया जाता है। यह भी एक नवीनतम साहित्य-रूप है। इसमें कई गीतों को गद्य या अनुष्टुप जैसे छन्दों से जोड़ा जाता है। ऐसे 'बैले' के लिए जो विषय चुने जाते हैं वे अधिकतर पौराणिक, ऐतिहासिक या लोक-गाथा के रूप में होते हैं। गीत इस तरह से रचे जाते हैं कि उनमें विविध मानसिक वृत्तियाँ या कथानक के विकास की महत्त्वपूर्ण अवस्थाएँ व्यक्त की जाती हैं। ऐसे 'बैले' की सफलता उनके अन्तर में निहित काव्य-गुणों पर इतनी आश्रित नहीं होती जितनी कि मानवीय रूपों और संगीत के लय-सौन्दर्य पर। आजकल सांस्कृतिक समाजों और शिक्षा-संस्थाओं के वार्षिकोत्सवों में नृत्य-रूपक खेलना एक साधारण फैशन बन गया है। उनका सीधा उद्देश्य जन-मन-रंजन होता है, इसी कारण उनमें से बहुत कम ऐसे होते हैं, जिनमें नृत्य या संगीत का क्लासिक रूप व्यक्त किया जाता हो।

'कवि-सम्मेलन' और 'मुशायरे' भी अभी तक बहुत लोकप्रिय बने हुए हैं। क्लासिक संस्कृत छन्दों में या मात्र-वृत्तों में लिखी हुई कविताएँ कवि-सम्मेलनों में पढ़ी जाती हैं। उर्दू ग़ज़ल की शैली में लिखी हुई कविताएँ मुशायरों में पढ़ी जाती हैं। इन सम्मेलनों से निःसंदेह जन-साधारण के मन में काव्य के प्रति अधिक अभि-रुचि व्यापक रूप से उत्पन्न होती है; परन्तु इस बात में सन्देह है कि श्रोताओं में ऊँची कविता को समझने या उसका रस ग्रहण करने की शक्ति बढ़ाने में ये सम्मे-लन कहाँ तक सफल होते हैं। चूँकि इनका उद्देश्य प्रासंगिक 'वाह-वाह' प्राप्त करना ही होता है, ऐसे सम्मेलनों में प्रस्तुत की हुई कविताएँ स्वाभाविक रूप से

भाषा की वह सूक्ष्म अर्थ-छटाएँ नहीं व्यक्त कर सकतीं, जो कि उनका सही रस ग्रहण करने के लिए गहरा ध्यान और आवृत्ति-पठन चाहती हैं। ऐसे सम्मेलनों की कविताओं की बहुत-कुछ सफलता पढ़ने की कला और शब्दों की चतुर खिलवाड़ में सन्निहित है। इसलिए ऐसा भी हो जाता है कि किसी कवि-सम्मेलन या मुशायरे में तालियों की गड़गड़ाहट पाने वाली कविता जब छपकर काग़ज़ पर आती है तब सुयोग्य और विवेकी पाठक के लिए वह उतनी ग्राह्य नहीं जान पड़ती।

उपन्यास

उपन्यास की विधा में कोई नया विकास नहीं हुआ है। गुजराती साहित्य में यह शायद सबसे लोकप्रिय साहित्य-विधा है। गुजराती उपन्यास एक ऐसा रूप है जिसे कि इस तथ्य का उदाहरण कहा जा सकता है कि लोकप्रियता और गुण दोनों साथ-साथ जाते ही हों, यह आवश्यक नहीं। पुरानी पीढ़ी के सर्वश्री मुन्शी, रमणलाल देशाई, झवेरचन्द मेघाणी, गुणवन्तराय आचार्य, धूमकेतु और चुनीलाल वी० शाह इत्यादि तथा नई पीढ़ी के सर्वश्री पन्नालाल पटेल, दर्शक, ईश्वर पेटलीकर, चुनीलाल मडिया, सोपान, पीताम्बर पटेल और सारंग बारोट इत्यादि गुजराती में कई गणनीय उपन्यासकार हैं। उनमें से सब काफ़ी लोकप्रिय हैं और कुछ लेखकों की रचनाएँ बहुत अधिक बिकी भी हैं। फिर भी विश्व-साहित्य के मापदण्ड को यदि छोड़ दिया जाए, तो उच्चकोटि के उपन्यास गुजराती साहित्य में बहुत ही कम हैं। रमणलाल देसाई और झवेरचन्द मेघाणी अब नहीं रहे। मुन्शी किशोरावस्था से ऊपर नहीं उठ पाए। पन्नालाल पटेल और दर्शक (मनुभाई पंचोली) एसे दो लेखक हैं जिनकी गुजराती उपन्यास को महत्त्वपूर्ण देन है। पन्नालाल ने गुजराती गाँव को अपनी पूर्णता में व्यक्त किया है। वे अपने गाँव को उसके अन्तरतम तक जानते हैं, वहाँ की सरल महानता लिये उनका प्रेम और द्वेष, महत्ता और क्षुद्रता, हार्दिकता और निर्ममता, सचाई और छल-बल सब मिलकर एक अपनी ही अलग दुनिया है जिसमें कि करुणा और तीखापन भरा हुआ है। उनके दो उपन्यास 'मळेला जीव'[1] (जीवी) और 'मानवीनी भवाइ' (मानवीयों का नाटक) गुजराती साहित्य के सर्वोत्तम उपन्यास हैं, ये जल्दी भुलाये नहीं जा सकेंगे। परन्तु यही लेखक जब शहर की ज़िन्दगी के बारे में लिखता है तो वहाँ वह अजनबी

१. इसका हिन्दी अनुवाद अकादेमी की ओर से प्रकाशित हुआ है।

जान पड़ता है।

दर्शक दूसरे महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार हैं। वे बड़े विद्वान और सुसंस्कृत व्यक्ति हैं। वे एक विचारक और सुन्दर कहानी-लेखक भी हैं। उनका अपना जीवन-दर्शन है, जिसे कि वे अपने उपन्यासों के माध्यम से व्यक्त करना चाहते हैं और इसी दर्शन के कारण उनके उपन्यास एक विशेष अर्थ रखते हैं। ईश्वर पेटली-कर के गुजरात के चरोतर ज़िले के पाटीदारों के उत्तम चित्र विशेष उल्लेख-नीय हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों में अभी भी यह वृत्ति है कि प्राचीन की अतिरंजना करो और गौरव-गान गाओ। ब्रिटिश राजसत्ता के दिनों में कदाचित् हमारी स्वतन्त्रता के संघर्ष का यह आवश्यक भाग रहा हो, जिससे कि जनता में स्वाभि-मान की भावना पुनः जाग सके। इस कारण यह वृत्ति बढ़ी कि हमारे अतीत काल का अच्छा और प्रशंसनीय अंश ही कलात्मक रूप से व्यक्त किया जाए। भूतकाल को सामान्यतः दैवी रूप दिया गया और झवेरचन्द मेघाणी जैसे लेखकों द्वारा हमारी संस्कृति का भव्यतम और सर्वोत्तम युग यह भूतकाल माना गया। कभी-कभी यह भी हुआ कि हमें वह प्रेरणा दे सके, इसलिए समकालीन समस्या और सामाजिक-राजनीतिक-परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब उनकी भूतकालीन घटनाओं में खोजा गया और उस पर मुंशी जैसे लेखकों ने लिखा। धूमकेतु जैसे लेखक अपने उत्साह में कभी-कभी अपने लक्ष्य से ऊपर पहुँच गए और प्राचीन काल की कुछ घटनाओं या वृत्तियों को, जो कि अच्छी नहीं भी थीं, प्रशंसनीय मानने लगे, और वैसे ही उनका चित्रण करने लगे। बहुत कम लेखकों ने अपने प्राचीन का वस्तुनिष्ठ और निष्पक्ष चित्रण किया है। वस्तुतः प्राचीन जीवन-पद्धति एक ऐसी पद्धति थी जिसमें से आज की जीवन-पद्धति विकसित हुई है, इस दृष्टिकोण से किसी ने नहीं लिखा।

ऐतिहासिक सामग्री और साक्ष्य न केवल अदलते-बदलते रहते हैं बल्कि बहुत-कुछ इस पर भी निर्भर है कि हम उसका क्या अर्थ लेते हैं। एक सिक्का, एक पत्थर, किसी जीर्ण पाण्डुलिपि का एक अंश, कभी ऐसी ही छोटी चीज़ हमारे पूरे दृष्टिकोण को बदलने के लिए काफ़ी होती है और इस कारण इतिहास के सम्बन्ध में हमारा निर्णय कभी-कभी अन्तिम नहीं हो सकता। परन्तु ऐसा होने पर भी यह निश्चित है कि प्राचीन का अपना एक अचूक रूप है; और व्यक्ति

की तरह से राष्ट्र भी अपने पुराने जीवन का फ़ोटोग्राफ़ देखना पसन्द करते हैं। यह भी सम्भव है कि फ़ोटोग्राफ़ों में वह उतना सुन्दर न दिखाई दे जैसा कि वह चाहता हो; यह भी हो सकता है कि कभी-कभी वह कुरूप भी दिखाई दे। फिर भी आख़िर हैं तो वे उसके अपने ही फ़ोटोग्राफ़। वे इस बात की याद दिलाते हैं कि किसी समय में उसके जीवन का यह भाग भी सच था, और वह हिस्सा उसके व्यक्तित्व से सजीव रूप से सम्बद्ध है, इसलिए पारिवारिक अलबम में उनका भी अपना एक स्थान है।

यदि गुजराती उपन्यासकार अपने भूतकाल की ओर इस दृष्टि से मुड़ता है कि वह उसे अतिरंजित करे, तो वह समकालीन समाज की स्थिति की ओर इसलिए मुड़ता है कि वह उनके दोष ही दिखाये। या तो वह अपने प्राचीन से इतना अधिक आकर्षित और अभिभूत है कि उसे वर्तमान शुष्क, रसहीन और क्षुद्र लगता है या उसकी आस-पास की दुनिया की क्षुद्रता से वह इतना ऊब गया है कि वह स्वाभाविक रूप से भव्यता, साहस, महत्ता और विराट्ता की झलक पाने के लिए प्राचीन की ओर मुड़ता है। सच कहा जाए तो वर्तमान इतना बुरा नहीं है। गांधीजी के १९१४ में अफ़्रीका से लौटने पर गुजरात की समूची आत्मा में एक पूरा परिवर्तन आ गया था। संस्कृति और साहित्य, धैर्य और सहिष्णुता, वीरता, त्याग और साहस में गुजरात ने भी अपना विनम्र योग दिया। गुजराती लेखक की समकालीन समाज के प्रति जैसी वृत्ति उसकी रचनाओं में दिखाई देती है वह उसके आदर्शवाद के कारण अर्थात् एक अच्छे समाज के प्रति उसकी पिपासा के कारण है, उसके आस-पास के प्रत्यक्ष भ्रष्टाचार के कारण नहीं।

कहानी

गुजराती में कहानी मुश्किल से ६० साल पुरानी है। नाटक, उपन्यास और मुक्त छन्द के पहले प्रयत्नों के बहुत बाद कहानी आई। फिर भी उसने गुजरात की भूमि में अपने-आपको मज़बूती से जमा लिया है; और उपन्यास को एकमात्र अपवाद छोड़ें, तो यह एक ऐसी विधा है जो लेखक और पाठकों को सर्वाधिक प्रिय है।

पुराने बड़े कहानी-लेखकों में इधर धूमकेतु ने उपन्यास लिखना आरम्भ किया है। धूमकेतु को 'तणखा' (चिंगारियाँ) के पहले दो खण्डों में जो कीर्ति

मिली, उसमें उनकी बाद की कहानियाँ शायद कुछ नया नहीं जोड़तीं। झवेरचन्द मेघाणी और रामनारायण पाठक (द्विरेफ) अब हमारे साथ नहीं रहे। मुंशी ने अब क़रीब-क़रीब कहानियाँ लिखना बन्द कर दिया है[1] और यही बात धनसुखलाल मेहता, उमाशंकर जोशी (वासुकी) और सुन्दरम् (त्रिशूल) के बारे में भी सही है। बचे हुए लेखकों में गुलाबदास ब्रोकर और पन्नालाल पटेल अभी भी इस क्षेत्र में हैं। गुलाबदास ब्रोकर की मानवीय स्वभाव में अद्भुत पैठ है, वे बाह्यत: सरल और साधारण जीवनानुभवों से बड़ी सुन्दर वस्तुएँ निर्मित करते हैं। पन्नालाल पटेल अभी भी जब गाँव का वर्णन करते हैं तो वह बहुत उत्तम होता है।

उनके बाद के आए हुए लेखकों में जयन्ती दलाल में पैनी गहरी दृष्टि और तीखा व्यंग्य है। वे अभी भी आशय और अभिव्यक्ति के क्षेत्र में साहसिक प्रयोग करते हैं। विनोदिनी नीलकंठ के व्यक्ति-चित्र अनुपम होते हैं, ईश्वर पेटलीकर की सादगी हृदयस्पर्शी है और इस दल के सबसे अधिक लिखने वाले चुनीलाल मडिया में शब्द-चित्र का कमाल है, किसनसिंह चावड़ा में सौन्दर्य के प्रति अदम्य आकर्षण है: ये नाम इस क्षेत्र में विशेष रूप से लिये जा सकते हैं।

उदीयमान लेखकों में केतन मुंशी का नाम अवश्य लिया जाना चाहिए, जिनकी १९५६ में अकाल मृत्यु हो गई। इसके अतिरिक्त और जो तीन नाम उल्लेखनीय हैं, वे हैं: वेणीभाई पुरोहित, रमणलाल पाठक और शिवकुमार जोशी के।

छोटी कहानी की टेकनीक का अनुकरण करते हुए गुजराती में पिछले कुछ वर्षों में सत्यकथा भी प्रचलित हो गई। यह यथार्थ जीवन की नाटकीयता को बड़े कलात्मक रूप से व्यक्त करती है। इस तरह की सत्यकथाएँ झवेरचन्द मेघाणी, किसनसिंह चावड़ा, गुलाबदास ब्रोकर और जी० वी० मावलंकर आदि लेखकों ने लिखी हैं। यह सिर्फ सनसनी पैदा करने के लिए नहीं अपितु मनुष्य के स्वभाव के कल्याणकारी और उच्चतर पक्ष को व्यक्त करने के लिए लिखी गई हैं।

गुजरात के सर्वसाधारण लेखकों को जो विषय सबसे अधिक प्रिय है, वह है—सामाजिक बुराइयां। ग़रीबी, अशिक्षा, असूया और यौन आचार आदि कुछ

1. १९७० में इनका देहान्त हो गया।

ऐसे विषय हैं कि नवीन लेखकों को बहुत प्रिय हैं। कभी-कभी यह भी होता है कि कोई यात्रा, साहस, शिकार या सर्वसाधारण दैनिक जीवन से भिन्न विषयों की कहानी भी पढ़ने को मिल जाती है। पर ऐसी कहानियाँ बहुत ही थोड़ी हैं। १९४२ का आन्दोलन, बंगाल का मनुष्य-निर्मित अकाल, स्वतन्त्रता, देश का विभाजन और शरणार्थियों की भयानक ट्रेजेडी, पहली पंचवर्षीय योजना, समूचे राष्ट्र का पुनर्निर्माण, पुनर्जीवन के लिए साहसपूर्ण प्रयत्न, घर की बड़ी-बड़ी घटनाएँ, विदेश में दूसरा महायुद्ध और उसके परिणाम इत्यादि घटनाओं का गुजराती के प्रतिभाशाली लेखकों की कल्पना पर कोई महान प्रभाव अभी पड़ना शेष है। सम्भव है कि ये घटनाएँ किसी सुप्त प्रतिभा को झकझोर दें।

भारत के सबसे अधिक व्यवसाय-साहसिक लोगों में गुजराती हैं। बहुत प्राचीनकाल से वे दूर-दूर तक दुनिया के कोने-कोने में फैले हुए हैं, बस्ती के लिए खतरनाक जगहों में गहरे जाकर बसने वालों में पहले लोग ये हैं। मुख्यतः व्यापारी होने के कारण—और उनके व्यापार को कोई साम्राज्यवादी संरक्षण नहीं मिला—मानवीय सम्बन्धों के वे अच्छे जानकार हैं और कैसी भी परिस्थिति हो, अपने-आपको उसमें बड़ी खूबी से निभा लेते हैं। उनमें घुल-मिल जाने की बड़ी शक्ति है। फिर भी उनमें से बहुत थोड़े लोगों ने गुजरात के बाहर के व्यक्तियों के बारे में बहुत कम कहानियाँ लिखी हैं। मैं यहाँ इस बहस में नहीं पड़ना चाहता कि यह अच्छा है या बुरा, और न मैं यह कहता हूँ कि यह गुजरात का ही विशेष स्वभाव है। मैं तो केवल यह नोट करना चाहता हूँ कि आज की स्थिति जो है, वह ऐसी है। इसपर कोई टिप्पणी मैं नहीं देना चाहता।

नाटक

उपन्यास और कहानी की तरह आधुनिक नाटक का उद्भव और विकास भी ब्रिटिश प्रभाव के कारण हुआ। गुजराती नाटक आरम्भ से ही अंग्रेज़ी और संस्कृत-नाटकों के विशेष गुणों का मिश्रण थे। संस्कृत-नाटकों से कहीं अधिक अंग्रेज़ी नाटक का, विशेषतया शेक्सपीयर का प्रभाव गुजराती नाटकों पर दिखाई देता है

आरम्भ में कुछ वर्षों तक प्रमुख साहित्यिक रंगमंच के लिए नाटक लिखते थे। बाद में बहुत अर्से तक साहित्यिक नाटक और अभिनय योग्य नाटक के बीच

में पूरा विच्छेद पैदा हो गया। महत्त्वपूर्ण विख्यात साहित्यिकों का रंगमंच की ओर ध्यान नहीं था; और रंगमंच के लिए लिखने वाले पेशेवर नाटककारों को साहित्य से प्रेम नहीं था। प्रख्यात पेशेवर कलाकारों द्वारा २५ वर्षों के बीच में कठिनाई से एक-दो ही साहित्यिक नाटक मंच पर खेले गए। परन्तु यह दोनों पक्षों के झुकने और मिलने का सवाल था। साहित्य और रंगमंच दोनों ही एक-दूसरे से बिलकुल कटे हुए दो ध्रुवों की तरह बने रहे।

समय बहुत जल्दी बदलता गया और सिनेमा तथा अन्य मनोरंजन के साधनों का आक्रमण होने के बाद पेशेवर रंगमंच अपनी जान बचाने के लिए इन बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार बदलता गया। समकालीन विषयों पर नाटक लिखे गए। स्त्रियों से स्त्री-पात्रों का अभिनय कराया गया। नृत्य और संगीत के रूप में नये-नये प्रयोग मंच पर लाए गए। कुछ पेशेवर नाटक-कम्पनियों ने एक लम्बे नाटक के बजाय दो-तीन एकांकी एकसाथ खेलने शुरू किए, मगर यह प्रयोग दर्शकों को विशेष नहीं रुचा, इसलिए अब वे उसी पुराने रास्ते पर चलने लगे।

१९१४ के बाद का काल-खण्ड ऐसा था कि जिसमें अव्यावसायिक मंच का विकास हुआ। अन्य लेखकों के साथ-साथ चन्द्रवदन मेहता और क० मा० मुन्शी ने इस आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने में बड़ा योग दिया। पढ़े-लिखे लोगों में नाटकों के प्रति दिलचस्पी पैदा करने में इन्हें सफलता मिली। मगर अव्यावसायिक मंच को लोकप्रिय बनाने के प्रयत्न में ये अग्रदूत सामान्य लोकप्रियता के स्तर से ऊँचे नहीं उठ सके। उन्होंने जो बहुत-से नाटक खेले वे सस्ते, अतिनाटकीय ढंग के या भड़कीले असंगत प्रहसन के रूप में थे। ऐसा कई वर्षों तक चलता रहा।

इसी बीच में अव्यावसायिक रंगमंच का आन्दोलन ज़ोर पकड़ता गया। अहमदाबाद, सूरत, बड़ौदा और राजकोट में बड़ी हलचल हुई। नाटक और रंग-मंच में गम्भीर दिलचस्पी लेनेवाले लोगों के दल जुटते गए। अनुवाद और अंग्रेज़ी तथा बंगाली नाटकों के रूपान्तर भी लोकप्रिय हुए तथा इस प्रकार से अव्यावसायिक रंगमंच विकसित होता रहा।

पिछले कई वर्षों में गुजरात में अव्यावसायिक रंगमंच ने जो प्रगति की, वह बहुत ही आश्चर्यजनक है। जहाँ तक अभिनय की प्रतिभा का सम्बन्ध है, उसका स्तर बहुत ऊँचा है। दिग्दर्शन का स्तर भी काफी ऊँचा हो रहा है। दर्शकों की अभिरुचि भी अधिक विवेकपूर्ण और औचित्य-भरी होती जा रही है। इस

अव्यावसायिक रंगमंच के समय की सबसे बड़ी बाधा है, अच्छे नाटकों का अभाव। स्कूल और कालेज की संस्थाएँ अधिकतर प्रहसन और बहुत साधारण कोटि के नाटक पसन्द करती हैं। अन्य संस्थाएँ दूसरी भाषाओं से अनुवाद और रूपान्तर पर अधिक निर्भर रहती हैं। मूलतः गुजराती में लिखे हुए उच्चकोटि के नाटकों का प्रायः अभाव है और जो अनुवाद तथा रूपान्तर भी होते हैं वे साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं के नहीं होते। गुजरात में अव्यावसायिक रंगमंच की प्रतिभा और साधन-सम्पन्नता देखते हुए उन्हें अधिक अच्छे नाटक मिलने चाहिए।

साहित्यिक नाटकों में अब लम्बे नाटक का लिखना प्रायः समाप्त हो गया है। १९१४ में प्रकाशित 'राईनी पर्वत' (राई का पर्वत) नामक नाटक के बाद सचमुच ऊँचे साहित्यिक गुणों का एक भी नाटक गुजरात ने पैदा नहीं किया। गीति-नाट्य, जिसे कि नानालाल ने शुरू किया, गुजरात की ज़मीन में नहीं पनप सका। पद्य में भी नाटक लिखने के कुछ अच्छे प्रयत्न अवश्य हुए; लेकिन गुजरात में नाट्य-साहित्य का सबसे समृद्ध अंश है—एकांकी। बटुभाई उमरवाडिया, यशवंत पण्ड्या और प्राणजीवन पाठक ने सबसे पहले गुजराती साहित्य में जब एकांकी लिखना शुरू किया, तब से अब तक इस विशिष्ट विधा ने बड़ी मात्रा में सफलता प्राप्त की है। रूप-शिल्प और विषय-वस्तु में एकांकी अब बहुत समृद्ध विविधता प्रेषित करता है। उमाशंकर जोशी ने 'सापना भारा' नामक एकांकी में समूचे गुजराती गाँव को उसकी छाया और प्रकाश के साथ व्यक्त किया है और नारी के जीवन की शोकान्तिका दिखलाई है। आज की सभ्यता, ढोंगीपन और कुरूपता को उन्होंने अपनी 'शहीद अने बीजाँ नाटक' (शहीद और अन्य नाटक) पुस्तक में व्यक्त किया है। गुलाबदास ब्रोकर ने मनोविश्लेषणात्मक ढंग से मानव-मन की रहस्यात्मकता को खोलकर दिखाया है। जयन्ती दलाल ने विशिष्ट व्यंग्य-मयी शैली में समकालीन सामाजिक, राजनैतिक खोखलेपन को व्यक्त किया है। चुनीलाल मडिया ने भाषा पर सशक्त अधिकार करने के साथ-साथ कभी पाठकों को रोमांस के क्षेत्र में और कभी नग्न यथार्थवाद के क्षेत्र में ले जाने का काम किया है। इस प्रकार से गुजराती के एकांकी नाटकों में हास्य और करुणा के सभी रूप पूरी तरह अभिव्यक्त हुए हैं।

आत्मकथा और जीवनी

स्वतंत्रता के बाद के गुजराती साहित्य में आत्मकथा का रूप बहुत विकसित हुआ। इस भाषा के सभी ज्येष्ठ लेखकों—जैसे मुंशी, रमणलाल देसाई, धूमकेतु, धनसुखलाल मेहता—ने आत्मकथाएँ लिखी हैं। चन्द्रवदन मेहता और चांपशी उदेशी ने भी अपने बारे में बहुत विस्तार से बतलाया है। यह सब आत्मकथाएँ बड़ी मनोरंजक हैं। उनमें से कुछ उनकी विषय-वस्तु के कारण और कुछ उनकी अभिव्यंजना-पद्धति के कारण विशिष्ट हैं। परन्तु तीन बहुत ही अच्छी आत्मकथाएँ हैं। नानाभाई के 'घड्तर अने चणतर' मर्मस्पर्शिता, सादगी, स्पष्टवादिता और प्रामाणिकता से भरा उत्तम ग्रंथ है। इन्दुलाल याज्ञिक की आत्मकथाएँ यद्यपि साहित्यिक शैली का आदर्श नहीं हैं, फिर भी १८९२ से १९२१ तक के गुजरात का सूक्ष्म चित्र उपस्थित करती हैं। इन्दुलाल स्वयं इस काल की सभी हलचलों से सम्पृक्त थे, इस कारण ऐसी पुस्तक लिखने का उन्हें समुचित अधिकार है। उनके कुछ व्यक्तिगत संस्मरण, विशेषतया अपनी पत्नी के विषय में, उनकी श्रेष्ठ आत्मविश्लेषण शैली के उत्तम उदाहरण हैं। इसकी तुलना गांधीजी के 'सत्य के प्रयोग' के कुछ स्थलों से की जा सकती है। पर इन तीनों में सर्वश्रेष्ठ है प्रभुदास गांधी की 'जीवननुं परोढ'। यह भी केवल विस्तार से लेखक के जन्म और विकास की कहानी है, परन्तु यह पाठक को फ़िनिक्स आश्रम के उन दिनों में ले जाती है, जब गांधीजी ने सत्य और अहिंसा के प्रयोग शुरू किये थे, जिनके कारण वे इतने महान् बने। यह पुस्तक एक और दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें बच्चे के मन का विकास और उसमें जो विकृतियाँ प्रवेश करती हैं उनका भी सूक्ष्म चित्रण हुआ है। लेखक ने अपने बारे में जो कुछ भी लिखा है वह बहुत ही विनम्रता से लिखा है। प्रकृति के सशक्त और चित्रोपम वर्णन तथा मनुष्य-स्वभाव का बहुत गहरा अध्ययन इस पुस्तक में दिखाई देता है। यह इतनी अच्छी तरह लिखी गई है कि इसे किसी प्रतिभाशाली लेखक की श्रेष्ठ कृति के समकक्ष रखा जा सकता है।

जीवनी-साहित्य भी अब गुजराती में विकसित होने लगा है। गांधी जी की जीवनी पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी गई हैं। नरहरि परीख की 'सरदार वल्लभभाई', कान्तीलाल शाह की 'ठक्कर बापा' और बबलभाई मेहता की 'रविशंकर महा-

राज' आदि पुस्तकें विशेष उल्लेखनीय हैं।

समकालीन साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग डायरियाँ भी हैं। नरसिंहराव दिवेटिया की डायरी उस जीवन की कुछ झलक हमें देती है जो कि एक दृष्टि से घटनाहीन होते हुए भी दूसरी दृष्टि से निर्मम नियति के आघातों की निरन्तरता के विरुद्ध वीरतापूर्ण प्रतिकार व्यक्त करता था। मनुबेग गांधी ने अपनी डायरी लिखी है, जो कि आगा खाँ महल और नोआखाली में गांधीजी के प्रतिदिन के कार्यक्रम का लेखा देती है। डायरी-विषयक इन सब पुस्तकों में 'महादेव भाईनी डायरी'[1] गुजराती में सबसे प्रसिद्ध है। यह पाँच खण्डों में है और एक भव्य पुस्तक है, क्योंकि इसमें एक साथ तीन व्यक्तित्वों का सजीव चित्रण है। गांधीजी का साक्षात्कारी व्यक्तित्व, सरदार पटेल का निष्ठापूर्ण बेपरवाह और हँसोड़ व्यक्तित्व तथा स्वयं लेखक का मिष्टभाषी, विनम्र और अत्यन्त सुसंस्कृत व्यक्तित्व।

निबन्ध और पत्रकारिता

गुजरात के रचनात्मक साहित्य में आत्म-निबन्ध सबसे कमज़ोर अंग है। काका कालेलकर[2] और अन्य कुछ लेखकों के बाद यह साहित्य-रूप प्रायः उपेक्षित रहा है। वर्तमान पीढ़ी ने एक भी ऐसा लेखक निर्मित नहीं किया, जिसने कि उच्च कोटि के व्यक्तिगत निबन्ध लिखे हों।

हास्यरसात्मक निबंधों के बारे में यह बात सच नहीं है। यह सच है कि गुजरात में हास्य रस के बहुत अधिक लेखक नहीं हैं, पर जो भी थोड़े-बहुत हैं, उनमें काफ़ी ऊँची प्रतिभा है। पुराने लेखकों में ज्योतीन्द्र दवे का नाम लिया जा सकता है और अपेक्षया नवीन लेखकों में बकुल त्रिपाठी और नवनीत सेवक विशेष उल्लेखनीय हैं। इधर ज्योतीन्द्र दवे अपने को दोहरा रहे हैं और बिखर रहे हैं; फिर भी वे निश्चित रूप से गुजराती में अब तक के हास्य रस लेखकों में श्रेष्ठ हैं। वे सौम्य, सहिष्णु, बहुमुखी प्रतिभा वाले और किसी प्रकार का दुराग्रह न रखने वाले लेखक हैं। हास्य, व्यंग्य और विच्छित्ति (विट) के लिए उनकी विशेष पैनी दृष्टि है। वे

---

१. स्वतंत्रता के पश्चात् गुजराती साहित्य में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ के नाते १९५३ में साहित्य अकादेमी ने इसे पुरस्कृत किया।

२. 'जीवन व्यवस्था' शीर्षक निबन्ध पुस्तक पर इन्हें १९६५ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

सबसे निचले से सबसे ऊँचे ढंग के हास्य के स्तर पर लिख सकते हैं। बकुल त्रिपाठी के हास्य में ताज़गी और किसी वस्तु या स्थिति को गलत दृष्टिकोण से देखने से पैदा होने वाली विचित्रता है। नवनीत की 'सप्ततंत्रनी वातो' नामक पुस्तक एक उत्तम व्यंग्य रचना है, जो कि समकालीन समाज-स्थिति पर एक अर्ध-गम्भीर व्यंग्य है।

गुजराती में पत्रकारिता भी साहित्य को अप्रत्यक्ष रूप से बड़ी मूल्यवान सहायता दे रही है। प्रायः उत्तरदायी दैनिक और साप्ताहिक बड़े अर्से से साहित्यिक वाद-विवाद और साहित्य-समालोचना के लिए नियमित पृष्ठ देते रहे हैं। इन नियमित प्रकाशनों से पाठकों में साहित्य के प्रति उत्साह जागा है। मासिक पत्रिकाओं और त्रैमासिकों ने भी बड़ी सेवा की है। उनकी अपनी-अपनी स्वतंत्र नीतियाँ हैं। आज की पत्रिकाओं में 'संस्कृति' सबसे अधिक सांस्कृतिक और साहित्यिक पत्रिका है। 'कुमार' केवल मासिक पत्रिका ही नहीं, एक शैक्षणिक संस्था भी है। गत ३० वर्षों से पाठकों की एक पीढ़ी के मन और चरित्र को उसने आकार दिया है। 'अखण्ड आनन्द' का भी उल्लेख उचित रूप से किया जा सकता है, क्योंकि दस वर्ष पूर्व उसका जो प्रसार था, उसकी अपेक्षा अब उसके पाठकों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई है। साथ ही एक दैनिक 'जन्म-भूमि' का भी उल्लेख करना चाहिए, जिसमें कि विवेकपूर्ण और गंभीर नीति के कारण गुजरात की आज की राजनैतिक चेतना और समझदारी विकसित हुई है।

प्रमुख गुजराती पत्रिकाओं का एक विशेष अंग है, व्यंग्य-कविता। १९४२ के 'भारत छोड़ो' से यह विधा शुरू हुई। जब पत्र-पत्रिकाओं और व्याख्यानों पर कई तरह के प्रतिबन्ध थे तब सरकार की नीतियों की आलोचना असम्भव थी। ऐसे समय में हास्य और व्यंग्य के सहारे उस नीति का हास्यास्पद रूप अच्छी तरह व्यक्त किया जाता था। करसनदास माणेक ने गुजरात में यह प्रयोग पहली बार किया और मध्ययुग के आख्यान नामक पद्य-प्रकार को वे इस काम में लाये। यह कुछ हास्यपूर्ण और कुछ वीरतापूर्ण कविता होती है, जिसमें खूब व्यंग्य और परिहास भरा रहता है। 'वैशम्पायननी वाणी' में बड़ी सफलतापूर्वक और सच्ची पत्रकारिता के ढंग से उन्होंने ब्रिटिश सरकार और उसके उस समय के समर्थकों के ढोंगों, विसंगतियों और क्षुद्रताओं का पर्दाफाश किया। इस काल में माणेक के कई अनुयायी हो गए हैं। आज भी 'जन्मभूमि', 'गुजरात समाचार', 'सन्देश' और

'लोकसत्ता' इत्यादि दैनिक पत्रों के स्तम्भों में ऐसी रचनाएँ नियमित रूप से प्रकाशित होती रहती हैं।

पारसी लेखक

गुजराती लेखकों के अतिरिक्त साहित्यिक क्षेत्र में पारसियों ने भी अपना विशेष योगदान दिया है। कुछ पारसियों ने साहित्यिक गुजराती कविता और कहानियाँ लिखीं तथा उन्हें उन गुणों के कारण गुजराती लेखक माना गया। दूसरे लेखकों ने अलग रहना पसन्द किया। उन्होंने भाषा की शुद्धता या उसके बामुहावरा होने की ओर इतना ध्यान नहीं दिया। उनके अपने विशेष पाठक हैं। फिर भी उनकी भाषा गुजराती ही है और गुजराती में ही वे कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, कविताएँ, निबन्ध और सम्पादकीय लेख लिखते हैं, जिसके कारण वे पाठकों के प्रेम और प्रशंसा के पात्र हुए हैं।

लेखिकाएँ

समकालीन गुजराती साहित्य को जिन स्त्रियों ने भी रुचिकर योगदान दिया है उनमें से विनोदिनी नीलकंठ का उल्लेख पहले हो चुका है। उनके अतिरिक्त लाभुबेन मेहता, कुन्दनिका कापड़िया, धीरूबेन पटेल और गीता परीख (कुमारी कापड़िया) आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

अनुवाद

समकालीन गुजराती साहित्य का बहुत बड़ा भाग अनुवाद और रूपान्तर है। विदेशी लेखकों में शेक्सपीयर, इब्सन, टॉल्स्टॉय, विक्टर ह्यूगो, मोपासाँ, चेख़व, गोर्की, इमर्सन, प्लेटो, शॉ और भारतीय लेखकों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिमचन्द्र, शरत् चटर्जी, प्रेमचन्द, खाँडेकर, साने गुरुजी, आत्रे तथा कई अन्य लेखक अनुवादों द्वारा गुजराती पाठकों को परिचित कराये गए हैं।

टॉल्स्टॉय के सब महत्त्वपूर्ण ग्रंथ गुजराती में अनूदित हुए हैं, कई वर्ष पूर्व विश्वनाथ भट्ट ने इनका अनुवाद किया था। इधर जयन्तीदयाल ने 'युद्ध और शान्ति' का बहुत बड़ा अनुवाद प्रतुत किया है। टॉल्स्टॉय को छोड़कर और कोई दूसरा विश्व-प्रसिद्ध लेखक पूरी तरह और अच्छी तरह गुजराती में अनूदित नहीं हुआ।

होमर, वर्जिल, दान्ते, मिल्टन, गेटे और यूनान के क्लासिकल नाटकों का अनुवाद होना अभी भी बाक़ी है।

मुख्यतः उपन्यास और कहानियाँ ही दूसरे साहित्यों से अब तक अनूदित होती रही हैं। इसका अर्थ यह है कि व्यावसायिकता ही इन अनुवादों के पीछे प्रेरणा रही है, विशुद्ध साहित्य-प्रेम नहीं।

ज्ञान-विज्ञान का साहित्य

प्रतिभायुक्त रचनात्मक साहित्य से हम अपना ध्यान जब ज्ञान-विज्ञान के साहित्य की ओर मोड़ते हैं तो गुजरात में कुछ महत्त्वपूर्ण आन्दोलन दिखाई देते हैं। गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद; महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा; चुनीलाल गांधी रिसर्च इंस्टीच्यूट, सूरत; भारतीय विद्या भवन, तथा फ़ार्बस गुजराती सभा, बम्बई आदि संस्थाओं ने प्राचीन पुस्तकों के अधिकृत पाठ प्रकाशित किए हैं। गुजराती भाषा-शास्त्र और इतिहास के अध्ययन में इन ग्रन्थों से बड़ी उपयोगी सहायता मिली है। सुन्दरम्[१] की 'अर्वाचीन कविता', जो कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थी और रामनारायण पाठक का 'बृहत् पिंगल'[२] ऐसे ग्रंथ हैं, जिनके पीछे बड़ा परिश्रम, गहरा अध्ययन, परिपक्व दृष्टि और स्वतन्त्र विचार दिखाई देते हैं। ये ग्रंथ किसी भी भाषा के साहित्य के लिए गौरवपूर्ण कहे जाएँगे।

साहित्यालोचन के क्षेत्र में विष्णुप्रसाद त्रिवेदी, दोलाराय मनकाड,[३] जे० ई० संजाना, विश्वनाथ भट्ट, विजयराय वैद्य और अनन्तराय रावल; दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में स्वर्गीय किशोरीलाल मशरूवाला के कार्य के अतिरिक्त पंडित सुखलालजी,[४] ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र में स्वर्गीय दुर्गाशंकर शास्त्री के

१. 'अवलोकन' शीर्षक साहित्यालोचन पुस्तक पर १९६८ में साहित्य अकादेमी पुरस्कार।

२. साहित्य अकादेमी ने १९५६ में गुजराती में १९५३-५५ के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक ग्रंथ के नाते इसे पुरस्कार दिया।

३. इन्हें अपनी 'नैवेद्य' शीर्षक निबन्धात्मक पुस्तक पर १९६४ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

४. इनकी पुस्तक 'दर्शन आनी चिन्तन' (दर्शन), १९५८ में साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत हुई।

कार्य के अतिरिक्त मुनि जिनविजय और हरप्रसाद शास्त्री; और भाषाविज्ञान एवं भाषातत्त्व के क्षेत्र में भोगीलाल सांडेसरा, बेचरदास पंडित, हरिवल्लभ भायाणी और प्रबोध पंडित महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। परन्तु अधिकतर यह काम विद्वत्तापूर्ण पत्रिकाओं में प्रकाशित फुटकर लेखों के रूप में ही है। आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष पर किसी सुयोग्य विद्वान ने एक भी पुस्तक नहीं लिखी कि जिसमें इस विषय का पूरा विवेचन हो। संस्कृत या अंग्रेज़ी व्याकरणों पर आधारित न होकर इस भाषा के प्रयोगों के अध्ययन पर आधारित स्वतन्त्र सर्वव्यापी व्याकरण भी अभी तक गुजराती में नहीं लिखा गया। नरसिंहराव दिवेटिया के दो भागों में प्रकाशित 'गुजराती भाषा और साहित्य' पुस्तक के पहले अब तक ऐसी एक भी पुस्तक नहीं लिखी गई, जिसमें इस विषय की आधुनिकतम और पूरी वैज्ञानिक छानबीन का सार हो। दिवेटिया की पुस्तक कई वर्ष पूर्व लिखी गई थी और अब इस क्षेत्र में बहुत-सी नई शोधें हुई हैं, इसलिए पुस्तक का पुनर्लेखन आवश्यक है। गुजराती साहित्य का एक अधिकृत विवरण या इतिहास, जैसा कि अंग्रेज़ी में सेंट्सबरी या लेगुई और केज़ेमिया का है, लिखा जाना चाहिए।

वस्तुत: स्वतन्त्रता के बाद के युग में ही साहित्य के विकास और निर्माण के लिए समुचित वातावरण पैदा हुआ है। केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारें उत्तम साहित्यिक गुणों की पहचान के चिह्न-स्वरूप इनाम या पुरस्कार देने लगी हैं। प्रादेशिक विश्वविद्यालय भी स्थापित हुए हैं, जिनमें भाषा और साहित्य का व्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन बढ़ने लगा है। विविध भाषा के क्षेत्रों में—राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय—सम्पर्क बढ़ते जा रहे हैं, गुजरात के साहित्यिक वातावरण पर उसका प्रभाव दिखाई दे रहा है। आज का औसत गुजराती लेखक केवल गुजराती और गुजराती साहित्य की भाषा में अब नहीं सोचता, उसके सामने अब नये और व्यापक क्षितिज खुलते जा रहे हैं।

कदाचित् दुनिया के अन्य देशों में भी लेखकों की यह कठिनाई हो, कम से कम आज के गुजराती लेखक की तो यह एक विशेष कठिनाई है। कवि के शब्दों में कहें तो वह मानो "दो दुनिया के बीच में भटक रहा है, जिसमें से एक मृत है, और दूसरी जन्म लेने के लिए अक्षम।" लेखक का 'आगामी कल' में विश्वास आणविक और हाईड्रोजन बमों ने चूर-चूर कर दिया है और इस प्रकार के

जीवन के अन्तिम आदर्शों के प्रति उसमें अनास्था है, इसलिए उसके सामने जो कार्य है, वह बहुत कठिन है। सबसे पहले तो उन अन्तिम मूल्यों में श्रद्धा जगाकर उसे अपने-आपको पुनर्जीवित करना है, और बाद में पूरी ताक़त तथा सहजता से उनके बारे में गाना है, जिससे कि उस वर्ग की गूँज उन हृदयों में भी अचूक ढंग से पैदा हो जो कि अभी पूरे मर नहीं चुके हैं।

संदर्भ-ग्रन्थ

माइलस्टोन्स इन गुजराती लिट्रेचर—के० एम० झवेरी
फर्दर माइलस्टोन्स इन गुजराती लिट्रेचर—के० एम० झवेरी
प्रेज़ेण्ट स्टेट ऑफ़ गुजराती लिट्रेचर—के० एम० झवेरी
गुजरात ऐंड इट्स लिट्रेचर—के० एम० मुंशी
लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया—जी० ए० ग्रियर्सन, खंड ९, भाग २, पृष्ठ ३२३–४७७

तमिल

ति० पी० मीनाक्षिसुन्दरम् पिल्लै

पार्श्वभूमि

दक्षिण भारत में वर्तमान मद्रास राज्य और श्रीलंका के उत्तरी तथा पूर्वी हिस्सों की प्रमुख भाषा तमिळ है। यह भाषा उन व्यक्तियों की भी है जो ऊपर के प्रदेशों से दक्षिण और पूर्वी अफ़्रीका, बर्मा, मलाया तथा सुदूर पूर्व में चले गए हैं। भाषाओं के द्राविड़-समूह में तमिळ सबसे पुरानी भाषा है और उस समूह की अन्य महत्त्वपूर्ण भाषाएँ हैं—तेलुगु, कन्नड और मलयालम। इसी परिवार की अन्य विभाषाओं या बोलियों में दक्षिण भारत में 'तूलू', 'कोडगु', 'टोडा' और 'कोटा', मध्य प्रदेश एवं उड़ीसा में 'गोंडी', औराँव, 'मालती', 'राजमहल', 'कुई' और 'कोरकु' तथा सुदूर बिलोचिस्तान में 'ब्राहूई' हैं। यदि कदाचित् फ़ादर हेरास का अनुमान सही हो, तो भाषाओं के द्राविड़-परिवार का सुदूर संबंध मोहनजोदारो-सभ्यता से माना जा सकता है।

विद्वानों का मत है कि तमिळ का सबसे पुराना ग्रंथ 'तोलकाप्पियन्' नामक व्याकरण का ग्रंथ है। परम्परा के अनुसार यह ग्रंथ अगस्त्य ऋषि के किसी शिष्य का लिखा हुआ है। इसमें तमिळ में उधार लिये हुए संस्कृत शब्दों का विचार है। संस्कृत-ग्रंथों से पता चलता है कि तमिळ संस्कृत-संबंध कम से कम चौथी शती ईस्वी पूर्व जितना प्राचीन रहा होगा। एक समय तमिळ प्रदेश में जैन और बौद्ध प्रभाव बहुत अधिक था। धर्म, व्यापार और उद्योग के कारण उत्तर और दक्षिण एक-दूसरे के परस्पर हितकारी संपर्क में आये होंगे। दो संस्कृतियों के परस्पर सहवास और परस्पर फलन का परिणाम दक्षिण में ब्राह्मी लिपि में लिखा गया—तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व का—तमिळ-प्राकृत-मिश्रित भाषा में गुफा-लेख है। इसपर सिंहली प्रभाव भी है।

जहाँ तक तमिळ साहित्य की प्राचीनता का संबंध है, संगम-साहित्य में यवनों

और रोमनों के उल्लेख तथा अरिकमेडु-उत्खननों से जो साक्ष्य प्राप्त हुए हैं उनसे यह जाना जा सकता है कि संगम-साहित्य की निर्मिति कभी ईस्वी सन् के आरंभ में हुई होगी। संगम-युग के विशाल साहित्य में भाव-गीतों के संग्रह, लंबी कविताएँ, प्रेम और कीर्ति से प्रेरित नाटकीय स्वगत-भाषण इत्यादि हैं। इनके अतिरिक्त 'शिलप्पदिकारम्' (मंजीर की कथा) और 'मणिमेखलै' (एक बौद्ध कृति) नामक दो और महाकाव्य थे। यह कदाचित् संगम-काल के अन्त में या अगले युग के आरंभ में लिखे गए। यह अगला युग नैतिक सूक्तियों का युग था। इसमें अन्य कई कृतियों के साथ-साथ अमर 'कुरळ' रचा गया। यह युग पल्लव-काल तक चला। हिन्दुओं का धार्मिक जागरण, जो कि संगम-युग के अन्त में आरंभ हुआ, जैन और बौद्ध-विजय की क्षणिक प्रतिक्रिया था। यह युग शैव नायनमार और वैष्णव आळवारों की रहस्यवादी गीतियों से उच्चतम सफल कृतियों तक पहुँचा। इनकी ईश्वर-भक्ति से प्रेमोन्मत्त कविताओं ने अपनी शाब्दिक व्यंजना से वही चमत्कार घटित किया जो कि दक्षिण के महान् हिन्दू-मंदिरों के स्थपतियों और शिलपकारों ने अपने स्वर्गोन्मुख 'गोपुरम्' से किया। नायनमारों (मुख्यतः माणिक्कवाचगर और अप्पर ने) और आळवारों ने (मुख्यतः नम्मालवार और आण्डाल) जनता को भक्ति-मार्ग का उपदेश दिया। इसके बाद साहित्यिक पुराणों के लेखक आये, जिनमें से बहुत-से चोल-साम्राज्य के समय प्रसिद्ध हुए। कम्बन की रामायण इस साहित्य-विधा की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि थी, और वह आज भी तमिळ के प्राचीन श्रेष्ठ ग्रंथों में सबसे अधिक प्रशंसित है। उसकी यह प्रशंसा उचित ही है।

इनके बाद दार्शनिक पद्धतियों का युग आया। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि शंकर और रामानुज, उस समय जो तमिळ-प्रदेश था, उसमें से आये, और वे तमिल जानते थे। वेदान्त, शैव-सिद्धान्त और श्रीवैष्णव मत को सूत्रबद्ध करके उन्हें सुसंगत दर्शनों का रूप दिया गया। निस्सन्देह इनमें से बहुत-सा साहित्य संस्कृत में था; परन्तु तमिळ में भी धीरे-धीरे बहुत-सा दार्शनिक साहित्य निर्मित हुआ। इस संदर्भ में अरुलानन्दि, मेइकंडार, उमापति, पिल्लै लोकाचार्य, वेदान्त देशिकर और मनवाळ महामुनि का विशेष उल्लेख करना चाहिए। जबकि प्राचीन कविता इस भाष्य और टीका के युग में जीवित शक्ति की भाँति प्रचलित थी, मणिप्रवाल शैली (रीतिबद्ध रचना के लिए संस्कृत-तमिळ-मिश्रित सचेष्ट रचना) दार्शनिक विवरण के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई। इसका एक उत्तम

उदाहरण वेदान्त देशिकर का 'रहस्य-त्रय-सार' है। आगे चलकर तमिळ-कविता उदात्त और असामान्य प्रासों का विशेष उपयोग करने लगी। ऐसा संस्कृत के प्रयोग के कारण हुआ। इस प्रकार संस्कृत और तमिळ की धाराएँ सहज गति से मिश्रित हो गईं। इन दो भाषाओं के विवाद में से संगीतमय कीर्तन का उदय हुआ। आधुनिक कर्नाटक-संगीत भी इन्हीं धाराओं का विकास है। बाद के संतों की कविता में, सार्वमत-संग्रह मिलता है। पोषिगार या छोटे सामन्त अश्लील कविता से आनन्द उठाते रहे। स्थलपुराण विशेष लोकप्रिय हुए। दलित कुरवा, पल्ला और अन्य पिछड़े हुए वर्गों के जीवन चित्रित करने वाले लोक-नाट्य में कविता, संगीत और अभिनय का अभूतर्व मिश्रण घटित हुआ।

आधुनिक काल

जब ईसाई मिशनरी आये, तो बच्चों और दलितों से बोलने की उत्सुकता के कारण, बोलचाल की तमिळ भाषा में उनका रस बढ़ा। कविता पुरानी पड़ रही थी और नीरस हो जाने से उसमें कोई लोकप्रियता, लय तथा आधुनिक मुहावरे पैदा नहीं हो सकते थे। उन्नीसवीं शताब्दी ने प्रगतिशील पश्चिम का स्वप्न सामने ला दिया और तमिळभाषियों ने अनुवाद और रूपान्तर किया। आधुनिक विचार वाले ग्रंथों की पश्चिम की नक़ल पर पत्र-पत्रिकाएँ तथा शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित की गईं और वही साहित्यिक धारा शुरू हो गई। शासन के क्षेत्र में जहाँ-जहाँ तमिळ थी, उस स्थान पर अंग्रेज़ी आ गई। बीसवीं शताब्दी से स्वतंत्रता का युग शुरू होता है और जनसाधारण का महत्त्व सूरत में हुए कांग्रेस के उस अधिवेशन से शुरू होता था, जिसमें सुब्रह्मण्य भारती गये थे।

आधुनिक तमिळ-साहित्य तमिलनाडु के आधुनिक जीवन से अपना रंग और स्वर लेता है। यह साहित्य समाज के आदर्शों को भी प्रेरित करता है। २०वीं सदी एशिया के जागरण की सदी है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता का आन्दोलन और पुनर्जीवन इसकी विशेष घटनाएँ हैं। आधुनिक तमिळ-साहित्य की सर्वोत्तम कृतियाँ राष्ट्रीय गीत हैं। तमिळ-साहित्य के मूल स्वर से मेल रखकर यह राष्ट्रीय गीत धार्मिक उत्साह से भरे हैं। एक ओर उनमें रहस्यवाद जैसी गहराई मिलती है तो दूसरी ओर विश्वव्यापकता की ऊँचाई। उनमें विशुद्ध प्रेम और दया भरी हुई है। कोई भी व्यक्तिगत ईर्ष्या या द्वेष उनमें नहीं है। इन गीतों में इतना

विस्तार है कि वे सुदूर क्षितिज को छूते हुए जान पड़ते हैं। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि उनमें कभी तिरस्कार या कड़वाहट ही नहीं थी। उनमें सदा साम्राज्यवादियों के प्रति घृणा व्यक्त की गई है। विद्रोही शक्ति पहले तो रक्त और प्रतिशोध के लिए चिल्लाने वाली तलवारों के धर्म की तरह शुरू हुई—शक्ति की वेदी पर वह बलि माँगती थी—यह शक्ति भारत माता थी। नरम-दलीय राजनीतिज्ञों और अंग्रेज़ों के जो अनेक व्यंग्य-चित्र लोकप्रिय धुनों में लिखे गए, उनसे लोकप्रिय लोक-गीतों की नाट्यात्मक स्थिति की याद हो आती है। राजा और प्रजा की सदियों की तंद्रा का उसमें वर्णन है। अच्छी कविताओं में ज़रा भी कड़वाहट नहीं है; सूक्ष्म परिहास के साथ व्यंग्य के नमूने भी उनमें मिलते हैं।

तमिळभाषी जनता के लिए प्रह्लाद और सन्त अप्पर का रास्ता हमेशा प्रिय रहा है। अप्पर दक्षिण भारत के पहले सत्याग्रही थे, जिन्होंने यह घोषणा की थी: "हम किसी के दास नहीं हैं; हम मृत्यु से नहीं डरते।" उस समय के जो पल्लव राजा थे, उनकी शक्ति और अत्याचार के विरुद्ध यह पुकार थी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि महात्मा गांधी शीघ्र ही तमिळभाषी प्रदेश के आदर्श पुरुष बन गए और उनके 'बिना तलवार या रक्त के युद्ध' में तमिळभाषियों ने एक महत्त्वपूर्ण भाग लिया। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के दिनों से ही महात्मा गांधी और उनके सत्याग्रह ने तमिळनाडु के हृदय को छू लिया था। गाँधी-युग की धारा के अधिकतर तमिळ गीत इसी भावना से प्रेरित हैं।

इस राष्ट्रीयता के कवि थे भारती। उनमें जन्म से धार्मिक रहस्यवाद की भावना भरी थी। वे महान और सर्वव्यापिनी परम शक्ति की सच्ची पूजा से भरे हुए देश-भक्ति के गीत गाते थे। उनकी कविता में बड़ा प्रवाह है। कहीं भी कोई बेसुरापन या असंतुलन नहीं दिखाई देता। एक ही कविता में भारतमाता का गुण-गान और परम सत्ता की पूजा तथा आनन्द मिले हुए हैं। वहाँ देश-भक्ति एक प्रकार का धार्मिक कर्त्तव्य बन जाती है और स्वतंत्रता का आन्दोलन चिरंतन का नृत्य है। शक्ति के दैवी नाटक में इस नृत्य को निश्चित सफलता और परिपूर्ति मिलने वाली है। कवि जनता के जिस वर्ग के साथ गाता और नाचता है—वह ऐसा है जो अभी तक दलित और पीड़ित था—वह सबकी स्वतंत्रता का गीत गाता है। सारे दुःखों से भरी स्वतंत्रता का यह गीत भविष्य-वाणी की

तरह लगता है। यद्यपि यह गीत देश में स्वतंत्रता के आगमन से लगभग २५ वर्ष पहले लिखे गए थे।

तमिळभाषियों के लिए मातृभूमि के दो रूप हैं। भारतमाता का व्यापक दृष्टिकोण और तमिळनाडु की निकटात्मकता। कदाचित् वे दूसरे पक्ष पर अधिक बल देते हैं, जो विशेषत: भाषावार प्रदेशों के वर्तमान दशक की इधर की धारा है। तमिळ देश अपने सर्वोत्तम राष्ट्रीय गीतों में किसी भौगोलिक इकाई का नाम न होकर एक विशेष सांस्कृतिक परम्परा का पर्यायवाची है, यद्यपि वर्तमान युग में भौगोलिक बातें भी भुलाई नहीं जा सकतीं।

तमिळ भाषा का दैवीकरण अधिक किया जाता है और तमिळ देश का कम। यह देश की प्राचीन परम्परा के अनुसार ही है। तमिळभाषी साधारणत: अपनी भाषा को एक अवतार मानता है। वह शिव, विष्णु और शक्ति का सम्मिलित रूप है। प्रत्येक प्राणी के भीतर देश-प्रेम की भावना होती ही है। परन्तु तमिळ-भाषियों के हृदय में इतिहास और परम्परा की शक्तियों के कारण यह एक धार्मिक उत्साह की तरह बैठ गई है। कभी-कभी तो यह कट्टरपन की सीमा पर भी पहुंच जाती है। उन्हें अपनी युगों की भाषिक स्वतन्त्रता पर हस्तक्षेप का सन्देह ज़रा भी सहन नहीं होता। तमिळभाषियों के लिए अपनी भाषा में गाने की, अपनी भाषा में शिक्षा पाने की, अपनी भाषा में न्यायालयों में तर्क करने की, विधान-सभाओं में बोलने की, अपना राज्य चलाने की स्वतन्त्रता—यानि तमिळ का तूर्य सब जगह बजाने की स्वतन्त्रता, जैसा कि कवि ने कहा है, उस स्वतन्त्रता नामक मधुर शब्द का प्रधान प्रेरणादायक अर्थ है। उसका विश्वास है कि यह संकीर्ण प्रादेशिक भावना न होकर सजीव विश्वात्मक भावना है, जिसके कारण वह अपनी भाषा के लिए यह स्वतन्त्रता चाहता है। इस पार्श्वभूमि को देखे बिना तमिळ की प्रशंसा में इधर जो बहुत-सी कविता लिखी गई है, उसका पूरा अर्थ समझ में नहीं आ सकता और उस अर्थ के महत्त्व का मूल्यांकन नहीं हो सकता। यद्यपि कभी-कभी दुर्भाग्यवश कहीं-कहीं सैनिक साम्राज्यवादी स्वर (जो अंग्रेज़ी में 'जिंगोइज़्म' कहलाता है) मिलता है।

आधुनिक धारा आदर्श को रूपायित करने की है। उसका प्रधान लक्ष्य जनता है। 'सीधा खड़ा तमिळ दीर्घजीवी हो, अच्छे तमिलभाषी दीर्घ आयु वाले हों,' कवि गाता है। ऐसा समाज, जो सुखी हो, दरिद्रता, अज्ञान और रोगों से मुक्त

हो, यही आदर्श है। एक प्रसिद्ध गीत की टेक है : 'ऐसा समाज दीर्घजीवी हो,' कवि चिल्लाता है—"यदि एक भी व्यक्ति के लिए अन्न नहीं है तो ऐसी दुनिया को हम नष्ट कर दें।" अब भाग्यवाद की पुरानी बात नहीं की जाती। लोक-कल्याण-राज्य के निर्माण में यह आत्म-विश्वास इतना पुराना है, जितना कि तिरुवल्लुवर नामक सन्त कवि था। अब यह कोरा शेखचिल्ली का सपना नहीं है, या तमिळ पुराणों में सुन्दरता से वर्णित स्वर्ग का चित्रण भी नहीं है। यह एक ऐसी वस्तु है, जिसे हमारी राजनैतिक व्यवस्था और सामाजिक सुधार उपलब्ध करना चाहते हैं। इनमें से साधारण जनता का युग जन्म ले रहा है, राजाओं का ज़माना बीत गया। यह सच्चा जनतन्त्र है, यह सच्ची स्वतन्त्रता और समानता है, यहाँ समानता का स्वरूप बन्धुता है। अब केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता की आकांक्षा नहीं की जाती, बल्कि सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता पर भी उतना ही बल दिया जाता है। अब सब जातियों तथा धर्मों के स्त्री-पुरुषों के बीच स्वतंत्रता और समानता का आग्रह बढ़ा है। कविता ने एक स्वतन्त्र के निर्माण की जिम्मेदारी स्वीकार कर ली है, परन्तु कभी-कभी उसमें सिर्फ़ विषैला प्रचार, सस्ते भाषण और नारेबाज़ी ही दिखाई देते हैं। आत्म-सम्मान का महत्त्व बढ़ा है, परन्तु कभी-कभी इसमें औरों के लिए जुझारू असम्मान भी व्यक्त होता है। कदाचित् यह मनोदोष अनिवार्य माना जाय, क्योंकि सारी दुनिया एक नई व्यवस्था के निर्माण में लगी है।

जनतन्त्र और साहित्य

प्राथमिक शिक्षा का विकास, अख़बार पढ़ने की बढ़ती हुई आदत, सिनेमा की लोकप्रियता, रेडियो और सस्ती पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार, राजनैतिक प्रचार और वयस्क मताधिकार—इन सबका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा है। साहित्य अब थोड़े-से चुने हुए लोगों के लिए नहीं रहा; इसका प्रभाव सब तक फैलना चाहिए। इसका अर्थ है कि शुरू-शुरू में काव्य की संवेदना बहुत कुछ कम हो जाएगी, यह पनियल हो जायगा। बोलचाल की भाषा और साहित्य की भाषा के बीच की खाई पाटनी होगी। पुराने छन्द या तो नये रूप में ढालने होंगे या नष्ट हो जाएँगे। अब लोक-गीतों और नाटकों की धुनें अधिक प्रचलित होने लगी हैं। भारती ने यह सिद्ध कर दिया कि उसकी रहस्यवादी, राष्ट्रीयतावादी और महाकाव्यात्मक

कविता के लिए ये लोक-शैलियां उचित माध्यम हैं। साहित्य का जनतन्त्र इस प्रकार सुप्रतिष्ठित हो गया है।

तमिळनाडु के पुराने सन्त, सिद्ध और जोगी मानो इन परिवर्तनों के पूर्व द्रष्टा थे। भारती स्वयं रहस्यवादी थे और एक सच्चे रहस्यवादी की भाँति वे सर्वत्र ईश्वर को देखते थे। नवीन जनतन्त्र के अनुसार, ईश्वर को मनुष्य के अधिक घनिष्ठ सम्पर्क में आना होगा। ईश्वर अब मेरा दास है—यह बड़ा साहसपूर्ण कथन है। मेरा प्रियतम, मेरा पिता, मेरी माता, मेरा स्वामी है—कवि यों गाता है। आलवार संतों जैसा ही पुराना यह कथन है। परन्तु इसका सच्चा अर्थ जनतन्त्र के नये युग में व्यक्त होता है, जबकि प्रत्येक मनुष्य के भीतर हम ईश्वर को देखते हैं। जनतंत्र की इससे अधिक दैवी भावना हमें अन्यत्र न मिलेगी। आम जनता हमेशा से यह विश्वास करती आई है—शायद पुनर्जीवन के सिद्धान्त के कारण—कि पशु-पक्षी भी मनुष्य के सगे भाई-बहन हैं। इस तरह सभी प्राणियों के बीच सहकारी प्रयत्न को बल मिलता आ रहा है। इस दुनिया में, जहाँ कि ईश्वर और संत विविध रूपों में घूमते हैं, पशु-पक्षी और मनुष्य सबके प्रति आदर आवश्यक है। गो माता, शुक-कन्या, श्वान-भाई इत्यादि केवल आलंकारिक शब्द न रहकर सचाइयाँ हैं। सत फ्रांसिस के लिए यह बातें जैसे सच थीं, वैसे ही भारती के लिए भी सच हैं। उनके लिए मन्दिर की घंटी, भिखारी की आवाज और कुत्ते का भौंकना सब एक-से दैवी गीत हैं। उनके बच्चों के गीतों में यही भावना भरी है। भारती का कोयल-गीत एक बड़ा रहस्यवादी अध्यवसित रूपक है, जिसका पूरा अर्थ तब तक समझ में नहीं आएगा, जब तक कि उसकी पार्श्वभूमि से हम परिचित न हों, अन्यथा वह नीरस और वन्य जान पड़ेगा।

'कविता कविता के लिए' यह केवल अर्धसत्य है, क्योंकि कवि भी तो इसी आदर्श और उद्देश्य वाला व्यक्ति है। भारतीय सिद्धान्तों में तो मनुष्य के चरम साध्य चार पुरुषार्थ माने गए हैं, फिर भी काव्य के रस को कभी भुलाया नहीं गया। कविता कान्ता के मधुर उपदेश की तरह है, जो कि हमें अपने प्रियतम के चिरंतन मूल्यों की ओर प्रेरित करती है। इसलिए तमिळ-कविता की उच्च गम्भीरता कभी भी नष्ट नहीं हुई; बल्कि उन गुणों को धार्मिक उत्साह भी कहा जा सकता है। तमिळ-साहित्य आधुनिक युग में समाज के इस नवजागरण के उत्साह से अनुप्रेरित है। विशेषतः जनसाधारण उसका लक्ष्य है। इसमें समाज भी प्रेरित है। प्रकाश

की अपेक्षा उष्णता अधिक पैदा होती है, और कभी-कभी साहित्य की अपेक्षा प्रचार अधिक हो जाता है। भारतीय साहित्य में उपदेशात्मक कविता का चेहरा पहनकर आगे बढ़ने का ख़तरा हमेशा ही रहता है। नारों का जादुई आकर्षण हमारे यहाँ है—वे आधुनिक युग के मंत्र हैं। स्वतंत्रता, समानता, प्रेम, देश-भक्ति, मातृ-भूमि और मातृ-भाषा इत्यादि ऐसी भावनाएँ हैं, जो अपने-आपमें सुन्दर होने पर भी बहुत बुरे रूप में व्यक्त की जा सकती हैं। इस विचित्र स्थिति के कारण कई कविताएँ व्यापक रूप में पढ़ी और गाई जाती हैं—अपने काव्य-गुणों के कारण नहीं—वरन् इसलिए कि वे लोकप्रिय हैं या नारों से भरी हुई, लोक-प्रचलित विचारों की वाहिका हैं। जनसाधारण को कविता के वेश में सस्ती भावुकता और नाटकीयता बहुत अच्छी लगती है, परन्तु जनसाधारण में श्रद्धा और प्रचलित वस्तुओं पर कविता लिखने का अर्थ यह नहीं है कि हम सस्तेपन और निम्न वासनाओं का अधिक प्रचार करें, उन्हें महत्त्व दें। सस्ते अख़बारों के ज़माने में अब यह ख़तरा इतना बढ़ गया है कि ऐसा लगता है, मानो अच्छा साहित्य अब बाज़ार से उठ जाएगा।

बोलचाल की भाषा का पहले उल्लेख किया जा चुका है। बड़े ज़ोर की माँग है कि जैसा हम बोलें, वैसा ही लिखें। पण्डिताऊ भाषा आपसे-आप मर जाएगी। दूसरी ओर नाटक के पात्रों की भाषा छोड़ दें तो प्रादेशिक और सामाजिक उपभाषाओं में इतनी विविधता है कि हम किसी दूसरी भाषा का 'बेबल' न पैदा कर दें। रेडियो, अख़बार, राजनैतिक भाषण और शिक्षा का प्रसार इत्यादि धीरे-धीरे एक स्टैण्डर्ड भाषा का निर्माण करते जा रहे हैं। इसीलिए आधुनिक तमिळ-कविता की भाषा न तो प्राचीन साहित्यिक भाषा है और न प्रचलित बोलियों की ही भाषा है; यद्यपि कभी-कभी कहानियाँ बोलियों में गाई जाती हैं और प्राचीन लोक-गीतों की नक़ल में पद्य भी रचे जाते हैं। कदाचित् यह भी अल्लि अरशाणि मालइ और देशिंगु राजन् कदै की पुरानी परम्परा का ही निर्वाह हो। यह कुछ हद तक लोकप्रिय है, परन्तु तमिळनाडु में बोलचाल की भाषा का आन्दोलन उतना ज़ोर पर नहीं है, जितना कि आन्ध्र प्रदेश में है। कदाचित् पश्चिम के प्रभाव के कारण मुक्त-छन्द और गद्य-काव्य भी लिखा जाता है।

साहित्यिक पुनर्जागरण जहाँ निकट अतीत के विरुद्ध विद्रोह है, वहाँ सुदूर अतीत के गौरव का पुनर्जीवन भी। पांचाली, विल्हण और बुद्ध की पुरानी

कहानियाँ इस तरह से फिर लिखी जाती हैं कि उनमें वर्तमान काल के लिए संदेश रहे। ये कहानियाँ इस प्रकार से वर्णित की जाती हैं कि आधुनिक युग में नये विचारों पर बल दिया जा सके। स्वतन्त्रता और देश-भक्ति, वीरतापूर्ण नारीत्व और सजीव धर्म के आदर्शों पर इनमें ज़ोर दिया जाता है।

साहित्य का दूसरा समकालीन रुझान है हास्यरस की ओर। पुराने साहित्य में नाटक के विदूषक को छोड़कर अधिकतर गम्भीरता मिलती है। आधुनिक ढंग का हास्य समाचार-पत्रों के कारण निर्मित हुआ है। प्रचलित घटनाओं और व्यक्तियों पर उसमें मनोरंजक टिप्पणियाँ होती हैं। वर्तमान साहित्य पर उनका प्रभाव कम नहीं है। कहानियों, पद्यों और निबन्धों, सभीमें हास्य का पुट रहता है। निःस्वार्थ तटस्थता की भावना से अभिभूत सच्चे महान् लेखक ही सच्चा हास्य लिख सकते हैं। वे चाहे दुःख में हों, फिर भी हँसते रहते हैं। रोग से ग्रस्त होते हुए भी कविमणि ने एक द्रष्टा की वस्तुनिष्ठ दृष्टि विकसित की और उन्होंने अपने ढंग का हास्य विकसित किया। उन्होंने लिखा है कि उनके शरीर पर जो फोड़े हो गए हैं वे उनके प्रिय रोग-राजा से प्राप्त मणि और मोती के उपहार हैं।

इस शताब्दी में बच्चों के लिए ममता बढ़ी। उनकी शिक्षा की माँग ज़ोरों से बढ़ती गई—यह शिक्षा उनकी ऐसी मातृ-भाषा में उन्हें प्राप्त होनी थी, जिसमें गाना और खेल मिला हो, जिसमें सृजनात्मक कार्य और प्रत्यक्ष ज्ञान भरा हो। पाठ्य-ग्रंथों से भाषा की इस नई प्रसुप्त शक्ति का पता चलता है। ऐसी पाठ्य-पुस्तकें लिखी गई जो कि बच्चों के शारीरिक और मानसिक स्तर के अनुसार हों—इसकी भाषा प्राचीन शिशु-परम्परा की कविता की थी। बच्चों के लिए लिखे गए गीत और कविता सच्चे साहित्यिक सौन्दर्य से भरे हुए रत्न हैं। इनमें भी भारती और कविमणि ने ही पथ-प्रदर्शन किया।

पत्रकारिता का प्रभाव

साहित्य पर पत्रकारिता का प्रभाव उपेक्षित नहीं किया जा सकता। दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र भी शायद ऐसे साहित्य न हों, परन्तु वे एक से अधिक अर्थ में सब प्रकार के साहित्य और आधुनिक विचारों के माध्यम के कार-ख़ाने हैं। इनमें कई आधुनिक लेखकों की पहली साहित्यिक उम्मीदवारी मिल सकेगी। तमिळ दैनिकों को रोज़ की घटनाओं और आविष्कारों की सूचना—जो

कि प्रकाशन के कुछ मिनट पहले ही तार द्वारा प्राप्त होती है—का अनुवाद जन-साधारण की भाषा में करने का कठिन कार्य करना पड़ता है ।

प्रसिद्ध उपन्यासकार 'कल्कि' ने लिखा है कि स्वर्गीय टी० वी० कल्याण-सुन्दर मुदलियार राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए पत्रकारिता के क्षेत्र में आए । उनसे पहले समाचार-पत्र संस्कृत-बहुल सामाजिक पाण्डित्यपूर्ण शैली में रस लेते थे; परन्तु मुदलियार के प्रभाव के कारण इन पत्रों की भाषा तमिळ के सच्चे मूल रूप के निकट पहुँच गई । एक ओर तमिळ में से सब विदेशी शब्दों को निकाल फेंकने के लिए, जिसमें संस्कृत के शब्द भी शामिल हैं, शुद्धिवादियों का आन्दोलन है । यह दूसरे अतिवादियों की स्वाभाविक और अनिवार्य प्रतिक्रिया है । इससे एक लाभ यह हुआ है कि भाषा के अभी तक अज्ञात मूल स्रोतों का पता चला है और उनमें से नये-नये शब्द गढ़े जा रहे हैं । इसलिए इस आन्दोलन को केवल जातीयता-वादी या संस्कृत-विरोधी कहना उचित नहीं है । यह नकारात्मक आन्दोलन नहीं है, भाषा के विधायक सुधार की ओर भी इसका ध्यान है । परन्तु अन्य भाषाओं की भाँति इसमें भी स्वर्ण मध्यम मार्ग अधिक उचित होगा । हम अख़-बारी भाषा पर बोलचाल की सस्ती भाषा का आक्रमण होते देखते हैं, परन्तु उसका कोई स्थायी प्रभाव मन पर नहीं रहता । फिर भी अभी से यह नहीं कहा जा सकता कि तमिळ-पत्रकारिता ने यह मध्यम मार्ग पाया है या नहीं ।

साहित्य, एक व्यवसाय

इससे बीसवीं सदी के तमिळ-साहित्य की दूसरी महत्त्वपूर्ण धारा स्पष्ट होगी । अब साहित्य एक व्यवसाय बन गया है—अब वह केवल स्वान्त:सुख की वस्तु नहीं रहा । कवि भी अब नौकरी चाहते हैं । अब दरबार तो रहे नहीं जहाँ वे राज-कवि होते ; अब तो वे किसी चित्रपट के स्टुडियो में या अन्यत्र पद्यकार के नाते ही नौकरी पाते हैं । जो पैसा देंगे, वे अपना नाच नचायँगे । यद्यपि शेक्स-पीयर पर इस प्रकार का दबाव पड़ा था, किन्तु फिर भी वे एक श्रेष्ठ प्रतिभा के जनक बने रहे । जिस प्रकार शिल्पकार कठिन-से-कठिन चट्टान को अपनी रुचि के अनुसार आकार देता है; उसी प्रकार लेखक भी जन-रुचि को कच्चा माल मानकर उसमें से नया और सुन्दर कला-रूप निर्मित करता है । सन्तों और द्रष्टाओं वाले तथाकथित साहित्यिक स्वतन्त्रता के दिनों में भी लेखक कभी भी

अपने परिवेश से आँखें मूँदकर नहीं रहता था। साहित्य की समस्या, इस प्रकार, अर्थ-शास्त्र के प्रश्न से अप्रतिबिम्बित नहीं रहती। अब यदि कवि अपने आश्रय-दाता की मर्ज़ी के बिना तनिक भी इधर-उधर नहीं चल पाता तो वह जन-साधारण और पाठक की रुचि की उपेक्षा भी नहीं कर सकता। जनता की इच्छानुसार लिखने का लालच तो उसके मन में रहता ही है, परन्तु काव्यात्मक ख़ुशामद का ख़तरा उसमें नहीं है। जैसा हम समझते हैं, सौभाग्यवश, हालत उतनी बुरी नहीं है, क्योंकि पढ़े-लिखे लोगों की रुचि की शक्ति बड़ी है। आधुनिक युग में लेखक नई समाज-व्यवस्था के स्थपति बनते जा रहे हैं, पुराने फ़ैशन के ग़ुलाम वे नहीं हैं। यह एक सुखद घटना है कि राजनैतिक नेता, जैसे कि भारत के अन्तिम गवर्नर-जनरल श्री राजगोपालाचार्य, विख्यात साहित्यिक भी हैं।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

यह युग मुख्यतः विज्ञान का युग है, जो प्रकृति के रहस्यों में और सुप्त शक्तियों में पैठता जाता है। अब सर्वत्र विज्ञान में रुचि बढ़ती जा रही है। फलतः कला के आदर्श भी उससे पूरी तरह अप्रभावित नहीं रह सकते। वस्तुतः इस युग में कुछ कलाकारों का आदर्श विज्ञान ही बन गया है। कांस्टेबल ने कहा था, "चित्र-कला एक विज्ञान है और उसका अनुसरण उसी प्रकार करना चाहिए, जैसे कि हम प्रकृति के नियमों की जाँच करते हैं। तो फिर दर्शन-चित्रण को प्राकृतिक दर्शन की ही एक शाखा क्यों न माना जाय, चित्र तो निरे इसी दर्शन के प्रयोग हैं?" यदि यह सच है तो आश्चर्य होता है कि कुछ कहानियाँ और पद्य भी क्या केवल प्रयोग नहीं हैं। यद्यपि विज्ञान की साधारण पाठ्य-पुस्तकें साहित्य से बिलकुल उल्टी हैं फिर भी ब्रैडले, हक्सले या रसेल के जनप्रिय भाष्य साहित्यिक ऊँचाइयों पर पहुँचे हैं। ऐसे ग्रंथ तमिळ में बहुत थोड़े हैं; लेकिन बिलकुल ही नहीं हों, ऐसी बात नहीं है। श्री राजगोपालाचार्य[1] की 'वनस्पति जगत् में प्रेम' और 'पयल रसायन' आदि बहुत अच्छी पुस्तकें हैं, परन्तु यह बड़े भारी विज्ञान-जगत् की भूमिकाएँ-मात्र हैं। स्वर्गीय प्रोफ़ेसर राजेश्वरी ने 'परमाणु पुराणम्' में अणु का विज्ञान और इतिहास इस तरह लिखा

---

[1] श्री राजगोपालाचार्य को रामायण पर आधारित अपनी पुस्तक 'चक्रवर्ती तिरुमगन' पर १९५८ के साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

है कि वह बिलकुल पुराण की तरह जान पड़ता है। डॉ० के० एस० कृष्णन् की भी इस पुस्तक के बारे में यही सम्मति है। दूसरे आधुनिक विषयों पर भी कई लोकप्रिय ग्रंथ लिखे गए हैं। उन्हें विश्वविद्यालयों और राज्य-सरकारों की ओर से पुरस्कार भी मिले हैं। तमिळ भाषा पर्याप्त मात्रा में लचीली है। वैज्ञानिक रचना की आवश्यकता के लिए उसके पास उचित शब्द-भण्डार है। हमारे इस कथन की पुष्टि आजकल प्रकाशित होने वाले 'तमिळ विश्व-कोश' से हो जाती है।

यह वैज्ञानिक रुचि आधुनिक बुद्धिवाद की व्यापक धारा का केवल एक पहलू है। दूसरा पहलू है—रूढ़ियों और अर्थहीन उत्सवों, जातीय अभिमान तथा धार्मिक असहिष्णुता पर व्यापक आक्रमण। दुर्भाग्य से कुछ सुधारक हर चीज़ पर आक्रमण करते हुए साहित्य को भी उसमें मिला लेते हैं, जबकि उनके विरोधी अपनी इच्छानुसार प्राचीन तमिळ-साहित्य के उद्धरण देते है और उनका मनमाना अर्थ लगाते हैं। होता यह है कि साधारणतः वैज्ञानिक या ऐतिहासिक तथ्य और साहित्यिक या कलात्मक सत्य के बीच क्या अन्तर है, यह ठीक तरह से नहीं समझा जाता। पुराणों की महत्ता, साहित्य और भावना की भाषा के प्रति सही दृष्टिकोण, कला का मूल्य इत्यादि न समझने के कारण आज यह स्थिति हो गई है कि साहित्य का स्वाद भी इस कुहरे और अस्पष्टता के वातावरण में विषाक्त हो गया है।

आलोचना और निबन्ध

इसलिए अब साहित्यिक आलोचना और कला के मूलभूत सिद्धान्तों को स्पष्ट करना आवश्यक हो गया है। पुरानी व्यवस्था और आधुनिक युग के बीच में ज्यों-ज्यों खाई बढ़ती जा रही है, विज्ञान और धर्म, इतिहास और परम्परा, बुद्धिवाद और साहित्य का अन्तर त्यों-त्यों बढ़ता जा रहा है। ऐसे समय में टी० वी० कल्याणसुन्दरम् मुदलियार ने इस खाई को पाटने वाला एक पुल निर्मित किया। वे आधुनिक तमिळ-गद्य के पिता माने जाते हैं। इस दिशा में दूसरा बड़ा नाम स्वामी विपुलानन्द का है। टी० के० चिदम्बरनाद मुदलियार तमिळ कवियों का अर्थ लगाने में अपने अन्तर्-ज्ञान का सहारा लेकर मानो उनकी कविता का सजीव रूप हमारे सामने उपस्थित करते हैं। भारती के गीत विद्युत्-प्रकाश की भाँति हैं, जो प्रकृति और साहित्य के उपेक्षित तथा विस्मृत सौन्दर्य-स्थलों को

प्रकाशित करते हैं। उनकी आलोचना आत्मनिष्ठ है तथा वह उनकी दृष्टि एवं अनुभव की समूची शक्ति के साथ व्यक्त होती है। कविमणि और अन्य व्यक्ति उनके काव्यमय अनुभवों को तमिल-साहित्य के रूप में वाणी देने में उन्हीं का अनुकरण करते हैं। आधुनिक युग के काव्य में यह धारा सर्वाधिक प्रचलित है। मरैमलै अडिगळ ने हमें प्राचीन काव्यों का नये ढंग से मूल्यांकन करना सिखाया है। उन काव्यों के साथ वे पूरी तरह अपने-आपको मिला देते हैं। एडिसन और मैकाले के आलोचना के सिद्धान्तों को वे प्रयुक्त करते हैं। उनकी शैली प्रवाहपूर्ण और मधुर होते हुए भी उनके तीव्र पूर्वाग्रहों से दूषित है। परन्तु उनका लेखन साहित्य का उत्तम नमूना है, यद्यपि उसमें उनके व्यक्तित्व की झाँकी विशेष है।

साहित्य में निबन्ध का अपना एक अलग वर्ग है, यद्यपि वह जीवन की भाँति विविधतापूर्ण है। पहले पत्रों में निबन्ध बहुत हुआ करते थे, अब कहानियाँ अधिक चल पड़ी हैं। इधर निबन्ध का स्थान रेडियो-वार्ता ने ले लिया है। रेडियो ने लेखक को एक बड़ा व्यास-पीठ दिया है। जहाँ भी तमिळभाषी लोग बसते हैं, वहाँ तक रेडियो की ध्वनि पहुँचती है। संगीत-रूपक, वार्ता-परिसंवाद, वाद-विवाद, कवि-सम्मेलन और नाटक इत्यादि सब एक विशेष समय व सारिणी के अनुसार चलते रहते हैं और उन लेखकों के लिए यह एक नया अनुभव है, जो कि अब तक ऐसे बन्धनों में नहीं चलते थे। उनकी कला का श्रोताओं पर क्या प्रभाव पड़ा, यह जानने का अवसर भी उन्हें नहीं मिलता, क्योंकि उनके सामने कोई दर्शक या श्रोता तो होता नहीं। एक बन्द कमरे के अन्दर एक बेजान मशीन के सामने अकेले बोलना सारे उत्साह को ठण्डा कर देता है। वक्ता को पूर्णत: अपनी कल्पना पर ही विश्वास करना पड़ता है। सम्भव है सुनने वाले अपने घर-परिवार में बैठे हों; और इसलिए बोलने का ढंग बातचीत की तरह होना चाहिए—परिचित, किन्तु उदात्त; लोकप्रिय, लेकिन सस्ता नहीं। यह साहित्य ज्यों-ज्यों सुना जाय, त्यों-त्यों समझ में आना चाहिए। केवल कंठ-स्वर या शब्द ही प्रधान हैं, इसलिए रेडियो-नाटक में पात्रों का व्यक्तित्व और आवाज़ अलग-अलग होनी चाहिए, विविध दर्शन और भावनाएँ, अंग-भंगिमा और घटनाएँ, दर्शन और वातावरण, आरम्भ और अन्त, पात्रों का प्रवेश तथा बाहर जाना, यह सब कुछ स्वर से ही सुनाना पड़ता है। ये स्वर, संकेतात्मकता से बोले हुए शब्द की यह बड़ी शक्ति और उसका सूक्ष्म उतार-चढ़ाव, बदलती हुई शैली और वाक्य-रचना,

संगीत का रहस्य, स्थूल तकिया-कलाम इत्यादि सब नये ढंग से आविष्कृत और उपयोजित हो रहे हैं। तमिळ भाषा की सुप्त शक्ति का इस प्रक्रिया में पता चलता है। होमर चाहे ग़लती कर जाय, पर रेडियो के कलाकार को प्रत्येक शब्द शुद्ध बोलना चाहिए। वह ग़लती नहीं कर सकता। उसे लोगों के मन और अवधान को पकड़ना पड़ता है। कहीं ऐसा न हो कि दूसरे छोर पर स्विच ही बन्द हो जाय।

नाटक

दृश्य-काव्य के नाते नाटक मनुष्य की ही तरह पुराना है। तमिल में नाटक, संगीत, नृत्य और काव्य का संगम है। मालाबार और अन्य स्थानों पर जैसा होता है उसके विपरीत यहाँ पुराने जन-नाट्य को पुनर्जीवित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। केवल 'भागवत मेला' इसका एक अपवाद है। सुन्दरम् पिल्लै का काव्यमय नाटक 'मनोन्मणियम्' ही ऐसा है कि उसमें शिवकामि चरितै की उत्तम कविता बीच-बीच में अन्तराल की तरह ही प्रयुक्त होती है। परन्तु यह नाटक रंगमंच के लिए उपयोगी नहीं। अभी भी लोग पद्य में नाटक लिखते हैं, 'अकवल छन्द' में, परन्तु 'मनोन्मणियम् की उत्तमत्ता तक वे नहीं पहुँच पाते। वयोवृद्ध कवि सम्बन्द मुदलियार ने ५० से ऊपर अभिनेय नाटक लिखे हैं, यद्यपि साहित्य के नाते वे उतने श्रेष्ठ नहीं हैं। उनके नाटक उत्कृष्ट हैं, उनमें वह नग्न यथार्थवाद और सेक्स की प्रधानता नहीं है जो मंच पर अन्यत्र दिखाई देती है। कभी-कभी प्रचार में, केवल सुधारक के और नये दृष्टिकोण का संकेत देने वाले प्रचार में ही नहीं जैसा कि पावलार के 'केत्रिन वेरी' और अन्य नाटकों में है, वरन् स्थूल प्रचार में भी अधिक रस लिया जाता है, जिसमें अभिनेता की रुचि हो, प्रतिदिन की घटनाओं पर प्रत्युत्पन्न भाषण होते हैं—पुराने जन-नाटक के विदूषक की यह परम्परा है। धार्मिक परम्पराओं का परिहास करने वाले और पौराणिक कहानियों का व्यंग्य-चित्र देने वाले नाटक तथा अन्य साहित्य कुछ राजनैतिक-सामाजिक परिषदों में बहुत लोकप्रिय हैं। यदि ऐसे नाटक सर्वप्रिय बनकर सच्चे साहित्य की कोटि तक पहुँच सकें और निकट वर्तमान के दर्शकों का मनोरंजन करने की भावना कुछ कम कर सकें तो किसी भी दिन यह नाटक शॉ और इब्सन के नाटकों से जरूर टक्कर लेंगे। भयानक विष-भरा, घृणित प्रचार,

गन्दी अश्लीलता और भद्दे परिहास कहीं-कहीं स्वस्थ व्यंग्य, उत्तम संकेत, काव्य-संवेदना और सूक्ष्म परिहास का स्थान लेते जा रहे है।

समय के अनुसार अब नाटकों में जनसाधारण को नायक बनाने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। बच्चों की नट-मंडली की पुरानी परम्परा अभी नष्ट नहीं हुई है। संगीत और नृत्य हमारे नाटक का अभी भी एक महत्त्वपूर्ण भाग है। भाषण की कला बड़ी प्रभावशाली होती है, लेकिन कभी-कभी नाटक अतिनाटकीय हो जाता है। दर्शकों का दोष न होकर यह उन लोगों का दोप है जो इन नाटक-मण्डलियों के कर्ता-धर्ता हैं। जनता सेक्स और भयानकता की माँग नहीं करती, यह बात अव्वै नामक तमिळ-कवयित्री और राजराज नामक चोल-सम्राट् पर लिखे गए नाटकों की सफलता से प्रकट है। इनमें तमिळ कविता और तमिळ जनता के सच्चे आदर्श दिखाए गए हैं, मगर कई बार इनमें वर्तमान काल का प्रक्षेपण भूतकाल में मिलता है।

सिनेमा ने नाटकों को मारा तो नहीं लेकिन सिनेमा का प्रभाव अधिक शक्तिशाली और व्यापक है। कैमरे की युक्ति और प्रक्षेपण के जादू ने योगियों की अष्टसिद्धि का भी स्पष्ट प्रदर्शन सम्भव बना दिया है। फिर भी नाटक में अलौकिकता दिखाई देती है। ऐसा लगता है कि संबन्द मुदलियार की 'मनोहरा' कहानी रजत-पट पर दिखाई जाती है, जिसमें सब-कुछ सम्भव है। अब सामाजिक नाटकों के बदले पौराणिक और प्राचीन कहानियाँ अधिक लिखी जाती हैं। इधर एक ऐसी नई धारा चल पड़ी है जो आधुनिक चित्र-कला की तरह अमूर्त है। उसमें पुरानी लोक-कथाओं के नायक और नायिकाएँ, अच्छी बहन, नाल तंगल इत्यादि दिखाए जाते हैं और उसका यह परिणाम है कि सारी कहानियाँ किसी पत्नी की बहन या माता के आदर्श और अमूर्त सम्बन्धों पर आश्रित रहती हैं। मूल कहानी के आस-पास परिहास-प्रधान प्रसंग जोड़ दिए जाते थे, किन्तु सौभाग्य से अब वे मूल कथा के साथ एकाकार कर दिए जाते हैं। तमिळ-रजतपट का मुख्य आधार नृत्य और संगीत है, उसमें बड़ी आलंकारिक भाषा और आवश्यकता से अधिक नाटकीयता अभिनय में दिखाई जाती है। नाटक में यह जो दोष दिखाई देता है, वही चित्रपट में भी है।

तमिळ-संगीत को अपने उचित स्थान में पुनः स्थापित करने का आन्दोलन भी आजकल चल रहा है। विगत दशक तक संगीत-समारोहों में एक-दो तमिळ-

गीतों से अधिक कुछ नहीं गाया जाता था। नये आन्दोलन ने प्राचीन तमिळ संगीत-रचना को विस्मृति के गर्भ से बाहर निकालकर उसे फिर से इस देश में लोकप्रिय बनाया। नई रचनाओं को भी अब प्रोत्साहन मिलने लगा है। आधुनिक युग के सर्वोत्तम कवियों ने हमें बड़े सुन्दर गीत दिए हैं। फिर भी एक शिकायत यह रह जाती है कि ये गाने सारी काम-काज की दुनिया से सम्बद्ध नहीं हैं। सभी विषयों पर नई रचनाओं की मानो फ़सल आ गई है और उनकी भाषा चाहे तमिळ हो, परन्तु संगीत दक्षिण भारतीय या कर्नाटक या तमिळ नहीं। ये गीत भी उच्च कोटि के नहीं होते, चाहे उनका संगीत किसी शाखा का हो। सिनेमा की लोकप्रिय धुनें विशेषतः हिन्दुस्तानी संगीत की—क्लासिकल नहीं—नये ढंग की फ़िल्मी तर्जें संगीत या कविता की कोटि में नहीं आतीं, इन्हें चाहे बच्चों के गीत कह लीजिए या डा-डा-डा गीत और उडैयाडप्पा धुनें। इनसे इस बात का पता चलता है कि हमारे दर्शकों में से अधिकतर लोग सिनेमाघर में जाने पर फिर बच्चे बन जाते हैं और परी-कथाओं की याद दिलाने वाले रोमांच का आनन्द लेने लगते हैं।

उपन्यास और कहानी

आधुनिक युग का गद्य-महाकाव्य उपन्यास है, लेकिन बहुत कम उपन्यास उच्चकोटि के साहित्य तक पहुँच सकते हैं। तमिळ में विदेशी उपन्यासों के बहुत अनुवाद और रूपान्तर प्रचलित हैं। इनमें से कुछ तो विदेशी श्रेष्ठ लेखकों के—जैसे टालसटाय या हार्डी के—और कई भारतीय भाषाओं के उपन्यासों के अनुवाद हुए हैं। बंगाली उपन्यास 'आनन्द मठ' उतना पुराना है, जितनी कि यह शताब्दी। दुर्भाग्य से सभी अनुवाद या रूपान्तर अच्छी पुस्तकों के नहीं होते। मरई मलाई अडिगल जैसे विख्यात लेखक भी अपने ढंग से 'दि सोलजर्स वाइफ़' की कहानी का रूपान्तर करते हैं। शरलक होम्ज़ तमिल-चरित्र के रूप में आ गए हैं, और जासूसी कहानियाँ, मौलिक तथा अनूदित दोनों बहुत लोकप्रिय हैं।

कुल मिलाकर जो नाटक और कहानी के लिए सच है वही उपन्यास के लिए भी सही है। कुछ ऐतिहासिक उपन्यास हैं, विशेषतः 'कल्कि'[1] के, जिनमें पल्लव तथा चोल राज्यों के और उनकी जनता के विवरण और रोमांटिक कथाएँ

१. इन्हें 'अलाई ओसाई' उपन्यास पर १९५६ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

मिलती हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यास, कदाचित् सबको सन्तोष नहीं देते, उनमें सदा ही पाप की चेतना का भय बना रहता है और वे कला में भी प्रयोगशील दृष्टि-कोण का उदाहरण हैं। स्वतन्त्रता के आन्दोलन ने कुछ और उपन्यास निर्मित किये, जो ऐतिहासिक उपन्यासों से अधिक अर्थपूर्ण और महत्त्व के हैं। यहाँ उन उपन्यासों का भी उल्लेख किया जा सकता है जो यूटोपिया या 'भविष्य काल की समाज-रचना के रूप में' हैं। भारती की कल्पना ने अपने मनोरथ पर चढ़कर जो उड़ान भरी है, वह भी उल्लेखनीय है।

कहानियाँ गद्य में सानेटों की तरह हैं। इनमें भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर और अन्य भारतीय तथा विदेशी लेखकों के अनुवाद प्रचुर मात्रा में हैं। तमिल की कई कहानियाँ अनूदित हो रही हैं और अंग्रेज़ी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में पढ़ी जाती हैं। मरई मलाई अडिगल तथा अन्य लेखकों ने बच्चों के लिए तथा अन्य कहानियाँ भी लिखी हैं। भारती ने 'नवतंत्र क्कैयेयिक्लि' लिखा, जो कि पुराने ढंग पर ही था। उसका विषय कुछ नवीन और दृष्टिकोण रोमांटिक था। वी० वी० एस० ऐयर ने कहानी को उसकी आधुनिक टेकनीक के रूप में एक स्वतंत्र कला की भाँति विकसित किया। कहानी नये विचारों का वाहन बन गई। वह नये आन्दोलन की साथिन हो गई। पुटुमाय-पिट्टन की कहानी तो कविता से होड़ लेने लगी; उनके मुहावरों, लय, संकेत और दृष्टिकोण में काफ़ी आकर्षण है। तमिळ में शायद कोई और साहित्य-रूप इतने परिमाण में न रचा जाता होगा और गुणों की दृष्टि से इतना सामान्य भी न होगा। जो बातें नाटक और उप-न्यास की भाषा तथा विषयों के बारे में लिखी गई हैं, वही कहानियों पर भी लागू होती हैं।

इस प्रकार तमिळ-साहित्य की आधुनिक धारा जनतांत्रिक है। उसमें आधु-निकता पर आग्रह है। भारत के विभिन्न भागों और दुनिया के सम्पर्क से, विशेषत: पश्चिम के सम्पर्क से, वैज्ञानिक और बुद्धिवादी धारा तमिळ में बराबर विकसित हो रही है। इस नये जागरण से पुनर्जीवित होकर आधुनिक तमिळ-लेखक इतिहास और आत्म-विश्वास से तमिळ भाषा के अज्ञात स्रोतों में पैठ रहे हैं और वहाँ से उल्लासपूर्वक कई चीजें, जैसे कि संकेतमयता की जादू-भरी शक्ति, कल्पना, परिहास, वेदना और कविता आदि ऊपर ला रहे हैं; यद्यपि कभी कुछ सड़ी, दुर्गन्धित चीजें भी बाहर निकल आती हैं।

संदर्भ-ग्रन्थ

ए हिस्ट्री आफ़ तमिळ लिट्रेचर—एम० एस० पूर्णलिंगम् पिल्लै
ए हिस्ट्री आफ़ तमिळ लैंग्वेज़ ऐंड लिट्रेचर—ए० वैयापुरी पिल्लै
हिम्स आफ़ द तमिळ शैवाइट पोएम्स—एफ़० किंग्सबरी तथा जी० ई० फिलिप्स
हिम्स आफ़ द आलवार्स—जे० एस० एम० हूपर
तमिळ लिट्रेचर—फ्रांसिस किंग्सबरी
सुब्रह्मण्य भारती—पैट्रियट ऐंड पोएट—पी० महादेवन
भरत-मिलाप (कम्बन की तमिळ 'रामायण' से)—सी० राजगोपालाचार्य
हिस्ट्री आफ़ ग्रामैटिकल थियरीज़ इन तमिळ ऐंड देयर रिलेशन टू द ग्रामैटिकल लिट्रेचर इन संस्कृत—डा० पी० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री
लीव्स फ्राम कम्बन—प्रो० ए० श्रीनिवास राघवन

तेलुगु

के० रामकोटीश्वर राव

पार्श्वभूमि

दक्षिण भारत में तीन करोड़ से ऊपर जनता तेलुगु बोलती है। भारत संघ में भाषा की दृष्टि से देखें तो तेलुगु बोलने वालों की संख्या दूसरे नम्बर पर है। तेलुगु तथा 'आन्ध्र' पर्यायवाची शब्द हैं। भाषा का नाम है 'तेलुगु भाषा' या 'आन्ध्र भाषा' और देश का नाम है 'तेलुगु देशम्' अथवा 'आन्ध्र देशम्'। पादरी कोल्डवेल ने १०० वर्ष पूर्व द्राविड़ भाषा का तुलनात्मक व्याकरण लिखा, तभी से विद्वानों की प्रवृत्ति, भारत की भाषाओं को 'आर्य' और 'द्राविड़' दो विभागों में बाँटने की रही है; और तेलुगु को कन्नड, तमिळ और मलयालम के साथ-साथ द्राविड़-कुल की भाषाओं में गिना जाता है। इस भाषागत पृथक्करण के सिद्धान्त से जातिगत भिन्नता का सिद्धान्त विकसित हुआ।

परन्तु स्व० डॉ० सी० नारायण राव और अन्य विद्वानों के अनुसार आन्ध्र भाषा पैशाची नामक प्राकृत से निकली, जिसमें गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' लिखी और आन्ध्र देश के सातवाहन सम्राट् हाल ने 'गाथा-सप्तशती' की रचना की। संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द लिखित और वाचित तेलुगु में कई शताब्दियों से इतनी मात्रा में चले आ रहे हैं कि यदि कोई ऐसा प्रयत्न करे कि केवल 'शुद्ध द्राविड़' शब्द ही प्रयुक्त किया जाय तो उसका परिणाम होगा, नितान्त अर्थ-शून्यता। यह बात कन्नड के लिए भी सही है। उत्तर और दक्षिण के बीच में ये दो भाषाएँ ऐसी स्थिति में हैं कि उनसे भारतीय संस्कृति का समन्वय अच्छी प्रकार हो सकता है।

नन्नय्य से बहुत पहले, जिसने कि संस्कृत महाभारत का तेलुगु रूपान्तर लिखा, बहुत-सा साहित्य ऐसा मिलता है जो लोक-गीतों और लोक-गाथाओं के रूप में है। नन्नय्य से मार्गी तेलुगु साहित्य आरम्भ होता है। जब राजाश्रय

और सामन्तों के सहयोग ने इस साहित्य के विकास को बहुत प्रोत्साहन दिया, तब कवि का सारे देश में बड़ा सम्मान था। ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक तेलुगु कवियों ने संस्कृत-महाकाव्यों, पुराण और इतिहास, को जनसाधारण तक पहुँचाया। आज भी जो ग्रन्थ तेलुगु-भाषियों के जीवन को निर्देशित करते हैं, वे हैं नन्नय्य, तिक्कन्न और यर्रा प्रेगड[1] का 'आन्ध्र महाभारतम्' और पोतन्न का 'आन्ध्र भागवतम्'। श्रीनाथ का 'नैषधम्' भी तेलुगु साहित्य को इस युग का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

विजयनगर-साम्राज्य के दिनों में, पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दियों में, एक नये ढंग की स्वतन्त्र रचना का विकास हुआ—जिसका नाम था 'प्रबन्ध'। पेद्दन्न कृष्णदेवराय के दरबार में राज-कवि थे, उन्होंने 'मनु चरित्र' से आरम्भ किया। उनके बाद सम्राट् कृष्णदेवराय, रामराजभूषण, तेनालि रामकृष्ण, पिंगलि सूरन इत्यादि और कवि आए। 'प्रबन्ध' गद्य-पद्य-मिश्रित लम्बी कविता होती है, जो किसी राजसी या दैवी नायक या नायिका के चरित्र पर लिखी जाती है। उसका विषय प्राचीन या मध्ययुगीन भारत से लिया जाता है। वर्णन और कहानी की कुशलता के साथ-साथ उसमें कल्पना की समृद्धि और छन्द-रूपों की विविधता भी होती है। भारतीय साहित्य में तेलुंगु 'प्रबन्ध' अपनी विशिष्टता रखता है। तंजाऊर और मदुरा के नायक राजाओं के दरबारों में तेलुगु साहित्य संगीत, नृत्य और नाटक से समन्वित हुआ। 'अजन्त' (स्वरान्त) होने से तेलुगु शब्द संस्कृत-शब्दों के साथ बड़ी आसानी से गुम्फित किये जा सकते हैं। यह भाषा-माधुर्य और संगीत के लिए बहुत उपयुक्त है।

संस्कृत के द्वारा आन्ध्र की देन बहुत उल्लेखनीय है। काव्य-शास्त्र के लेखक—विद्यानाथ और जगन्नाथ पंडितराज, भाष्यकार कोण्डवीडु के राजकुमार काटय-वेम और मल्लिनाथ सूरि, और उनके शिष्य लीलाशुक और नारायण तीर्थ अखिल भारतीय संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण भाग लेते रहे हैं। तेलुगु-रचनाकार क्षेत्रय्य अन्नमाचार्य और त्यागराज, कूचिपूडि नृत्य-नाटक के प्रदर्शक रहे हैं और उन्हें अन्य भाषिक क्षेत्रों में भी बड़ा यश मिला है।

---

१. इस कवित्रयम् ने एक ही महाकाव्य के विभिन्न अंश लिखे।

अग्रदूत

गोदावरी के किनारे पूर्व चालुक्य-सम्राट् राजराज अथवा राजमहेन्द्र[1] के दरबार में तेलुगु का पहला महान श्रेष्ठ ग्रंथ नन्नय्य का 'आन्ध्र महाभारतम्' लिखा गया। यह एक हज़ार वर्ष पहले की बात थी। यह विचित्र संयोग है कि उसी प्रिय स्थान पर तेलुगु साहित्य का नवनिर्माण विगत शताब्दी के अन्त में हुआ। वीरेशलिंगम्, चिलकमर्ति लक्ष्मी नरसिंहम् और वसुराय कवि ने फिर चूड़ प्रज्वलित किया। ब्रिटिश राज्य के विस्तार के कारण परम्परित संस्कृति को पूर्ण ग्रहण लग गया। लेकिन कालेजों और विश्वविद्यालयों की स्थापना ने एक भिन्न प्रकार की सभ्यता से सम्पर्क बढ़ाया। पश्चिम के साहित्य और विज्ञान ने आन्ध्र के बुद्धिजीवियों को भारत के अन्य भाषिक समूहों की भाँति एक नई दृष्टि दी। इस सम्पर्क के प्रथम आघात के बाद तेलुगु विद्वान् और कवि, जो कि नये वातावरण में बढ़े थे, अपनी मातृभाषा के साहित्य को समृद्ध बनाते गए।

वीरेशलिंगम् को कई तरह से इस समृद्धि का अग्रदूत कहा जाएगा। सबसे पहले वे एक समाज-सुधारक और वर्षों से चली आ रही रूढ़ियों के प्रति बाग़ी थे। उन्होंने प्रवाहपूर्ण गद्य-शैली के अपने अस्त्र को भारतीय सिद्धान्तों की सेवा में प्रयुक्त किया। सामाजिक अन्याय के प्रति तीव्र भावना उनका प्रमुख गुण था। कोई भी पुरानी संस्था, या लोकप्रिय धार्मिक विश्वास उसके मूर्ति-भंजक उत्साह के लिए अति पवित्र नहीं थे। समकालीन जीवन के सहानुभूतिपूर्ण विवेक का गुण उनमें उस मात्रा में था, जितना कि उनके मित्र और नगरवासी लक्ष्मीनर-सिंहम् में था। साहित्यिकों की जीवनियाँ और समालोचना, नाटक और उपन्यास, वैज्ञानिक और राजनैतिक निबन्ध, पत्रकारिता और पुस्तिका-लेखन, तथा आत्म-कथा साहित्य की ये सब विधाएँ उन्हीं से शुरू हुईं।

इसी युग में और भी महान् प्रतिभाएँ पैदा हुईं, जैसे नेल्लूर के वेदम् वेंकट-राय शास्त्री, बल्लारी के डी० कृष्णमाचार्लु, मसुलीपट्टम् के कविद्वय तिरुपति शास्त्री और वेंकट शास्त्री, विजयानगरम्[2] के गुरज़ाड अप्पाराव। अप्पा-

१. राजमहेन्द्रवरम् अथवा राजमहेन्द्री।

२. यह विशाखापत्तनम् ज़िले में है पर महान् दक्षिण भारतीय साम्राज्य की इसी नाम की राजधानी से यह स्थान भिन्न है।

राव अग्रदूत थे अगली पीढ़ी के बड़े गीतकारों के जैसे—बसवराजु अप्पा-राव और आडिवि बापिराजु (जो कि अब नहीं रहे) और नन्डूरी सुब्बा-राव। तिरुपति वेंकट कवुलु ने तेलुगु-कविता को आरम्भिक उन्नीसवीं शती की रहस्योन्मुख रीतिबद्धता से मुक्त किया। वे कविता को सामन्तों के दरबारों और पण्डितों की गोष्ठियों से बाहर लाए। उन्हींके कारण रायप्रोलु सुब्बाराव और डी० वी० कृष्ण शास्त्री की भाव-कविता निर्मित हो सकी। 'बुद्ध चरितम्' तिरु-पति कवुलु की एक अद्वितीय गुणयुक्त लम्बी कविता है, जिसमें छन्द-प्रवाह और समृद्ध कल्पना-चित्र मिलते हैं। उसके महाभारत पर आधारित नाटक समय की कसौटी पर खरे उतरे हैं।

गीति-काव्य

१६०५ के राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव और बंकिमचन्द्र तथा रवीन्द्रनाथ के रूप में बंगाली साहित्य का प्रभाव दक्षिण भारत में किसी भी अन्य भाषाभाषी समूह से पहले तेलुगु पर पड़ा। इस प्रकार, जब कि वीरेशलिंगम् की पीढ़ी सत्र-हवीं से उन्नीसवीं शती के अंग्रेजी साहित्य से मोह रखती थी और कभी-कभी संस्कृत के प्राचीन साहित्य की ओर प्रेरणा के लिए मुड़ती थी, कृष्णा शास्त्री की पीढ़ी पर उन्नीसवीं और आरम्भिक बीसवीं शती के यूरोपीय साहित्य और समकालीन बंगाली साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ा है।

प्रथम महायुद्ध में जो युवक कालेजों में पढ़ते थे उन्होंने १६१५ और १६३५ के बीच अपना सर्वोत्तम साहित्य रचा। हमारे साहित्यिक इतिहास में ये दो दशा-ब्दियाँ अथेन्स में पेरिक्लिज, इंग्लैंड में एलिज़ाबेथ या भारत में भोज अथवा कृष्णदेवराय के युग से तुलनीय हैं। भावगीतात्मक कविता, रोमांटिक संगीत, उपन्यास, कहानी, नाटक इत्यादि साहित्य-शाखाओं को इन लेखकों ने स्मरणीय बनाया। विशेष रूप से उनका प्रिय अभिव्यंजना-माध्यम भाव-कविता था। प्राचीन भारतीय कविता में कवि का व्यक्तित्व कभी भी पाठक के ध्यान में बाधा के रूप में नहीं आता। भक्तों की भगवान के प्रति समर्पण या श्रद्धा की भावना, जैसी कि महाकाव्यों या 'शतकों' में पाई जाती है, कुछ-कुछ आत्मनिष्ठ कविता के निकट की वस्तु थी। अब हमारे साहित्य में कवि के व्यक्तिगत सुख-दुःख का प्रकटीकरण और उसके आस-पास के विचारों तथा भावनाओं के आंदोलनों के

प्रति प्रतिक्रिया एक नया दौर उपस्थित करती है।

प्रेयसी की खोज, जो कि एकसाथ सौंदर्य की पूर्ण प्रतिमा और प्रेम के मन्दिर की दिशा-निर्देशिका तारिका है, इन भाव-कवियों का प्रमुख विषय है। उनकी दृष्टि में स्त्री एक अरूप व्यक्तित्व है; वह बिजली की कौंध, शबनम-भरी सुबह और महासागर की तरंगों पर नाचने वाले सफ़ेद फेन की तरह है। प्रेमपात्र के आदर्शीकरण और मन में गूँजते रहने वाले वर्णनों के साथ-साथ उन्होंने तेलुगु-कविता को भव्यता के क्षेत्र तक उठाया। ये वर्णन अधिकतर मांसल रूप के आकर्षण की अपेक्षा प्रेयसी के मन और आत्मा के सौंदर्य-सम्बन्धी ही अधिक थे।

रायप्रोलु सुब्बाराव[1] के 'तृणकंकणम्' और 'स्वप्नकुमारम्' काव्यों का विषय अरूप प्रेम है और वही विषय अब्बूरी रामकृष्ण राव की 'मल्लिकाम्बा' का भी है। इस धरती पर जन्मे एक क्षुद्र प्रेमी के मन में किसी स्वर्गीय देवांगना के प्रति उत्कट कामना और उसके विरह में तीव्र दुःख, कृष्ण शास्त्री के 'उर्वशी' और अन्य गीतों का प्रमुख स्वर है। शिवशंकर शास्त्री की 'हृदयेश्वरी' में एक जैसे मन और आत्माओं के मिलन की इच्छा व्यक्त की गई है। 'दीपावलि' में वेदुल सत्यनारायण शास्त्री यह पक्का निश्चय करते हैं कि आखिरी दम तक वे "प्रेम-समुद्र को पार करने की तीर्थ-यात्रा पूरी करेंगे।" नायनि सुब्बाराव को यह डर है कि उनकी छोटी-सी नौका मझधार में टुकड़े-टुकड़े न हो जाय, परन्तु बाद में इस नाव के टुकड़े उनकी चिता के काम में आयेंगे। इन सब कवियों के समूह में अकेले नायनि विजय या आशा के स्वर में अपनी रचनाओं का अन्त करते हैं। उनका प्रेम परिपूर्ण होता है और अन्ततः वे स्वर्ग और पृथ्वी को जोड़ने में सफल होते हैं।

साहिती-समिति

रायप्रोलु सुब्बाराव इन कवियों में प्रमुख थे। साहिती-समिति के संस्थापक शिवशंकर शास्त्री ने इन्हें और दूसरे कवियों को एक साहित्यिक गोष्ठी में एकत्रित किया, जैसे कि बाद में महाराष्ट्र के रविकिरण-मण्डल ने या कि कर्नाटक के गेलेयर गुम्पू ने किया। संस्कृत के पण्डित होने के साथ-साथ वे समकालीन अंग्रेज़ी

१. इन्हें १९६५ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार अपनी काव्य पुस्तक 'मिश्र मंजरी' पर मिला।

साहित्य के भी अच्छे विद्यार्थी थे। अन्य तीन-चार भारतीय भाषाओं के भी वे अच्छे जानकार थे। ऐसे शिवशंकर शास्त्री, आन्ध्र के कवियों, कहानी-लेखकों और साहित्यक निबन्धकारों के, 'अन्नागारु' या बड़े भैया बने। गिडुगु राममूर्ति पंतुलु ने बोली जाने वाली तेलुगु को साहित्यिक अभिव्यंजना का माध्यम बनाने का आन्दोलन शुरू किया, परन्तु साहिती-समिति ने इस माध्यम को प्रत्यक्ष उपयोग में लाकर इस आन्दोलन को सफल बनाया। द्वितीय महायुद्ध से पहले लगभग चौथाई शताब्दी तक पद्य, गीत या गद्य के क्षेत्र में जो भी स्मरणीय कृति साहित्य में मिलती है, वह प्रतिभाशाली सदस्यों और उनके प्रशंसकों तथा अनुयायियों की ही देन है, और इसका श्रेय समिति को ही देना चाहिए।

गीतकार

कुछ कवि ऐसे भी थे जो पद्य लिखने की सामर्थ्य होने पर भी गीत लिखते थे। यह कल की बात जान पड़ती है, परन्तु वस्तुतः ४० वर्ष पूर्व की यह घटना है कि बसवराजु अप्पाराव और नंडूरि सुब्बाराव ये दोनों चचेरे भाई मद्रास के लॉ कालेज और क्रिश्चियन कालेज में पढ़ते थे। वे गुरज़ाड अप्पाराव के गीतों और पद्य-गीतों से बहुत प्रेम करते थे और बड़ी भावना के साथ उन्हें गाया करते थे। धीरे-धीरे उत्सुक सहपाठियों के सामने उन्होंने अपने गीत भी गाने शुरू किये। वे इतने मार्मिक थे कि सुनने वालों की आँखों में आँसू आ जाते थे। 'सेलियेटि गानमु' (निर्झर का संगीत) बसवराजु अप्पाराव की रचना थी और नंडूरि सुब्बाराव की 'येंकिपाटलु'। इन रचनाओं ने जनता को झकझोर दिया। आज ये गाने प्रायः प्रत्येक आन्ध्रभाषी के होंठों पर हैं। अप्पाराव ने कहा कि हृदय को सुकुमार बनाने के लिए दुःख से गुजरना चाहिए और अहंकार पूरी तरह निकाल देना चाहिए। सुब्बाराव के ग्रामीण प्रेमी 'येंकी' और 'नाइडू बावा' सुकोमल और भले होने के साथ ही किसी राजसी रोमांस के नायक-नायिकाओं की भांति एक-दूसरे से उत्कट प्रेम भी करते हैं। जब प्रेमी प्रेयसी से एक सरल प्रश्न पूछता है :

"ओ प्रकाश कुमारी, तुम कहाँ रहती हो ?"

तो वह भोली लड़की उत्तर देती है :

"तेरी छाया में मैं अपना महल बनाऊँगी।"

अडिवि बापिराजु[1] चित्रकार, कवि और गीतकार थे। बाद में कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में भी उन्होंने ख्याति पाई। राजमहेन्द्री के सरकारी कालेज के प्रिंसिपल प्रोफ़ेसर ओसवाल्ड कूल्ड्रे ने उन्हें पढ़ाया। ऐसे सुसंस्कृत अंग्रेज़, जो स्वयं चित्र बनाते थे, अंग्रेज़ी में पद्य और कहानी लिखते थे उनकी मैत्री बापिराजु, कविकोंडल वेंकट राव, प्रसिद्ध चित्रकार दामेर्ल रामा राव और उस युग के अन्य युवकों के जीवन पर लाभदायक प्रभाव डाल गई। एक सौ वर्ष पूर्व आन्ध्र के लिए सी० पी० ब्राउन आई० सी० एस० ने जो काम किया, आधुनिक आन्ध्र में प्रोफ़ेसर कूल्ड्रे ने वही किया। बापिराजु की प्रतिभा बहुमुखी थी। उनका प्रिय माध्यम गीत था। उनके गीत भाव-भरे हैं और श्रोता को ऊंची मनःस्थिति में ले जाते हैं। ठीक उस गोदावरी नदी की तरह, जो उनके एक गीत में "स्वर्ग तक ऊँची बहती है।"

विश्वनाथ और पिंगलि

विश्वनाथ सत्यनारायण ने अपने 'कोकिलम्म पेंड्लि' (कोयल का विवाह) और 'किन्नेरसानि' में प्रकृति के सुकोमल भावों की रोमांटिक कहानी-गीत के माध्यम से वर्णित की है; जब कि दुव्वूरि रामि रेड्डी ने उसी कार्य के लिए उत्तम छन्दों का उपयोग किया। पुनर्जागरण लाने वालों में विश्वनाथ का बहुँत ऊँचा स्थान है। उन्होंने प्रायः प्रत्येक साहित्यिक व्यंजना में बड़ा नाम कमाया है— शास्त्रीय पद्य, रोमांटिक गीत, भाव-गीत, उपन्यास, कहानी और समालोचना आदि सभी रूपों में उनके लेखन में शक्ति, समृद्धि और ऊबड़-खाबड़पन मिला हुआ है। 'गिरिकुमार' नाम से उन्होंने एक बड़ी सुन्दर प्रेम-कविता लिखी है। उनकी 'आन्ध्र-प्रशस्ति' में राष्ट्रीय काव्य अपनी भव्यता प्राप्त करता है।

पिंगलि लक्ष्मीकांतम् और काटूरी वेंकटेश्वर राव ने अपना साहित्यिक जीवन एक छोटी-सी काव्य-पुस्तक से आरम्भ किया, जिसका नाम 'तोलकरि' था। डॉ० सी० आर० रेड्डी ने उसकी बड़ी प्रशंसा की थी। छोटी आयु में जो प्रतिभा उन्होंने दिखाई उसका विकास उनके 'सौन्दरनन्दम्' नामक उस दीर्घ काव्य में मिलता है, जिसमें बुद्ध-काल की पुनः याद की गई है। रूप की पूर्णता और भावना की भव्यता में 'सौन्दरनन्दम्' एक उत्कृष्ट तथा सफल महाकाव्य बन

१. इनकी मृत्यु १९५२ में हुई।

गया है।

इस युग के कवियों के मुख्य विषय प्रेम और प्रकृति थे। परन्तु राष्ट्रीयता—विशेषतः विदेशी राज्य के विरुद्ध संघर्ष के दिनों में—उनकी भावनात्मक मनो-घटना का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व थी। ये कवि स्वप्नदर्शी थे और उनकी दृष्टि विश्वात्मक और व्यापक थी। उनकी सहानुभूति जनसाधारण तक पहुँची थी, यद्यपि प्रत्यक्षतः वे सारी जनता जैसा जीवन नहीं विताते थे। गद्य शैली और छन्द-विन्यास में उन्होंने शास्त्रीय और लोकप्रिय दोनों शैलियों के वीच का अन्तर कम करने का प्रयत्न किया। तेलुगु में इन शैलियों को 'मार्गी' और 'देशी' कहते हैं।

वामपक्ष की ओर झुकाव

१९३५ के वाद तेलुगु-कविता में वामपक्षी विचारों की ओर झुकाव हुआ। श्रीरंगम् श्रीनिवास राव ('श्री श्री') ने रोमांटिक आन्दोलन के विरुद्ध विद्रोह शुरू किया, जिसका आरम्भ रायप्रोलु सुब्बाराव से हुआ था। श्रीनिवास राव अपनी कविता में लिखते हैं कि अब ऐसी नई दुनिया बन रही है, जिसमें पसीने और मेहनत का फल यह होना चाहिए कि किसानों और मज़दूरों के अधिकार उन्हें पूरी तरह प्राप्त हो जायँ। ताजमहल की सुन्दरता के गुण गाने में कोई अर्थ नहीं है; ज़रा इस बात को तो सोचो कि ताजमहल वनाने में कितने मज़दूरों से बेगार ली गई। कोमल भावना और प्रकृति का उत्फुल्ल पूजन उसके विविध रूपों में अव काव्य के विषय नहीं रहे। यह नये कवियों का दल पश्चिम के इम्प्रेशनिस्ट और सुर्रियलिस्ट दल के प्रभाव में आगे बढ़ा। उन्होंने रूढ़ छन्द-बन्धनों को तोड़ दिया, यहाँ तक कि छायावादियों द्वारा बहुत अधिक प्रयुक्त गीत छन्द को भी उन्होंने छोड़ दिया। मुक्त छन्द उनका प्रिय माध्यम है। व्यापक आर्थिक असन्तोष और राजनैतिक स्वतंत्रता के बाद का स्वप्न-भंग उनके अनुसार वर्ग-संघर्ष के लिए उपयोग में लाया जाना चाहिए। इसके साथ-ही-साथ और भी दूसरे कवि हैं, जैसे मल्लवरपु विश्वेश्वर राव और पिलका गणपति शास्त्री, जो कि रायप्रोलु और कृष्ण शास्त्री की पुरानी परम्परा से बँधे हैं। वेंकट शास्त्री के शिष्य बुच्चि सुन्दरराम शास्त्री की 'पंचवटी' से भक्त-कवियों जैसे उनके उत्तम गुण प्रकट होते हैं।

नव्य क्लासिकवादी

आधुनिकतम वर्षों में एक नया आन्दोलन शुरू हो रहा है, जिसका उद्देश्य महाकाव्य की ओर लौटना है। इस सदी के पहले दशक के रोमांसवादियों के विरुद्ध वामपक्षियों और सुर्रियलिस्टों ने जैसा विद्रोह किया था, उसी प्रकार से नव्य क्लासिकवादी नंडूरि कृष्णमाचार्लु, जंध्याल पापय्या शास्त्री और ज़ी० जोषुवा[१] १९३५ से १९५० तक के सुर्रियलिज़्म के मूल्य के प्रति शंका व्यक्त करते हैं। संघर्ष के बदले समन्वय इनका आदर्श है। इन नव्य क्लासिकवादियों को पट्टाभि और आरुद्र का अराजक मुक्त छन्द बिलकुल नहीं जँचता। महायुद्ध के बाद की दुनिया में भौतिक जगत् और आत्म-तत्त्व के बीच, आदर्शवाद और यथार्थवाद के बीच सन्तुलन स्थापित करना आवश्यक है। कृष्णमाचार्लु और उनके साथी कवि यह मानते हैं कि वे इस प्रकार का संश्लेषण निर्मित कर रहे हैं। सुर्रियलिस्टों ने रोमांटिकों का मज़ाक उड़ाया और उन्हें पलायनवादी कहा। अब ये नव्य क्लासिकवादी यह पूछ रहे हैं कि वर्ग-विषमता का बराबर प्रचार करने से वे आखिर में कहाँ पहुँचेंगे ? यह माना कि जनता ग़रीब और दुःखी है, परन्तु द्वेष और घृणा के भजन गाने से यह दुःख कैसे दूर होगा? क्या वर्ग-युद्ध अनिवार्य है, और क्या कविता का कार्य राजनैतिक और आर्थिक क्रान्ति की दासी बनना ही है ? ये प्रश्न आज पूछे जा रहे हैं। नव्य क्लासिकवादी कविता के लिए उसकी पूर्व महत्ता प्राप्त करने के लिए उत्सुक हैं। कविता विशेषतः सौन्दर्य और सत्य के सर्वोत्तम सार का संकेत है। विश्वनाथ सत्यनारायण[२] ने रामचरित को आधार बनाकर एक महाकाव्य लिखकर एक प्रकार से महाकाव्यों की ओर लौटने का महत्त्व प्रतिपादित किया है और गड़ियारम शेष शास्त्री ने 'शिव भारतम्' काव्य में शिवाजी को अपना नायक बनाया है।

---

१. इन्हें 'क्रिष्टु चरित्र' (काव्य) पर १९६४ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।

२. इन्हें 'विश्वनाथ मध्यक्कारुलु' (काव्य) पर १९६२ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार तथा 'श्री मद्रामायण कल्पमू' (काव्य) पर १९७१ का ज्ञानपीठ पुरस्कार श्री विश्वनाथ सत्य-नारायण को प्राप्त हो चुके हैं।

कहानी

५० वर्ष से अधिक समय हुआ गुरज़ाड अप्पाराव ने समकालीन समाज-स्थिति के चित्रपट के नाते कहानी लिखना आरम्भ किया। परन्तु आगे के वर्षों में उसके विकास और साहित्य में ऊँचे स्थान पर पहुँचने का श्रेय चिन्ता दीक्षितुलु और उनके अनुयायी लेखकों के दल को है। दीक्षितुलु की कहानियाँ जनसाधारण के सहानुभूतिपूर्ण चित्र व्यक्त करती हैं, उनमें सूक्ष्म उदार परिहास भी होना है। वे कर्नाटक के मास्ती वेंकटेश अयंगार की कहानियों की भाँति हैं। यद्यपि ये पड़ोस के क्षेत्रों की कहानियाँ हैं, फिर भी एक भाषा-भाषी दूसरे भाषा-भाषी की कहानियों को बहुत कम जानते हैं। दोनों कहानी-लेखक उस कला में दक्ष हैं, जिसमें कला छिपी रहती है। उनके वर्णन सरल होते हैं, मानो कहानी अपनी कहानी ख़ुद कहती जाती है और फिर भी अन्त अनिवार्य जान पड़ता है। मुनिमाणिक्यम् नरसिंह राव ऐसे ढंग की कहानी के सूत्रधार हैं जिसमें मध्यमवर्गीय परिवारों के घरेलू जीवन का चित्र हो। वे विशिष्ट स्थितियों में हास्य रस के वर्णन में बहुत सफल होते हैं। उनकी नायिका कान्तम् सहृदया, स्नेहमयी गृहिणी है, जिसमें कि अपना विशेष हठ भी है। वह कई बार सोचती है कि वह जितनी होशियार है उसका पति शायद ही उतना होशियार हो। गुडिपाटी वैंकटाचलम् स्त्रियों द्वारा सहे जाने वाले कष्टों की कहानी बड़े ही ज़ोरों से व्यक्त करते हैं। वे घोर यथार्थवाद में विश्वास करते हैं। विशेषतया सेक्स के वर्णनों के सम्बन्ध में वे कभी-कभी यथार्थवाद के बदले प्रत्यक्षवाद का अनुसरण करते हैं और कहानियों में इतना विवरण भर देते हैं कि उनके कलात्मक भाव नष्ट हो जाते हैं। तेलुगु में सफल कहानी लेखकों की संख्या बहुत बड़ी है और वह बढ़ती ही जा रही है। लेखिकाओं में कनुपर्ती वरलक्ष्मम्मा, इल्लिन्दला सरस्वती देवी और मालती चन्दूर महत्त्वपूर्ण हैं। तेलुगु के कहानी-क्षेत्र की ऊँची सफलता का एक प्रमाण यह है कि तीन वर्ष पूर्व एक विश्व-कहानी-प्रतियोगिता में दूसरा इनाम पी० पद्मराजु को मिला। अडिवि बापिराजु की कहानियाँ साधारणतया कलाकार और उनके सौंदर्य-दृश्यों के आस-पास मँडराती रहती हैं। 'शिला प्रतिमा' एक नर्तकी के प्रति एक मूर्तिकार के प्रेम की स्वप्न-कथा है और वह सहज ही एक श्रेष्ठ कृति बन गई है।

उपन्यास

वीरेशलिंगम् तेलुगु के पहले उपन्यास-लेखक थे। उनका 'राजशेखर चरित्रम्' गत शताब्दी के अष्टम दशक में प्रकाशित हुआ। वह मध्यवर्गी ब्राह्मण परिवार का चित्र है। एक घर के मुखिया कई प्रकार की ऊँची-नीची परिस्थितियों में से गुज़रते हैं, परन्तु अन्त में वे विजयी होते हैं। इस उपन्यास का एक अंग्रेज़ ने अंग्रेज़ी में तर्जुमा किया था। वीरेशलिंगम् के बाद इस क्षेत्र में चिलकमर्ति लक्ष्मी-नरसिंहम् हैं, जिनके ऐतिहासिक उपन्यास बहुत लोकप्रिय बने। उनकी कीर्ति सम-कालीन आन्ध्र-जीवन पर लिखे हुए 'रामचन्द्र विजयम्' नामक उपन्यास पर आधारित है। रमेश दत्त के 'लेक ऑफ़' पाम्स' के उत्तम अनुवाद से आन्ध्र की उस पीढ़ी को बंगाली जीवन और आकांक्षाओं का परिचय मिला। यह श्रेष्ठ कार्य आगे वेंकट पर्वतीश्वर कवुलु करते रहे, जिन्होंने कई बंगाली उपन्यासों का अनु-वाद किया, जिनमें बंकिमचन्द्र के उत्तम ग्रंथ भी हैं। इसके बाद वहुत-से जासूसी उपन्यास लिखे गए, जिनका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है। १९२१ में वुन्नव लक्ष्मीनारायण ने 'माल पल्ली'[१] नामक उपन्यास लिखा, जो कि गांधी-युग का उत्तम उपन्यास है।

विश्वनाथ सत्यनारायण और अडिवि बापिराजु आज के दो श्रेष्ठ उपन्यास-कार कहे जा सकते हैं। दोनों को आन्ध्र में बड़ी लोकप्रियता मिली है। १९३४ में आन्ध्र विश्वविद्यालय ने इन दोनों लेखकों को अपने श्रेष्ठ पुरस्कार दिए। विश्वनाथ का उपन्यास था—'वेयि पडगलु' (सहस्र फण) और बापिराजु का 'नारायणराव'[१]। विश्वनाथ पुराने ढंग के जीवन के प्रेमी हैं और उनके उपन्यासों, विशेषतया 'सहस्र फण' में ऐसी जिन्दगी का वर्णन है, जो अब बहुत-कुछ मिटती जा रही है। अगली पीढ़ियों के लाभ के लिए समाज के विविध स्तरों की विचार-पद्धतियाँ और भावनाएँ, रीति-रिवाज और कई चीजें उन्होंने इस उपन्यास में चित्रित की हैं। बहुत विस्तृत पट पर कार्य करते हुए विश्व-कोश जैसा ज्ञान प्रदर्शित करते हुए विश्वनाथ में कहीं-कहीं पूरे चित्रवन्ध की अन्विति नहीं मिल पाती : विविध स्वर अच्छी तरह से समन्वित नहीं हो पाते। बापिराजु सौन्दर्य-प्रेमी और आशावादी हैं। उनके उपन्यासों का अन्त सुख

१. इन उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं।

और सम्पूर्ति में होता है। कलात्मक दृष्टि से उनका कार्य अधिक पक्का और सफल है।

दूसरे महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार हैं नोरि नरसिंह शास्त्री। उनके 'नारायण भट्टु और रुद्रम देवी'[१] पूर्व चालुक्य-काकति-काल का जीवन व्यक्त करते हैं और सामाजिक-ऐतिहासिक उपन्यासों के नाते बहुत सफल हैं। तरुण लेखकों में सबसे प्रसिद्ध हैं 'बुच्चि बाबू'[२]। उनका 'चिवरकु मिगिलेदि' (जो कुछ बचा रहे) आधुनिक यांत्रिक युग के संघर्ष को व्यक्त करता है। उपनगरों के जीवन में जो छोटी-छोटी लड़ाइयाँ और बुराइयाँ चलती हैं, उनका वह चित्र है। विशेष रूप से स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में जो विचित्र उलझनें पैदा हुई है वे भी इसमें चित्रित हैं। चरित्र, संवाद, वर्णन-शैली इत्यादि में बुच्चि बाबू की रचनाएँ एक प्रकार से विशेष प्रगति व्यक्त करती हैं, यद्यपि उनके भीतर कहीं-कहीं अविश्वास और शंका की धारा विद्यमान है।

यूरोपीय भाषाओं और बंगाली तथा हिन्दी से शरच्चन्द्र एवं प्रेमचन्द के उपन्यास बड़ी संख्या में अनूदित हुए हैं। तेलुगु-गद्य के नाते यह अनुवाद उच्च-कोटि के नहीं हैं।

नाटक

पुरानी सदियों के खुले रंगमंच पर नृत्य-नाटकों की तुलना में आधुनिक मंच के नाटक बड़े-बड़े शहरों में कुछ अव्यावसायिक अभिनेता सामने लाए। गद्य, पद्य और गीत बड़ी मात्रा में उपयोग में लाए गए और उनके विषय भी पौराणिक, ऐतिहासिक या सामाजिक थे। आन्ध्र देश में हरिप्रसाद राव, टी० राघवाचारी और स्थानम् नरसिंह राव जैसे बड़े अभिनेता पैदा हुए। परन्तु डी० कृष्णमाचार्लु, वेदम् वेंकटराय शास्त्री, पानुगंटि नरसिंह राव और गुरज़ाड अप्पाराव जैसे प्रसिद्ध नाटककारों की मृत्यु के बाद कोई सफल लम्बा नाटक नहीं लिखा गया। हर नाटक के अन्त में ऐसा लगता है मानो कोई कहता हो—'कितना सुन्दर अभिनय है, परन्तु नाटक निम्न श्रेणी का है!' विश्वनाथ की 'नर्तनशाला' और वेलूरि चन्द्रशेखरम् की 'कंचनमाला' उत्तम साहित्यिक कृतियाँ हैं। परन्तु वे अभिनेताओं

१ इन उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं।
२. एस० वी० सुब्बाराव।

और जनता दोनों को ही प्रिय नहीं लगीं।

एकांकी नाटक कार्य की क्षिप्रता और विशेषतया सामाजिक और साहित्यिक समारोहों में मनोरंजन के मूल्य के कारण लम्बे नाटकों का स्थान ले रहे हैं, और अब एकांकी नाटकों से भी ज़्यादा, लोगों को सिनेमा प्रिय है। फिर भी एकांकी के बड़े अच्छे प्रसिद्ध लेखक हैं—मुख्य न्यायाधीश राजमन्नार, नार्ल वेंकटेश्वर राव, मृद्दु कृष्ण और आचार्य आत्रेय। आधुनिक रंगमंच को इनकी देन बहुत मूल्यवान है। उन्होंने हमें ऐसे नाटक दिए हैं जो साहित्य की तरह पठनीय होने के साथ-साथ मंच पर अभिनेय भी हैं।'

ज्ञान-विज्ञान का साहित्य

गद्य और पद्य में रचनात्मक साहित्य की तुलना में, ज्ञान-विज्ञान का साहित्य तेलुगु में काफ़ी प्रगति कर चुका है। राजनीति, विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और इतिहास आदि पर उच्च स्तर की पुस्तकें लिखी गई हैं। इतिहास पर के० वी० लक्ष्मण राव, सी० वीरभद्र राव, भावराजु कृष्णा राव और सोमशेखर शर्मा की पुस्तकें साहित्य की कोटि में मानी जाती हैं।

श्री टी० प्रकाशम् की आत्मकथा एक मार्मिक मानवीय लेखा है, एक महान् व्यक्तित्व का आत्म-प्रकटीकरण है। इसकी शैली सरल, सशक्त और आकर्षक है। तेलुगु में नये लेखकों के लिए ऊँची पत्रकारिता प्रोत्साहन का बड़ा स्रोत रही है। कई पत्रों में रचनात्मक साहित्य प्रकाशित होता रहता है, जो कि बाद में पद्य, कहानी या गीत के संकलनों के रूप में प्रकाशित होता है। आन्ध्र पत्रकारों में सबसे बड़े 'कृष्ण पत्रिका' के स्वर्गीय श्री कृष्ण राव हैं, जिन्होंने बड़ा उत्तम गद्य लिखा है। उनके 'समीक्षा' नामक ग्रंथ में साहित्य, दर्शन और कला-सम्बन्धी निबन्ध संकलित हैं।

नया दौर

अन्त में मैं आज की साहित्यिक स्थिति का एक सर्वेक्षण प्रस्तुत करता हूँ। अच्छी कविताएँ अभी भी लिखी जा रही हैं। बाल गंगाधर तिलक ने 'आ रोजुलु' (वे दिन) नामक एक कविता लिखी है, जिसमें बचपन के जीवन और स्वप्नों के प्रति दौहार्द व्यक्त किया है। इस कविता के अन्त में यह सार्थक

विचार है कि वर्तमान जीवन जीने योग्य है तो केवल इसीलिए कि पिछले दिनों की सुगन्धित याद बराबर आती है। पंतुल श्रीराम शास्त्री अच्छी कहानी और रेडियो-नाटकों के प्रभावशाली लेखक हैं, उन्होंने 'मानवुडु' नामक एक पद्य-गाथा लिखी है। इसमें एक चोर के मन की स्थिति दिखलाई है। एक घण्टे के भीतर उसके मन में कितनी भावनाएँ उठती-गिरती हैं, उनका यह सबल वर्णन है, और यह चोर अनिच्छा से उस घर की मुख्य स्त्री का रक्षक बन जाता है, क्योंकि वह स्त्री आत्महत्या करने जा रही थी। विद्वान् विश्वम् की लम्बी कविता 'पेन्नेटिपाट' रायलसीमा के ग्रामीण जीवन का चित्र है। एक ऐसे गाँव का वातावरण इस कविता में है, जहाँ कि गरीबी और अभाव के प्रति निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। उस गाँव की बोली का पुट इस कविता में है और तेलुगु कविता को यह एक महत्त्वपूर्ण देन है। परन्तु अन्त में कवि उपदेशक बन जाता है और अमीरों को कोसता है कि वे बिना हृदय तथा आत्मा के लोग हैं। वे अपनी समृद्धि की इमारत गरीबों की हड्डियों और ख़ून पर बना रहे हैं।

पी० श्रीरामुलु रेड्डी ने तमिल के प्राचीन ग्रंथ 'कम्ब रामायण' और 'शिलप्पदिकारम' को प्रवाही तेलुगु-पद्य में व्यक्त किया है और वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। वे तमिळ और तेलुगु को एकत्र लाने में सहायक हैं।

तेलंगाना से दो प्रकाशन हुए हैं जिनका बड़ा महत्त्व है। सी० नारायण रेड्डी ने अपने 'गेय काव्य', 'नागार्जुन सागर' इत्यादि ग्रन्थों में सौंदर्य और सत्य के पुरातन संघर्ष को सुन्दर काव्य-वाणी दी है। यह संघर्ष वस्तुतः प्रेम और कर्तव्य के बीच का संघर्ष है। शान्तिश्री का हृदय एक ओर पद्मदेव नामक कलाकार के प्रति प्रेम और दूसरी ओर धर्म के प्रति कर्तव्य के बीच में बँटा हुआ है। इस संघर्ष का कोई फल नहीं निकलता। पद्मदेव विजयपुरी छोड़कर चला जाता है और फिर स्वप्न के भीतर स्वप्न की तरह, शान्तिश्री नागार्जुन सागर का कल्पना-चित्र देखते हैं। संकेत स्पष्टतः यह है कि प्रेमी का अमूर्त प्रेम फैलकर एक बाढ़ का रूप लेता है और अन्त में जाकर सागर बन जाता है। यह एक महान् कविता है। दाशरथी का 'महांध्रोदयम्' कविता-संग्रह राष्ट्रीयता की भावना से भरा हुआ है। तरुण दाशरथी को वह कवि मानना चाहिए जिसने विशाल आन्ध्र का स्वप्न देखा था और इस राज्य के प्रत्यक्ष सम्मिलन से बहुत पहले उनके हृदय का सम्मिलन घटित किया था। राष्ट्रीय कविता के अतिरिक्त इस संग्रह में मंजीरा, माधुरी

और पौषलक्ष्मी जैसे भाव-गीत भी हैं।

तेलुगु के मंच के नाटकों को सिनेमा के कारण जो कुछ वर्षों के लिए ग्रहण लग गया था, उससे अब वे मुक्त हो रहे हैं। अव्यावसायिक नाटक-मंडलियाँ, जिनमें कि विद्यार्थी और दूसरे नाटक-प्रेमी भाग लेते हैं, सांस्कृतिक समारोहों में एकांकियों का अभिनय प्रस्तुत करती हैं। पुराने नाटक, जिनमें कि पद्य और संगीत भी बहुत मात्रा में होते थे, प्रायः दर्शकों को आकर्षित करते हैं। नये ढंग के पौराणिक या ऐतिहासिक नाटक अब नहीं लिखे जा रहे हैं। कविता और लोक-कथा में आज के नाटकों में भी विषय की पुनरावृत्ति और एकरसता है। वही किसान, वही कम वेतन वाला क्लर्क, वही वेश्यालयों में जाने वाली स्त्री और वही रिक्शा वाला। कहानी में जितनी अधिक मात्रा में हमें युवक-युवती का मिलन-दृश्य मिलता है उतना नाटक में नहीं। कुछ विशेष हितों या दृष्टिकोण से उनका प्रचार अवश्य करना चाहिए। परन्तु वे यह बात भूलते हैं कि नाटकों की सोद्देश्यता पर आक्रमण करने या बल देने की अपेक्षा वही विचार, घटनाओं और कथानक की रचना के द्वारा वे सरलता से व्यक्त कर सकते हैं। इधर रेडियो-नाटक और मंच के नाटक भी कुछ बहुत अच्छे खेले गए हैं। एक पुराने लेखक मोक्कपाटि नरसिंह शास्त्री ने 'अनश्वरम्' नामक नाटक लिखा है। इस नाटक में प्रच्छन्न उल्लेख है परम्परित हिन्दू समाज की ओर, जो कि नई विचार-धारा और शक्तियों के आगे झुकता है। वह कई बातों को अपनाता भी है, पर उनसे खण्डित नहीं होता। भट्टिपोलु कृष्णमूर्ति का रचा हुआ नाटक 'रिक्शा वाला' एक उच्चकोटि का नाटक है। इसमें एक रिक्शा वाला एक छोटी-सी लड़की के प्रति आकृष्ट होता है, जो कि अन्त में उसीकी नातिन निकलती है। यह करुण-कथा अच्छी तरह व्यक्त की गई है। दो परिवारों के पुनर्मिलन की बात बहुत देर बाद ध्यान में आती है। आरुद्र के 'शालभंजिका' में यह दिखाया गया है कि कहानी अपने-आप कैसे विकसित नहीं होने दी जाती, परन्तु हर मोड़ पर अभिनेता, गायक, कवि और दिग्दर्शक उसे अदलते-बदलते जाते हैं। दूसरा सफल नाटक है, 'अतिथि', इसके लेखक हैं बेल्लमकोंडा रामदास। इसके संवाद और घटनाएँ बहुत ही सौम्य हैं। यह नाटक बहुत अच्छी तरह अन्तिम परिणति पर पहुँचता है। यह नाटक सूक्ष्मतः व्यंग्यपूर्ण है, क्योंकि नायक, जो एक आदर्शवादी है, उन्हीं लोगों द्वारा मारा जाता है, जिनसे कि वह मित्रता करना चाहता है।

कहानी ऐसा साहित्य-रूप है जो आजकल बहुत ही लोकप्रिय है। दैनिक, साप्ताहिक, उच्चकोटि के मासिक पत्र सैकड़ों की सख्या में कहानी प्रकाशित करते हैं, परन्तु साहित्यिक गुणों की दृष्टि से वे इतनी ऊँची नहीं होतीं। विषय-वस्तु की पुनरावृत्ति तो है ही, परन्तु हमारे आधुनिक कहानी-लेखकों का तेलुगु गद्य भी बहुत ही असंतोषजनक है। रूप, शिल्प और साहित्यिक टेकनीक की ओर यह उपेक्षा शायद कहानी को नष्ट कर देगी। कभी-कभी साहित्यिक स्पर्धाओं से बहुत ऊँची कहानियाँ ऊपर आती हैं और प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं में एक ऊँचा स्तर स्थापित होता है। तेन्नेटि सूरि की 'भारती', कोम्मूरि वेनु-गोपाल राव का 'सूर्योदयम्', बुच्चि बाबू का 'निरन्तरात्रयम्', दिगुमर्ति रामा राव का 'मेमु मुग्गुरम्' और वी० सीता देवी का 'मारिपोयिन मनिषि' शैली और टेकनीक दोनों ही दृष्टि से उच्चकोटि की कहानियाँ हैं। डॉक्टर वी० एन० शर्मा ने स्टीफ़ेन ज़्वाइग की 'एक कला-प्रेमी की कहानी' का अनुवाद मूल जर्मन से 'यायादारि चित्रालु' नाम से किया है जो कि उल्लेखनीय है। मुनिमाणिक्यम् ने अपनी बाद की कहानियों की नायिका कान्तम् को एक बुद्धिमान और अनुभवी प्रौढ़ा के रूप में पुन: प्रस्तुत किया है।

आज का सर्वश्रेष्ठ तेलुगु-लेखन साहित्य एवं कला की समीक्षा के क्षेत्रों में ही रहा है। हमारे उच्चकोटि के मासिक एवं साप्ताहिक पत्रों में तथा दैनिक पत्रों के साप्ताहिक संस्करणों में भी शास्त्रीय और सम-सामयिक साहित्य एवं कला की सुपठित एवं सुलिखित आलोचना होती है, साथ ही साहित्यिक एवं कलात्मक कृतियों के मूल्यांकन के सिद्धान्त भी निरूपित किए जाते हैं। यह पुराने विद्वानों की उस पीढ़ी के काम का ही विकसित रूप है जिसमें डॉक्टर सी० आर० रेड्डी, रा० अनन्त कृष्ण शर्मा और पी० लक्ष्मीकान्तम् थे। वी० वी० एल० नरसिंह राव तेलुगु और अंग्रेज़ी उपन्यास की तुलना बड़ी गहराई से करते हैं। पोतुकूचि सुब्रह्मण्य शास्त्री काव्य-शास्त्र पर बड़े ही अच्छे लेखों के प्रणेता हैं। उन्होंने रसास्वाद के सिद्धान्तों पर भी उत्तम लेख लिखे हैं। पी० जगन्नाथ स्वामी ने 'कलोपासना' नामक पुस्तक में रचनात्मक कला के सिद्धान्तों की विवेचना की है। तीन छोटी पुस्तकें, डॉ० सी० सत्यनारायण की 'भारतीय कला', वी० वेंकटेश्वर राव की 'गृहालंकरण' और डॉ० एम० रामा राव की 'नागार्जुन कोंडा' भारतीय शिल्प और चित्र-कला के अध्ययन के लिए उत्तम

पुस्तकें हैं। ये सब बड़ी सरल और प्रसाद-गुणयुक्त गद्य शैली में लिखी गई हैं। चित्रों का मुद्रण और प्रकाशन नयनाभिराम है।

अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य पर व्याख्यात्मक आलोचना का विकास स्वागत करने योग्य बात है। कर्ण राजशेषगिरि राव का निबन्ध जयशंकर प्रसाद की हिन्दी 'कामायनी' पर और रहमान के निबन्ध बंगाली कवि नज़रुल इस्लाम पर विशेष उल्लेखनीय हैं। उच्च साहित्य की रचना और उसकी विवेकयुक्त समीक्षा के लिए हमें रचनात्मक आलोचना के सिद्धान्त ग्रहण करने होंगे। ऊपर जिनका उल्लेख हुआ है, उन लेखकों के छोटे-से वर्ग के प्रति हम आभारी हैं कि उन्होंने बहुमूल्य आलोचनात्मक साहित्य की रचना की है।

तेलुगु का साहित्य महान और विकासशील है। संस्कृत और तेलुगु का सम्पूर्ण समन्वय उस मधुरता और सौन्दर्य से साहित्य को सम्पन्न कर देता है, जिससे कि त्यागराजु के गीत विश्व-विख्यात हुए। प्रमुख भारतीय भाषाओं के कई शतियों के साहित्य का इतिहास जब लिखा जाएगा तब उसमें तेलुगु को सम्मानयुक्त स्थान मिलेगा। नन्नय्य के युग से आज तक साहित्यिक परम्परा अखंड रूप से चली आ रही है।

संदर्भ-ग्रन्थ

तेलुगु लिट्रेचर—पी० चेनचैया तथा राजा एच० भुजंग रायबहादुर
तेलुगु लिट्रेचर—डा० पी० टी० राजु
ए हैंडबुक आफ़ तेलुगु लिट्रेचर—एल० के० सीतारामैया
ए हिस्टारिकल स्केच आफ तेलुगु लिट्रेचर—टी० राजगोपाल राव
द सांग्स आफ़ त्यागराजु—डा० सी० नारायण राव
द नावेल इन तेलुगु लिट्रेचर—प्रो० पी० एन० भूषण
माडर्न तेलुगु पोएट्री (संकलन)—संपादिका श्रीमती ए० छायादेवी
लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया—जी० ए० ग्रियर्सन, खंड ४, पृ० ५७६—६१८

पंजाबी

खुशवन्तसिंह

पंजाबी दो करोड़ से अधिक हिन्दू, मुस्लिम और सिखों की भाषा है। इसके बोलने वाले भारत और पाकिस्तान दोनों में हैं। इसलिए इसकी साहित्यिक परम्परा में तीन अलग-अलग धर्मों के लोगों की रचनाएँ आती हैं, जो तीन अलग-अलग लिपियों में—अरबी, देवनागरी और गुरुमुखी में हैं। फलतः पंजाबी की साहित्यिक परम्परा को उन दूसरी भाषाओं की रचनाओं में प्रचलित विचारों ने भी समृद्ध किया है, जो कि उन-उन लिपियों में लिखी गई हैं। उदाहरणार्थ : अरबी, फ़ारसी और संस्कृत की विविध शाखाएँ। यह मज़ेदार पंचमेल खिचड़ी पंजाबी की अलग-अलग बोलियों के मिश्रण से और भी स्वादिष्ट बनी है। इन बोलियों ने पंजाबी भाषा को एक ख़ास क़िस्म का अक्खड़पन और पौरुष दिया है।

किसी भी भाषा के आरम्भ की तारीख़ क़ायम करना आसान नहीं है। ख़ास तौर से पंजाबी जैसी भाषा के लिए तो यह और भी कठिन है, क्योंकि इसकी पूर्व परम्परा के बारे में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान उसे १२वीं शती तक ले जाते हैं, कुछ उससे भी पहले। जब कोई प्रामाणिक लेखा नहीं है, तब बेहतर यही है कि उन लेखकों से शुरू किया जाय जिनकी तारीख़ों का निश्चित पता है। जिनकी रचनाएँ हमारे साहित्य का अभिन्न अंग बन गई हैं और समकालीन लेखकों को प्रभावित करती हैं। इनमें दो मुख्य दल हैं, एक तो मुस्लिम सूफ़ी और दूसरे सिख गुरु। दोनों १५वीं शती से शुरू होते हैं। ये दोनों धाराएँ बहुत पहले एक हो गईं; मानो यही हमारी भाषा की जनक-जननी रही हों।

सूफ़ी

भारत में मुसलमानों के आक्रमण के पीछे-पीछे सूफ़ी आये। भारतीय जीवन

और साहित्य पर उनका प्रभाव तब तक नहीं हुआ जब तक उन्होंने यहाँ की भाषा और यहाँ के लोगों के रिवाज नहीं अपनाये। जब तक वे यह सब करने लगे तब तक उनका धार्मिक उत्साह बहुत कुछ ठण्डा हो गया था और वे अपने से भिन्न दूसरे धर्मों को मानने और उनके प्रति आदर भी व्यक्त करने लगे थे। सूफ़ियों का पजाब में मुख्य स्थान था, मुल्तान के पास 'पाकपट्टन'। इस प्रदेश में धार्मिक विचारों पर उनका प्रभाव सबसे अधिक है। सिख गुरु, विशेपतया सिख-धर्म के संस्थापक गुरु नानक ने उतनी ही भक्ति से सूफ़ियों को पढ़ा जितनी से भक्तों और सन्तों को।

सूफ़ियों की दृष्टि में परमात्मा और भक्त का वही सम्बन्ध है, जो एक प्रेयसी और प्रेमी का होता है। दोनों के बीच माया का पर्दा है; इसी कारण विरह है। यह विरह गहरी लगन और प्रेम से ही दूर हो सकता है। बुल्लेशाह के लोकप्रिय गीतों में व्यक्त यही भावना प्रायः इन सन्त कवियों में है :

"प्रेम की सदा एक नई बहार होती है।
मैं वेद के शब्दों से थक गया,
कुरान पढ़ने से थक गया।
प्रार्थना से मैं थक गया।
सिज़दे से मेरा माथा घिस गया।
न मैंने हिन्दुओं के तीर्थों में भगवान पाया।
और न मक्का को हज पर जाने से।
केवल जिसे प्रेम मिला उसे ही प्रकाश मिला।"

यह विचार सिखगुरुओं के लेखन में बार-बार आता है, और पंजाब के तीन महाकाव्यों के पीछे यह भावना बराबर काम करती है। ये तीन महाकाव्य है : 'हीर-राँझा', 'ससि-पुन्नू' और 'सोहनी-महीवाल'। इन सबमें जीवन-भर वियोग और विरह सहने के बाद प्रेमी मिलते हैं तो मृत्यु में। इसी भावना की गूँज आज के सबसे बड़े कवि भाई वीरसिंह की कविता में भी हमें मिलती है।

सूफ़ी लोग गाँवों में रहते थे और उनकी शब्दावली में बड़ी ताज़गी और देहाती रंग है। किसानों के प्रतिदिन के काम, हल चलाना, बुनना, छांछ मथना, संयुक्त परिवार के कारण रिश्तेदारों की बड़ी संख्या में चलने वाली रार-तकरार, कहीं बहनों का भाइयों के लिए प्रेम और भौजाइयों से नन्द की लड़ाई, सास के अत्याचार, लड़की का पीहर की याद में तड़पना इत्यादि बातों से उन्होंने अपनी

आवश्यक उपमाएँ और रूपक ग्रहण किए। सिख गुरुओं, विशेषतया गुरु नानक ने इन लोकप्रिय बातों और घटनाओं का बड़ा सदुपयोग किया और उन्हीं के द्वारा अपना सन्देश दिया।

सूफ़ियों की पंजाबी-साहित्य को दूसरी महत्त्वपूर्ण देन है, कुछ छन्द-रूपों को विशेष लोकप्रिय बनाना। सूफ़ी साहित्य में कुछ छन्द बहुत मिलते हैं, जैसे 'काफ़ी', 'बारह-माह' और 'सिहरफ़ी'। 'काफ़ी' फ़ारसी के कवियों को बहुत अच्छी तरह मालूम थी और आज भी यह उर्दू कविता में लोकप्रिय है। 'बारह-माह', या वर्ष के बारह महीनों का वर्णन ऐसा विषय था, जिसमें कवि स्वतन्त्रतापूर्वक ऋतुओं का सौन्दर्य वर्णित करते थे। इस प्रकार कवि इस विषय की डोर को लेकर जो चाहते थे, इसमें गूँथ देते थे। पंजाबी कविता में प्रकृति-वर्णन के कुछ बहुत ही समृद्ध स्थलों का आरम्भ 'बारह-माह' की रचना-पद्धति में मिलता है। वारिस शाह ने एक सुन्दर 'बारह-माह' अपने 'हीर-राँझा' में दिया है और 'आदि-ग्रंथ' में सम्मिलित गुरु नानक का 'बारह-माह' भी पंजाबी साहित्य का अत्यन्त सुन्दर अंश है (यह दुःख की बात है कि समकालीन लेखक इस पद्धति को छोड़ते जा रहे हैं)। 'सिहरफ़ी' यानी अक्षरबन्ध, जिसमें एक छन्द का अन्तिम अक्षर अगले छन्द का आरम्भिक अक्षर होता है, पजाबी का अपना विशेष काव्य-रूप है। सिख गुरुओं ने इस रूप में लिखा, पर उनके बाद इसे छोड़ दिया गया और उसे पुनर्जन्म कभी नहीं मिला।

सिख गुरु

अधिकतर सिख गुरु कवि थे और 'ग्रंथ साहिब' में नानक, अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुन और तेग़बहादुर की रचनाएँ सुरक्षित हैं। दो सिख धर्म-ग्रंथों के सबसे प्रमुख रचयिता हैं—प्रथम गुरु नानक और पाँचवें गुरु अर्जुनदेव।

गुरु नानक (१४६९–१५३९) ने कविता द्वारा उपदेश दिए। फलतः उनकी रचनाओं में उनके जीवन-दर्शन को व्यक्त करने वाली उपदेशात्मकता है। उनमें दूसरों को एक ख़ास ढंग का जीवन बिताने के लिए सीख और नसीहत है। अधिकतर ऐसी उपदेशपरक नीति-प्रधान कविता संकीर्ण होती है, क्योंकि उसका उद्देश्य संकुचित होता है, परन्तु गुरु नानक की कविता में वाणी की स्वतन्त्रता विशेष रूप से है। देहाती पंजाब का सौन्दर्य—लहलहाते गेहूँ के खेत, ऊषाकाल और

पक्षियों का जगना, जंगल में हिरनों के झुंडों का भागना, वर्षाकालीन घटाओं की भव्यता और पावस का संगीत—इन सबसे उनमें एक धार्मिक और काव्यमय उन्माद जागता था। उनके लिए सामान्य विषयों में भी नैतिक अर्थ की संकेत-योजना गर्भित रहती थी :

"जैसे बैलों की जोड़ी हाँकी जाए
हलवाहे द्वारा, वैसे ही हमारे लिए हमारा गुरु है।
जिस तरह खेत में लकीरें बनती जाती हैं,
इस धरती के काग़ज़ पर हमारे कर्म लिखे जाते हैं।
ये पसीने की बूँदें, जो मणियों की तरह हैं,
इस तरह गिरती हैं जैसे किसान के हाथों से बीज।
जैसा हम बोते हैं, वैसा ही काटते हैं,
कुछ अपने लिए रख लेते हैं, कुछ और को दे देते हैं।
ओ नानक, यही सच्चे जीवन का रास्ता है।"

गुरु नानक का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है—'जप साहब'। यह सवेरे की प्रार्थना है। निम्नलिखित पद्य उस धार्मिक उमंग का एक नमूना है, जिससे उनकी सारी रचनाएँ भरी हुई हैं :

"एक के बदले मुझे लाख जिह्वाएँ दी होतीं,
और हर लाख बीस गुना होता,
तो लाख बार मैं कहता और फिर कहता हूँ,
सारी दुनिया का स्वामी एक है।
वही रास्ता है जो मंज़िल पर पहुँचाता है,
यही सीढ़ियाँ हैं जो ऊपर ले जाती हैं,
इसी तरह स्वामी के महल में चढ़,
और उससे जाकर मिल जा, एक हो जा!
स्वर्ग के संगीत की ध्वनि स्पन्दित होती है
उन सबके लिए एक-सी, जो रेंग रही है, ऊपर उड़ना
चाहती है।
ओ नानक, उसी की कृपा यहाँ-वहाँ सब ओर फैली है,
बाक़ी सब बकवास है, और झूठ है।"

गुरु अर्जुन (१५६३–१६०६) ने वही गहरा भाव अपनी कविता में व्यक्त किया है, जैसा गुरु नानक का है। उनकी कविता में रत्नों-जैसे शब्द और वाक्यांश भरे हैं। अनुप्रास और शब्दानुवृत्ति के कारण उनकी कविता में मार्मिक संगीत पैदा हुआ है। 'सुखमनी' गुरु अर्जुन देव की बहुत लोकप्रिय रचना है और वे हमारी भाषा में सबसे अधिक गाये जाने वाले कवियों में हैं।

पंजाबी साहित्य की सबसे महान कृति 'ग्रंथ साहब' है। इसे संकलित करने में सबसे अधिक श्रम गुरु अर्जुन देव और उनके समकालीन लेखक भाई गुरुदास ने किया। यह बहुत बड़ा ग्रंथ है, कई हज़ार छन्द इसमें हैं। ऊपर जिन छः गुरुओं का नाम आया है, उनके अलावा कई सन्त कवियों के पद्य भी इसमें जुड़े हैं। ये सन्त भक्ति-आन्दोलन से सम्बद्ध थे। भाषा कई बार उस प्रदेश की नहीं है, जिस प्रदेश के ये सन्त माने जाते हैं।

गुरु गोविन्द सिंह (१६६६–१७०८) सब सिख गुरुओं में सबसे सुपठित और विद्वान् थे। हिन्दू पुराण-ग्रंथों और इस्लाम के धर्मशास्त्र से वे सुपरिचित थे। वे कला और साहित्य के प्रेमी थे, उनके दरबार में ५२ कवि थे। उन्होंने संस्कृत, फ़ारसी, पंजाबी तीनों भाषाओं में लिखा है। अपने पूर्वजों से भिन्न उन्होंने अपनी रचनाएँ केवल पद्य में परमात्मा की स्तुति के लिए ही नहीं लिखीं। गुरु गोविन्द सिंह की रचनाओं में नैतिक और राजनैतिक अर्थ है। उन्होंने अपने अनुयायियों में जो वीरता की भावना फूँकी वह उनके प्रसिद्ध 'जफ़रनामा' नामक विजय के गीत जैसी सबल कविता में व्यक्त है। यह कविता सम्राट औरंगज़ेब को सम्बोधित है। उनका 'जप साहब' उनके अनुयायियों के लिए आज भी प्रेरणा-स्रोत है। गुरु गोविन्द सिंह की कृतियाँ उनके समकालीन मणीसिंह ने संकलित और सम्पादित कीं।

गोविन्द सिंह की रचना की शक्ति का एक नमूना निम्नलिखित है :

"अनन्त ईश्वर, तू हमारी ढाल है,
कटार, चाकू, तलवार तू ही है।
हमारी रक्षा के लिए दिया हुआ
अजर-अमर स्वर्ग का स्वामी तू है,
हमारे लिए पूरे इस्पात की अपराजित शक्ति,
हमारे लिए त्रिकाल की अबाध गति,

सिर्फ़ तू ही है, ओ हमारे वीर रक्षणकर्त्ता,
पूरे इस्पात के बने, क्या इस दास को नहीं बचाओगे !"

दस गुरुओं की मृत्यु के बाद इन गुरुओं की जीवनियों पर समकालीन और अन्य लेखकों ने इतना लिखा कि मानो एक बाढ़ आ गई और इस विषय पर जो जानकारी मिली वह सब जमा की गई। इन जीवनियों का नाम 'जनम साखी' है और वह मूल्यवान ऐतिहासिक वर्णन है। इस काल के अच्छे जानने वाले इतिहासकार थे—सेवाराम, राम कौर, सन्तोखसिंह, रतनसिंह भंगु और ग्यानसिंह।

सत्ता के लिए संघर्ष के समय सिखों ने कोई साहित्य नहीं रचा और न सिख राज्य के उस छोटे-से काल में ही कुछ लिखा गया, जबकि फ़ारसी का ज़्यादा मान था, और पंजाबी का कम। परन्तु जब वे विजय करने और अपने राज्य को संघटित करने में लगे हुए थे तब दो मुसलमानों—बुल्ले शाह (१६८०–१७५८) और वारिस शाह (१७३५–१७९८) ने ऐसी कविता लिखी जो रोमांटिक और रहस्यवादी पंजाबी काव्य का उत्कृष्ट नमूना है। बुल्ले शाह की 'काफ़ी' और वारिस शाह का महाकाव्य 'हीर-राँझा' बहुत ही लोकप्रिय हैं और इस प्रदेश के हर गाँव में ये पढ़े जाते हैं। उन्होंने पंजाबी लेखकों की आगे आने वाली पीढ़ियों को भी प्रभावित किया।

समकालीन पंजाबी लेखक

अंग्रेज़ों के कब्ज़ा करने के आधी शताब्दी बाद तक भारत में बहुत-सा साहित्य पैदा हुआ। राजनैतिक भावना के परिणामों से उबरने में बहुत साल लगे, पश्चिम के मूल्यों को समझने में बहुत समय लगा। प्रमुख अंग्रेज़ी शासक यह मानते थे कि सारी पूर्वी संस्कृति बेकार है और भारतीयों के लिए सबसे अच्छा सही मार्ग यही है कि वे यूरोपियन संस्कृति को अपना लें। भारत की एक पीढ़ी इस राय से सहमत थी और उन्होंने अपने-आपको इतनी अंग्रेज़ियत में डुबो लिया कि उनका भारतीय परम्परा और गुण से सम्बन्ध जैसे छूट ही गया। अगली पीढ़ी ने इस मूर्खता को समझ लिया और प्राचीन भारत की उपलब्धियों को जिन संग्रहालयों में रखा था, उनपर से धूल साफ़ करनी शुरू की। यही प्रक्रिया सारे देश में चलती रही। चूँकि पंजाब में इन पश्चिमी प्रभावों का असर सबसे अन्त में आया, अतः उस प्रभाव को दूर करने में भी वह सबसे पीछे रहा। इसी कारण पंजाबी-साहित्य

का पुनर्जागरण शेष देश की अपेक्षा बहुत देर से घटित हुआ।

अंग्रेज़ों के आने के बाद, पहले सिंह सभा के आन्दोलन और बाद में अकालियों व कम्युनिस्टों के प्रभाव से जो सामाजिक और राजनैतिक भावनाएँ घटित हुईं, उन्हीं को पंजाबी-साहित्य प्रतिबिम्बित करता रहा। प्रत्येक समय की साहित्यिक रचनाओं पर उन समस्याओं का प्रभाव है, जो कि इन आन्दोलनों के प्रवर्त्तकों के सामने थीं। फिर भी कुछ लेखक ऐसे थे जो सामाजिक-राजनैतिक समस्याओं से बेफ़िक्र रहते थे और मानो लिखने के लिए ही लिखते थे।

सिंह सभा के लेखक

सिंह सभा के आन्दोलन का साहित्यिक कृतित्व सिख धर्म को उनके योगदान का ही महत्त्वपूर्ण अंग है। जिस व्यक्ति ने इस दिशा में सबसे अधिक काम किया, वे थे भाई वीरसिंह। उन्होंने पंजाबी भाषा में लोगों की दिलचस्पी फिर से पैदा की। इस भाषा के इतिहास में उनका नाम हमेशा एक पथ-चिह्न की तरह माना जाएगा। वीरसिंह (१८७२–१९५७) ने ८५ वर्ष के जीवन में इतना लिखा, जितना कि शायद किसी भी जीवित या मृत भारतीय लेखक ने न लिखा होगा। उनकी रचनाएँ इतनी अधिक हैं कि 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' के २४ खण्डों के बराबर उनका स्थान है—और अपने जीवन के अन्त तक भी उनका लिखना बन्द नहीं हुआ था। उन्होंने उपन्यास, कहानी, धर्मग्रंथों की टीकाएँ सब-कुछ लिखा है।

जब उन्होंने लिखना शुरू किया तब १९वीं शताब्दी के अन्त में जो सामाजिक और राजनैतिक स्थिति थी, उसी परिपार्श्व में वीरसिंह के लेखन को देखा होगा। उनके उपन्यास, जिनसे कि उनका नाम लाखों घरों में जाना गया, ऐसे समय लिखे गए थे जबकि पंजाबी लोग अपने पुरखों की उपलब्धियों पर शंका करना शुरू कर रहे थे। अंग्रेज़ इतिहासकार स्थूल और अनैतिक सिख-राज्य की निन्दा करते थे और कहते थे कि अंग्रेज़ों ने उसके बदले अधिक सुसभ्य राज्य क़ायम किया। संस्कृत के विद्वान् सिखों के धर्म का मज़ाक उड़ाते थे कि यह तो वेदों का ही बहुत दरिद्र अनुकरण है और सिख धर्म के बाह्य रूपों तथा संकेतों को जंगली करार दे रहे थे। भाई वीरसिंह के सुन्दरी, विजयसिंह, सतवन्त कौर और बाबा नौधसिंह उपन्यासों में सिखों की वीरता और बहादुरी का मुख्य विषय मिलेगा।

सिख धर्म की नैतिक श्रेष्ठता ही उनके उपन्यासों का मुख्य विषय है। सिखों की अच्छाई से उलटे जनसाधारण की दासता, पठान और मुग़ल राजाओं के अत्याचार भी वर्णित किए गए। सिखों ने वीरसिंह के उपन्यास बड़े उत्साह और श्रद्धा से पढ़े। लेकिन धीरे-धीरे वह विशेष मनःस्थिति बदल गई और उनके उपन्यासों की लोकप्रियता भी कम हो गई। आज के पाठक को ये उपन्यास बहुत नीरस लगते हैं। उनका स्थान साहित्य में नहीं, इतिहास में है।

वीरसिंह ने उपन्यास लिखना छोड़ दिया और धर्म-ग्रंथों पर टीका और उनके अनुवाद कई छोटी-छोटी पुस्तिकाओं में तथा 'खालसा समाचार' नामी अपने साप्ताहिक पत्र में लिखने शुरू किए। इसीमें उनकी कविता भी प्रकाशित होनी शुरू हुई, जिसके कारण उन्हें पंजाबी कवियों में बहुत बड़े सम्मान का स्थान मिला।

वीरसिंह ने पहले मुक्त छन्द के प्रयोग किए। एक लम्बी कविता 'राणा सूरतसिंह' नाम से प्रकाशित हुई। इसका विषय भी वही हमेशा की तरह धार्मिक था। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था और शैली बड़ी प्रभावशाली थी। पंजाबी में पहले किसी ने सफलतापूर्वक मुक्तक नहीं लिखा था। वीरसिंह ने एक लम्बी कविता ऐसी सफलता से लिखी कि उसमें अनुप्रास और शब्द-संगीत, लय और आवृत्ति से ऐसा आनन्द निर्मित हुआ कि मानो उसमें किसी ग्रीष्म की दोपहरी का सालस सरस वातावरण हो। इसके बाद वीरसिंह ने नानक और गुरु गोविन्दसिंह दो सिख गुरुओं की जीवनियाँ लिखीं। पहले 'कलगीधर चमत्कार' नाम से गुरु गोविन्दसिंह की जीवनी प्रकाशित हुई और इसके तीन वर्ष के बाद 'गुरु नानक चमत्कार' निकली।

इन जीवनियों के बीच में वीरसिंह ने कई कविता-संग्रह प्रकाशित किए, जिनमें उन्होंने ऐसा छोटा छन्द प्रयुक्त किया जो आज तक पंजाबी कवियों ने प्रयुक्त नहीं किया था। इनमें से अधिक लोकप्रिय थी 'रुबाइयाँ' (उमर ख़य्याम के पाठक इन्हें जानते हैं)। इनमें उन्होंने अपने दर्शन और रहस्यवाद को व्यक्त किया। उनकी रुबाइयों में ईश्वर और मनुष्य-जाति का प्रेम, आध्यात्मिक और ऐंद्रिक, नैतिक तथा दैवी धाराओं का रंगीन मिश्रण मिलता है। इन्हें पढ़कर सौंदर्य और आश्चर्य दोनों का बोध होता है। इन सबमें विनम्रता का और कभी-कभी आत्म-पीड़न का अन्तःस्वर भी दिखाई देता है :

"तुमने मुझे शाख से तोड़कर अलग किया,
मुझे हाथ में लेकर सुगन्ध सूँघी,
और मुझे फेंक दिया।
इस तरह फेंका हुआ, उपेक्षित, पददलित, धूलि-धूसरित मैं हूँ।
मुझे केवल इतनी ही याद है—और मैं उसके लिए कृतज्ञ हूँ,
तुम्हारे स्पर्श की स्मृति का।"

और उनकी यह कविता बहुत अधिक उद्धृत हुई है :

"सपने में तुम मेरे पास आए,
मैंने उछलकर अपनी बाँहों में भर लेना चाहा,
पर वह केवल आभास था, जिसे कि मैं पकड़ न सका।
मेरी बाँहें साध से दुखती रहीं।
फिर मैंने लपककर तुम्हारे पैर पकड़ने चाहे
कि मैं उन पर अपना सिर टेक दूँ।
वहाँ तक भी मैं न पहुँच सका
क्योंकि तुम बहुत ऊँचे थे और मैं नीचा था।"

एक और कविता में वीरसिंह ने बुद्धि पर श्रद्धा की विजय और महत्ता व्यक्त की है :

"मैंने अपने मन को एक भिखारी का कटोरा बना दिया।
मैं दर-दर ज्ञान की रोटी माँगता फिरा।
ज्ञान के घरों से जो टुकड़े गिरते रहे
उन्हें अपने कटोरे में ठूँस-ठूँसकर भर दिया।
अब वह भारी था,
मुझे अहंकार हुआ,
कि अब मैं पंडित हूँ।
अब मैं बादलों में घूमने की कोशिश करने लगा,
मगर सचाई यह थी कि ज़मीन पर भी मैं ठोकर खा
रहा था।
एक दिन मैं अपने गुरु के पास गया
और यह कटोरा उसके सामने मैंने उपहार के रूप में रख

दिया ।
'मि;ी है', उसने कहा, 'मिट्टी' ।
उसने उसे उलट दिया ।
उसने मेरे टुकड़े फेंक दिए,
कटोरे को रेती से माँजा,
उसे पानी से धोया,
उसमें से ज्ञान का मैल निकाल दिया ।"

अधिकतर लोगों की सृजनात्मक शक्ति ६० वर्ष की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते समाप्त हो जाती है। परन्तु वीरसिंह के साथ ऐसी बात न थी। वे कभी भी उन साग्निक कवियों के दल में न थे, जो अपनी ही रचनाओं की लपटों में जल जाते हैं। जिस तरह का जीवन वे जीते थे और जैसी कविता लिखते थे, दोनों ही शुद्धतावादी परम्परा में रहे—भाषा साफ़, विचार पवित्र, व्यंजना हार्दिक। निश्चय ही, वही ज्यादा दिन टिकने वाली चीज़ है। यह उचित ही हुआ कि उनकी 'मेरे सैयाँ जिओ'[1] नामक ग्रंथ को देश के सर्वोत्तम साहित्यिक पुरस्कार का सम्मान मिला। इससे कम से कम यह लाभ तो हुआ कि पंजाबी भाषा के बाहर के दूसरे लोगों को वीरसिंह के नाम का पता लग गया। अब किसी उत्तम अनुवाद की बड़ी जरूरत है।

भाई वीरसिंह के चार समकालीन कवि, जो अब जीवित नहीं हैं, उल्लेखनीय हैं। काहनसिंह ने सिख धर्म का सबसे प्रसिद्ध विश्व-कोश बनाया। चरणसिंह 'मौजी' के संपादक थे, उन्होंने पंजाबी गद्य में हास्य की शुरुआत की। पूरणसिंह ने कुछ उत्तम रचनाएँ मुक्त छंद में दीं और बड़ी ही परंपरा-रहित शैली में और वह भी अपरिचित विषयों पर। और धनीराम चात्रिक, जिनकी कीर्ति जब तक वे जीवित थे भाई वीरसिंह से दूसरे नंबर पर थी। उनके काव्य-संग्रहों, विशेषत: 'चानन वारी', 'केसर क्यारी', 'नवाँ जहान', और 'सूफ़ीखाना' में कुछ बहुत सुन्दर भाव-गीत हैं, जिनमें पंजाबी बोलियों की मुहावरेदारी भी है।

तरुण पीढ़ी में भी कविता ही साहित्यिक व्यंजना का सबसे लोकप्रिय रूप बना हुआ है। ऐसा कोई महीना नहीं बीतता जिसमें एक नया कवि आगे न आता

१. साहित्य अकादेमी ने स्वतंत्रता के बाद प्रकाशित पंजाबी की श्रेष्ठ रचना का पुरस्कार इस ग्रंथ को दिया।

हो। अख़बारों और पत्रिकाओं में बहुत-सी जगह कविताओं के लिए दी जाती है और किसी राजनैतिक या धार्मिक सभा से अधिक जनता पंजाबी कवि-दरबार में जमा होती है। बहुत-सी नई कविताएँ ऐसी हैं जिनमें गुण बहुत कम हैं। इस सर्व-साधारण नियम के दो अपवाद हैं, मोहनसिंह और अमृता प्रीतम। मोहनसिंह[1] साहित्यिक पत्रिका 'पंज दरिया' के सम्पादक हैं, उन्होंने 'सावे पत्तर', 'कुसूम्बा' और 'अधवाटे' नामक तीन पुस्तकों से बड़ा ही उत्तम आरम्भ किया है। वे तरुण कवियों में सबसे अच्छे माने जाते हैं, इसमें कोई शंका नहीं। उनकी बाद की रचनाएँ विशेषतया—'कुछ सच', जो कि देश के विभाजन के बाद प्रकाशित हुई, ऐसी है कि उसमें वाम पक्ष की ओर ज़बरदस्त झुकाव है। इसमें राजनैतिक भावनाओं को काव्य-रूप से भी अधिक महत्त्व दिया गया है और यह बीमारी ऐसे बहुत-से नौजवान लेखकों को लग गई है, जो अपने-आपको 'प्रगतिवादी' कहते हैं। मोहनसिंह के मामले में मार्क्सवाद के प्रति पहला उत्साह जल्दी ही ठण्डा हो गया, और अब उनमें दलितों का नेतृत्व करने की इच्छा और कर्म के लिए प्रेरणा के रूप में ही वह मार्क्सवाद बाक़ी है। वे अपने पहले के लेखन की सहज सुन्दरता को फिर से पकड़ सके हैं और अगर वे इसी रफ़्तार से लिखते रहे तो वे हमारी भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि ज़रूर बन जाएँगे, क्योंकि उनके आगे बड़ी उम्र बाक़ी है। एक नवीन किन्तु अनुलिखित ग़ज़ल में उन्होंने अपनी क्रान्तिकारी भावना इस प्रकार से व्यक्त की है :

> "घड़े के अन्दर का अँधेरा फूट पड़ा,
> चाँदनी का दूधिया सफ़ेद रंग फैल गया;
> समय हो गया है कि हम सवेरे की बात करें,
> और रात के बारे में गप्प लड़ाना छोड़ दें।
> मैं मानता हूँ कि शिशिर के स्पर्श से
> कुछ पत्ते पीले पड़ते जा रहे हैं।
> जो कुछ खोया और बीत गया उसके लिए दुःख मत करो,
> अपनी गोद नई आशाओं से भर लो!
> कब तक स्वर्ग के प्राचीन पनघट पर
> बेकार कल्पनाएँ खींचोगे और उन्हें प्रिय मानोगे?

---

१. इन्हें 'वड्डा वेला' काव्य पुस्तक पर १९५९ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

चलो इस धरती के वालों को चूमें,
चलो कुछ नज़दीकी चीज़ों के बारे में बात करें।"

दोनों पंजावों में—यानी पाकिस्तान और भारत में—अमृता प्रीतम साहित्यिकों में बहुत लोकप्रिय हैं। वह कोई 'प्रगतिशील' कवयित्री नहीं हैं, न उन्हें कोई संदेश ही देना है। वे किसी और कारण से कविता नहीं लिखतीं, केवल इसलिए लिखती हैं कि लिखे बिना उनसे रहा नहीं जाता। वह विद्वान् नहीं हैं, लेकिन उनकी कविता की सादगी और ताज़गी उस विद्वत्ता के अभाव को भर देती है। उनकी सभी रचनाओं में लोक-गाथा और वीर-काव्य की मधुर धुन समाई रहती है। कभी-कभी सुन्दर उक्तियों या शब्दों का माधुर्य उन्हें अपने मूल विषय से दूर ले जाता है और उससे कविता का मुख्य विषय धुँधला हो जाता है। एक कविता में, जो कि उनकी प्रिय कविता है, प्रेमी अपनी प्रेमिका से कहता है :

"जागो, प्रिय !
तुम्हारी पलकें स्वप्नों से भारी हैं,
बीते हुए दिनों के स्वप्नों से,
जब हवाएँ सुगन्धि से गुँथी हुई थीं
(क्या उस कारण से तुम आह भर रही हो ?)
अमावस्या की अँधेरी रात में
अनगिनत तारे तुम्हारे बालों को चमका दें।"

जिस कविता ने अमृता प्रीतम[1] की कीर्ति को भारत की सीमा पार कर पाकिस्तान तक फैलाया वह 'वारिस शाह के प्रति' है। वारिस शाह विभाजन के पूर्व के उन अच्छे दिनों का प्रतीक है जब हिन्दू, मुसलमान और सिख भाई-भाई की तरह रहते थे। अमृता की कविता इस प्रदेश के विभाजन पर एक मर्सिया है। विभाजन के बाद जो ख़ून-ख़राबा हुआ उसपर उसमें शोक व्यक्त किया गया है। वह वारिस शाह से पूछती है कि अब तू क़ब्र में से क्यों नहीं जागता और तेरी [illegible] में जो विनाश हो रहा है उसे क्यों नहीं देखता :

[illegible] दुःख को शान्त करने वाले उठ, और अपना पंजाब देख,
[illegible] खेतों में लाशें फैली हैं, चिनाव में खून बह रहा है।

[1] [illegible]९५६ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार अपनी 'सुनेहुड़े' (काव्य) पुस्तक पर मिला.

हमारी पाँचों नदियाँ उसी हाथ ने ज़हरीली बना दीं,
जो कि इन ज़हरीले पानी को ज़मीन की सिंचाई के लिए
काम में लाता है।"

अमृता की कविता को लोकप्रियता कुछ सहज ढंग से मिल गई और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि काव्यात्मक गुण छोड़कर वह लोक-प्रशंसा का रास्ता अपनाती है। (उनकी कविता की शुरू की पंक्तियाँ सबसे अच्छी होती हैं; उसके बाद करुण अन्त सबमें प्रायः पाया जाता है।) परन्तु वह अभी आयु में छोटी हैं और उस कवयित्री के आगे बड़ा अच्छा भविष्य है। पंजाब को उनसे बहुत आशाएँ हैं।

दूसरी भाषाओं की तरह पंजाबी में भी कविता में ऐसी आधुनिक धाराएँ हैं जो रूप-छन्द-तुक आदि को न मानने का आग्रह रखती है और इस कारण वे साधारण पाठक के लिए बहुत अर्थहीन हो जाती हैं। इस तरह का बहुत-सा लिखना उनके दिन चुक जाने पर ख़त्म हो जाता है; सिर्फ़ जो अच्छा है, वही बचता है। जो बचने लायक थोड़ा-सा है, उसका उदाहरण वकील प्रीतमसिंह 'सफ़ीर' की कविता है। इधर बहुत दिनों से वे भी प्रायः मौन हैं।

चलें, अब हम गद्य की ओर मुड़ें। पंजाबी गद्य में सबसे बड़ा नाम गुरबख़्श-सिंह का है। गुरबख़्शसिंह ने अपना जीवन इंजीनियर के नाते शुरू किया और अध्ययन के लिए वे अमरीका पहुँचे। वहाँ से लौटने पर उन्होंने इंजीनियरी छोड़ दी और आधुनिक विचारों का प्रचार करने लगे। 'प्रीत लड़ी' नाम से उन्होंने एक अख़बार चालू किया और उस मासिक के द्वारा अपने विचारों का प्रचार करने लगे। उन्होंने एक सामूहिक केन्द्र स्थापित किया, जिसे प्रीतनगर कहते हैं और जो भारत तथा पाकिस्तान की सीमा पर है। प्रीतनगर ऐसी शिक्षा का केन्द्र बन गया। गुरबख़्शसिंह का 'साँवी पथरी ज़िन्दगी' निबन्ध-संग्रह ऐसा था कि उसने उन्हें पंजाब का सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार और गद्यकार बना दिया। सामाजिक प्रवृत्ति के जिन कई लेखकों के पीछे उनकी प्रेरणा प्रधान है, उनमें उनके पुत्र नवतेजसिंह भी हैं। पिता-पुत्र दोनों चीन, पूर्वी यूरोप, सोवियत रूस इत्यादि स्थानों पर 'शान्ति-सम्मेलनों' में जाते रहते हैं। यद्यपि उनका बहुत-कुछ लेखन क़समिया प्रचारात्मक है, फिर भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वह अच्छे स्तर का है, क्योंकि वह बाहर की दुनिया के अनुभव से समृद्ध है और विदेशी साहित्य की

आधुनिक धाराओं का उसमें प्रतिविम्व है।

पंजाबी उपन्यास में वहुत कम गणनीय हैं। वैसे तो कई उपन्यास लिखे जा रहे हैं और हर मास प्रकाशित हो रहे हैं। भाई वीरसिंह, जिनकी कविता में श्रेष्ठता इतनी उच्चकोटि की थी, उपन्यास के आवश्यक गुण नहीं पैदा कर सके और दुग्गल जैसे तरुण लेखक लम्बी कहानियाँ लिखते हैं, और उसी से सन्तुष्ट रहते हैं। दुग्गल की कहानियों के सिलसिलों में वही चरित्र होते हैं, और शायद यों सोच लिया जाता है कि इसी का नाम उपन्यास है। सबसे अधिक लोकप्रिय उपन्यासकार नानकसिंह हैं, जिन्होंने क़रीब चालीस उपन्यास लिखे हैं, जिनमें 'चिट्टा लहू', 'आदमख़ोर'[1] सर्वोत्तम हैं। नानकसिंह अपनी रचनाओं द्वारा सामाजिक सुधार का संदेश फैलाना चाहते हैं। उनकी कहानियाँ दिलचस्प होती हैं, परन्तु उनकी भाषा अंग्रेज़ी शब्दों से विकृत है, जबकि उन्हीं शब्दों के लिए अच्छे-ख़ासे पंजाबी शब्द मौजूद हैं। दो तरुण लेखक, जो यदि सुधरते जायँ तो आगे बहुत अच्छा लिखेंगे, सुरिन्दरसिंह नरूला और जसवन्तसिंह 'कँवल' हैं। 'कँवल' की 'पूरणमासी' बहुत आशापूर्ण रचना है।

रचनात्मक साहित्य की एक और विधा, जिसमें पंजाबी लेखकों ने विशेष सफलता प्राप्त की है, लघुकथा या कहानियाँ हैं। पंजाबी पत्रिकाओं में जो कहानियाँ प्रकाशित होती हैं उनका साधारण स्तर बहुत ऊँचा है। इसका कारण यह है कि इस क्षेत्र के प्रमुख अगुवा संतसिंह सेखों ने यूरोपीय और अमरीकी कहानी-लेखकों की टेकनीक का अनुसरण किया है। सीधा-सच्चा घटना-वर्णन छोड़कर संदर्भ-संकेत, नाटकीय वस्तु, मनोविश्लेषण और अवकथन आदि युक्तियों का कुशलतापूर्वक उपयोग किया गया। करतारसिंह दुग्गल ने, जो सबसे प्रमुख कहानी-लेखक हैं, सेखों से यह कला सीखी। दुग्गल की विशेषता है रावलपिंडी ज़िले की बोलियों का ज्ञान, जिसे वे बहुत मज़े से उपयोजित करते हैं। उन्होंने करीब सौ कहानियाँ प्रकाशित की हैं, जिनमें से 'सवेरे सर' और 'नवाँ घर' प्रसिद्ध हैं। उन्होंने विभाजन की मुश्किलात पर उपन्यास भी लिखे हैं, मगर वे, जैसा कि ऊपर कहा गया है, निरे कहानियों के गुम्फन-मात्र हैं। उनका 'नहूँ ते मास' पंजाबी उपन्यासों में आने

१. आदमख़ोर का अनुवाद साहित्य अकादेमी ने अन्य भारतीय भाषाओं में कराया है और १९६१ का सर्वश्रेष्ठ पंजाबी उपन्यास के रूप में 'एक मियान दो तलवारों, पर लेखक को साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

वाले वर्षों में एक पथ-चिह्न की तरह रहेगा। उसमें किसान-चरित्रों का बड़ा ही साधिकार चित्रण हुआ है और ऐसी वस्तु का कुशल वर्णन है, जिसमें कि गाँव, देहात की शान्ति बहुत जल्दी साम्प्रदायिक दंगों के करुण अन्त तक पहुँच जाती है। यह कहानियाँ साम्प्रदायिक पक्षपात से बिलकुल दूर हैं। 'लड़ाई नहीं' नामक बाद की रचना में भी उन्होंने वस्तुनिष्ठता का स्तर रखा है। दुग्गल ने कुछ कविताएँ भी लिखी हैं जो विशेष प्रसिद्ध नहीं हैं, और यह अच्छा ही है। उनके नाटक स्टेज पर कभी नहीं खेले गए, परन्तु कुछ प्रसारित हुए हैं। इनके नाटक किसी भी और पंजाबी नाटककार से अधिक प्रसारित हुए हैं।[1]

दूसरे सफल कहानी-लेखक कुलवन्तसिंह विर्क[2] हैं। दुग्गल ने जो कमाल उत्तरी पंजाब की बोली से हासिल किया है, विर्क लाहौर की आसपास की बोली से वही काम लेते हैं। यद्यपि दुग्गल का प्रभाव उस पर स्पष्ट है, फिर भी विर्क के पात्र और विषय इस प्रदेश के अधिक जोशीले हिस्से से आते हैं, और इस कारण इनका लेखन अधिक परुष है और उसमें बेकार रोना-धोना तथा वृथा भावुकता नहीं है।

पंजाबी लेखन का सबसे उपेक्षित अंग है—नाटक। इसका सीधा-सा कारण यह है कि यहाँ कोई गठित स्टेज नहीं है। नाटककार नाटक लिखकर सिर्फ़ यह आशा-भर कर सकते हैं कि उनके नाटक कोई पढ़ेगा और अधिक-से-अधिक प्रसारित करेगा। नाट्य-कला के लिए न केवल पठन और प्रसारण पूरा न्याय करता है—अव्यावसायिक अभिनेता स्कूल-कालेजों से चुन लेने भर से कभी नाट्य-कला नहीं बनती। फिर भी प्रोफ़ेसर ईश्वरचन्द्र नन्दा के सुखान्त नाटकों ने कुछ थोड़ी-सी शाब्दिक हेर-फेर, युक्ति-प्रयुक्ति से हँसी पैदा की थी। अभी भी पंजाबी साहित्यिकों में उनके बारे में बातचीत होती है। कुछ कमज़ोर कोशिश एक-आध नये नाटक को स्टेज पर दिखाने के बारे में की जाती है। गुरदयालसिंह खोसला ने बच्चों के लिए नाटक लिखने में विशेषता हासिल की है और छोटी-

१. श्री दुग्गल को 'इक छिट चानन दी' नामक कहानी-संग्रह पर १९६५ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

२. श्री विर्क को 'नवें लोक' (कहानी-संग्रह) पर १९६८ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

छोटी पाठशालाओं से वे किसी तरह अभिनेता पैदा कर लेते हैं। बलवन्त गार्गी[1], जिनका नाम नाटककार के नाते अधिक प्रसिद्ध है, बहुत अर्से से वामपक्षी राजनीति से सम्बद्ध हैं, और अभी हाल में वे रूस और यूरोप के स्टेज का बहुत समय तक अध्ययन करके लौटे हैं। उनके अनेक नाटक उस भावना से भरे हुए हैं और उनमें एक राजनैतिक प्रयोजन होता है; उनका व्यंग्य तीखा और उनका हास्य कड़ुवा है, जिससे कि उनका संदेश अच्छी तरह व्यक्त होता है। उनका पटियाला में बोली जाने वाली बोली का उपयोग ऐसा है कि इससे उनके नाटक जानदार जान पड़ते हैं। उनकी देहाती कहानियों के लिए यह भाषा उपयुक्त है। यह दुःख की बात है कि गार्गी के नाटक समझने के लिए उन्हें पढ़ना पड़ता है, और जो मंच पर खेले जाते हैं वे राजनैतिक दलों द्वारा खेले जाते हैं और इनमें से बहुत थोड़े ऐसे हैं जो रेडियो पर खेले जा सकें। अब उन्होंने उपन्यास लिखना भी शुरू किया है।

भविष्य

यह विचित्र बात है कि अधिकतर सिख राजनैतिक नेताओं ने कभी-न-कभी लिखने की या कविता रचने की कोशिश की है। गुरमुखसिंह 'मुसाफ़िर' पंजाब के (भू० पू० मुख्य मन्त्री) काफ़ी प्रभावशाली कवि हैं। मास्टर तारासिंह[2] ने कुछ उपन्यास लिखे हैं, पश्चिम के जंगल-उपन्यासों के ढंग पर। वे सिर्फ़ 'बिल कोडी' और 'डेवी क्रोकेट' के बजाय सिख-चरित्र ले आते हैं; और आप विश्वास करें या न करें, कम्युनिस्ट सोहनसिंह 'जोश' धर्म-ग्रंथों के बहुत अच्छे टीकाकार के नाते प्रसिद्ध थे। साहित्यिक शक्ति पर राजनीतिज्ञों द्वारा यों बल देने का सुखद परिणाम यह हुआ कि पंजाबी को सरकारी भाषा बनाने की संयुक्त माँग को अधिक शक्ति मिली। इसी कारण एक पंजाबी-भाषी प्रदेश और एक पंजाबी साहित्य अकादेमी स्थापित हुई। अब जब कि यह सब बातें हो चुकी हैं, कोई पूछ सकता है कि भविष्य क्या है ?

सरकारी मान्यता से साहित्य नहीं पैदा होता। कुछ हद तक विभाजन के

---

१. अपनी नाट्य-विषयक निबन्ध पुस्तक 'रंगमंच' पर इन्हें १९६२ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

२. पिछले दिनों इनका देहावसान हो गया।

कारण और पाकिस्तान में उर्दू को राज-मान्यता और भारत में हिन्दी को राजाश्रय मिलने से पंजाबी भाषा को ठेस पहुँची, उसकी क्षतिपूर्ति शायद कुछ दिनों बाद हो जाय। परन्तु अभी तो कुछ वर्षों के लिए पंजाबी में साहित्यिक रचना उन सिख लेखकों पर अधिक अवलम्बित रहेगी जो केवल गुरुमुखी का प्रयोग करते हैं। पंजाबी-भाषी प्रदेश की भाषा और शैली ज्यों-ज्यों मानदंड प्राप्त करती जाएगी, बोली का महत्त्व कम होगा और उतनी ही मात्रा में उसकी देहाती शक्ति भी कम होगी। यह बाधक प्रभाव इस तरह दूर किया जा सकता है कि दूसरी भाषा के श्रेष्ठ ग्रन्थों के अनुवाद पंजाबी में हों, उन्हींको प्रथम महत्त्व दिया जाए। दूसरे दर्जे का साधारण लेखन, जो केवल पंजाबी में होने से स्कूल-कालेजों के पाठ्य-ग्रन्थों में लिखा जाता है, कम करना होगा। इससे साहित्य का स्तर गिरता है, इस तरह कल्पनाहीन लेखन को बढ़ावा मिलता है। जिन पंजाबियों ने ऊँचे पारिश्रमिक के अभाव में दूसरी भाषा में लिखना शुरू किया उन्हें अपनी मातृ-भाषा की ओर लौटने के लिए प्रेरित करना होगा (उदाहरणार्थ राजेन्द्रसिंह बेदी, जिनकी उर्दू कहानियाँ बहुत ही उच्चकोटि की होती हैं)। पंजाबी मासिक पत्रिकाओं को उस ख़राब असर से मुक्त होना होगा, जिसके कारण वे केवल परीक्षार्थियों के लिए सामग्री देती हैं। ऊपर जिनका उल्लेख आ चुका है, उनके अलावा कुछ अच्छे पत्र भी हैं। पेप्सू और पंजाब सरकारें ऐसी योजनाओं को शुरू कर रही हैं, और हरी किशन का 'पंजाबी साहित्य', जो जालन्धर से निकलता है, बहुत वर्षों से उच्च साहित्यिक स्तर क़ायम रखे हुए है। अन्त में पंजाबी में प्रमुख समालोचकों का ऐसा वर्ग विज्ञापित होना चाहिए जो रचनात्मक लेखन की सहायता कर सके और बेचारे भोले पाठकों को रद्दी किताबों से बचा सके। अब तक पंजाबी साहित्य-जगत् बहुत संकीर्ण रहा है, इसमें 'परस्परं भावयन्तः' और 'अहो रूपं अहो ध्वनिः' बहुत होता रहा है। अब उसे अच्छे और बुरे के बीच में विवेक करना होगा और अपने बहुत दिनों से प्रतीक्षित पुनर्जागरण की ओर बढ़ना होगा।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

ए हिस्ट्री आफ़ पंजाबी लिट्रेचर—डा० मोहनसिंह

इंट्रोडक्शन टु द स्टडी आफ़ पंजाबी लिट्रेचर—डा० मोहनसिंह
पंजाबी सूफ़ी पोएट्स—लाजवन्ती रामकृष्ण
द सिक्ख्स—खुशवन्तसिंह
लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया—जी० ए० ग्रियर्सन, खंड ९, भाग १, पृष्ठ ६०७–८२३

बँगला

काज़ी अब्दुल वदूद

परम्परा

सुयोग्य विद्वानों के अनुसार बँगला भाषा का प्रारम्भ असमिया, उड़िया और मैथिली की ही भाँति पूर्व-प्राकृत से हुआ, जो कि भारोपीय भाषाओं के बड़े परिवार की एक शाखा है। ज्यों-ज्यों इस भाषा का विकास होता गया, उसने अपने भीतर कई अनार्य तत्त्वों को समो लिया। न केवल शब्दावली, अपितु कल्पना-चित्र और विचारों में भी बहुत-सी अनार्य बातें घुल-मिलकर एक होने लगीं।

जहाँ तक पता चलता है, इसके साहित्य का सबसे पुराना नमूना, 'चर्या' गीत हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री बड़े प्रसिद्ध प्राच्य विद्याविद् थे। उन्होंने नेपाल के सरकारी पुस्तकालय में से इनका पता लगाया और १९१६ में उन्हें प्रकाशित किया। 'चर्या' गीतों का समय १०००-१२०० ई० माना जाता है, यद्यपि कुछ विद्वान् उन्हें ८वीं शती ई० तक पीछे ठेलना चाहते हैं। सच कहा जाय तो ये गीत साहित्यिक रचनाएँ न होकर महायान बौद्ध-धर्म की शाखा के आचार्यों के संकेतात्मक उपदेश हैं। जो लोग योग-विद्या सीखना चाहते थे, उनके दिशा-निर्देश के लिए ये उपदेश हैं। इन गीतों और बंगाल के १९वीं शती के बाउल नामक रहस्यवादी घुमक्कड़ों के गानों में बड़ी विचित्र समानता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मानव-धर्म पर अपने 'हिब्बर्ट भाषणों' में इन बाउलों का उल्लेख किया था।

सेन राजाओं (१०००-१२०० ई०) के राज्य-काल में बंगाल, जो पहले एक बौद्ध देश था, प्रमुख रूप से हिन्दू देश बन गया। हमारे एक प्राचीन महाकाव्य 'शून्य पुराण' में ऐसा उल्लेख आता है कि बौद्धों का ब्राह्मण्य-पुनर्जीवनवादियों ने उत्पीड़न किया और इसके कारण बौद्ध लोग उस समय के तुर्की विजेताओं को

अपना मुक्तिदाता मानने लगे। बंगाल की व्यापक मुस्लिम जनसंख्या, इसी कारण से, हिन्दुओं की तरह ही पुराने बौद्ध लोगों से भी निर्मित हुई होगी, ऐसा माना जाता है।

प्राचीन बँगला की लम्बी कविताओं में मुकुन्दराव चक्रवर्ती का 'चंडी-मंगल' प्रसिद्ध है।[1] यह क़रीब १६वीं शती या उसके आसपास के कवि थे। उन्होंने अपने काव्य में स्त्री-पुरुषों के लिए तत्कालीन रीति-रिवाजों और घटनाओं के बड़े ही प्रामाणिक और स्पष्ट चित्र दिए हैं। जैसा कि कविता के नाम से स्पष्ट है, इस रचना में फैलाव अधिक और आकर्षण कम है। इसमें चण्डीदेवी की पूजा पृथ्वी पर कैसे प्रचलित हुई, इसकी कहानी है। इन सब दोषों के होते हुए भी उसमें मानवीय सम्बन्धों की जैसी विविधता प्रतिबिम्बित है, उसके कारण वह सचमुच महाकाव्य की कोटि की रचना है।

'चण्डी-मंगल' के बाद या उसके साथ-साथ वैष्णव भाव-गीतों का उल्लेख करना चाहिए। ये राधाकृष्ण-सम्बन्धी गीत हैं, जो विद्यापति, चण्डीदास, ज्ञानदास और गोविन्ददास ने रचे हैं। इनमें से कुछ गीत तो बहुत सुन्दर हैं—केवल बंगाली पाठकों के लिए ही नहीं, बल्कि उन सब लोगों के लिए, जो सच्चे, प्रभावशाली शब्दों का मूल्य जानते हैं।[2] इनमें कुछ अच्छे गीत प्रेम और भक्ति के दिव्य क्षणों की झाँकी देते हैं, और विश्व के किसी भी प्रसिद्ध साहित्य में मानवीय अथवा दैवी उत्तम प्रेम-गीतों के साथ इनकी तुलना हो सकती है। यह विचारणीय है कि इस युग को महान चैतन्य ने प्रेरणा दी। उनके अनेक जीवन-चरित्रों में से दो अतिस्मरणीय हैं, एक है बृन्दावनदास का और दूसरा कृष्णदास कविराज का।

वैष्णवों के कार्य के बाद कृत्तिवास की रामायण और काशी रामदास के महाभारत का उल्लेख करना चाहिए। ये प्रायः १६वीं शती में रचे गए। रामायण इस शती के आरंभिक काल में और महाभारत अन्तिम काल में। ये दो प्राचीन महाकाव्य वास्तव में जनता की पुस्तकें हैं। वे उनके सुन्दर प्रसाद-पूर्ण छन्दों के लिए, सरल और गहरे करुण-रस के लिए तथा उच्च नैतिक मूल्यों के लिए आज भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं।

---

१. यह कवि 'कवि कंकण' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है।

२. इन गीतों का एक संग्रह साहित्य अकादेमी ने प्रकाशित किया है। (वैष्णव पदावली—संपादक और प्रस्तावना-लेखक डा० सुकुमार सेन)।

१७वीं शती में —दौलत काज़ी और सैयद अलाउल—दो बड़े प्रतिभाशाली मुसलमान कवि हुए—इन्होंने अराकान के मूग राजा और उनके मुसलमान सरदारों का आश्रय प्राप्त किया था। दौलत काज़ी में बहुत प्रतिभा थी, लेकिन वे बहुत जल्दी मर गए। अलाउल बहुत उम्र तक ज़िन्दा रहे और उनमें काव्य-गुणों के साथ-साथ विस्तृत अध्ययन भी था। दोनों ने बँगला-साहित्य की बड़ी सेवा की। मानवीय प्रेम और अभियान के वर्णन पर उनका आग्रह था, जबकि सारा वातावरण देवी-देवताओं के ऐसे प्रेम और अभियानों से भरा हुआ था, जो बहुत शोभन नहीं थे।

इसके बाद भारतचन्द्र १८वीं शती में आये। वे अधिक सुलझे हुए कलाकार थे और प्राय: एक शती तक बहुत लोकप्रिय रहे। उनमें चमत्कार और काव्य-कुशलता अवश्य थी, परन्तु मूल्यों की भावना कम थी। वे ह्रासोन्मुख युग में हुए। भारतचन्द्र के बाद रामप्रसाद आये। उन्होंने भारतचन्द्र का कुछ अनुकरण किया, किन्तु वे सफल नहीं हुए। उनके धार्मिक गीत कालीमाता के प्रेम और भक्ति से भरे हैं, जो काफ़ी उच्च कोटि के हैं। इन गीतों के कारण बंगाल के सब वर्गों के लोगों में वे बहुत प्रिय हैं।

उन्नीसवीं शती

उन्नीसवीं शती का आरम्भ ब्रिटिश राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा की सुस्थापना के साथ हुआ। अब अंग्रेज़ों को सब पहचानने लगे थे। यह एक संक्रान्ति युग था। इस शताब्दी के प्रथमार्द्ध के कवि थे ईश्वर गुप्त। उनमें उच्च काव्य-गुण नहीं थे, परन्तु अपने आसपास की चीज़ों और घटनाओं के वे सूक्ष्मदर्शी निरीक्षक थे, और उनका वर्णन उन्होंने चुटीली शैली में किया। उनकी लोकप्रियता बहुत उचित ही है। हमारे साहित्य के आधुनिक युग के नायकों में से तीन—रंगलाल, दीनबन्धु और बंकिमचन्द्र—का आरम्भिक विकास उन्हीं के प्रभाव में हुआ।

यहाँ पर हमें उन समृद्ध लोक-गीतों और लोक-कथाओं की परम्परा का भी उल्लेख करना चाहिए, जिनमें से कुछ अब अंग्रेज़ी में भी मिल जाती हैं।[1] यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि ये गीत बहुत प्राचीन काल से चले आ रहे थे, परन्तु उनका कलेवर संक्रान्ति के साथ बहुत-कुछ अदलता-बदलता गया। उनके

१. कलकत्ता यूनिवर्सिटी से प्रकाशित 'मैमनसिंह बैलड्स' और 'ईस्ट बंगाल बैलड्स।'

विशिष्ट साहित्यिक गुण भारत के बाहर भी पहचाने जाते हैं।

बँगला में उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व उल्लेखनीय गद्य-साहित्य नहीं मिलता। इस शताब्दी के आरम्भ में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई और विलियम कैरे तथा मृत्युञ्जय विद्यालंकार ने बँगला-गद्य को रूप देने का प्रयत्न किया। इन्होंने अपने पास पढ़ने वाले अफ़सरों के लिए पाठ्य-पुस्तकें लिखीं। यह प्रयत्न कुछ हद तक सफल था। परन्तु सबसे पहला शक्तिशाली बंगाली गद्य हमें राजा राममोहन राय की लेखनी से मिला। धर्म, नीति और सामाजिक आचार में उन्होंने पूरे सुधार सुझाते हुए कई पुस्तिकाएँ लिखीं। उनकी प्रतिभा अपूर्व थी—उनमें तीक्ष्णता, पौरुष और सन्तुलन तीनों गुण थे, परन्तु वे अपने समय के बहुत आगे के लेखक थे। परिणाम यह हुआ कि उन्हें अपनी महत्ता का दण्ड इस रूप में देना पड़ा कि उनके ही लोगों ने उनकी उपेक्षा की। केवल उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ प्रतिभाशाली बंगालियों को छोड़कर, जिन्होंने कि उनके आदर्श और विद्वता से लाभ उठाया और अपने ढंग से देश के विकास में सहायता की, राममोहन राय की ओर किसीने ध्यान नहीं दिया। वस्तुतः राममोहन राय की कल्पना और प्रयत्नों से ही बँगला में उन्नीसवीं शती में पुनर्जागरण आ सका। हमारे देश के ब्रिटिश काल के इतिहास में यह अद्भुत घटना थी। आधुनिक संस्कृति के सबसे बड़े उद्गाता रवीन्द्रनाथ राममोहन राय के अत्यधिक ऋणी हैं।

राममोहन राय पूरे सुधारक थे। वे देश की शिक्षा-पद्धति में दूरदर्शी परिवर्तन करने के पक्ष में थे। उस समय का हिन्दू कालेज (स्थापित १८१७), जो कि अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य तथा कुछ आधुनिक विज्ञान पढ़ाता था, एक आदर्श विद्यालय नहीं था; क्योंकि वहाँ पर नैतिक शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं था। भारतीय भाषाएँ और दर्शन भी वहाँ नहीं पढ़ाये जाते थे। फिर भी हिन्दू कालेज अपने तरीके से बहुत प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य करता था। वहाँ से तरुण विचारकों का एक दल शिक्षित हुआ, जिन्हें 'तरुण बंगाल' कहते थे। राममोहनवादियों के जीवन में जो समाज-सुधार उन दिनों आया था, वह इन तरुण बंगालियों की दृष्टि में असन्तोषजनक और बहुत धीमा था। वे चाहते थे कि समाज में जल्दी-से-जल्दी क्रान्ति हो और सारी प्राच्य वस्तुओं के स्थान पर पश्चिमी चीज़ें अपना ली जाएँ। इन दोनों दलों के जो अच्छे-अच्छे लोग थे, वे बहुत खुले दिल के, चरित्र के मज़बूत और सच्चे देशभक्त थे। उनके अपने अलग-अलग तरीके थे।

बंगाली गद्य ने थोड़े ही समय में 'तत्त्वबोधिनी' शाला[1] के राममोहनवादियों के हाथों और भी अधिक प्रगति की; परन्तु रूप तथा आशय की दृष्टि से आधुनिक बंगाली साहित्य 'तरुण बंगाल' दल से शुरू हुआ। माइकेल मधुसूदन दत्त अपने समय के अग्रगामी तरुण बंगालवादी थे। वे अंग्रेज़ी पद्य लिखकर कीर्ति कमाने का स्वप्न देखते थे। वे ईसाई बने और उन्होंने कई यूरोपीय भाषाओं पर अधिकार प्राप्त किया। इनमें प्राचीन और आधुनिक दोनों प्रकार की भाषाएँ थीं—(मानो वे यह चाहते थे कि प्रगति के पथ में कोई बाधा या रोक न हो)। आधुनिक बंगाली साहित्य के वे सबसे बड़े पहले महाकवि बनकर रहे। वस्तुतः वे ही आधुनिक बंगाली काव्य के प्रमुख संस्थापक हैं। हमारे देश को यूरोप से दूर करने वाली जो खाई पैदा हुई थी, उसपर माइकेल ने मानो एक पुल बनाया; जिससे दोनों के सम्बन्ध घनिष्ठ हो गए। यूरोप हमारे लिए अब विदेश नहीं रह गया था। माइकेल की प्रतिभा ने यूरोप को मानो हमारे मनोलोक का एक भाग बना दिया। अब तक यह हिस्सा जैसे अज्ञात था। बंगाल की पुनः उठती हुई आत्मा के लिए यह सचमुच बहुत बड़ा लाभ था। इसके अपने खतरे भी थे—उन लोगों के लिए, जो इस बात के लिए मानसिक तौर पर तैयार नहीं थे। कुछ दिनों के बाद एक दूसरे तरुण बंगालवादी बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में 'राजमोहन्स वाइफ़' नामक अंग्रेज़ी उपन्यास लिखा। लेकिन बाद में वे बँगला की ओर मुड़े और एक के बाद एक बड़ी शक्तिशाली रचनाएँ उपन्यास के रूप में उन्होंने बँगाल को दीं। इस प्रकार कुछ ही वर्षों में वे अपने समय के प्रमुख साहित्यकार बन गए। आधुनिक बंगाली गद्य के वे पहले बड़े लेखक थे।

बाद के दिनों में बंकिमचन्द्र राष्ट्रीय पुनर्संगठन की समस्याओं की ओर मुड़े। वह हिन्दू-जातिवाद का युग था। यह कई प्रकार की प्रतिक्रियाओं के कारण उत्पन्न हुआ था, जिनमें कुछ मुख्य कारण ये थे: ब्रिटिश शासक अपनी हठधर्मी नहीं छोड़ रहे थे, शिक्षित हिन्दुओं की बढ़ती हुई आकांक्षाओं को पहचानना अस्वीकार कर रहे थे, फलतः हिन्दुओं के स्वाभिमान को चोट लगी और उसके साथ-साथ आत्मनिर्भरता की भावना उनमें तीखी होकर जागी; टाड की रोमांटिक 'राजस्थान की गाथाओं' ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। उनका देश-प्रेम का भाव जैसे

१. अक्षयकुमार दत्त, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर इस विचारधारा के सुविख्यात नेता थे।

जाग उठा। राष्ट्रीय नाटकों के साथ-साथ मुख्यत: बड़े ही अतिनाटकीय प्रसंग, वृथा-भावुक देशभक्ति के प्रदर्शन साथ-साथ दिखाये जाने लगे। प्राचीन हिन्दू धर्म के अध्यात्म में मादाम ब्लैवट्स्की नामक थियोसोफ़िस्ट ने श्रद्धा प्रकट की। कई अन्य यूरोपीय विद्वानों ने भी प्राचीनता के गुणगान किये। बंकिमचन्द्र, वैसे और बातों को देखें तो, कोई कम बुद्धि वाले विचारक नहीं थे, परन्तु कुछ भी कहिए, वे रोमांटिक देश-भक्ति के आकर्षण के शिकार हो गए, या यों कहिए कि उस युग के रोमांटिक जातीयतावाद की लपेट में आ गए। देश-भक्ति और हिन्दू-जातिवाद के नाते उन्हें जो सफलता मिली वह बहुत अधिक थी। परन्तु सच कहा जाय तो उनमें जो कुछ उत्तम था, उसका अधिकांश व्यर्थ हुआ। जीवन के अन्तिम दिनों में जो उपन्यास उन्होंने लिखे हैं उनमें गम्भीर दोष हैं; यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि वे बिलकुल गुण-विहीन हैं। अपने दिनों में, इस देश की उलझी हुई राष्ट्रीय समस्याओं का सामना करने की उनकी तैयारी भी नहीं थी। इससे पता चलेगा कि उनकी स्थिति कैसी विचित्र थी।[1] यद्यपि बंकिमचन्द्र के विचारों में कुछ गड़बड़ी है, फिर भी उनकी मातृभूमि के प्रति आस्था और देश की दुर्दशा के प्रति पीड़ा अत्यन्त तीव्र थी; और कम-से-कम कुछ समय के लिए वे हमारे राष्ट्रीय जीवन में बड़ी विधायक शक्ति के रूप में काम करते रहे। उन दिनों बंकिमचन्द्र के जातीय पुनर्जागरण के विचारों से प्रेरित हेमचन्द्र और नवीनचन्द्र जैसे कवि ऊँचे कीर्ति-शिखर तक पहुँचे, मगर बाद में वे मानो पिछड़ गए। प्रसिद्ध सरकारी अधि-कारी रमेशचन्द्र दत्त बंकिमचन्द्र के दूसरे श्रेष्ठ अनुयायी थे। उन्होने ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार के कई बंगाली उपन्यास लिखे, परन्तु अब वे एक अर्थशास्त्री के नाते अधिक याद किये जाते हैं। उसी युग के दो कवि बिहारीलाल चक्रवर्ती और सुरेन्द्रनाथ मजूमदार, उनके अपने समय में इतने प्रसिद्ध नहीं थे, परन्तु अपनी मूलभूत साहित्यिक शक्तियों के कारण वे धीरे-धीरे ऊपर उठते गए। बिहारीलाल प्रकृति और अपने देशवासियों के बड़े प्रेमी तथा अपने रहन-सहन में बहुत ही सादे थे। उनका प्रभाव तरुण रवीन्द्रनाथ पर गहरे रूप में पड़ा।

इस हिन्दू-जातिवाद के वातावरण में रवीन्द्रनाथ का विकास हुआ। परन्तु

१. 'धर्म-तत्त्व' पुस्तक में बंगाल के मुसलमानों पर बंकिमचन्द्र के विचार देखिये। 'बंगदेशेर कृषक' में विशेष रूप से उन्होंने किसानों की दुर्दशा का विश्लेषण किया, परन्तु वे कोई उपाय नहीं सुझा सके, क्योंकि वे राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन नहीं चाहते थे।

उनके ऊपर इसका जो उतना प्रभाव नहीं पड़ा, इसके दो प्रमुख कारण हैं। एक तो बचपन से वे कविता के भक्त थे—वे कालिदास, जयदेव और अन्य वैष्णव कवियों की कृतियों एवं दूसरी ओर बाइरन, शेली, वड्र्सवर्थ, कीट्स और ब्राउनिंग की कृतियों के प्रेमी थे। दूसरा कारण यह है कि जिस बड़े परिवार में वे पले, वह स्वाभिमानी, गंभीर जातिवादी और कट्टरता से मुक्त उदार परिवार था। तरुण कवि के ये संस्कार कवि बिहारीलाल चक्रवर्ती द्वारा और भी गहरे बने।

रवीन्द्रनाथ प्रधान रूप से प्रकृति के कवि के नाते विकसित हुए। उनमें बौद्धिक तीक्ष्णता और सहृदयता प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। वे २६ वर्ष की छोटी-सी उम्र में 'कला के लिए कला' मतवाद के पूर्ण विकसित कवि बने। अपनी कला पर उन्हें सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया था। प्रायः आठ वर्ष तक उन्होंने ज़ोर से हृदयस्पर्शी भाव-गीत, अच्छे नाटक, कहानियाँ और निबन्ध लिखे। इसके बाद उनके मन में और भी गहरे पैठने, जीवन के सत्य के और भी निकट पहुँचने तथा अपने प्रति और भी अधिक प्रामाणिक होने की भावना जगी। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके प्रकृति के प्रति गहरे प्रेम में ईश्वर के प्रति गहरी लगन जुड़ गई। दूसरे शब्दों में कहें तो उनकी सत् तथा कल्याण-चेतना और भी प्रदीप्त हो गई। अब उनके लिए देश-प्रेम और राष्ट्र-भक्ति का एक नया अर्थ सामने आया। वे आत्म-विस्मृत हिन्दू के प्रति चिन्ता रखने के कारण लगभग एक हिन्दू जातिवादी बन गए। अन्तर केवल इतना था कि बंकिमचन्द्र और उनकी शाखा के लेखक जहाँ हिन्दुओं के प्रचलित व्यवहार और रूढ़ियों को महत्त्व देते थे, वहाँ रवीन्द्रनाथ ने उपनिषद् और बुद्ध के जीवन-दर्शन से प्रेरणा पाई। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि उनके देशवासी फिर वैसा ही उच्च आदर्श ग्रहण करें, यूरोप की भोगवादिता और शक्ति के प्रति आकर्षण उनपर हावी न हो। सन् १९०० में रवीन्द्रनाथ ४० वर्ष के थे और उनकी विचारधारा यह थी। इस समय तक वे हर प्रकार से महा-कवि की ऊँचाई तक पहुँच चुके थे, और उनकी साधना यह बतलाती थी कि उन्हें आगे और भी महानता मिलने वाली है। तब तक अपने प्रदेश में ही वे अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाए; बंगाल के बाहर तो शायद ही उन्हें कोई जानता हो।

बीसवीं सदी

हमारे साहित्य में बीसवीं सदी का उदय रवीन्द्रनाथ के 'नैवेद्य' से हुआ।

१०० कविताओं के इस संग्रह में सबसे अधिक संख्या सुगठित और चुस्त सानेटों की है। परमात्म तत्त्व की जाग्रत् चेतना, प्रतिदिन के जीवन-व्यवहार की पवित्रता और अभागी मातृभूमि के प्रति कर्तव्य की प्रेरणा इन कविताओं में हैं। कवि की दृष्टि में हमारी मातृभूमि दो प्रकार की दासताओं में आबद्ध थी, एक ओर तो अहंकारी विदेशी विजेता था और दूसरी ओर उसीके पुत्रों का अविवेक तथा प्रमाद। 'नैवेद्य' सचमुच एक शक्तिशाली पुस्तक है। देश और मानव जाति को रवीन्द्रनाथ की जो देन है, उसमें इस पुस्तक का स्थान बहुत बड़ा है। इसी पुस्तक में उन्होंने उस आने वाले संकट का इंगित किया, जो अति-राष्ट्रवादी पश्चिम के सम्मुख था।[1] यह भी विचारणीय है कि इस धारा में उन्होंने जो कविताएँ लिखीं, उनसे उन्हें १९१३ में विश्वव्यापी ख्याति प्राप्त हुई।

लार्ड कर्जन ने १९०५ में बंग-भंग किया और बंगाल इसे मानने के लिए बिलकुल तैयार नहीं था। इस सुदृढ़ विरोध का आध्यात्मिक पक्ष अपनी पूरी दिव्यता के साथ रवीन्द्रनाथ में प्रतिबिम्बित हुआ। उनके गीतों और भाषणों ने बंगाल की जनता को अभूतपूर्व रूप से उत्प्रेरित किया। राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक पक्ष में उन्होंने आत्मनिर्भरता को महत्त्व दिया और फिर भी अंग्रेज़ोंके प्रति घृणा का एक अक्षर भी व्यक्त नहीं किया। आज भी उन गीतों और भाषणों का रस कम नहीं हुआ है। इसका एक प्रधान कारण यह है कि वे केवल देश-भक्ति से प्रेरित रचनाएँ नहीं थीं, बल्कि उनमें देश-भक्ति परमात्म-भावना से ऊर्जित थी। दूसरे शब्दों में, इसे यों भी कह सकते हैं कि देश-भक्ति की भावना के साथ सत्य और मानवमात्र के प्रति उत्तरदायित्व की परम भावना भी संलग्न थी। दूसरे बड़े कलाकारों की भाँति रवीन्द्रनाथ ने भी स्त्री-पुरुषों के मनोरंजक और स्मरणीय चित्र खींचे हैं, परन्तु उनकी सबसे बड़ी सफलता यह है कि वे अपनी कृतियों में अपने-आपको चित्रित और उद्घाटित कर सके हैं। एक के बाद एक उनकी रचनाओं में आश्चर्यजनक संवेदनशील सत्य और जीवनानन्द की प्रेरणा से निरंतर विकसित होने

---

१. इस सानेट की अन्तिम पंक्तियाँ थीं :

छुटिआछे जाति-प्रेम मृत्युर संधाने।
बाहि स्वार्थ तरी गुप्त पर्वतेर पाने॥

(देखो जातीयता आत्मनाश की ओर जा रही है, अहंकार और लोभ का सामान इसमें लदा है और वह छिपी हुई चट्टानों से जाकर किसी समय टकरायगी।)

वाली चेतना व्यक्त हुई है।

बहिष्कार और स्वदेशी-आन्दोलन 'बंग-भंग' के बाद देशव्यापी बने; परन्तु उनके भीतर उतनी महत्ता नहीं रही कि जिससे रवीन्द्रनाथ के हृदय को प्रसन्नता प्राप्त होती। इसके विपरीत, आन्दोलन आतंकवाद की उस दिशा में मुड़ गया, जिसे रवीन्द्रनाथ कभी सहन न कर सके। यह स्वाभाविक था कि उन आन्दोलनों से उनका सम्बन्ध टूट गया। राष्ट्रवाद की यह परिणति उनके हृदय को भीतर-ही-भीतर कचोटती रही। इसका एक परिणाम यह हुआ कि उनकी आध्यात्मिक चेतना और भी गहरी हो गई। अब उनका हिन्दू या राष्ट्रवाद सीमित न रहकर स्वदेशी-आन्दोलन के निकट सम्पर्क में आने के बाद व्यापक बन गया। रवीन्द्रनाथ बहुत जल्दी यह समझ गए कि सब तरह की अहंग्रंथि और आत्म-समर्थन की भावना, कितनी ही भोली और अच्छी क्यों न जान पड़े, अंततः वह मानवीय चरित्र और कृति को खराब कर देती है। इस दुःख में से एक ऐसी भावना जगी कि सब-कुछ स्वच्छ किया जाय। उनका राष्ट्रवाद इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रवाद का पर्यायवाची बन गया। लोगों ने उसे ठीक तरह से नहीं समझा। उनकी बातों का ग़लत मतलब लगाया गया। पर उन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास था कि उनके लिए ईश्वर ने कोई दूसरा मार्ग खुला नहीं छोड़ा है। केवल वही एक रास्ता है। सच्चा अन्तर्राष्ट्र-वाद प्रामाणिक राष्ट्रीय आकांक्षाओं का शत्रु नहीं, बल्कि वह एकमात्र आधार है, जिससे कि वे अपना सही दृष्टिकोण कायम कर सकते हैं। उनके विश्वासों का बल कुछ वर्ष बाद दुनिया ने उस समय जाना जब कि उन्होंने जापान और अमरीका में राष्ट्रीयता पर भाषण दिए। इसके बाद विश्व में जो भी घटनाएँ घटित हुईं उनसे यह सिद्ध होता है कि वे एक सच्चे व्यक्ति थे और उन्होंने अपने युग के विशिष्ट लोगों को समझने में कोई ग़लती नहीं की थी।

जैसा कि हम देख चुके हैं, बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में रवीन्द्रनाथ एक प्रसिद्ध कवि थे और वे बहुत-कुछ लिख चुके थे, परन्तु उस समय तक उन्हें ज़्यादा लोग नहीं जानते थे। यद्यपि वे इतने लोकप्रिय नहीं थे, फिर भी उनकी एक मित्र-मंडली और अनुयायियों का एक ऐसा दल था, जो उनकी गहरी प्रशंसा करता था और यह जानता था कि उनमें एक दुर्लभ कवित्व-शक्ति है। स्वदेशी-आन्दोलन में उनका सक्रिय सहयोग सब लोग जानते थे। इसी कारण साहित्य-जगत् में उनके बहुत-से अनुयायी बने। बंगाल के जीवन के अभावों को ये दूसरे लेखक आदर्श-

वादी दृष्टि से देखते थे। वे कहते थे कि चाहे भौतिक साधनों में बंगाल पिछड़ा हुआ हो, परन्तु उनकी दृष्टि से, आध्यात्मिक मामलों में बंगाल किसीसे कम नहीं है। इन लेखकों में विचारों और भावनाओं की गहराई कम थी और इसी कारण रवीन्द्रनाथ के शब्द-शिल्प का बहुत-सा अनुकरण करने पर भी वे ऐसी बहुत थोड़ी कविताएँ लिख पाए जो सामान्य स्तर से ऊँची हों। रवीन्द्रनाथ के समकालीन कवियों में देवेन्द्रनाथ सेन, अक्षयकुमार बडाल और द्विजेन्द्रलाल राय स्मरणीय हैं। उनके शिष्यों में सत्येन्द्रनाथ दत्त सबसे प्रमुख थे, क्योंकि उनकी सहानुभूति व्यापक थी और बंगाली भाषा का प्रयोग उन्होंने बहुत ही नैपुण्य के साथ किया था। करुणानिधान बैनर्जी, जितीन्द्रनाथ सेनगुप्त और मोहितलाल मजूमदार भी प्रसिद्ध हुए। करुणानिधान प्रकृति-प्रेम और विगत वैभव के अच्छे वर्णन के लिए; और जितीन्द्रनाथ तथा मोहितलाल अपने बौद्धिक निराशावाद के लिए विख्यात थे। उसी युग के कुमुदरंजन मल्लिक और कालिदास राय व्यापक रूप से लोकप्रिय हैं।

कथा-साहित्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ के आरम्भिक अनुयायियों में प्रभात कुमार मुखर्जी प्रमुख थे। उनकी हास्यपूर्ण कहानियाँ बहुत अधिक पढ़ी गई। चारुचन्द्र बैनर्जी और सौरीन्द्र मोहन मुखर्जी को भी कुछ लोकप्रियता मिली। मगर इन सबसे आगे बढ़कर शरत्चन्द्र चटर्जी अत्यधिक लोकप्रिय बने। रवीन्द्रनाथ के मानवतावाद और कला ने उन्हें गम्भीरता से स्पर्श किया। यद्यपि उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में लिखना शुरू किया था, परन्तु १९१३ के पहले उनकी रचनाएँ प्रकाश में नहीं आईं। उनकी सफलता असाधारण हुई और १९३८ में उनकी मृत्यु के समय तक उनका यश बढ़ता ही गया।

आरम्भ में शरत्चन्द्र एक शक्तिशाली यथार्थवादी लेखक माने गए। इसलिए हमारे पाठकों के एक बहुत बड़े अंश में वे लोकप्रिय बने और इसीलिए दूसरी ओर पुराने लोगों ने उनका बहुत अधिक विरोध भी किया। बंगाल की साहित्यिक परम्परा में यथार्थवाद प्रायः एक नई चीज़ थी। आलोचक कुछ वर्षों में धीरे-धीरे शान्त हो गए; इसलिए नहीं कि उन्हें अपने दृष्टिकोण की ग़लती समझ में आ गई थी, वरन् इसलिए कि अब उनकी आलोचना सुनने को कोई तैयार ही नहीं था। ऐसी व्यापक और सच्ची लोकप्रियता किसी भी आधुनिक बंगाली लेखक को नहीं मिली, कदाचित् बंकिमचन्द्र और रवीन्द्रनाथ को भी नहीं। यद्यपि उनके

विरुद्ध काफ़ी आवाज़ उठाई जाती है, फिर भी शरत्चन्द्र आज बहुत अधिक पढ़े जाते हैं।

जब शरत्चन्द्र ने बंगाल के पाठकों में मानो तूफान पैदा कर दिया था, तब से आधी शताब्दी बीत गई। आज हम उनके बारे में कुछ तटस्थता से विचार कर सकते हैं। आज हमें उनकी सीमाएँ बहुत स्पष्ट दिखाई देती हैं। उनकी रचनात्मक कल्पना-शक्ति बहुत समृद्ध नहीं है। जीवन के सब पहलुओं में उनकी उतनी दिलचस्पी भी नहीं है। कई जगह उनमें भावुकता का ऐसा अतिरेक दिखाई देता है, जो यथार्थवाद से बिलकुल उलटा है। परन्तु इन सब गम्भीर दोषों के बावजूद शरत्चन्द्र की लोकप्रियता या महत्त्व कम नहीं हो सकता। इसका मुख्य कारण यह है कि उन्होंने जिस दुःख को प्रत्यक्ष किया है, वह कुछ तो स्वनिर्मित है, और कुछ अनिवार्य। यह दुःख उन्होंने विविध आकारों में देखा है और उसे अचूक ढंग से व्यक्त करने में उन्हें सफलता मिली है। यही उनका यथार्थवाद है, जिसके बिना कोई भी लेखक लेखक नहीं होता। परन्तु साथ ही साथ वे आदर्शवादी भी हैं, और खासे बड़े आदर्शवादी हैं। उनके भीतर यह प्रबल आस्था है कि मनुष्य स्वभावतः सुन्दर और महान् है। उसकी सब ग़लतियाँ, पाप और दोष केवल धूल और मिट्टी के हैं, जो कि बाहर जमी हुई हैं। किसी भी क्षण यह मिट्टी हट जाने पर मनुष्य की निजी महत्ता प्रकट हो सकती है।

कुछ लोगों की दृष्टि में शरत्चन्द्र का यह दृष्टिकोण भी निरी भावुकता है। लेकिन वास्तव में, इसमें भावुकता से कुछ अधिक मज़बूत और जानदार तत्त्व है। यह उनका विश्वास ही है जो कि मनुष्य के अन्दर सबसे अधिक स्थायी वस्तु है। हाँ, कई ग़लतियाँ या बुरे विश्वास भी हैं; परन्तु अच्छे हों या बुरे, उनका विचार तो हमें करना ही होगा। यह सौभाग्य की बात है कि शरत्चन्द्र का विश्वास दिव्य था। उनकी कला जो इतनी निखरी, वह इसी दिव्य आस्था के कारण; यद्यपि उनमें कई दुर्बलताएँ भी थीं। साहित्यिक मूल्यांकन अथवा किसी भी प्रकार के मूल्यांकन में यथार्थ गुणों का महत्त्व अनेक दोषों से कहीं अधिक है।

शरत्चन्द्र के आगमन के कुछ वर्ष बाद बंगाली पाठकों को डॉ० नरेशचन्द्र सेनगुप्त नामक दूसरे यथार्थवादी लेखक क़ानून-विशारद के रूप में मिले। वे भी बहुत पढ़े गए। मगर अब उनकी लोकप्रियता बहुत कम हो गई है। उन्होंने जनता का ध्यान अपने उपन्यासों में विविध प्रकार की जानकारी देकर आकर्षित किया।

उनके चरित्र विचारों के प्रतीक थे और इस कारण वे जल्दी ही भुला दिए गए।

काज़ी नज़रुल इस्लाम कलकत्ता के साहित्यिक क्षेत्र में विशेषतया एक भावुक कहानी-लेखक के नाते १९१९ में उतरे। उस समय उनकी उम्र २० वर्ष की थी, और विद्वान होने का भी कोई दावा उनका नहीं था। परन्तु उनकी कहानियाँ ऐसी थीं कि वे तरुण पाठकों और लेखकों को आकर्षित करती थीं। उनकी आश्चर्यजनक सप्राणता बच्चों तथा बूढ़ों सभीको अपनी ओर खींचती थीं। वह युग राजनैतिक उत्साह में आन्दोलित था। खिलाफ़त और कांग्रेस दोनों ज़ोरों पर थे, और नज़रुल ने दोनों स्रोतों से खूब ग्रहण किया। बंगाल के स्वदेशी-आन्दोलन, और विशेषतया आतंकवादियों के कारनामों से वे बहुत अधिक प्रभावित हुए। नये वातावरण ने उनकी कल्पना-शक्ति को प्रज्वलित किया। उन्होंने वीर-काव्य और गीत लिखे, जो बहुत जल्दी लोकप्रिय हो गए। दो वर्ष बाद उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कविता 'विद्रोही' लिखी, जिससे उनकी कीर्ति देखते-देखते व्याप्त हो गई और बाद में वह कविता अखिल भारतीय कीर्ति अर्जित कर सकी। अपनी ऐसी ही रचनाओं के कारण उन्हें जेल भी जाना पड़ा; जहां उन्होंने लगभग ४० दिन का उपवास किया।

स्वतन्त्रता के संघर्ष में काज़ी नज़रुल इस्लाम बड़ी शक्ति थे। उनके प्रमुख अस्त्र गीत और कविता थे। अन्याय और अत्याचार चाहे किसी रूप में हो, नज़रुल इस्लाम उसके सीधे विरोध में थे। वे वास्तव में एक श्रेष्ठ जन-कवि बन गए। उन्होंने अगणित प्रेम-गीत, विशेषतया ग़ज़लें और कुछ धार्मिक गीत भी लिखे। कुछ उपन्यास और नाटक भी उन्होंने लिखे हैं। परन्तु उनकी कीर्ति कविताओं तथा गीतों के कारण ही है।

नज़रुल की कविता के साहित्यिक गुणों के विरुद्ध उसी समय आवाज़ उठी, जब कि उनकी लोकप्रियता परमोच्च बिन्दु पर थी। आज भी कई लोग उनका विरोध करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी रचनाओं में दोष हैं: कई स्थलों पर अपरिपक्वता है; उनके शब्द सदा चुने हुए नहीं होते; परन्तु इन सब दोषों की तुलना में एक श्रेष्ठ आत्मा की दुर्मिल विशेषता हमें देखनी चाहिए। उनकी निर्भयता और जनसाधारण तथा दलित और हेय समझे जाने वाले लोगों की सम्भावनाओं में उनकी अपार श्रद्धा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यदि उनकी कविताओं में उनकी कमज़ोरियाँ दिखाई देती हैं तो उनकी दिव्य आत्मा के विशेष

गुण भी उनमें अच्छी तरह दिखाई देते हैं। यह उल्लेखनीय है कि गत १५ वर्षों से उन्हें ऐसे रोग ने ग्रस लिया है, जिसका कोई इलाज नहीं है और वे मृतप्राय हो गए हैं। इसके बाद ही पूर्वी और पश्चिमी दोनों बंगालों के असंख्य नर-नारी बड़ी सहृदयता और सद्भावना के साथ प्रतिवर्ष उनकी याद करते हैं। वाल्ट विटमैन की तरह नज़रुल पूरे-पूरे जनता के कवि हैं। जनता भी उन्हें अच्छी तरह समझती है और उनकी उठती हुई भावनाओं का उत्थान स्वयं अनुभव करती है। ज्यों-ज्यों हमारे देश की जनता आत्मबोध पाती जा रही है, त्यों-त्यों यह सम्भव है कि वह अपने इस कवि को और भी अधिक हार्दिकता के साथ याद करेगी। नज़रुल इस्लाम के बाद जसीमुद्दीन ने विशेषतया एक देहाती कवि के रूप में व्यापक ख्याति पाई। बंगाल का लोक-साहित्य बड़ा ही समृद्ध है, उन्होंने उससे प्रेरणा ग्रहण की।

ब्रिटिश-पूर्व बंगाली साहित्य में बंगाल के मुसलमानों ने काफ़ी योग दिया था। सत्रहवीं शती के दौलत काज़ी और अलाऊल का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। मुस्लिम जाति के और भी दूसरे प्रसिद्ध कवि थे। बाउलों में तो मुस्लिम कवि सबसे अधिक और प्रधान थे। बंगाली साहित्य को पुराने मुसलमान राजाओं और सरदारों ने बड़ा आश्रय दिया। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि चूँकि उस युग में ब्राह्मण 'भाषा' के विकास के विरुद्ध और संस्कृत के पक्ष में थे, अतः साहित्य के विकास को मोड़ देने का श्रेय इस मुस्लिम राज्याश्रय को ही दिया जाना चाहिए। परन्तु उन्नीसवीं शती में जो नया साहित्य विकसित हुआ, उसमें मुसलमानों ने कोई सक्रिय भाग नहीं लिया। कम से कम इस शती में प्रथम श्रेणी के जो साहित्यकार पाये जाते हैं उनमें से कोई भी मुसलमान नहीं है। इस तथ्य का कारण यह दिया जाता है कि नये समय के साथ-साथ मुस्लिम मिल्लत को नये नेतृत्व की आवश्यकता थी, जो उसे कहीं से भी प्राप्त नहीं हो सका। इसके विपरीत इस जाति के सजग अंश का ध्यान 'वहावी' आन्दोलन की ओर खिंचा। उसका नारा था, 'इस्लाम की पुरानी कट्टर पवित्रता की ओर लौटो'। यह स्पष्ट है कि इसके राजनैतिक कारण थे। परिणाम यह हुआ कि भारत के मुसलमान अंग्रेज़ी शिक्षा से दूर हटते गए। क़रीब आधी शती तक यह होता रहा। १८५७ के ग़दर में मुसलमान पर्याप्त संख्या में भारत में अंग्रेज़ी राज्य के विरुद्ध शस्त्र लेकर विरोध के लिए खड़े हो गए। इसके बाद इस जाति के लिए और भी अधिक मुसीबत

आई। बंगाल के नवाब अब्दुल लतीफ़ खान बहादुर और उत्तर प्रदेश के सर सैयद अहमद खाँ ने इस मुसीबत को दूर करने की बहुत-कुछ कोशिश की। उन्होंने मुसलमानों में अंग्रेज़ी शिक्षा फैलाई और उनकी आमदनी के ज़रिये बढ़ाये। लेकिन यह सब काम दरिया में खशखश के बराबर था; क्योंकि मुस्लिम जाति को बौद्धिक और आध्यात्मिक पुनर्वास की बहुत ज़रूरत थी। तेज़ी से बदलने वाले दुनिया के हालात से बंगाल के मुसलमानों ने ये पुनर्वास के पाठ ग्रहण किए, विशेषतः बंगाल के स्वदेशी-आन्दोलन से। हमारे उन्नीसवीं शती के पुनर्जागरण ने आकर्षक और विवेकपूर्ण रूप में इस स्वदेशी-आन्दोलन को बढ़ावा दिया। इस प्रकार, बंगाल के मुसलमानों में भी सुयोग्य साहित्यिक पैदा हुए, जैसे बेग़म रुकैया (जिन्हें साधारणतया मिसेज़ आर० एस० हुसैन के नाम से जाना जाता है), काज़ी इम्दादुल हक़ और लुत्फ़ररहमान लगभग बीसवीं शती के प्रथम दशक में हुए। यद्यपि उन्होंने ज़्यादा नहीं लिखा है मगर उनके साहित्य के गुण स्मरणीय हैं, वे सच्चे मानवतावादी थे और उनकी शैली अत्यन्त प्रभावशाली थी।

नज़रुल इस्लाम के बारे में तो हम पहले ही लिख चुके हैं। उनके अवतरण के कुछ ही वर्षों बाद ढाका यूनिवर्सिटी (पूर्वी बंगाल) परिमंडल में एक साहित्यिक संगठन निर्मित हुआ, जिसका नाम था 'मुस्लिम साहित्य समाज'। उनका मूल मन्त्र था 'बुद्धि की मुक्ति'। तुर्की में कमाल अतातुर्क के सुधार से उन्होंने स्फूर्ति ली थी; और राममोहन राय तथा उनके बाद के अनुयायियों, जैसे रवीन्द्रनाथ और प्रमथ चौधरी से, प्रसिद्ध सूफी कविगण और हज़रत मुहम्मद से उन्होंने स्फूर्ति ग्रहण की। ढाका के मुस्लिम कालेज और विश्वविद्यालय से उन्हें बड़ा अच्छा समर्थन मिला। विद्यार्थियों को उनके बौद्धिक और सांस्कृतिक सम्पर्क से बड़ा लाभ हुआ (ऐसा उस समय के ढाका यूनिवर्सिटी के अधिकारी लिखते हैं)। सारे प्रदेश में सुशिक्षित मुसलमानों के एक बहुत बड़े भाग ने उसे अच्छी तरह ग्रहण किया। परन्तु थोड़े ही दिनों में इस जाति के रूढ़िवादी हिस्से ने उनका बड़ा विरोध किया, यहां तक कि ढाका यूनिवर्सिटी के मुस्लिम-हाल में इसके तीसरे अधिवेशन के बाद इस समाज के सम्मेलन को अनुमति नहीं मिल सकी। बाकी की कहानी छोटी नहीं है, मगर संक्षेप में यही कह सकते हैं कि वे दिन ऐसे थे जब वह साम्प्रदायिक तनातनी शुरू हुई थी जिससे कि अन्ततः हमारे देश का विभाजन हुआ। उस दल के कुछ सदस्य आज भी लेखक के नाते क्रियाशील हैं।

ढाका के मुस्लिम बुद्धिवादियों का जागरण जिन दिनों में हुआ, उन्हीं दिनों अपने-आपको अति-आधुनिक कहने वाले तरुण प्रभावशाली लेखकों का एक दल आगे आया। इस दल के प्रमुख लेखक थे गोकुल नाग, प्रेमेन्द्र मित्र, जीवनानन्द दास[1], बुद्धदेव बसु और अचिंत्य सेनगुप्त। प्रेमेन्द्र मित्र ने अपने दल का घोषणा-पत्र इस प्रकार लिखा :

आमि कवि जत कामारेर
आर कांसारीर आर छुतारेर
मूठे मजूरेर
आमि कवि जत इतरेर

(मैं लुहारों, पीतल का काम करने वालों, बढ़इयों और रोज़नदारी मज़दूरों का कवि हूँ, मैं दलितों का कवि हूँ।)

बुद्धदेव बसु और अचिंत्य सेनगुप्त उस समय प्रसिद्ध फ्रायडवादी थे। इतनी छोटी उम्र में भी वे बहुत लिखने वाले लेखक थे और वे यह बात बड़े ज़ोर से कहते थे कि उनका अपना एक अलग रास्ता है। रवीन्द्रनाथ इन अति-आधुनिकों से विचलित हुए और उनके बीच कुछ अप्रिय बातचीत भी हुई। मगर इसका कोई तत्काल प्रभाव उन लेखकों पर नहीं हुआ। रवीन्द्रनाथ ने अपनी शालीनता और सर्वत्र गुण-ग्रहण करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण इस वाद-विवाद को आगे नहीं बढ़ने दिया। कवि-गुरु ने जो नये उपन्यास और कहानियाँ लिखीं उनमें इन अति-आधुनिकों ने अपना प्रभाव देखकर विजय की प्रसन्नता प्रकट की। परन्तु प्रवीण कवि ने इन अति-आधुनिकों को यह दिखलाया कि जिन नवीन विषयों की ओर वे आकर्षित हुए हैं, उनपर कैसे लिखा जाय। अब तक तो अति-आधुनिक लेखक रवीन्द्रनाथ की कलात्मक सुरुचि से कहीं दूर थे।

बहरहाल, उनका विकास भी हुआ। उनमें जीवनानन्द दास का सन्तुलन और प्रकृति के प्रति प्रेम, प्रेमेन्द्र मित्र का ओजस्विल रोमांटिकवाद और बुद्धदेव बसु का काव्य-गुण-प्रतिभा के कारण आनन्द-बोध उल्लेखनीय है। अजित दत्त इस दल के मित्र होने के अतिरिक्त स्वभाव से कुछ भिन्न हैं। उन्होंने यौवन, प्रेम

१. दुर्भाग्य से इनका जीवन अकाल मृत्यु के कारण समाप्त हुआ। इनकी पुस्तक 'श्रेष्ठ कविता' को १९५५ में साहित्य अकादेमी का पुरस्कार मिला है।

और प्रकृति पर शक्ति के साथ लिखा। उनके बाद सुधीन्द्रनाथ दत्त, विष्णु दे[1] और अमिय चक्रवर्ती[2] आए। इनमें सुधीन्द्रनाथ दत्त अपनी शक्तिशाली शैली और बौद्धिकता के लिए सहज विशिष्ट हैं। इन आधुनिकों (सम्भवत: प्रेमेन्द्र मित्र को छोड़कर) की श्रेष्ठ रचनाओं को जब पढ़ा जाय तो वे रवीन्द्रनाथ अथवा अन्य बंगाली कवियों से इतने अधिक प्रेरित नहीं जान पड़ते, जितने कि आधुनिक अंग्रेज़ी और यूरोपीय कवियों से। इन काव्यों में आज की दुनिया की हालत के लिए इतना अधिक दु:ख, तिरस्कार, कड़ुवाहट और अहंकार है कि वह यूरोपीय कविता के समान लगती है। रवीन्द्रनाथ के साथ इनका मौलिक मतभेद यही है। रवीन्द्रनाथ कभी निराशावादी नहीं हो सकते थे, यद्यपि वे कभी कहीं 'हाथी दांत की मीनार' में नहीं रहे ; और वे सचमुच आत्म-केन्द्रित भी नहीं थे। इसीसे बंगाली जीवन और साहित्य में इन आधुनिक लेखकों के प्रभाव की विशेषता दीख पड़ती है। उनकी रचना के ढंग भी रवीन्द्रनाथ से बहुत कुछ भिन्न हैं। इन नये लेखकों के अनुयायी भी कम नहीं हैं। भविष्य में इनकी क्या स्थिति होगी इसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है, और शायद असामयिक भी होगा। निस्संदेह वे शक्तिशाली लेखक हैं। उनका अहंवाद जो कि उनकी मुख्य वस्तु है—आकर्षण-शक्ति रखता है। परन्तु यह भी देखना होगा कि उनमें वह शक्ति कहाँ तक है जो कि मानवीय हृदयों में चिरस्मरणीय स्थान पा ले। वह गुण कहीं भी उनमें है या नहीं ! हमारे तरुण कवियों में नरेश गुह, दिनेश दास और गोविन्द चक्रवर्ती उल्लेखनीय हैं।

हमारे अति-आधुनिक कवियों में प्रमुख रूप से आधुनिक युग की बेचैनी व्यक्त हुई है। परन्तु वही बात आज के उपन्यास और कहानी-लेखकों के विषय में नहीं कही जा सकती। कम से कम, उनमें से अधिकांश कवियों के विषय में तो यह बात सही है। वे कमोबेश आधुनिक बँगला-कथा-साहित्य की परंपरा, विशेषत: रवीन्द्रनाथ और शरत्चन्द्र की परंपरा का निर्वाह कर रहे हैं। शरत्चन्द्र के पश्चात् विभूतिभूषण बनर्जी ने बँगला-कथा-साहित्य को अपनी कहानियों और

१. १९६५ में स्मृति 'सत्ता भविष्यत्' नामक काव्य-संकलन पर साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत।

२. 'घरे फेरार दिन' (घर वापस आने का दिन) नामक काव्य-संकलन पर १९६३ में साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत।

उपन्यासों से विशेष देन दी—विशेषत: 'आरण्यक'[1] और 'पथेर पांचाली' से (जो फ़िल्म रूप में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी है)। विभूतिभूषण प्रकृति के बड़े प्रेमी और हमारे उस सरल सहृदयतापूर्ण ग्राम-जीवन के चाहने वाले थे, जो अब बहुत जल्दी मिटता जा रहा है। जीवन और चरित्र का संघर्ष आधुनिक उपन्यासकारोंका प्रिय विषय रहा है, किन्तु विभूतिभूषण के लिए उसमें कोई आकर्षण नहीं था। इसलिए उन्हें उन आधुनिकों में भी नहीं माना जा सकता। चाहे वे 'आधुनिक' न हों, परन्तु कलाकार के नाते वे महान हैं। वे महान इसलिए हैं कि प्रकृति के साथ मनुष्य के दैनिक सम्बन्ध की समझ और उसकी अभिव्यंजना के मामले में उनकी रचनाओं में बड़ी हार्दिकता मिलती है।

विभूतिभूषण को छोड़कर शरत्चन्द्रोत्तर उपन्यासकारों और कहानीकारों में तीन वर्ग के लोग हैं: वे जिन्होंने रवीन्द्रनाथ और शरत्चन्द्र की परम्परा का कम या अधिक अनुसरण किया; वे जो कविता में अति-आधुनिक और अपनी कहानियों में भी उस मनोवृत्ति से भिन्न नहीं हैं; और वे जो वामपक्षी हैं। पहले दल में प्रसिद्ध नाम हैं शैलजानन्द मुखर्जी, प्रेमेन्द्र मित्र,[2] मेहबुबल आलम (चित्तगांग के), बनफूल, अन्नदाशंकर राय, ताराशंकर बन्दोपाध्याय, सरोज रायचौधुरी, विभूतिभूषण मुखोपाध्याय, सुबोध घोष, नारायण गंगोपाध्याय, सतीनाथ भादुड़ी, नरेन्द्र मित्र और आशापूर्णा देवी। माणिक बन्दोपाध्याय भी परम्परावादी के नाते प्रसिद्ध हुए, परन्तु बाद में वे वामपक्षी आग्रह से प्रभावित हो गए। शैलजानन्द एक उत्तम कलाकार हैं; बंगाली जीवन से उनका बहुत व्यापक और निकट परिचय है। आदिवासी जनता के उनके चित्र सर्वोत्तम माने जाते हैं। निम्न माने जाने वाले लोगों के जीवन से प्रेमेन्द्र मित्र का उत्कट परिचय है। परन्तु उनकी प्रतिभा कहानियों में अधिक अच्छी तरह व्यक्त हुई है, शायद इस कारण कि सुन्दरता की उनकी कल्पना अत्यन्त रोमांटिक है। वे विकसनशील सौन्दर्य के कलाकार हैं। मेहबुबल आलम की सर्वोत्तम कृति है 'मोमिनेर जबानबन्दी' (ईमानदार की आत्म-स्वीकृति)। जीवन जैसा है, उसे ज्यों का त्यों देखने में वे आनन्द लेते हैं, किसी रंगीन काँच का सहारा वे नहीं चाहते। उनके भीतर

१. इसे साहित्य अकादेमी ने सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में अनुवाद के लिए चुना है।

२. 'सागर थे के फेरा' (समुद्र-यात्रा) नामक काव्य-संकलन पर १९५७ में साहित्य अकादेमी पुरस्कार।

आदिम ओज है। परन्तु उन्होंने लिखा बहुत थोड़ा है। बनफूल का झुकाव भी आदिम ओज की ओर है, किन्तु वे अपनी कहानियों में अधिक अच्छे कलाकार हैं। अन्नदाशंकर राय आधुनिक लेखकों में सबसे अधिक महत्त्वाकांक्षी उपन्यासकार हैं। उन्होंने छः खण्डों में एक उपन्यास लिखा है और उतना ही बड़ा एक दूसरा उपन्यास लिखना शुरू किया है। फिर भी उनकी 'मन-पावन' कृति सर्वोत्तम है, जो कि कहानियों का एक संकलन है और जिसमें सुखद, सूक्ष्म चरित्र-चित्रण मिलता है। ताराशंकर बन्दोपाध्याय[1] आज के उपन्यासकारों में सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। वे प्रादेशिक जीवन बड़े परिमाण में चित्रित करते हैं और इस काम में उन्हें अच्छी सफलता मिली है। शायद इसी कारण वे लोकप्रिय हुए हैं और शायद इसलिए भी कि उनकी कला प्रधान रूप से फ़ोटोग्राफ़र जैसी है। इधर वे कुछ सूक्ष्म चरित्र-चित्रण करने लगे हैं। सरोज रायचौधुरी ने हमारे लिए एक नया 'फ़ोरसाइट सागा' (गाल्सवर्दी का पीढ़ियों तक चलने वाला चरित्र-प्रधान उपन्यास) लिखा है। विभूतिभूषण मुखोपाध्याय हास्य-रस के भी अच्छे लेखक हैं। सुबोध घोष सशक्त तूलिका से 'टिपिकल' चरित्र व्यक्त करते हैं; नारायण गंगोपाध्याय विशेषतः विपन्न मनुष्यता का तीव्रता से चित्रण करते है; सतीनाथ भादुड़ी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में आनन्द लेते हैं; नरेन्द्र मित्र बंगाल के दैनिक जीवन का प्रेम से समझ-बूझकर चित्रण करते हैं; और आशापूर्णा देवी जीवन की छोटी-छोटी विडंबनात्मक घटनाओं और विशेषतः बंगाल के मध्य-वर्गीय जीवन को चित्रित करती हैं तथा नारी की आत्मा के वे अंग चित्रित करती हैं जिनमें वह निभृत और एकान्त पसंद करती है किन्तु भोंड़ेपन को सहन नहीं करती। हमारे रोमांटिक लेखकों में प्रेमेन्द्र मित्र, बुद्धदेव बसु, अचिंत्य सेनगुप्त, मौनीन्द्रपाल बसु, मनोज बसु[2] और प्रबोधकुमार सान्याल आदि प्रमुख लेखक हैं। इसमें प्रेमेन्द्र मित्र, विशेषतः अपनी कहानियों में, सचमुच सबसे श्रेष्ठ हैं। रवीन्द्रनाथ और शरत्चन्द्र के बाद कहानियों के वे ही कदाचित् सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। अशीम राय एक तरुण उदीयमान रोमांटिक लेखक हैं।

माणिक बन्दोपाध्याय वामपक्षियों के प्रसिद्ध नेता हैं। अपने उपन्यास 'पुतुल-

---

१. 'आरोग्यनिकेतन' उपन्यास पर १९५६ में साहित्य अकादेमी पुरस्कार तथा 'गणदेवता' पर १९६७ में ज्ञानपीठ पुरस्कार के अतिरिक्त अन्य कई पुरस्कार इन्हें मिल चुके हैं।

२. 'नृकुटुम्ब' नामक उपन्यास पर १९६६ में साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत।

नाचेर इतिकथा' (कठपुतली के नाच की कहानी) से उन्हें बड़ी कीर्ति मिली। इसमें उन्होंने अपने-आपको एक ऐसे पक्के कलाकार की भाँति दिखलाया है जिसका जीवन के प्रति भग्नांश दृष्टिकोण है। उनके द्वारा चित्रित स्त्री-पुरुष प्रेम करते हैं और उसमें सन्तोष भी पाते हैं। अपने वामपक्षी धारा के लेखन में उन्होंने नई ऊँचाइयाँ नहीं छुईं। केवल उनकी कड़ुवाहट अधिक स्पष्ट होकर सामने आई है। हमारे वामपक्षी लेखक कथा-साहित्य में कुछ बहुत अधिक उपलब्ध न कर सके। माणिक बन्दोपाध्याय के बाद अमरेंद्र घोष का नाम लिया जा सकता है। उनकी 'चार काशेम' हमारे समय की स्मरणीय कृति है, जैसे कि यूरोप में 'ग्रोथ आफ् दि साइल'। परन्तु घोष वामपक्षी से अधिक मानवतावादी हैं, और इस तरह कुछ अन्य तरुण वामपक्षी भी दिखाई देते हैं,—जिनमें समरेश बसु और गुलाम कुद्दूस उल्लेखनीय हैं—जिनका आज के जीवन के कुछ पक्षों से घनिष्ठ परिचय है। गोपाल हालदार की उपन्यासत्रयी—'एकदा', 'अन्य दिन', और 'एक दिन' विचारणीय कथाएँ हैं। वे वामपक्षी रचनाओं में उल्लेख योग्य हैं।

कविता में भी, वामपक्षियों को, सिवाय सुकान्त भट्टाचार्य के, जिनकी अकाल मृत्यु हो गई, अब तक कोई बड़ी सफलता नहीं मिली। वे भी वामपक्षी से अधिक मानवतावादी थे। हमारे कुछ तरुण वामपक्षी कवि, जिनमें सुभाष मुखोपाध्याय,[१] मणीन्द्रराय[२] और पूर्णेन्दु पत्री अलग से उल्लेख्य हैं, अपने व्यवसाय के प्रति निष्ठावान हैं और शायद आगे चलकर वे और भी सफल हों।

हमारी जिन स्त्रियों ने आधुनिक साहित्य को बड़ी सार्थक देन दी है उनमें स्वर्ण कुमारी देवी, गिरीन्द्र मोहिनी दासी, मानकुमारी देवी, कामिनी राय, प्रियम्वदा देवी, बेगम रुकैया, निरुपमा देवी, अनुरूपा देवी, सीता देवी, शान्ता देवी, लीला मजूमदार, मैत्रेयी देवी, प्रतिभा बसु, बेगम सूफ़िया कमाल, प्रभावती देवी, बेगम शम्स-उन्-नाहर, महमूदा ख़ातून सिद्दीकी, राधारानी देवी, आशापूर्णा देवी और वाणी राय उल्लेखनीय हैं।

हमारे बाल-साहित्य का विशेष रूप से उल्लेख होना चाहिए। प्राचीन रामायण, महाभारत और हमारे लोक-साहित्य में बच्चों के लिए बड़ी आकर्षक

१. 'जतो दूरेई जाई' (जितनी दूर जाता हूँ) काव्यकृति पर १९६४ में साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत।

२. 'मोहिनी अराल' नामक काव्यकृति पर १९६९ में साहित्य अकादेमी पुरस्कार।

बातें थीं। परन्तु हमारे आधुनिक लेखकों ने उसे और भी विशिष्ट बनाया। रवीन्द्रनाथ के शिशु-गीत विश्व में विख्यात हैं। उनके बाद अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम लिया जा सकता है, जो कि भारत के कलात्मक पुनर्जीवन के नेता थे। इनके अतिरिक्त दक्षिणारंजन मित्र मजूमदार, उपेन्द्रकिशोर रायचौधरी, योगीन्द्र-नाथ वसु, सुकुमार राय, सुखलता राव और सुनिर्मल बसु उल्लेख्य हैं।

हमने यह देखा कि आधुनिक बंगाली साहित्य कविता और उपन्यास में समृद्ध है, परन्तु नाटक में स्थिति ऐसी नहीं है। नाटक का आरम्भ दीनबन्धु मित्र के 'नील दर्पण' से १८६० के बाद बड़ी अच्छी तरह से हुआ, परन्तु अतिनाटकीयता ने उसके विकास के पथ को रोक दिया और अभी तक वह साफ़ नहीं हुआ है। गिरीशचन्द्र घोष और द्विजेन्द्रलाल राय, जो हमारे दो प्रसिद्ध नाटककार हैं, मुख्यत: अतिनाटकीयता के ही लेखक हैं। रवीन्द्रनाथ के नाटक तो अपने ढंग के अलग हैं। उनमें कई साहित्यिक रत्न हैं, परन्तु थोड़े-से अपवादों को छोड़कर, जनता के नाटकों में वे स्थान नहीं ले सकते।

निबंध में बंगाल उच्च स्तर पर पहुँच चुका है। रवीन्द्रनाथ और प्रमथ चौधरी इस क्षेत्र में हमारे सबसे बड़े नाम हैं। अन्य प्रसिद्ध नामों में भूदेव मुखो-पाध्याय, बिपिनचन्द्र पाल, रामेन्द्र सुन्दर त्रिवेदी, शशांकमोहन सेन, मोहितलाल मजूमदार, अतुलचन्द्र गुप्त, गोपाल हालदार, धूर्जटीप्रसाद मुखोपाध्याय, अन्नदा-शंकर राय,[1] हुमायूँ कबिर, श्रीकुमार बनर्जी, प्रमथनाथ बिशी, अबु सैयद अयूब,[2] बुद्धदेव बसु,[3] काज़ी मोहतर हुसैन, संजय भट्टाचार्य, सैयद मोतहर हुसैन चौधरी और शिवनारायण रे का उल्लेख किया जा सकता है। कुछ सचमुच अच्छी जीवनियाँ भी लिखी गई हैं, परन्तु वे बहुत थोड़ी हैं। वर्णनात्मक-संस्मरणात्मक ललित-साहित्य में हमारे दो आधुनिक लेखक बहुत लोकप्रिय हैं—यायावर और सैयद मुज्तबा अली। परशुराम बहुत दूर-दूर तक प्रसिद्ध हास्य-लेखक हैं, उनकी कोटि विशिष्ट है।

---

१. १९६२ में अपनी यात्रा-संस्मरण की पुस्तक 'जापाने' (जापान में) पर साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत।

२. 'आधुनिकता ओ रवीनाथ नामक आलोचनात्मक कृति पर १९७० का साहित्य अकादेमी पुरस्कार।

३. इन्हें अपनी नाट्यकृति 'तपस्वी ओ तरंगिनी' पर १९६७ में साहित्य अकादेमी का पुरस्कार मिला।

डॉ० दिनेशचन्द्र सेन, डॉ० सुकुमार सेन और सजनीकांत दास ने साहित्य के इतिहासकार के नाते नाम अर्जित किया है, और डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी और डॉ० मुहम्मद शहीदुल्लाह हमारे भाषा-वैज्ञानिक हैं।

प्रो० क्षितिजमोहन सेन और प्रो० रजाउल करीम हमारे हिन्दू-मुस्लिम एकता के बड़े सांस्कृतिक कार्यकर्ता हैं।

आधुनिक बंगाली में विशिष्ट धार्मिक साहित्य भी है। इस क्षेत्र में सबसे वड़े नाम सर्वश्री महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, ब्रह्मानंद केशवचंद्र सेन, श्री रामकृष्ण, मौलाना गिरीशचंद्र सेन, अश्विनीकुमार दत्त और रवीन्द्रनाथ आदि के हैं।

अनुवाद में हम सचमुच ग़रीब हैं—हमारी भाषा में दुनिया के श्रेष्ठ ग्रन्थों में से बहुत थोड़े मिलते हैं। परन्तु इधर हमारे कुछ तरुण लेखकों ने इस काम को वड़ी गम्भीरता से लिया है। रवीन्द्रनाथ ने जीवन के उत्तरार्ध में हमारे गद्य को और भी उत्कर्ष पर पहुँचाया था और उनकी परम्परा अब हमारे गद्य-लेखकों को बड़ी उपयोगी सिद्ध हो रही है। विशुद्ध साहित्य के साथ-साथ बँगला में दर्शन, इतिहास आदि विषयों पर भी उत्तम पुस्तकें हैं, पर वे बहुत थोड़ी हैं।

समाज-विज्ञान और अन्य विज्ञानों में इधर हमने कुछ अच्छी रचनाएँ शुरू की हैं। सार्वजनिक ग्रंथालय और वाचनालय बढ़ते जा रहे हैं और गम्भीर साहित्य के सृजन में सहायता मिल रही है।

हमारे प्राचीन 'विश्व-कोश' के रूप में एक उत्तम विश्व-कोश हमारी भाषा में है, परन्तु नये विश्व-कोश अवश्य बनने चाहिएँ। कुछ अच्छे भाषा-कोश भी हमारी भाषा में हैं।

पूर्व पाकिस्तान के बंगालियों में सबसे उल्लेखनीय है—तरुण लेखकों का विकास, जो सच्चे देशभक्त और बुद्धिवादी हैं। वे मूलतः वहावी चिंताधारा से वहुत भिन्न हैं। शांति और उत्तम शासन के साथ-साथ बंगाली उनकी सुगठित सुन्दर भाषा और साहित्य-परम्पराओं को और भी आगे बढ़ाकर ले जायँगे। निकट भूतकाल बहुत प्रेरणाप्रद था और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य में भी अधिक उज्ज्वल संभावनाएँ हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

द ओरीजिन ऐंड डेवेलपमेंट आफ़ द बंगाली लैंग्वेज—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी
हिस्ट्री आफ़ बंगाली लैंग्वेज—डॉ० दिनेशचंद्र सेन
वैष्णव लिरिक्स—अंग्रेज़ी में अनुवादित : सुरेन्द्रनाथ कुमार, नन्दलाल दत्त और जे० ए० चैपमैन
हिस्ट्री आफ़ द बंगाली लिट्रेचर इन द नाइन्टीन्थ सेंचुरी (१८००-१८२५)—डॉ० एस० के० दे
ईस्टर्न बंगाली बैलड्स—कलकत्ता यूनिवर्सिटी
बंगाली लिट्रेचर—ए० एस० रे और लीला रे
हिस्ट्री आफ़ बंगाली ड्रामा—डॉ० पी० सी० गुहा ठाकुरता
हिस्ट्री आफ़ बंगाली लिट्रेचर—डॉ० सुकुमार सेन
ऐन एकर आफ़ ग्रीन ग्रास—बुद्धदेव बसु
लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया—जी० ए० ग्रियर्सन, खण्ड ५, भाग १, पृष्ठ १-३९१

मराठी

मंगेश विट्ठल राजाध्यक्ष

प्रास्ताविक

मराठी भाषा एक हज़ार वर्ष से कुछ अधिक पुरानी है। मराठी साहित्य मराठी भाषा से वय में करीब दो सौ वर्ष छोटा है। इस अर्से में एक नवजात भाषा साहित्य के माध्यम के रूप में पक्की बनती गई। यह प्रक्रिया सामाजिक प्रेरणा के कारण अधिक गतिमान हुई। एक आध्यात्मिक जनतंत्र मानो वाणी चाह रहा था। उसे अब रूढ़िग्रस्त पुरोहित की कोई आवश्यकता नहीं थी; अतः उसे संस्कृत की भी उतनी आवश्यकता नहीं थी। उसे मनुष्य और ईश्वर के बीच में कोई कृत्रिम बाधा स्वीकार्य नहीं थी। संत-कवियों की एक उदात्त मालिका—ज्ञानेश्वर (१२७१-१२९६), नामदेव (१२७०-१३५०), एकनाथ (१५३३-१५९९), तुकाराम (१६०८-१६४९) और रामदास (१६०८-१६८१) की परम्परा ने जनता से उसकी अपनी भाषा में बोलना शुरू किया। उन्होंने जनता में राष्ट्रीयता की भावना जागृत की। उन्होंने भाषा को ओजस्वी बनाया। ज्ञानेश्वर की शैली समृद्ध थी, सहज-निर्मित थी; उसमें विद्वत्ता जैसे छनकर रच गई थी। तुकाराम की शैली धरती के प्रसादपूर्ण मुहावरे से भारी थी। वह मृदु और कठोर, दोनों रूप ग्रहण कर सकती थी। इनसे भी पहले बारहवीं और तेरहवीं शती में वैदिक कर्मकांड से विद्रोह करने वाले मुकुंदराज और महानुभावों ने अपने-अपने ढंग से भाषा का साधिकार आत्म-विश्वासपूर्ण उपयोग किया।

परन्तु अधिक असाम्प्रदायिक प्रेरणा बहुत समय तक दबाई न जा सकी। पुराणों को पुनः वर्णित करने में उसने अभिव्यंजना पाई, उदाहरणार्थ, एकनाथ ने उपदेश के लिए रामायण और भागवत का आधार लिया। उनके प्रपौत्र मुक्तेश्वर (१५७४-१६४५) ने प्राचीन महाकाव्यों का उपयोग अधिक साहित्यिक उद्देश्य से किया। उन्होंने स्पष्ट शब्द-चित्र निर्मित किये, संस्कृत से सीखी हुई

रीतियों का उन्होंने बहुत सावधानी से उपयोग किया। परन्तु अनिवार्य रूप से संस्कृत 'रीति' मराठी कविता की जकड़बन्दी में आकर और भी मज़बूत बनती गई। इसके बाद की दो शताब्दियों में एक से बढ़कर एक पंडित कवि काव्य-रचना करने लगे और काव्य-कला को पांडित्य-प्रदर्शन का क्षेत्र समझने लगे। १७वीं शती के वामन और रघुनाथ, और १८वीं के मोरोपन्त, इन पंडित कवियों में से प्रमुख थे। परन्तु उनकी कविता थोड़े-से ही लोगों की समझ में आ सकती थी; जनसाधारण ने अपनी कविता की प्यास वीररसपूर्ण 'पोवाड़ों' और शृङ्गारिक 'लावणियों' से बुझाई। फिर भी संत-कवियों की परम्परा बराबर चलती रही और वह आज तक चली आ रही है। वह श्रांतों को आशा और शांति देती रही।

गद्य बहुत बाद में विकसित हुआ। महानुभावों ने उसका उपयोग किया था, परन्तु उन्होंने उसे संकेत-लिपि और गुह्य-भाषा में बन्द कर रखा था। मराठों के दरबारों में, वृत्तांत-लेखकों, डायरी और पत्र-लेखकों ने कुछ प्रासंगिक गद्य-रचना की। परन्तु १९वीं शताब्दी में, मुद्रणालय के आने के वाद और सरकार तथा शिक्षा-क्षेत्र में एक नई व्यवस्था स्थापित होने पर, गद्य को एक नया महत्त्व और उपयोगिता मिली। और परिमाण में वह बहुत जल्दी पद्य से आगे बढ़ गया। कई पत्र-पत्रिकाएँ शुरू हुईं। उनका उद्देश्य मुख्यतः नवप्राप्त पाश्चात्य विद्या का प्रसार था। पुरानी मान्यताओं पर नये विचारों के प्रभाव के कारण जो मनोरंजक वाद-विवाद चल पड़े, ये पत्र उनके उत्तम माध्यम बने। गो० ह० देशमुख (लोकहित-वादी) और जोतिराव फुले जैसे व्यक्तियों ने हमारे सामाजिक पतन के बारे में बड़ी खरी-खरी सुनाई, प्रामाणिक, सावेश, वक्तृतापूर्ण शैली में। मराठी का पहला उपन्यास बाबा पदमन जी का 'यमुना-पर्यटन' १८५७ में लिखा गया। वह समाज-सुधार-प्रधान उपन्यास था। बाद में सस्ते रोमांसों की इस क्षेत्र में बाढ़ आ गई। इस काल में कविता बहुत झीनी हो गई। अधिकांश काव्य-रचना साधारण कोटि का छन्द-व्यायाम-मात्र थी। परन्तु वहाँ भी शान्त सतह के भीतर असंतोष जाग पड़ा था। पुरानी धरती में नूतन ने जड़ें जमा ली थीं।

१८८५-१९२० : कविता

१८८५ में 'केशवसुत' (१८६६-१९०५) की पहली कविता के और हरि-नारायण आपटे (१८६४-१९१९) के पहले उपन्यास के प्रकाशन के साथ आधु-

निक मराठी साहित्य का प्रारम्भ हुआ। ये दोनों रचनाएँ काव्य और उपन्यास के क्षेत्र में आधुनिकता की अग्रदूत थीं। पुनर्जागरण की पार्श्वभूमि विविध तत्त्वों से मिली हुई थी। साहित्य में इसी पुनर्जागरण की व्यंजना आधुनिकता के रूप में हुई। इसमें कई परस्पर-विरोधी तत्त्व मिले हुए थे: पश्चिमी विचारों का प्रभाव, विशेषतः उदारतावाद (लिबरलिज़्म) का प्रभाव; अंग्रेज़ी साहित्य की दी हुई प्रेरणा—विशेषतः रोमांटिकों की प्रेरणा; यूरोपीय राष्ट्रवाद का प्रभाव; अतीत के गौरव-गान की प्रवृत्ति—विशेषतः महाराष्ट्र के भूतकाल की प्रतिष्ठा-प्रशस्ति, अंग्रेज़ों और सामान्यतः सभी पश्चिम वालों की चिढ़ाने वाली अहंता की युयुत्सु प्रतिक्रिया। बंगाल में ऐसे ही किन्तु सरलतर पुनर्जागरण का अंग था ब्रह्म-समाज। शायद उसका भी प्रभाव महाराष्ट्र में पड़ा।

केशवसुत का विद्रोह केवल साहित्यिक नहीं था। वह केवल रूपशिल्प और शैली में प्रयोग-मात्र नहीं था, और केवल काव्य में आत्मनिष्ठता का प्रतिष्ठापन भी नहीं था। केशवसुत के लिए कविता का आन्दोलनात्मक प्रयोजन था। उन्होंने हमारे जीवन की कई बुराइयों की निन्दा करने के लिए कविता का प्रभावशाली उपयोग किया। उनके कुछ गीतों में कोई उच्चतर अशान्ति जैसे उन्हें प्रेरित करती रही है। इन गीतों में आत्मा के रहस्यमय आनन्द का उल्लेख है। यह 'कवियों का कवि' अपनी पीढ़ी और बाद की पीढ़ी के भी प्रमुख कवियों में से अधिकतर कवियों को स्फूर्ति देता रहा। केशवसुत ने किसी 'धारा' के बन्धन में डालकर इन कवियों में से किसीके भी व्यक्तित्व को कुंठित नहीं किया। रेवरंड नारायण वामन टिळक (१८६५-१९१९) ने अपने घर, परिवार और प्रकृति के कोमल सौंदर्य के विषय में भावनापूर्ण ढंग से लिखा, और उसीमें बच्चों जैसे विश्वास से दिव्यता का साक्षात्कार किया। उनके विचार से वही दिव्यता आत्मिक शांति दे सकती है। विनायक (१८७२-१९०९) की पीड़ा व्यक्तित्व के विभाजन के कारण निर्मित हुई। रूढ़ नैतिकता और ऐंद्रिक आसक्ति के बीच में जो विरोध पैदा हुआ उसके कारण एक प्रकार की अपराध-ग्रन्थि इस कवि में पैदा हुई और वह पूर्वकाल की श्रेष्ठता के अतिरंजित नाटकीय चित्र प्रस्तुत करके उस ग्रन्थि को अपनी कविता में ढाँकने की कोशिश करता रहा। उसी प्रकार का विरोध राम गणेश गडकरी (१८८५-१९१९) उर्फ़ कवि 'गोविन्दाग्रज' में मिलता है। उनमें विरोध का समाधान नहीं है। उनकी कविता और नाटकों में इस विरोध ने

और भी सार्थकता पैदा की। क्योंकि उस समय पढ़े-लिखे वर्ग के एक तबके में दो परस्पर-विरोधी और कभी भी समन्वित न हो सकने वाली प्रवृत्तियों का अनजान में सहअस्तित्व कराने की जो वृत्ति चल रही थी, वही उन रचनाओं में दिखाई देती है। एक थी प्रगतिशील प्रवृत्ति, जिसे कि आगरकर या केशवसुत ने चलाया; और दूसरी पुनरुज्जीवनवादी प्रवृत्ति, जिसे टिळक या चिपळूणकर ने बढ़ावा दिया। गडकरी के भरपूर हास्य से भरे व्यंग्य-लेखों ने सामाजिक रूढ़िवादिता को खूब दयनीय बनाया है। परन्तु रंगमंच पर उन्होंने उसी रूढ़ नैतिकता को उपयोगी पाया। उस रूढ़ नैतिकता को स्वीकार्य बनाने के लिए—स्वयं के लिए भी स्वीकार्य बनाने के लिए—अतिरंजित करके दिखाना आवश्यक था। अतः अतिनाटकीयता, जो कि उनके स्पृहणीय भाषा-प्रभुत्व के कारण और भी बढ़ती गई, उनके नाटकों में दोष के रूप में पाई जाती है। कवि और नाटककार के नाते गडकरी की विलक्षण लोकप्रियता, उसी अतिनाटकीयता, हास्य और मुख्यतः भाषा-शैली के कारण है जो पाठकों पर अपना प्रभाव छोड़े बिना नहीं रहती। इस प्रकार पाठक को जीवन की साधारण नीरसता से पलायन का एक मार्ग मिला। खंडित और निराश जीवन की पीड़ा से पलायन का एक मार्ग लेखकों को भी मिला। बालकवि (१८९०-१९१८) की शुद्ध गीत-रचना पाठक के लिए आनन्द का विषय है, किन्तु वे भी अपनी छोटी-सी उम्र में किसी निराशा की छाया में ग्रस्त हो गए थे। सपनों की और बाल-भाव भरी समर्पण की वह सुन्दर दुनिया, जिसमें से उनके सुन्दर गीत निर्मित हुए, धीरे-धीरे टूटने लगी थी कि तभी क्रूर मृत्यु ने इस युवक कवि को भी हमसे छीन लिया। 'बी'-नारायण मुरलीधर गुप्ते (१८७२-१९४७) की भी केशवसुत के साथ घनिष्ठता थी, विशेषतः सामाजिक और साहित्यिक रूढ़ियों के अत्याचारों के विरुद्ध उत्कट अभियोग में। परन्तु 'बी' की थोड़ी-सी कविताएँ साठ वर्ष की आयु तक अज्ञातप्राय रहीं। उनसे उलटे भास्कर रामचन्द्र तांबे (१८७४-१९४१) ने बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की, और प्रायः सभी कवि उनका अनुकरण करने लगे, विशेषतः १९२० के बाद यह सफलता उनकी गीतात्मकता और उनकी शैली की इन्द्रियगोचरता के कारण थी। उसमें परंपरित कल्पना-चित्रों का उपयोग तो था ही साथ ही सहज रस-निष्पत्ति की संभावना भी थी। तांबे मध्यभारत के थे; इस कारण उनकी कविता को एक सामन्ती-रोमांटिक वातावरण मिला और अलसता भी प्राप्त हुई, जिससे कि

उनकी कविता में एक और ही आनन्द पैदा हुआ। केशवसुत और उनकी धारा के कवियों के बाद, यह एक प्रकार से पुनः पलायनवाद की ओर मुड़ना था। इसी युग के दूसरे बड़े कवि थे चन्द्रशेखर। उनकी चतुर शब्द-संयोजना संस्कृत-कवियों और पंडित-कवियों के उक्ति-चमत्कार के सौंदर्य से संतुष्ट थी। इस कारण यह प्रत्यावर्तन और भी दृढ़ हुआ। आज तक ये दोनों काव्य-पद्धतियाँ अपने महत्ता-प्रस्थापन के लिए यत्नशील रही हैं। परन्तु इन्हें एक व्यापक संघर्ष का, साहित्यिक समतल पर, प्रक्षेपण समझना चाहिए।

नाटक

मराठी-रंगभूमि का जन्म १८४३ में हुआ। अलिखित नाटकों और पेटेण्ट पात्रों की सृष्टि वाले बाल्यकाल से वह शीघ्र ही आगे बढ़ी। बी० पी० किर्लोस्कर (१८४३-१८८५) जैसे दिग्दर्शक-अभिनेता-नाटककार के रूप में उसने प्रथम सफल व्यंजना पाई। किर्लोस्कर का 'सौभद्र' (१८८२) इतने सारे वर्षों में बराबर लोकप्रिय नाटक बना रहा है, परन्तु मुख्यतः संगीत के कारण। गो० ब० देवल (१८५४-१९१६) किर्लोस्कर को अपना गुरु मानते थे, परन्तु उन्होंने अपना अलग रास्ता बनाया। देवल के सात नाटकों में छह संस्कृत और अंग्रेज़ी के शुद्ध अनुवाद थे। सातवाँ नाटक 'शारदा' आज भी दर्शकों को मोहित करता है, क्योंकि उसके चरित्र-चित्रण और संवादों में यथार्थवादिता है। यद्यपि उसकी विषय-वस्तु—एक वृद्ध का बाल-वधू को खरीदना—अब बासी हो चुकी। यदि देवल के नाटकों में और कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर (१८७२-१९४८) के आरम्भिक नाटकों में पाये जाने वाले नाट्य ने सुदृढ़ परम्परा क़ायम की होती तो मराठी रंगमंच इस शताब्दी के आरम्भिक दो दशकों में जिस प्रकार से व्यावसायिक रूप से सफल हुआ, उससे अधिक यशस्वी होता। खाडिलकर का 'कीचक वध' (१९१०) अपने राजनैतिक रूपकत्व में प्रभावशाली नाट्य-गुणों से युक्त था। टिळक और लाट कर्ज़न उसमें भीम और कीचक के रूप में दिखाये गए थे। यह नाटक ज़ब्त हुआ। उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी वैसी ही शक्ति थी। कुछ तो शेक्सपियर से यह शक्ति ली गई थी। परन्तु शेक्सपियर के नाटकों के दोष, जैसे उलझे हुए कथानक और असंबद्ध या थेगर की तरह चिपकाये गए विदूषकी हास्य आदि, जल्दी आ गए; और इन्होंने अच्छे गुणों का जैसे गला घोंट

दिया। खाडिलकर नाटककार के नाते गिरते गए, क्योंकि उन्होंने अपने नाटकों में पुराणों से चटपटे विषय लेकर उनमें आधुनिक, विशेषतः राजनैतिक सन्देश या निष्कर्ष जोड़ने का यत्न किया। रंगमंच पर ये नाटक संगीत के कारण किसी तरह से ज़िन्दा रहे। श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर (१८७१-१९३४) ने व्यंग्य-प्रधान रोमांटिक कथानक वाले सुखान्त नाटक लिखने का प्रयत्न किया, पर इससे न तो व्यंग्य ही सधा और न रोमांस ही। उनका समाज-सुधार के लिए उत्साह उनके हास्यपूर्ण निबन्धों में अधिक दिखाई देता है, नाटकों में उतना नहीं। क्योंकि नाटकों ने परिहास में नाट्य-गुणों को कुण्ठित कर दिया। गडकरी, जो उन्हें अपना गुरु मानते थे, अधिक सफल हुए। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, उनकी सफलता का रहस्य रोमांस, परिहास, चरित्र-चित्रण और ओजस्वी गद्य-शैली के उत्तम मिश्रण में है। गडकरी के नाटकों की असंगतियाँ और अतिरंजन हास्यास्पद जान पड़ते हैं; परन्तु उनकी चमक और सम्पूर्ण प्रभाव हँसने वालों को चौंका देते हैं। नरसिंह चिन्तामण केळकर (१८७२-१९४७) की प्रतिभा तुलना में कम थी। उन्होंने पाँच नाटक लिखे; जिनमें से तीन ऐतिहासिक हैं और दो पौराणिक। आधुनिक मराठी रंगमंच के प्रथम उत्थान के ये कुछ प्रसिद्ध नाटककार हैं। इन और कुछ अन्य नाटककारों ने—जिनमें शेक्सपियर के कुछ अच्छे अनुवादक भी हैं—रंगमंच को बहुत शक्ति दी; परन्तु यथार्थवाद और उच्चकोटि का यथार्थवाद इनमें से एक भी नाटककार में नहीं मिलता। रंगमंच ज्यों-ज्यों अधिकाधिक 'संगीतमय' बनता गया, त्यों-त्यों यथार्थवाद अपने बचाव के लिए दबता गया। और यों उसकी पूर्ण समाप्ति होने से रह गई। साधारण दर्शक को यह अभाव नहीं खटका; उसका मनोरंजन तो होता ही था; पुराण, इतिहास के कथानक से कुछ व्यापक उपदेश उसे मिल ही जाता था। वासुदेव शास्त्री खरे, जो स्वयं एक अच्छे इतिहासकार थे, अपने ऐतिहासिक नाटकों से रोमांस को दूर नहीं रख सके। यह रोमांटिक बनने की प्रवृत्ति किसी अन्य कारण से नहीं बढ़ी, किन्तु राजनैतिक गौरव-गाथा की भावना इसके पीछे थी। इस प्रकार महाराष्ट्र और भारत के ब्रिटिश इतिहासकारों ने जो लांछन लगाया था, उसका उत्तर रंगमंच से दिया जाता था। उपन्यास ने तो यह उत्तर और भी ज़ोरों से दिया।

उपन्यास

हरिनारायण आपटे (१८६४-१९१९) के रूप में उपन्यास बहुत शीघ्र परिपक्व हो गया। उन्होंने 'मधली स्थिति' (१८८५) से प्रारम्भ करके मध्य-वर्ग के जीवन में पैठनेवाले कुछ उपन्यास लिखे—जिनमें सबमें उत्तम था 'पण लक्षांत कोण घेतो'? (१८९०-१८९३)। इस उपन्यास में एक बाल-विधवा की मार्मिक कहानी है। इसके बाद आपटे ने ऐतिहासिक रोमांस अधिक लिखे। इस प्रकार लेखकों और पाठकों में भी रुचि-परिवर्तन दिखाई देता है। आपटे ने अपने विद्यार्थी-काल में आगरकर से समाज-सुधार का उत्साह ग्रहण किया था। बाद में वे रानडे की भांति सुधार और परम्परा के बीच समन्वय टटोलने लगे। मराठों और राजपूतों के इतिहास से कहानियाँ लेकर उनमें रोमांस भरने से इस असम्भव समन्वय को और भी धुंधला करने में सहायता मिली। ये रोमांस उपदेश के लिए प्रयोजित थे; उपदेश राजनैतिक और नैतिक दोनों ही प्रकार के थे। इस युग के अधिकतर लेखकों के बारे में यह सच है। शुद्धिवादी तथा राष्ट्रीयतावादी दोनों आत्म-तृप्ति और रूपकों के लिए रोमांस की ओर झुकते थे। साधारण पाठक भी उन्हींके साथ था। उसे सामाजिक समस्याओं के प्रति धैर्य नहीं था, एक तो इस कारण कि उसका विश्वास था कि ऐसी कोई समस्याएँ ही नहीं हैं, या इसलिए कि वह इन समस्याओं को टाल देना चाहता था। जब बाद में वह इतिहास से अघा गया, तब केवल सामाजिक समस्याओं की ओर, रुचि बदलने के लिए, वह देखने को तैयार था। तब ऐसे लेखकों ने उस पाठक से संतोष और प्रशंसा प्राप्त करने के लिए इन सामाजिक समस्याओं को नये रोमांस में लपेटकर पेश किया। कलाकार के नाते आपटे असंतुलित हैं। उनके उपन्यासों के कथा-नक बहुत धीमे चलते हैं और उनमें पुनरावृत्ति बहुत है। शायद इसका एक कारण यह हुआ कि ये उपन्यास अधिकतर क्रमशः प्रकाशित होते थे। परन्तु उपन्यास रचना के इन दोषों को, उनके विचारों की गहराई, पकड़ और चरित्रों के सुदृढ़ ज्ञान ने पूरा कर दिया है। आपटे की ख्याति के कारण कई लेखक इस विधा की ओर आकर्षित हुए, फिर भी बहुत समय तक उनकी समता का कोई उपन्यास-कार नहीं हुआ। हरिनारायण आपटे १९०९ से उपन्यास लिखते रहे हैं, उन्होंने कुछ समय तक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे, बाद में वे चीख-चीखकर पारिवारिक

सद्‌गुणों को प्रचारित करने लगे। 'नाथमाधव'—डी० एम० पितळे (१८८२-१९२८), दूसरी ओर, कुछ समकालीन जीवन पर साधारण कोटि की रचनाएँ लिखकर ऐतिहासिक उपन्यासों की ओर झुके। सशक्त वर्णन-शैली में प्राचीन काल को इतनी स्पष्टता से चित्रित किया गया था कि साधारण पाठक, इन कथानकों में जो आधुनिक रंग दिया जाता था, उसकी असंगति या कि उत्तम साहित्यिक गुणों के अभाव की ओर ध्यान नहीं दे पाए। बेचारा इतिहास चिं० वि० वैद्य, शि० म० परांजपे और चिं० गो० भानु जैसे विद्वान उपन्यासकारों के हाथों में सुरक्षित था। परन्तु युग-धर्म कुछ ऐसा था कि उन्होंने भी अपने उपन्यास में रोमांस और उपदेशात्मकता का पुट देकर ऐतिहासिकता को कुछ हल्का बना दिया। इस प्रकार अतीत का भार उनपर बढ़ता जा रहा था और रोमांस यथार्थ-वाद को उलझन में डाल रहा था, बँगला से बंकिमचन्द्र चटर्जी, शरत्‌चन्द्र चटर्जी, और प्रभातकुमार मुखर्जी के उपन्यास—गुर्जर, मित्र और भिसे ने अनूदित किए, जो बैसाखी की तरह काम आए। जो गुण उपन्यासों में कम होते जा रहे थे, वे कुछ मात्रा में बढ़े। उस शुद्धिवादी युग में उपन्यास, अधिकांश ललित साहित्य की भाँति, एक हल्की चीज माना जाता था; उससे भी बुरी बात यह थी कि उपन्यास युवकों को बिगाड़ने वाली वस्तु माना जाता था। फलतः उपन्यास को अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए पाठकों को सुधारना आवश्यक था। यह सुधार वे इस तरह कल्पित कर सकते थे कि प्राचीन काल को एक वस्तुपाठ की भांति उपस्थित करते। यह पाठ अनिवार्यतः रूढ़िवादी था। वामन मल्हार जोशी ने 'रागिणी' (१९१५) में उपन्यास के इस उपदेशात्मक स्तर को ऊँचा उठाया और एक नया क्षेत्र खोला, जिसमें कि इसी उपन्यासकार ने आगे अधिक आत्म-विश्वास और परिपक्वता के साथ खोज की। यह कार्य उनके उपन्यासों में कुछ कृत्रिमता के साथ ऐसे चरित्रों द्वारा कराया गया जो पढ़े-लिखे और वाद-विवाद-प्रिय हैं और जो आचार तथा नीति-शास्त्र की समस्याओं पर बहस करते रहते हैं।

वाद-विवादात्मक गद्य

इस गम्भीर युग में साहित्य का सर्वोत्तम उद्देश्य वाद-विवादात्मक गद्य माना गया। बहुत ओजस्वी गद्य इस काल के आरम्भ में इस विषय को लेकर लिखा गया कि सुधार कैसे हों। गोपाल गणेश आगरकर (१८५६-१८९५) और लोकमान्य

बाल गंगाधर टिळक (१८५६-१९२०) ने मिलकर 'केसरी' नामक साप्ताहिक स्थापित किया। टिळक के हाथों क्रांतिकारी राष्ट्रीयता का यह पत्र प्रमुख अस्त्र और प्रतीक बना, परन्तु बहुत जल्दी टिळक और आगरकर एक-दूसरे से अलग हो गए। आगरकर सामाजिक सुधारों को प्राथमिकता देते थे; टिळक राजनैतिक सुधारों को अधिक आवश्यक समझते थे। आगरकर के साप्ताहिक 'सुधारक' ने निर्भयता से समाज-सुधार का पक्ष लिया। उनकी राह में बहुत बाधाएँ आई, क्योंकि वे एक ऐसे विषय के प्रथम प्रचारक थे जो लोकप्रिय नहीं था; परन्तु इन बाधाओं की परवाह उन्होंने नहीं की। आगरकर की वीरता, जो उनके उद्देश्य की ही भाँति विनयपूर्ण थी, समाज-सुधार के कार्य में अधिक बल और प्रतिष्ठा देने में उपयोगी सिद्ध हुई। उनकी शैली उनके उत्तम गुणों का दर्पण है। टिळक अधिक उत्साही थे, वे इस वाद-विवाद में रूढ़िवादी खेमे में ऐसी स्थिति में पहुँचे कि उनके समय से अब तक उनके विचार सामाजिक पुनर्जागरणवादी रहस्य-मयता के पर्यायवाची बन गए। इस वाद-विवाद की सार्थकता क्या थी और इसके प्रमुख योद्धाओं की सामाजिक महत्ता क्या थी, यह सब छोड़ दें तो भी एक बात ज़रूर हुई कि इस बड़े प्रश्न पर दिन-प्रतिदिन पाठकों की बढ़ती हुई संख्या प्रबुद्ध और विवेकशील बनती गई। यह स्वाभाविक ही था कि बहुसंख्यक पाठक प्रति-क्रियावादियों के साथ थे। परन्तु यह भी उतना ही अनिवार्य था कि नये विचार सामाजिक मन में घुसते जा रहे थे, चाहे बहुत धीमे-धीमे और सूक्ष्मता से ही क्यों न हों। समाज प्रामाणिक आत्मपरीक्षण की ओर उत्प्रेरित हो रहा था।

टिळक की राजनैतिक महत्ता ने गद्य-शैलीकार के नाते उनकी प्रसिद्धि को ढाँक लिया है। उनकी विद्वत्ता ने उनके गद्य को समृद्ध बनाया, किन्तु वह गद्य-शैली बोझिल नहीं हुई। टिळक की गद्य-शैली गौरवपूर्ण थी, शब्द-बहुल नहीं थी। वह आवश्यकता होने पर कठोर और व्यंग्यपूर्ण भी हो सकते थे। विष्णुशास्त्री चिपळूणकर (१८५०-१८८२) उनके आरम्भिक सहकर्मियों में से एक थे। सामा-जिक सुधार के विरुद्ध संघर्ष, विरोध, खंडनात्मक आलोचना के लिए उन्होंने जो शैली अपनाई, उसके कारण उन्हें बड़ी ख्याति मिली। यह एक प्रकार से आत्म-चेतन शैली थी, उसमें आलंकारिता और उलझाव अधिक था; वह शैली बहुत तीखी थी, इसीके कारण वे राष्ट्रीय भावना जगाने में सफल हुए। चिपळूणकर के निबन्ध बहुत दिन तक पुनरुज्जीवनवादियों के लिए पवित्रप्राय बने रहे। शिवराम

महादेव परांजपे (१८६४-१९२९) की वक्रतापूर्ण शैली एक गाथा के रूप में याद की जाती है; वे भी पुनरुज्जीवनवादी थे। उन्होंने अपनी सारी शक्ति विदेशी सत्ता के विरोध में खर्च की। विदेशी सत्ता भी उनके व्यंग्य से इतनी मर्माहित हुई कि उनके निवन्ध ज़ब्त किये गए। लोकमान्य टिळक के निकटतम न० चिं० केळकर थे, जो टिळक के बाद 'केसरी' के सम्पादक बने। केळकर बहुश्रुत, बहुमुखी प्रतिभा वाले पत्रकार थे, उनमें सारे गुणों का सुन्दर सम्मिश्रण था। गद्य की ऐसी कोई विधा नहीं थी, जिसमें उन्होंने न लिखा हो; उनका लेखन प्रसादपूर्ण और सभी शैलियों में मनोहर था। उनका बहुत-सा कृतित्व अगले काल-खंड में आता है, और कई रूपों में उसमें प्रथम दशक के गुण बने रहते हैं। कुछ-कुछ यही बात अच्युत बळवंत कोल्हटकर (१८७९-१९३१) के बारे में भी कही जा सकती है जो केळकर से बहुत भिन्न थे और उनके कड़ुवे प्रतिद्वंद्वी भी थे। उन्हें नीतिवादी पाठकों का रोष सहना पड़ा, परन्तु निम्न सामाजिक स्तर से जो पाठकों की बड़ी संख्या आगे बढ़ रही थी—उसकी ओर से उन्हें प्रशंसा मिली, क्योंकि उनकी पत्रकारिता बड़ी चटपटी थी और उस समय की प्रचलित शान्त गम्भीर पत्रकार-शैली से वह एकदम भिन्न थी। उनकी शैली में एक किस्म का बाँकापन था और संयम बिलकुल नहीं था। उन्होंने जनसाधारण को अखबार पढ़ना सिखाया, लेकिन साथ ही उनकी अभिरुचि को बिगाड़ भी दिया।

ऐसे गम्भीर युग में जीवनी-साहित्य विकसित हुआ होगा, ऐसी आशा की जाती है। परन्तु बहुत कम जीवनियाँ लिखी गईं; और जो लिखी भी गईं, वे महत्त्वपूर्ण न थीं। सहजता की दृष्टि से दो आत्मकथाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—एक श्रीमती रमाबाई रानडे द्वारा लिखित अपने प्रसिद्ध पति म० गो० रानडे का अत्यधिक प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत करने वाली पुस्तक है; इसमें लेखिका की त्यागमयी, विनम्र शैली बहुत महत्त्वपूर्ण है। दूसरी आत्मकथा डॉक्टर धो० के० कर्वे की है, जिसमें स्त्री-शिक्षा के कार्य में उन्हें कितना संघर्ष करना पड़ा, इसका वृत्तान्त है।

१९२०-१९४५ : कविता

१९२० का समय शमित-दमित काल का है। लोकमान्य टिळक के सामाजिक-राजनैतिक वारिस जल्दी ही संकीर्ण दृष्टिवाले प्रतिक्रियावादी बन गए; सामा-

जिक सुधार वाले छोटे-मोटे परिवर्तनों से संतोष मानने लगे। सतही समझौते से समाधान पाने की प्रवृत्ति बढ़ी, गहरे सामाजिक संघर्ष अनसुलझे ही रह गए। यह एक प्रकार से छोटे आदमियों का युग था। छोटे-छोटे स्वप्नों में से इस युग का रोमांस बुना गया, छोटी-छोटी शिकायतों ने अर्ध-करुण मुद्राएँ धारण कीं, हर चीज़ का साधारणीकरण किया जाने लगा। सुघर विभाजन करके उनपर अच्छे 'लेबल' लगाना इस युग में चल पड़ा। थोड़ी-सी टेकनीक की नवीनता और शब्दों की रमणीयता के सहारे लेखक आलोचक को संतुष्ट करने लगा और दोनों ने मिलकर कच्चे पाठकों को बरगलाना शुरू किया।

मगर यह बात सभी लेखकों के लिए सही नहीं थी। बेहतर लेखक और बेहतर आलोचक इन ह्रासोन्मुख वृत्तियों का विरोध करते थे। यह विरोध बल पकड़ता गया और १९३० के क़रीब अन्य रूपों के साथ-साथ नवीन विषय और नवीन शिल्प की खोज के रूप में इस विरोध ने व्यंजना पाई। बीसवीं शती के दूसरे दशक के उत्तरार्ध की निराशा, मज़दूर-आन्दोलन का उत्थान, और इससे भी अधिक १९३०-१९३१ में गांधीजी के नेतृत्व में राष्ट्रीय संघर्ष ने ये अल्प-तुष्टि की दीवारें जड़ से हिला दीं। कम से कम कुछ लोगों में नवीन चेतना जाग पड़ी। मध्य वर्ग उस समय साहित्य का प्रमुख निर्माता और उपभोक्ता था। उसने बड़े-बड़े वाद-विवाद शुरू किये, बड़े समझौते भी किये और अन्त में वे आलस्य में खो गए। आत्मा की सच्ची प्रेरणा के स्थान पर रूढ़िवादी शुद्धिवादिता काम करने लगी, और वही विवेक की दासी बनकर सब ओर दिखाई देने लगी। मध्य वर्ग का एक छोटा-सा हिस्सा बदलती हुई परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने लगा। प्रथम महायुद्ध के बाद के साहित्य का स्वप्न-भंग, नव-नाट्य और इंग्लैंड में तीसरे दशक के 'प्रगतिशील' कवि आदि इस छोटे-से दल पर अपना प्रभाव डाल गए। इस दल ने साहित्य का सार्वत्रिक ह्रासोन्मुखता से बचाने का यत्न किया। यह प्रयत्न आज तक चला आ रहा है, जिसमें कभी सफलता मिली है और कभी नहीं भी मिली है, क्योंकि इस प्रयत्न की दिशा अनिश्चित है।

कविता में दूसरे दशक पर कवियों का एक दल हावी था, जिसका नाम 'रविकिरण-मण्डळ' था। इसका प्रयत्न था कविता को सामान्य जीवन के निकट लाया जाय। 'गोविन्दाग्रज' के बाद कविता जिस अलंकारप्रियता में खो गई थी, उसमें से उसे उबारा जाय। उन्होंने इस काम को इतनी सचेतनता से किया कि

वे उल्टे गलती में पड़ गए। कविता को उन्होंने अति-सामान्य बना दिया। उत्कटता और भावमुक्ति के प्रति उनका अविश्वास उस समय की प्रवृत्तियों के साथ अच्छी तरह चलता था, क्योंकि समाज यह चाहता था कि हर चीज़ को, ललित कलाओं को भी अपनी संकीर्ण प्रतिष्ठा की भावना से बाँध दिया जाय। उनकी कविता व्यापक रूप से प्रचलित हुई। कवि-सम्मेलनों में कवियों द्वारा कविता-पाठ इसका प्रधान कारण था। इन कविताओं में एक सीधा निष्कर्ष ठप्पे की तरह लगा रहता था, और कभी-कभी उनका दूसरा पहलू यह भी होता था कि हल्का-सा समाज-सुधार उनमें सुझाया जाय। उदाहरण के लिए प्रेम कुछ देर तक मुक्त चल सकता था, परन्तु अन्त में उसे पारिवारिक सुशीलता के रूप में ही विकसित होना आवश्यक था। ऐसा प्रेम देहाती स्वच्छ वातावरण में अधिक अच्छी तरह पुष्पित हो सकता था; इसलिए कुछ समय तक कविताओं और उपन्यासों में भी ग्राम-वर्णन का सर्वसाधारण रसाभास चलता रहा। कविता को गाकर पढ़ने के फैशन ताँबे वर्ग के नेतृत्व में करुण अतिरंजना तक पहुँच गया और उसने कविता में गौण तत्त्वों को प्रधानता दी, जैसे शब्द-संगीत और पद-कौशल को। मंडळ ने कविता के रूप और शिल्प में सँभल-सँभलकर काफ़ी प्रयोग किये। इस कारण, उस समय कविता में आवश्यक विविधता निर्मित हुई। इस दल के 'यशवन्त'—य० दि० पेंढरकर—सबसे अधिक लोकप्रिय हुए। उनकी कविताओं में छोटी-छोटी निराशाओं और शिकायतों का गिला है, मगर सर्वसाधारण पाठक को उन्हींमें अपने दुःखों की प्रतिगूंज मिली। 'गिरीश'—शं० के० कानेटकर—क्षुद्र विषयों पर सुकोमल साधारणीकरण करते रहे। 'माधव जूलियन'—मा० त्रि० पटवर्धन (१८९४-१९३९) ने आकर्षक, स्वच्छंद स्वाद-भरे प्रेम-गीत लिखे (कुछ प्रेरणा उन्होंने फ़ारसी ग़जलों से ली), लेकिन बहुत जल्दी वे भी एक परम्परावादी पंडित के रूप में परिणत हो गए और पुनः अपनी प्रेम-कविता को शैली की शुद्धता और भावना की शुद्धता से भी परिशोधित करने लगे।

प्र० के० अत्रे का 'झण्डूची फुलें' (गेंदे के फूल, १९२५) आज तक बराबर लोकप्रिय बना हुआ पैरोडी-संग्रह है, क्योंकि इस पुस्तक में इन सभी कवियों की शैलियों का कुशल परिहास किया गया है। किन्तु इसका एक बुरा परिणाम यह भी हुआ कि पाठक, जिसमें इतना विवेक नहीं था, मूल व्यंग्य वस्तु को भूलकर कविता-मात्र पर हँसने लगा। फल यह हुआ कि तीसरे दशक के आरम्भ में

'मीडियाकार' कवि और उनके 'मीडियाकार' पैरोडीकार बढ़ते गए। उनकी कविता के प्रति एक विडम्बनात्मक प्रवृत्ति ही बढ़ी। कुछ कवि कुंठित हो गए और अन्य कवि पाठकों पर और भी मधुमय पद्य उँडेलने लगे।

तांबे की कविता—जिसका अधिक उत्तम अंश दूसरे दशक में लिखा गया—तीसरे दशक के लिए आदर्श बनी। उसके प्रभाव में कवियों ने किशोर-भावना को संतुष्ट करने वाले मधुर-मधुर गीत रच डाले, चाहे कवियों की उम्र कुछ भी रही हो। कविता का विषय चाहे जितना झीना हो, बस शैली बड़ी रोचक होनी चाहिए थी। गाने वालों को भी गीत बड़े उपयोगी जान पड़े और श्रोताओं के विशाल समूह तक ये गीत पहुँचे। तांबे की कविता में जो सूक्ष्मता या संवेदनशीलता थी वह उनका अनुकरण करने वाले प्रायः भूल गए; वे केवल ऐन्द्रिक और नाद-मधुर शैली में बनावटी सरल कल्पना-चित्र रचते थे। कविता एक तरह का हल्का नशा बन गई, जिससे पाठक जीवन से दूर, मधुर-स्वप्निल दुनिया में खो सके। शैली और भावना दोनों के कुछ साँचे बन गए। पाठक के लिए ऐसी कविता का भावन करने में किसी भी बौद्धिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं थी। कवि भी सुकुमार बनता गया। उसका स्वाभाविक विकास रुक गया। इस पीढ़ी के कुछ तरुण कवियों की यही शोक-कथा थी कि उन्होंने आरंभ तो बड़ा अच्छा किया, लेकिन आगे जो आशाएँ उनसे अपेक्षित थीं, वे पूरी नहीं हो सकीं। आलोचकों का विश्वास है कि बा० भ० बोरकर तांबे के सर्वोत्तम शिष्य हैं। वे उनसे भी कुछ अधिक हैं। वे अपने साथ व्यक्तिगत इन्द्रियगोचर प्रतिमानों का आनन्द, और प्रकृति के सौंदर्य के प्रति सूक्ष्म संवेदनशीलता लाये—विशेषतया जहाँ के वे हैं—उस गोआ की प्रकृति का सौंदर्य उनकी कविता में निखरा है। तांबे की परम्परा में उन्होंने चार चाँद लगा दिए। अगर कहीं बोरकर ने अपने काव्य-चाप में एक दूसरी विसंगत डोरी—नैतिक आदर्शवादिता की—न जोड़ी होती और अपनी प्रतिभा के मौलिक गुणों तक ही सीमित रहते, तो उन्हें और अधिक ख्याति तथा सफलता मिलती।

रविकिरण-मंडल और तांबे-शैली की सचेष्ट प्रतिक्रिया में आधुनिक युग की कुछ उत्तम कविता लिखी गई। अनन्त काणेकर ने अपने छोटे-से काव्य-संग्रह 'चाँदरात' (१९३३) के बाद कविता लिखना मानो छोड़ दिया; लेकिन उस संग्रह ने नई दिशा की छोटी-सी झाँकी जागरूक पाठकों के लिए प्रस्तुत की। उस

संग्रह में चाँदनी और कारखाने की चिमनी और व्यंग्य का अद्भुत मिश्रण था। कदाचित् यह एक संक्रान्तिकालीन अल्पजीवी नवीनता थी। 'अनिल' (आ० रा० देशपांडे) ने विशिष्ट, सूक्ष्म और सोद्देश्य नवीनता का प्रवर्त्तन अपनी कविता में किया। कवि के नाते उनका कार्य बहुत वर्षों का और क्रान्तिकारी है। आरम्भ में उन्होंने स्वकेन्द्रित सुकोमल प्रेम-गीत लिखे—'फुलवात' (१९३२) और बाद में 'भग्नमूर्ति' (१९४०) में, उन्होंने सांस्कृतिक गम्भीर उपदेश पद्यबद्ध किया। 'पेर्तेवा' (१९४७) में विचार और भावना का संगम मिलता है। उन्होंने मराठी-कविता में मुक्त छन्द का निर्माण और प्रचार किया। इसके द्वारा पुराने यांत्रिक और रूढ़ छन्द-बन्धन की जकड़न से कविता मुक्त हुई। ना० घ० देशपांडे की कविता में शुद्ध गीतात्मकता और ईमानदार जानपद तत्त्व मिलता है, और गु० ह० देशपांडे की कविता में आध्यात्मिक विरोधाभास सन्त कवियों जैसी सूत्रात्मकता के साथ व्यक्त किया गया है। इस प्रकार से प्रचलित कविता की नीरसता में कुछ कवियों ने नयापन पैदा किया।

१९४२ के आन्दोलन का प्रभाव साहित्य पर इस प्रकार पड़ा कि जो थोड़ा-सा नीम-हकीमपन चल रहा था, उससे साहित्य मुक्त हुआ। 'कुसुमाग्रज'—वि० वा० शिरवाड़कर—अपने जिस कविता-संग्रह से लोकप्रियता के उत्तुंग शिखर पर पहुँचे, उसका नाम था 'विशाखा' (१९४२)। उनकी महान साहित्यिक प्रतिभा उन्हें इस ख्याति-शिखर पर बनाए रखती, किन्तु साहित्य की और विधाओं की ओर वे आकृष्ट हुए और कविता की ओर से कुछ उदासीन हो गए। 'कुसुमाग्रज' साम्राज्यवाद-विरोधी कविता की साग्निकता फिर उसी तरह से प्राप्त न कर सके, उनका मूल स्वर शान्त सौन्दर्य के लिए दौर्हार्द (नास्टेल्जिया) की कविता का ही था। उनकी सफलता के कारण एक क्षणजीवी सम्प्रदाय चल पड़ा, कुछ समय तक रक्त और अश्रु वाले उफ़ान कविता में आये, जो कि बहुत जल्दी समाप्त हो गए। यह भाव-धारा गद्य में भी फैल उठी। कविता अपने बंधनों से अधीर हो उठी थी। अतः यह नया विद्रोह कविता के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ। उदाहरणार्थ, 'मनमोहन' की कविता में यह विद्रोह अपनी अति पर पहुँचा—'मनमोहन' किसी के शिष्य नहीं हैं। कुछ और तरुण कवि, जो पहले आ रहे थे, बदली हुई परिस्थिति की माँग पूरी करने लगे और अपनी सीमाओं के भीतर धीरे-धीरे परिपक्व हो गए।

नाटक

बीसवीं सदी के दूसरे दशक में थियेटर का आधार था—प्राचीन गौरव। कुछ अभिनेता बहुत लोकप्रिय थे। उनकी लोकप्रियता अभिनय के लिए उतनी नहीं थी जितनी कि उनके गाने के लिए; और वही उस गौरव का परम्परित रूप मान लिया गया। उस समय के कुछ अच्छे गायक, उस्ताद, संगीत-रचयिता और वादक रंगमंच की ओर खिंच आए, उनके कारण कई अ-मराठी आश्रयदाता रंगमंच को मिले। उन सबके लिए संगीत प्रधान आकर्षण था। मराठी दर्शकों के लिए भी रंगमंच पर संगीत का आकर्षण अधिक प्रिय था। तीसरे दशक के आरम्भ तक सवाक् चित्रपट शुरू हो गए। ये बोलपट संगीत और मनोरंजन के क्षेत्र में नाटक के प्रतिस्पर्धी बने। तब रंगमंच ने दु:ख से अपने कमज़ोर हाथ सूने आसमान में फैलाए, और फिर वह अचकचाकर निराशा के ढेर में मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। रंगमंच तब लड़खड़ा ही रहा था, चित्रपट अपने-आपको विजेता की तरह मानने लगा।

दूसरे दशक के छोटे नाटककार, जिन्हें कुछ समय तक थोड़ी ख्याति भी मिली—लोकप्रियता और जन-अभिरुचि के लिए, कुछ परिवर्तन के साथ, वही पुराने फ़ार्मूले दोहराने लगे। इतिहास और पुराण के नायक और खल-नायक तथा सन्त कवि उनके लिए उपयोगी सामग्री बने। यह सब नायक मानो एक ही चेहरे-मोहरे के थे, वैसे ही खलनायक भी एक-से थे। पहले हम जिन प्रमुख नाटककारों का उल्लेख कर चुके हैं, उनमें से खाडिलकर और कोल्हटकर रंगमंच के पतन के साथ-साथ गिरते गए। केळकर नाटक से अधिक अन्य विषयों में रस लेने लगे। मामा वरेरकर, जिनका पहला नाटक १९१७ में खेला गया, अब आगे बढ़े। वरेरकर के जीवन-वृत्त में आधुनिक मराठी रंगमंच के विकास का बड़ा-सा भाग व्याप्त है। पौराणिक नाटकों से शुरू करके विषय और टेकनीक के निरन्तर प्रयोगकर्त्ता के नाते मामा ने अपनी इच्छानुसार रंगमंच का उपयोग सामाजिक समस्याओं के निरूपण के लिए किया। नाटकीय संवाद के नाम पर अब तक जो कृत्रिम भाषा चल रही थी, उससे उलटे वरेरकर के नाटकों में सहज खड़ी और खुली भाषा का प्रयोग किया गया। वरेरकर ने क़रीब ४० नाटक लिखे हैं और इधर के 'अ-पूर्व बंगाल' (१९५३) और 'भूमिकन्या सीता' (१९५५)

यह दिखलाते हैं कि उनकी नाट्य-शक्ति अभी भी कम नहीं हुई है। मराठी-रंग-मंच को उन्होंने यथार्थवाद दिया और उसके क्षितिज को व्यापक बनाया, इसलिए रंगमंच को उनका आभारी होना चाहिए।

रंगमंच को सजीव बनाने के लिए सबसे बड़ा प्रयत्न 'नाट्यमन्वन्तर' ने किया, जो यूरोप के 'न्यू ड्रामा' आन्दोलन से प्रभावित था। उनका पहला नाटक और एकमात्र सफल नाटक 'अन्धळयाची शाळा' ('अन्धों की पाठशाला' १९३३) नार्वे के नाटककार ब्यौर्नसन के नाटक का श्री० बी० वर्लक द्वारा किया हुआ रूपान्तर था। यह नाटक बहुत अच्छी तरह दिग्दर्शित किया गया था, परन्तु उसका प्रभाव बहुत सीमित था। साधारश दर्शक इस नाटक में कुछ विदेशीपन की बू पाता था। यह दल बहुत जल्दी टूट गया। लेकिन इसने अच्छे दर्शकों के मन में रंगमंच के सुधार और सच्चे आधुनिक नाटक के लिए प्यास जगाई। कुछ अन्य अविकसित लेखकों ने एकांकी नाटक लिखकर फ़िल्मों की चुनौती का जवाब देने की कोशिश की, पर वह ज़्यादा दिन न चल सका। बालमोहन कम्पनी के पुराने ढंग के दिग्दर्शन की टेकनीक और प्र० के० अत्रे के अर्ध-आधुनिक नाटकों को कुछ व्यावसायिक सफलता मिलती रही। अत्रे ने विशेष प्रकार के प्रहसन लिखे। कथानक उनमें बहुत थोड़े थे, चरित्र हास्यपूर्ण थे। परन्तु अत्रे की रुचि अतिरंजित नाट्य की ओर थी। इसमें उन्हें और सफलता मिली। उनके समान प्रसिद्ध हास्य लेखक जब मेलोड्रामा लिखते हैं तो यह खतरा पैदा होता है कि गम्भीर बातों को भी लोग मज़ाक समझने लगते हैं। इन सफलताओं के साथ अत्रे हल्के व्यंग्य-नाटक की ओर झुके और विनोद, चरित्र-चित्रण और भाषा-शैली की जो कुछ शक्ति उनमें थी, उसका उन्होंने बहुत दुखद ढंग से व्यय किया। इस दशक के अन्त में वे फिल्म और पत्रकारिती की ओर झुके और रंगमंच एकदम गिर पड़ा। चौथे दशक के आरम्भ में मो० ग० राँगणेकर नामक एक पत्रकार ने नाटक-कार बनकर रंगमंच को अपनी 'नाट्य-निकेतन' नामक संस्था से पुनर्जीवित किया। उनका उद्देश्य केवल लोकरंजन था, इसलिए उन्होंने ड्राइंग-रूम तक सीमित, चतुर, सुखान्त नाटक लिखे। उनके नाटकों में मध्य-वर्ग के जीवन की बड़ी यथार्थता थी, संवाद बहुत सजीव थे और दो-तीन गाने बीच-बीच में आ जाते थे। दर्शकों को नये नाटक बहुत अच्छे लगे। इन वर्षों में अव्यावसायिक रंगमंच विदेशी नाटकों के रूपान्तर की ओर अधिक झुका था, इस कारण वह

फीका और कृत्रिम होता गया।

उपन्यास

व्यावसायिक रंगमंच के पतन के साथ-साथ उपन्यास मध्य वर्ग का प्रमुख मनोरंजन करनेवाला माध्यम बनकर सामने आया। बाद में फ़िल्म के एक सशक्त प्रतिस्पर्धी की तरह जम जाने पर शुद्धिवादियों ने उसे अपना प्रिय व्यंग्य-बिन्दु बनाया। उपन्यास ने बड़ी विविधता प्राप्त की और कुछ अच्छे लेखकों के हाथों वह उत्तम सोद्देश्यता भी पा सका। वा० म० जोशी (१८८२–१९४३) ने 'रागिणी' से जो आशा बँधाई थी, वह पाँच और उपन्यासों से पूरी की। इनमें सबसे अच्छा है, 'सुशीलेचा देव' (१९३०)। यह एक पढ़ी-लिखी स्त्री के बौद्धिक दृष्टिकोण के विकास का गहरा अध्ययन है। 'इन्दु काळे आणि सरला भोळे' (१९३५) कला और नीति के बीच संघर्ष को व्यक्त करता है। यह संघर्ष कुछ व्यक्तियों के जीवन को उलझाता है। जोशी के सामाजिक विश्लेषण में दार्शनिक तटस्थता के आस-पास संशयवाद का हल्का स्मित मिलता है। डाक्टर श्री० व्यं० केतकर (१८८४–१९३७) के उपन्यासों में तटस्थता बहुत कम है। रूप और शैली के सब प्रचलित नियमों को अस्वीकार करके उन्होंने बहुत ही साधारण सामग्री और असम्भव कथानकों का आश्रय लेकर अपने उपन्यास रचे। डाक्टर केतकर समाजशास्त्री थे, और उपन्यास का उपयोग उन्होंने अपनी समस्याओं के समाधान के लिए किया। सर्वसाधारण पाठक उनके उपन्यासों के बेढंगेपन से चौंक उठे और जो अच्छे पाठक थे वे इन उपन्यासों के आन्तरिक परस्पर विरोध से चकित हुए। परन्तु उन्होंने उपन्यास में बौद्धिक साहसिकता शुरू की। केतकर और जोशी मिलकर उपन्यास को एक ऐसी ऊँचाई पर ले गए, जिससे सस्ते कथा-लेखन की क्षुद्रता और भी ज़्यादा स्पष्ट होती गई। मामा वरेरकर ने नाटक से भी अधिक उपन्यास लिखे। अब तक उन्होंने ११५ उपन्यास लिखे हैं। इनमें से २८ जासूसी उपन्यास हैं और ५८ बँगला के अनुवाद हैं। इन अनुवादों में, विशेषतया शरत्चन्द्र चटर्जी के अनुवादों में, बड़ी सहजता है। उनके मौलिक उपन्यास दलितों के जीवन को लेकर लिखे गए हैं। उनके पात्र, जो कि शोषित वर्ग के हैं, दुर्विनीत हैं और उनके नारी-चरित्र कुछ आवश्यकता से अधिक युयुत्सु हैं। परन्तु उस समय ग़रीबी के जो भावुकतापूर्ण चित्र खींचे जाते थे और स्त्रियों की जैसी

पूजा की जाती थी, उनसे ये चित्र सर्वथा भिन्न हैं।

१९२६ के बाद दो प्रसिद्ध उपन्यासकार, जो अपने प्रशंसकों की दृष्टि में कहानी-लेखक, निबंधकार और आलोचक भी बनते गए—ना० सी० फड़के और वि० स० खांडेकर[1] हैं। अति सरल आलोचक इन लेखकों के अपने दावों को सच मानकर फड़के को 'कला के लिए कला' वाले सिद्धांत का, और खांडेकर को 'जीवन के लिए कला' वाले सिद्धांत का प्रतिपादक मानते हैं। दोनों के नाम से ये लेबल चलते रहे हैं। फड़के के कुशलतापूर्ण उपन्यासों में बड़ी चतुराई से एक ही केन्द्रीय फार्मूले के विविध रूप मिलते हैं। उनमें उच्च मध्यवर्गीय जीवन के प्रेम-प्रसंगों का अति-सरलीकरण है। फड़के बहुत ही कुशल शिल्पी हैं, वे अपने कथानक को प्रभावशाली ढंग से खोलते चले जाते हैं। उनकी शैली बहुत रम्य है और जब से उनकी ख्याति बढ़ती गई तब से आलोचकों और लेखकों में शैली और टेकनीक को अनावश्यक महत्त्व दिया जाने लगा। फड़के के लिए उनकी शैली उनके कला-कौशल का एक भाग बन गई और उन्होंने इस बात को छिपाकर नहीं रखा। बड़ी ईमानदारी के साथ और मधुर ढंग से उन्होंने यह सब-कुछ अपनी 'उपन्यास और कहानियाँ कैसे लिखें?' जैसी पुस्तिकाओं में समझाया। खांडेकर फड़के के कुछ वर्षों बाद इस क्षेत्र में आए। पहले कहानी-लेखन के क्षेत्र में उन्होंने कुछ कीर्ति अर्जित की थी। फड़के के फ़ार्मूले को उन्होंने अपने फ़ार्मूले से चुनौती दी। खांडेकर के सिद्धान्तों में आदर्शवाद का गहरा पुट था। उनके युवक चरित्र सामाजिक और राजनैतिक सेवा के लिए कटिबद्ध थे। उसके लिए वे बड़े ज़ोर से भाषण देते, और इसी सिलसिले में प्रेम करना शुरू कर देते। पाठकों को खांडेकर की प्रामाणिकता ने स्पन्दित कर दिया और सुखवादी फड़के के दोषों के प्रति वे जागरूक हो उठे। फड़के ने भी जल्दी से अपने कथानक बदले और उनके युवक पात्र किसी दीवानख़ाने के बदले राजनैतिक सभाओं में मिलने लगे। ये दोनों लेखक एक-दूसरे से भिन्न रहे, परन्तु उनके प्रशंसक दूर न रह सके। यह विचित्र जान पड़ेगा, परन्तु यह सच है कि एक ही समय दोनों लेखक एक-दूसरे के पूरक अथवा एक-दूसरे से पलायन के साधन की तरह माने जाने लगे, और दोनों से ही एक-सा आनन्द प्राप्त होने लगा। आज भी दोनों लेखक कई विधाओं में लिखते आ रहे हैं। फड़के इन दोनों में कुछ अधिक लिखते रहे हैं। परन्तु अब इन

1. इन्हें अपने उपन्यास 'त्यागी' पर १९६० का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

लेखकों की शैली पाठकों के लिए रहस्यमय नहीं रही, विशेषतया फड़के की। ग० त्र्यं० माडखोलकर के उपन्यासों पर राजनीति आवश्यकता से कुछ अधिक छाई हुई थी और वह उपन्यास के कथानक से तद्रूप भी नहीं हो सकी थी। उनकी आलंकारिक शैली की तरह यह राजनीति भी एक बाह्य शोभा की भाँति जान पड़ती थी। पु० य० देशपांडे[1] में राजनीति गर्भित थी, परन्तु भावुकता और शैली के अतिरंजन से वह जैसे कुंठित हो गई। यदि विश्राम बेडेकर के एकमात्र उपन्यास 'रणांगण' (१९३९) में चित्रित अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के बिगड़ने को और प्रमुख पात्रों के जीवन पर उसके प्रभाव को गम्भीरता से ग्रहण किया जाता, तो बाद के उपन्यासों में अर्ध-राजनैतिक रचनाएँ कम लिखी जातीं। यदि भूतकाल के इतिहास को पिछली पीढ़ियों के लेखक ने कल्पनारम्य बनाया, तो इस पीढ़ी के उपन्यासकारों ने वर्तमान इतिहास को रोमांटिक रूप दिया, और अधिकतर पाठक इसी को यथार्थवाद और राजनीति मानकर ग्रहण करने लगे।

पाठकों और आलोचकों का एक दल—यद्यपि वह बहुत छोटा था—उस समय के प्रचलित उपन्यास-साहित्य के प्रति अपने विरोध का स्वर बराबर उठाता रहा। कुछ लेखकों को प्रेरणा मिली कि वे इस फैशन को तोड़कर नये रास्ते खोजें। जो लेखिकाएँ इस समय आगे बढ़ीं, उनमें कई बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। विभावरी शिरुरकर ने, जिनके सम्बन्ध में यह बात अब छिपी नहीं है कि उनका असली नाम श्रीमती मालती बेडेकर है, अपनी कहानियों और दो उपन्यासों (१९३३-१९३५) से तहलका मचा दिया। जाग्रत् नारी के दुःखों का उत्कट सत्य इनकी रचनाओं में अभूतपूर्व ढंग से व्यक्त हुआ था। श्रीमती गीता साने ने बड़े साहस से लिखा, परन्तु उतनी प्रभावशालिता से नहीं। 'कृष्णाबाई'—श्रीमती मुक्ताबाई दीक्षित—और श्रीमती कमलाबाई टिळक मध्य वर्ग के घरों की कहानियाँ उतनी चुनौती से नहीं, किन्तु अधिक सूक्ष्मता से लिखती रहीं। श्रीमती कुसुमावती देशपांडे के संवेदनशील रेखाचित्र बहुत लोकप्रिय हुए, उनमें काव्य-गुण और आलोचनात्मक गुण बहुत अच्छी तरह संतुलित हैं। हाँ, कुछ स्त्रियाँ ऐसी भी अवश्य थीं जो स्त्रियों के बारे में उसी तरह से लिखती रहीं जैसे कि स्त्री-दाक्षिण्य प्रदर्शक पुरुष प्राचीन काल से लिखते आ रहे थे। जिन लेखकों ने लीक-लीक

---

१. इन्हें 'अनामिका ची चिन्तनिका' नामक दर्शन सम्बन्धी निबन्धात्मक पुस्तक पर १९६२ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

छोड़कर नया रास्ता अपनाया, उनमें र० वि० दिघे का नाम प्रमुखतः लेना चाहिए। उन्होंने सह्याद्रि के आदिवासियों के बारे में घटना-बहुल उपन्यास लिखे, यद्यपि उन्होंने भी रोमांस का झीना आवरण अपने कथानक पर डाला। साने गुरूजी (१८९९–१९५०) की भावुकतापूर्ण, उपदेश-प्रधान कहानियाँ और उपन्यास १९४२ के बाद किशोरों पर बड़ा जादू कर गए। इससे एक लाभ हुआ कि उन दिनों जो ख़राब जासूसी उपन्यास प्रचलित हो गए थे, कम से कम तरुण पीढ़ी तो उनसे बच सकी।

कहानी

कहानी इस काल में एक विशेष साहित्यिक विधा के नाते विकसित हुई। पुराने काल के ह० ना० आपटे, श्री० कृ० कोल्हटकर, न० चिं० केळकर, वि० सी० गुर्जर तथा अन्य लेखकों की कहानियाँ कोरे कथानक या संक्षिप्त उपन्यास के रूप में होती थीं, और उनका लेखन भी ठीक वैसे ढंग से होता था, जैसे उपन्यास का। दिवाकर कृष्ण की 'समाधि तथा छः और कहानियाँ' (१९२३) से रचना की अन्विति और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मराठी-कहानी में शुरू हुआ। एक प्रकार से आधुनिक कहानियों का यह पहला संग्रह था। खांडेकर और फड़के ने अपने विशेष गुण कहानी को दिए और इस दशक के अन्त तक यह रूप सुनिश्चित हो गया। तीसरे दशक में कुछ और नई विविधता कहानी में शुरू हुई जो खांडेकर और फड़के की शैलियों की प्रतिक्रिया के रूप में थी। य० गो० जोशी ने इन दोनों लोकप्रिय लेखकों की कृत्रिमता पर हँसते हुए घरेलू जीवन की भावुक कहानियाँ लिखीं। उनसे वे लोकप्रिय बने। वि० वि० बोकिल ने बड़ी अच्छी कहानियाँ लिखनी शुरू की थीं। निम्न मध्य वर्ग की दयनीय दशा की झलक उनमें मिलती थी। ज़रूर कभी-कभी हास्य का पुट उनमें अधिक हो जाता था, परन्तु इनकी कहानियों में न संयम था, न विविधता। बोकिल ने हास्यप्रियता को उपन्यासों में बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया और उनके अच्छे गुणों का इस प्रकार अन्त हो गया। अनन्त काणेकर की थोड़ी-सी कहानियाँ संयत व्यंग्य का अच्छा नमूना थीं, परन्तु लेखक ने स्वयं इस कला को बढ़ाया ही नहीं। श्री० म० माटे की सशक्त कहानियों ने उस समय की लोकप्रिय कहानियों की नक़ली मधुरता के विरोध में ग्राम-जीवन के चित्र प्रस्तुत किये। कुछ लोगों ने प्रादेशिक या आंच-

लिक कहानियाँ लिखने का भी यत्न किया। कुछ लेखक गोआ के प्राकृतिक सौंदर्य और महाराष्ट्र के प्राचीन जीवन की ओर झुके; परन्तु अधिकतर लेखकों ने अनैतिकता के चित्रण के लिए इसे एक सुविधाजनक पार्श्वभूमि समझकर इसका उपयोग किया। चिं० वि० जोशी, प्र० के० अत्रे और शामराव ओक जैसे हास्य-लेखक कभी-कभी साहित्यिक व्यंग्य के साधन के रूप में कहानी का और भी चतुराई से उपयोग करते रहे।

व्यक्तिगत निबन्ध और अन्य गद्य रचनाएँ

अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा व्यक्तिगत निबंध अंग्रेज़ी से अधिक सीधा चल निकला। वह दूसरे दशक के अन्त में जम गया। फड़के और खांडेकर दोनों ने उसे पाठकों के लिए अधिक रोचक बनाया। फड़के के निबन्ध अधिक चुस्त-दुरुस्त और हल्के-फुल्के थे। खांडेकर के निबन्धों में भावुकता जैसे अपने अलंकार थे, और उनमें सुघरता कम थी। फड़के ने अपने निबन्ध-लेखन का 'तंत्र' समझा दिया, और हर कोई समझने लगा कि वह भी अच्छा निबन्ध-लेखक हो सकता है। ना०म० संत को छोड़कर शायद ही किसी ने अच्छे निबन्ध लिखे। अनंत काणेकर के निबन्धों में जनसाधारण के रूढ़ विश्वासों को उलट-पुलटकर, उनका हल्के ढंग से मज़ाक उड़ाकर, जीवन-परक भाष्य था। यह ढंग अनुकरण के लिए बहुत आसान था; काणेकर ने स्वयं अपनी पुनरावृत्ति बहुत अधिक की; परन्तु उन्होंने इस साहित्यिक रूप को बहुत जल्दी छोड़ दिया। श्रीमती कुसुमावती देशपांडे का अनुकरण करना अधिक कठिन था, क्योंकि उनकी शैली में कोई सहज पहचानी जा सकने वाली विशिष्टता नहीं थी और उनकी सुकुमारता और काव्यमय भावना सचमुच व्यक्तिगत थी। इस विधा की लोकप्रियता और सफलता तथा उसका शीघ्र ह्रास, क्योंकि उसकी छोटी-छोटी युक्तियाँ जल्दी ही चुक गईं—युग के स्वभाव का प्रतिबिंबन करता है।

विविध विधाओं में प्रयोग और कार्य से जीवनी-साहित्य को बल मिलना चाहिए था, परन्तु ऐसा नहीं हुआ, और वह आज तक वैसा ही बना है। पर एक बड़ी प्रसिद्ध आत्मकथा इस काल में लिखी गई। यह है—श्रीमती लक्ष्मीबाई टिळक की 'स्मृति-चित्र' (१९३४–४६)। लक्ष्मीबाई रेवरेंड ना० वा० टिळक नामक कवि की पत्नी थी। इस स्त्री को अक्षर-ज्ञान नहीं था, वाक्य-रचना तो दूर

की बात है ! इस युग के अधिकतर लेखकों का ध्यान छोटी-छोटी बातों में उलझा रहा, फिर भी कुछ लेखकों ने गम्भीर गद्य की ओर ध्यान दिया। इनमें प्रमुख हैं— वा० म० जोशी, डा० केतकर, श्री० म० माटे, वि० दा० सावरकर (जिनकी कविता भी संदेश देने की भावना से लिखी गई थी) और शं० दा० जावडेकर। कुल मिलाकर पत्रकारिता जनसाधारण की रुचि से समझौता कर बैठी, और अच्छे साहित्यिक पत्र मुश्किल से चल सके। चतुर पत्रकार के लिए अत्यधिक सरलीकरण और जटिल सिद्धान्तों को जनसाधारण के उपयोग के लिए पनियल बनाने से बढ़कर बड़ा कोई और ख़तरा नहीं। केळकर उसी में अटक गए। फड़के भी पत्रकार न होकर उसी जाल में फँसे। यह इस युग की ही विशेषता थी। बहुत-सा आलोचनात्मक साहित्य भी लिखा गया, जिसमें से बहुत-सा 'टेकनीक' और 'तंत्र' के यांत्रिक विचार में अपनी शक्ति का अपव्यय करता रहा। कुछ और शक्ति का अपव्यय संस्कृत-काव्य-शास्त्र की बासी कढ़ी में उबाल देने के लिए किया गया। साहित्यिक जमात का एक हिस्सा, जो पश्चिम से प्रेरणा पाता रहा था, मार्क्सवाद की विचार-धारा से आकर्षित हुआ। इसमें अनिवार्य रूप से एक दिलचस्प बहस शुरू हुई, और कुछ पुनर्विचार भी हुआ।

१९४५—५५

पहले काल के अंत तक साहित्यिक विधाओं के प्रति बड़ा ही असंतोष आरम्भ हो गया था, जो साफ़ दिखाई देता था। १९४२ का आन्दोलन, दूसरा महा-युद्ध और उसके बाद की राजनैतिक अस्थिरता तथा अंत में स्वतंत्रता के आगमन ने साहित्य के प्रति एक 'नये दृष्टिकोण' के आरम्भ के लिए सार्थक पार्श्वभूमि का काम किया। जनसाधारण के जीवन से सुरक्षित रूप से तटस्थ रहने की वृत्ति साहित्य में ठहराव पा गई थी। इसकी अपनी आत्म-प्रवंचनाएँ थीं। उन्हें जैसे एक झकझोर मिली। हमारे खंडित जीवन की करुण थेगरबंदी इस सारे ऊपर से ढाँके हुए तथाकथित सुन्दर आवरण में से झाँक उठी। यह मुद्रा अधिक देर तक न टिक सकी। इस नई वृत्ति से जिन साहित्य-रूपों को विशेष नवजीवन मिला, वे थे कविता और लघुकथा। अब इन माध्यमों से लेखक जीवन की विविधता, उसकी अति अज्ञात गुह्यता को खोजता है। जिन पर्दों ने हमारी अनुभूतियों को नीरस और एकरूप बना दिया था, उन्हें अब तोड़ दिया गया है।

नई कविता पाठक को जगाती है। और कवि की अनुभूति की सूक्ष्म धार को महसूस करने के लिए जैसे उसे भीतर से बाहर खींच लाती है। अब जल्दी से किये जाने वाले साधारणीकरण नहीं हैं, काव्य की वस्तु उत्कट और व्यक्तिगत है। विचार और भावना संश्लिष्ट हो गई है। काव्य के बाह्य रूप को उसका उचित स्थान दिया गया है, और अब वह कवि के लिए ग्रंथि के समान नहीं है। उसके कल्पना-चित्र बिलकुल नपे-तुले होते हैं। क्योंकि वे सजीव अनुभव में से निकलते हैं। विज्ञान ने उसे बड़े ही प्रभावशाली रूपक दिये हैं। जीवन के सत्य का कोई भी अंग कवि के लिए पराया नहीं है। उदाहरणार्थ सेक्स की बीभत्सता और सुन्दरता दोनों ही को कवि खोलकर रख देता है। अर्द्ध-चेतन मन की अनिर्बंध सहस्मृतियाँ जैसे बाहर फेंक दी गई हैं। शिथिल या भोथरी संवेदना वाला पाठक इस नई कविता में जो दुस्सहता देखता है, उसका बहुत-कुछ कारण जिस प्रकार के अनुभव-विश्व में से वह अपनी कविता रचता है, उसके स्वभाव में ही निहित है। भाषा की दृष्टि से नई कविता, काव्य-शैली की कृत्रिम नक़ली भाषा की अपेक्षा जीवन्त बोलचाल का सीधापन पसंद करती है।

बी० सी० मढकर[1] (१९०७—१९५६) की 'काही कविता' (१९४७) के साथ नई कविता का पूरा प्रभाव सहसा पहली बार सबने अनुभव किया; यद्यपि पु० शि० रेगे की पूर्व रचना में नई कविता के कुछ विशिष्ट लक्षण पहले से दिखाई देने लगे थे। मर्ढेकर की कविता एक ऐसे गहरे संवेदनशील व्यक्ति की कविता है, जो वीरान जीवन की निराशाओं से मूलतः कुंठित हो गया है। परन्तु इस कविता में शोक नहीं है, उसमें एक निजी सौंदर्य-स्वप्न और उसकी पूर्ति की आशा है। मर्ढेकर के कल्पना-चित्र ऐंद्रिक कम और बौद्धिक अधिक हैं, जबकि रेगे की कविता अपने ऊष्म विवरणों-सहित व्यक्तिगत उत्तेजना के अल्पजीवी क्षणों को पकड़ रखती है। रेगे की कविता में और लोगों की तथा अन्य विषयों की दुनिया जैसे जान-बूझकर अलग रखी गई है। उनका उपयोग केवल वहीं तक होता है, जहाँ तक कवि का अनुभव उससे समृद्ध किया जाता है। मर्ढेकर और रेगे दोनों ऐसी गठित अभिव्यंजना का प्रयोग करते हैं कि उसमें अनावश्यक को बिलकुल कम कर दिया गया है। कवि अपनी कविताओं का भाष्य नहीं करता। शरच्चंद्र, मुक्ति-

१. इन्हें अपने सौन्दर्य-शास्त्र विषयक ग्रंथ 'सौन्दर्य आनी साहित्य' पर १९५६ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

बोध और विंदा करन्दीकर अपने आनन्द में शब्दों को कुछ अधिक ढील देते हैं—और अपने कल्पना-चित्रों को विकसित होने का अधिक अवकाश देते हैं—विशेषतः अपनी सामाजिक आन्दोलन-प्रधान कविताओं में। उसी तरह के कवि हैं—मंगेश पाडगांवकर, जिनके आरम्भिक उम्मीदवारी के दिन—जो बोरकर और तांबे-शैली के मधुर अनुकरण के दिन थे—अभी भी उनमें मँडराते रहते हैं। बसन्त बापट भी नई शैली के विकसित कवि हैं, परन्तु उन्होंने अपने मूल कवि-स्वभाव के प्रति अन्याय नहीं होने दिया है। श्रीमती इंदिरा संत के काव्य में प्रौढ़ता और भी सहज ढंग से निर्मित हुई, क्योंकि उनके निवेदनात्मक (अप्रदर्शनात्मक) गीति-काव्य ने उन्हें अनावश्यक तत्त्वों से सदा दूर रखा। य० दि० भावे ने कुछ नये ढंग की सचेष्ट रचना अल्पकाल के लिए की और बाद में वे जैसे चुप हो गए। इनमें से प्रत्येक कवि ने नई कविता में अपना व्यक्तिगत स्वर मिलाया और इस प्रकार सबने मिलकर नई मराठी कविता को बड़ी विविधता तथा समृद्धि दी। इनमें से कुछ कवियों ने सार्वजनिक काव्य-वाचन किया, और इस प्रकार पुराने आलोचकों एवं केवल दोषदर्शियों के द्वारा साधारण पाठक तथा आधुनिक कविता के बीच जो खाई पैदा हो रही थी उसे कवियों ने पाटा। इस नये वातावरण ने कई युवक-युवतियों को उत्तम कविता लिखने के लिए प्रेरित किया। पुराने कवियों में 'अनिल' ने इस वातावरण के अनुकूल अपने-आपको ढाला और अन्य कवियों से अधिक उदारता से नवीन प्रभावों को ग्रहण किया। बहुत कम कवि इस नये प्रभाव से अछूत रहे। यह नहीं कि पुरानी कविता की ओर सभी कवि मुड़ गए हों। ग० दि० माडगूळकर की झिलमिलाती हुई गीत-काव्य-सुन्दरता प्राचीन परम्परित संत-काव्य तथा लोक-गीतों की शैली और कल्पना-चित्र पर आश्रित है; परन्तु रूप और वस्तु के बीच में पूरा समन्वय, और उनके अधिक अच्छे गीतों में कल्पना-चित्रों की सशक्तता उन्हें उन अन्य कवियों से भिन्न और उच्चतर बनाती है, जो निरी नक़ल करते हैं। परन्तु पुरानी नई कविता की गम्भीर बहस बिलकुल खोखली जान पड़ती है जबकि 'बहीणाईची गाणी' (बहीणाई के गाने, १९५२) जैसे कविता-संग्रह द्वारा एक बे-पढ़ी-लिखी किसान स्त्री अपनी स्फूर्ति-दायिनी प्राचीन समझदारी से पाठक को हिला देती है—इस कवयित्री का नाम है श्रीमती बहीणाबाई चौधरी।

नई कविता और नई कहानियों के बीच का घनिष्ठ सम्बन्ध गंगाधर गाडगिळ

की कहानियों में बहुत अच्छी तरह से व्यक्त हुआ है। ये कहानियों के क्षेत्र में सबसे साहसिक प्रयोगकर्त्ता हैं। गाडगिळ की अजीब कल्पना-शक्ति हमारे अनुभवों की गहराई में जाकर परस्पर अज्ञात विरोध व्यक्त करती है, मानो हमारे भीतर की झाँकी बाहर दिखाई गई है; जो छोटे-छोटे सपने हमने अपने आराम के लिए छाती से चिपटाये थे, उन्हें हमसे छीन लिया जाता है। अरविन्द गोखले व्यक्ति के भीतर परिस्थितियों के प्रति तनाव का वर्णन करते हैं। भावे व्यक्ति पर अधिक ज़ोर देते हैं, परन्तु उनका स्फूर्ति-स्थान व्यक्ति और समाज दोनों से बाहर है; और वह है—परम्परित नीतिवाद। व्यंकटेश माडगूळकर की कहानियों में देहात के सही-सही चित्र मिलते हैं। झूठे सौन्दर्य-वर्णन देहातों के बारे में सुप्रचलित थे, उन्हें तोड़कर देहात की सच्ची झाँकी इस कहानी-लेखक ने दी है। देहाती लोगों के वृथा भावुक चित्र देकर उनके प्रति करुणा उपजाने की जो वृत्ति अन्य कहानी-लेखकों में थी, उसका पूरा दम्भ स्फोट व्यंकटेश ने किया है। इनकी कहानियों में देहाती लोग व्यक्ति के नाते जीवित हैं; वे उन पर कोई ज़बरदस्ती के सिद्धान्त नहीं लटकाते। ये चार लेखक आधुनिक मराठी कहानियों के सच्चे निर्माता माने जाते हैं। इनके हाथों कहानी ने बड़ी गहराई और विविधता प्राप्त की है। दि० बा० मोकाशी और 'शान्ताराम' ने भी कहानियों में योगदान दिया। इन सभी कहानियों में साधारणतः कथानक बहुत कम होते हैं, घटना के पीछे जो वृत्ति है वही कहानी को अधिक आकार देती है। आरम्भिक विरोध के बाद, जो कि नयेपन के कारण अनिवार्य था, पाठक इस कहानी के प्रति अधिक उत्सुकता से खिंचने लगा है। कविता में भी बहुत-से तरुण लेखक रूप-शिल्प की ओर पहले खिंचे थे। बाद में उसका पूरा पता चल जाने पर नवप्राप्त स्वतंत्रता के लिए इनमें से हर कवि संघर्ष करने लगा और अपना अलग रास्ता बनाने लगा। माडगूळकर की तरह ही रणजीत देसाई और डी० एम० मिरासदार भी गाँवों की कहानियाँ लिखते हैं। सदानन्द रेगे भी गाडगिळ की तरह विक्षिप्त ढंग से लिखते हैं पर उनका अपना एक तरीक़ा है। पुराने ढंग की कहानियाँ अभी भी लिखी जाती हैं और उनमें कुछ तो महत्त्वपूर्ण भी हैं। महादेव शास्त्री जोशी की गोआ-सम्बन्धी कहानियाँ भावुकता से भरी हैं। वहाँ के सरल, ईश्वर से डरने वाले लोगों का वर्णन उनमें है। उनकी प्रामाणिता पाठकों को मोह लेती है। ये वर्णन कदाचित् गाँव-सम्बन्धी पुराने अनैतिक प्रेम की लोक-प्रिय प्रादेशिक कथा की प्रक्रिया में निर्मित हुए। ना० ग० गोरे के रेखाचित्र भी,

जो कि अधिकतर कोंकण के लोगों के विषय में हैं, भावुकतापूर्ण हैं, लेकिन कुछ कम मात्रा में। उनका साहित्यिक गुण अधिक स्पष्ट है।

यह एक विचित्र बात है कि कहानी की भाँति उपन्यास का विकास नहीं हो रहा है। युद्ध-पूर्व युग के उपन्यास में जो अवास्तविकता, वृथा भावुकता और 'तंत्र' के सौंदर्य पर अधिक बल था, वही आग्रह अब भी कुछ लेखकों के प्रयत्न में बाधा की तरह आता है। और इस कारण कुछ लेखक उपन्यास को पर्याप्त प्रौढ़ता नहीं दे पाते। कुछ अपवाद अवश्य हैं, जिनमें सबसे अधिक आशाप्रद हैं श्री० ना० पेंडसे। इनके चार उपन्यास लेखन-शक्ति के विकास के परिचायक हैं। कोंकण के एक अपेक्षाकृत अज्ञात प्रदेश के बारे में ये उपन्यास हैं। इस प्रदेश के अलक्ष्य जीवन की सतह के नीचे जो संघर्ष चल रहा है उन्हें पेंडसे ने पकड़ा है। इसके कारण उनके उपन्यासों को एक नाटकीय गुण प्राप्त हुआ है। उनके चरित्रों में इस नाटकीयता को बनाये रखने वाली शक्ति है। एस० आर० बिवलकर[1] का प्रथम उपन्यास 'सुनीता' (१९४८) जो विभाजन के समय पूर्वी बंगाल के दुःखों पर आधारित था—बड़ा आशाप्रद था, परन्तु उनका दूसरा और अन्तिम उपन्यास उस आशा को पूरा न कर सका। विभावरी शिरुरकर (श्रीमती मालती बेडेकर) के 'बळी' में जरायमपेशा आदिवासियों की बस्ती का यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत है। वि० वा० शिरवाडकर (कवि 'कुसुमाग्रज') के उपन्यास पुराने और नये का विचित्र मिश्रण प्रस्तुत करते हैं। नवीन सामाजिक परिस्थितियाँ और रोमांटिक के प्रति पुराने झुकाव दोनों ही उनमें मिलते हैं। यही बात दूसरे कवि बा० भ० बोरकर के विषय में कही जा सकती है, जिनके उपन्यास गोआ के बारे में होते हैं। बी० सी० मर्ढेकर ने कविता में जितना काम किया उतना उपन्यास में नहीं किया। उनकी विशेषता यही है कि उन्होंने 'चेतना-प्रवाह' (स्ट्रीम आफ़ कान्शसनेस) की शैली का पहला उपन्यास मराठी को दिया। अचेतन मन के चित्रण का इसी प्रकार का प्रयत्न वसन्त कानेटकर ने भी अपने उपन्यासों में किया, परन्तु उन्हें और भी कम सफलता मिली। गो० नी० दांडेकर काफ़ी अधिक लिखते हैं और मानो उपन्यास को जहाँ साने गुरुजी ने छोड़ा था वहाँ से उसे आगे बढ़ाते हैं। परन्तु उनकी रचना एक-सी नहीं है, उसमें ऊबड़-खाबड़पन है और भावुकतापूर्ण तथा सचमुच भावना-

१. इन्हें अपने 'रथचक्र' नामक उपन्यास पर १९६३ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

सघन के बीच जो झीनी मर्यादा-रेखा है, उसे वे पूरी तरह निभा नहीं पाते। पुराने लेखकों में फड़के अभी भी लिख रहे हैं और अपने 'तंत्र' के उदाहरण पेश करते हैं। कहा जा सकता है कि उनके कुछ थोड़े अनुयायी भी हैं।

रंगमंच की हालत अच्छी नहीं है। बड़े शहरों में जो कुछ अव्यावसायिक हलचल दिखाई देता है, वह प्रायः नाट्य-महोत्सवों के समय अधिक ज़ोर पकड़ती है और बाद में समाप्त हो जाती है। सच्चा अव्यावसायिक अभिनेता 'आधुनिक नाटक खेलना चाहता है, परन्तु वह इतनी सहजता से नहीं मिलता। जो कुछ पुराना व्यावसायिक मंच बाक़ी है वह बासी मनोरंजन की युक्तियों से सन्तुष्ट है, परन्तु अब उसके भी पैर लड़खड़ा रहे हैं। बम्बई के मज़दूर-जगत् में बहुत दिनों से नाटक खेलने का रिवाज चला आ रहा है, परन्तु ये नाटक उच्च वर्ग के नाटकों से बिलकुल अलग ढंग के होते हैं। उच्च वर्ग के नाटक तो 'साहित्यिक' होने का गौरव रखते हैं, जबकि मज़दूरों के नाटक पुराने नाटकों की सभी बुराइयाँ लिये हुए रहते हैं। उनमें पुराने नाटक के गुण बहुत कम हैं। मामा वरेरकर के अलावा कुछ और भी नाम हैं जिनसे इस दिशा में आशा की जा सकती है। नाना जोग ने नाटक को सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रभावशाली रूप से प्रेरित किया है। श्रीमती मुक्ताबाई दीक्षित ने भी वही काम किया है, परन्तु उनके नाटकों की समस्याओं का क्षेत्र उतना व्यापक नहीं है। व्यंकटेश वकील के नाटकीय गुण, विशेषतः संवाद लिखने के, दिग्दर्शन के अभाव में बेकार पड़े हुए हैं। प्रायः यही बात इन सभी नाटककारों और दूसरे कई लोगों के लिए कही जा सकती है। अव्यावसायिक रंगमंच की दो नई खोजे हैं, चिं० य० मराठे—जो ऐतिहासिक नाटक के पुनर्जागरण की आशा बँधाते हैं—और विजय तेंडूलकर, जो बहुत प्रभावशाली लेखक हैं और व्यंग्य जिनका प्रधान गुण है। इधर कई वर्षों सबसे अधिक सफलनाटक रहा है—पी०एल० देशपांडे[1] का 'अमलदार', जो गोगोल के 'सरकारी इंस्पेक्टर' का बहुत मनोरंजक रूपान्तर है। और भी कई लेखक हैं जिन्होंने यूरोपीय नाटकों से रूपान्तर किये हैं। इनमें एक प्रमुख लेखक हैं, अनन्त काणेकर। लोगों में नाटक देखने का सच्चा उत्साह और प्रेम है, परन्तु रंगमंच का विकास जैसा होना चाहिए, वैसा नहीं हो सका है। उसके मार्ग में बहुत

१. इन्हें 'व्यक्ति आनी पल्ली' नामक पुस्तक पर १९६५ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

बाधाएँ हैं। फलतः रंगमंच का उपयोग वे लोग कर रहे हैं जो सस्ता मुनाफ़ा या थोड़ी-सी कीर्ति चाहते हैं।

दूसरी विधाओं के बारे में कुछ कहने लायक नहीं है। व्यक्तिगत निबन्ध को पिछली पीढ़ी के टेकनीकवादियों ने जो बिगाड़ दिया तो वह अब तक नहीं पनपा। एक ऐसे ढंग का नया निबन्ध विकसित हो रहा है जो व्यक्तिगत और गपशप के ढंग का नहीं है, फिर भी जिसमें एक सूक्ष्म व्यक्तिगत रस और गम्भीर आशय है। श्रीमती इरावती कर्वे[1] और कुमारी दुर्गा भागवत ने इस नये ढंग के निबन्ध को सफलता से प्रयुक्त किया है। रा० भि० जोशी के 'यात्रा रेखाचित्रों' में सच्चे निबन्ध के गुण हैं। हास्य का विशेष रूप से अलग वर्णन करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसका जगह-जगह पर उल्लेख हो चुका है, विशेषतः नई कहानी के प्रसंग में। पु० ल० देशपांडे के व्यंग्य-रेखाचित्र और हास-परिहासपूर्ण नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। साहित्यिक समालोचना में बी० सी० मर्ढेकर की कृतियाँ आज तक कला की गहराई में अन्य आलोचना जितनी नहीं पैठी थीं उससे भी अधिक पैठती हैं। इस पर वाद-विवाद भी बहुत हुआ, परन्तु ये और अन्य वाद-विवाद—उदाहरणार्थ कलाकार और समाज के सम्बन्धों पर एक मनोरंजक वाद-विवाद—साहित्य में गम्भीर लेखन और स्वीकृत मान्यताओं तथा निष्ठाओं के पुनर्मूल्यांकन का प्रश्न प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार के पुनर्मूल्यांकन की ओर स्वस्थ दिशा-निर्देश करनेवालों में श्रीमती कुसुमावती देशपांडे, वा० ल० कुलकर्णी और दि० के० बेडेकर जैसे आलोचक हैं। जिस सतह पर यह वाद-विवाद चल रहा है, उससे आशा बँधती है कि साहित्यिक अध्ययन का भविष्य उज्ज्वल है।

संदर्भ-ग्रंथ

ए शार्ट हिस्ट्री आफ़ मराठी लिट्रेचर—एम० के० नाडकर्णी; बड़ौदा, १९२१

हिस्ट्री आफ़ माडर्न मराठी लिट्रेचर (१८००–१९३८)—जी० सी० भाटे; पूना, १९३९

द, रेलीजस लाइफ़ आफ़ इंडिया—(१) रामदास ऐंड रामदासीज़, मैसूर,

1. श्रीमती इरावती कर्वे को 'युगांत' (महाभारत पर आधारित) शीर्षक पुस्तक पर १९६८ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

१६२८; तथा (२) एकनाथ, ए मराठी भक्त, १६३१—डब्ल्यू० एस० डेमिंग

द भगत नामदेव आफ़ दी सिक्खस, बम्बई १६३८; ग्रैमेटिका महाराष्ट्र, बम्बई, १६५४; ए पैज़ा-ड-क्राइस्टो, बम्बई, १६४०—ए० के० प्रियोलकर

द लाइफ़ ऐंड टीचिंग आफ़ तुकाराम—जे० एन० फ़्रेज़र और जे० एफ० एडवर्ड्स, मद्रास १६२२

द पोएट सेण्ट्ग आफ़ महाराष्ट्र—ई० जस्टीन ऐबट, पूना, १६३२

बैलड्स आफ़ द मराठाज़—हैरी आर्बुथनाट, ऐकबर्थ, लन्दन १८४६

द पोएम्स आफ़ तुकाराम—जे० एन० फ़्रेज़र और के० वी० मराठे, खंड १, १६०६; खंड २,१६१३; खंड ३,१६१५

मिस्टिसिज़्म इन महाराष्ट्र—आर० डी० रानडे; पूना; १६३३

द क्रिश्चियन पुराण—टामस स्टीफ़ेंस, संपादक : एल० एल० सलदना, मंगलौर, १६०७

साम्स आफ़ मराठा सेण्ट्स—निकोल मैकनिकोल, १६३०

ज्ञानेश्वरी—मनु सूबेदार

लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया—जी० ए० ग्रियर्सन, खंड २, पृष्ठ १–३७१

मलयालम

सी० कुञ्ञान् राजा

प्रास्ताविक

मलयालम क़रीब एक करोड़ चालीस लाख लोगों की भाषा है। मलयालम-भाषा-भाषी केरल नाम के छोटे-से सुन्दर प्रदेश के निवासी हैं, जो पश्चिमी घाट और अरब सागर के बीच दक्षिण के छोर तक फैला हुआ है। प्राचीन यूनानियों को इस देश का पता था और अशोक के शिला लेखों में भी इसका उल्लेख है। रामायण, महाभारत और कालिदास की कृतियों में भी केरल का सदर्भ आता है। परन्तु ६वीं शताब्दी से पहले केरल का कोई साहित्य नहीं मिलता। उस समय का भी जो थोड़ा-सा साहित्य मिलता है, उसकी तिथियाँ अनिश्चित हैं। १४वीं शती में मलयालम पूरी विकसित भाषा के रूप में और पर्याप्त साहित्य के साथ सामने आती है। इस युग के 'लीलातिलकम्' नामक व्याकरण और भाषा-शास्त्र के ग्रन्थ में उक्त साहित्य के कई उद्धरण दिए गए हैं।

ऐसा भी प्रश्न किया गया है कि मलयालम को तमिळ भाषा की एक मध्य-कालीन शाखा के रूप में माना जाय। परन्तु इस मत के समर्थन में कोई सबूत नहीं मिलता। जब हम मलयालम को सर्वप्रथम एक साहित्यिक भाषा के रूप में देखते हैं, तब उसका अपना शब्द-भंडार, व्याकरण, छन्द और काव्य-शैली आदि मिलते हैं। बाद में मलयालम संस्कृत से अधिक प्रभावित हुई और कविता में संस्कृत-छन्दों का प्रयोग भी प्रचुरता से होने लगा। फिर भी इस भाषा के महान साहित्यिक कलाकारों ने केवल मूल मलयालम छन्दों को ही अपनाया और केवल उन्हीं संस्कृत शब्दों का उपयोग किया जो मलयालम की शब्दावली का अंग बन गए थे। फिर भी, संस्कृत-छन्द और शब्दावली का प्रभाव कुछ ऐसे साहित्यिक प्रकारों पर पड़ता रहा, जो मलयालम-छन्दों में लिखी सरल, शुद्ध मलयालम-कविता के साथ-साथ विकसित हो रहे थे।

मलयालम साहित्य के शास्त्रीय काल का प्रारम्भ पन्द्रहवीं शताब्दी से माना जा सकता है, जबकि चेरूश्शेरी की 'कृष्णगाथा' रची गई। शास्त्रीय मलयालम से पहले के युग में तीन स्पष्ट साहित्यिक संप्रदाय दिखाई देते हैं; एक पर तमिळ का प्रभाव था, दूसरे पर संस्कृत का और तीसरे में अधिकतर लोकगीत तथा अन्य लोक-विधाएँ आती थीं। इन संप्रदायों ने एक शास्त्रीय भाषा के निरूपण में योग दिया और इस भाषा को स्थायित्व दिया एज़हुत्राचन ने, जोकि सोलहवीं शताब्दी में हुए थे। मलयालम साहित्य में एज़हुत्राचन का वही स्थान है जो हिन्दी में तुलसीदास और तमिळ में कंबन का है। विशाल जनसमूह द्वारा उनके 'अध्यात्म रामायणम्' तथा 'महाभारतम्' नामक ग्रंथ धार्मिक श्रद्धा के साथ पढ़े जाते हैं। एज़हुत्राचन ने कई अन्य ग्रन्थों की भी रचना की। उनके सभी ग्रन्थों की विशेषता है—विशिष्ट साहित्यिकता और दार्शनिकता।

सत्रहवीं सदी के मध्य से लेकर लगभग दो सौ वर्षों तक, केरल में सर्वाधिक प्रचलित साहित्य-रूप कथाकली था। इसके रचनाकारों में प्रमुख हैं—कोट्टारक्कर तम्पुरान, कोट्टायम केरल वर्मा, उन्नय्यि वारियार और ईरायिम्मन थम्प।

मलयालम के मध्ययुग के सभी महत्त्वपूर्ण लेखकों का उल्लेख करना सम्भव नहीं है, परन्तु एज़हुत्राचन से तुलनीय एक अन्य महान लेखक का उल्लेख तो करना ही होगा। वे हैं कुंचन नम्बियार, जो अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए थे। वे 'तुल्लल पट्टु' नामक विधा के जनक और उन्नायक माने जाते हैं और केरल के प्रथम जनकवि हैं। उन्होंने पुराणों से अपनी कथाएँ लीं, लेकिन यह तो समाज के प्रति उनके व्यंग्य और कटाक्ष का एक बहाना-भर था। उन्होंने पुराणों को स्थानीय परिवेश में ढाल दिया और सरल एवं जन-सुलभ भाषा में कथाएँ कहीं। इसके बावजूद उनकी कविता में शास्त्रीय गरिमा है; वह उच्च कोटि के साहित्यिक गुणों से युक्त है और मूल वस्तु की अंतर्निहित भावना उसमें सुरक्षित रह सकी है।

उन्नीसवीं शती

यह ठीक है कि चौदहवीं शती में भी एक प्रकार का गद्य मलयालम में लिखा गया था, जिसका प्रमाण कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की प्रसिद्ध टीका में मिलता है।

लेकिन आधुनिक गद्य—विशेषकर साहित्यिक गद्य का स्वरूप उन्नीसवीं शती में ही निखरा। इस सम्बन्ध में, ईसाई धर्म-प्रचारकों के प्रयत्नों का भी आभार-सहित स्मरण किया जाना चाहिए। सचमुच ही उन्होंने मलयालम में उदार शिक्षा का तथा धार्मिक एवं नैतिक रचनाओं के अनुवाद का समारम्भ किया था।

उन्नीसवीं शती के मध्य में नई शिक्षा का प्रभाव केरल में दिखाई देने लगा था। नये स्कूलों के लिए सब तरह के पाठ्य-ग्रंथ आवश्यक थे। फलत: संस्कृत के महान ग्रंथों के अनुवाद का एक लोक-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। मौलिक कविता भी प्राचीन लेखकों के जनप्रिय आधार से दूर होने लगी और संस्कृत की काव्य शैली के अनुकरण में क्लासिकल ढंग की ओर अधिक मुड़ने लगी। रूपवाद के प्रति आग्रह और भक्ति के बावजूद कुछ श्रेष्ठ काव्य-ग्रंथ लिखनेवाले केरल वर्मा (मृत्यु १९१५) इस धारा के अग्रणी थे। वे 'मयूर सन्देशम्' के रचयिता थे।

इसके साथ ही साथ एक नई धारा भी लोकप्रिय हो रही थी। उनका मुख्य गुण था—साहित्यिक अभिव्यंजना के लिए जनसाधारण की भाषा का प्रयोग। इस आन्दोलन के नेता थे—कोडुंडल्लूर के राजा और वेण्मणि नम्पूतिरिप्पाड्। कोडुंडल्लूर कुञ्चिकुट्टन् तम्पुरान् और उनके भाई दोनों ही संस्कृत के प्रकांड पण्डित थे, परन्तु उन्होंने अपनी (मलयालम) रचनाओं में संस्कृत के व्याकरण-रूपों का प्रयोग करने का कोई प्रयत्न नहीं किया, जबकि केरल वर्मा ने ऐसा किया था। वेण्मणि कुछ आगे बढ़े और उन्होंने अपनी कविता ऐसी भाषा में लिखी जो जनता की बोलचाल की भाषा थी, और मलयालम साहित्य के इस प्रयोग को उन्होंने शक्ति और सीधापन दिया। यद्यपि उनके मूल लेखन के गुण बहुत उच्च नहीं थे, फिर भी वे मलयालम के पहले आधुनिक लेखक माने जाते हैं।

गद्य में भी ऐसी ही प्रवृत्ति दिखाई देती थी। प्राचीन मलयालम गद्य-परम्परा के कुछ अच्छे नमूने १५वीं और १६वीं शताब्दी में मिलते हैं। वे संस्कृत-रूपों से अधिक भरे हुए हैं; क्योंकि यह काल क्लासिक के पुनर्जागरण का था। यहाँ भी केरल वर्मा ने ही स्तर-निर्माण किया। उनकी आलंकारिक और अत्यन्त पंडित शैली के बहुत कम अनुयायी मिले, फिर भी तिरुअनन्तपुरम् या दक्षिण शैली संस्कृत की ओर अधिक झुकी हुई थी। इसमें न केवल संस्कृत से शब्द अधिक लिये जाते थे, वरन् संस्कृत शब्दों के साहित्यिक शुद्ध रूप को रखने पर भी आग्रह किया जाता था जो कि एक बढ़ती हुई भाषा के लिए अस्वाभाविक था।

किन्तु यह शैली कभी लोकप्रिय न हो सकी। पत्र-पत्रिकाएँ, जो कि गद्य को आकार दे रही थीं, दैनिक प्रयोग के लिए ऐसी शैली को बहुत बोझिल और उलझी हुई समझती थीं। साथ ही लोकप्रिय गद्य के प्रयोग में एक नवीन महान लेखक इस क्षेत्र में आये। चन्तु मेनन के प्रसिद्ध उपन्यास 'इन्दुलेखा' ने क्लासिक-वादियों के सिद्धांत को साहसपूर्वक चुनौती दी और प्रभावशाली ढंग से इस उपन्यास ने सिद्ध किया कि उच्च कोटि का साहित्यिक गद्य भी जनसाधारण की दैनिक बोलचाल की भाषा में लिखा जा सकता है।

गद्य और पद्य दोनों में एक और प्रसिद्ध व्यक्ति ने मध्यम मार्ग खोज निकाला और मलयालम भाषा के लिए भावी विकास के अनुरूप धारा दी—वे थे ए० आर० राजराज वर्मा। वे वैयाकरणी, कवि और आलोचक थे। उन्होंने मलयालम भाषा का पहला अधिकृत व्याकरण 'केरल पाणिनीयम्' लिखा। केरल वर्मा के बाद जो संस्कृत-बहुलता चल पड़ी थी और वेण्मणि के बाद भाषा में जो भदेसपन आ गया था, उसे दूर करके उन्होंने भाषा को एक स्तर दिया। इस प्रकार १६१५ तक का काल तैयारी का समय माना जा सकता है।

फिर भी इस पर ध्यान देना उचित होगा कि इस काल में मौलिक साहित्य चाहे कम लिखा गया हो, फिर भी प्रत्येक क्षेत्र में बड़ा कार्य हुआ। संस्कृत और अंग्रेज़ी से अगणित अनुवाद मलयालम में किये गए। महाकाव्य और नाटक तथा 'कुमारसम्भव' जैसे कुछ काव्यों में मूल के अनुसार उत्तम अनुवाद प्रस्तुत किये गए। अंग्रेज़ी क्लासिक ग्रंथों की भी उपेक्षा नहीं की गई, यद्यपि ये अनुवाद उच्च स्तर के नहीं थे। कुछ महत्त्वपूर्ण उपन्यास इसी युग में लिखे गए: चन्तु मेनन का 'इन्दुलेखा' और 'शारदा' और सी० वी० रामन पिल्लई का 'मार्तंड वर्मा'। नाटक के क्षेत्र में भी पुरानी शैलियों को अपनाकर भी विषय नये रखे गए, जैसे कोच्चुण्णि तम्पुरान के 'कल्याणी नाटकम्' में उस काल की सामाजिक दशा का और मावेलिक्करा कोच्चीप्पन तरकन् के 'मरियम्मा नाटकम्' में ईसाई जमात का चित्र मिलता है। साहित्य के अन्य रूप भी उपेक्षित नहीं रहे। छोटे हास्य-निबन्ध एक कुशल लेखक कुंजिरामन नायनार ने लिखे। वे 'केसरी' उपनाम से लिखते थे और उन्होंने इस साहित्य रूप को लोकप्रिय बनाया। प्राचीन और नवीन काव्यों का सफलतापूर्वक गम्भीर साहित्यिक आलोचन, पश्चिम के सिद्धान्तों का उपयोग करके पी० के० नारायण पिल्लई और अन्यप्पाई ने किया।

कुल मिलकर यह कहा जा सकता है कि यह युग तैयारी का युग था, जिसमें भाषा अधिक समृद्ध और लचीली बनी। इस युग में विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ निर्मित हुईं, नये रूप शुरू हुए, टेकनीक और विचारों में भी नवीनता आई, साहित्यिक कार्य-कलाप को बड़ी प्रेरणा मिली। इस युग के, परिमाण में विपुल साहित्य में—प्राचीन ग्रंथों के अनुवाद छोड़ दें तो—बहुत कम ऐसा है जो स्थायी गुण वाला साहित्य हो। रघुवंश और नैषध के ढंग पर बड़े महाकाव्य लिखे गए, जिनमें उस काल के प्रमुख कवियों ने अपनी विद्वत्ता और काव्य-कला का परिचय दिया पर भविष्य में वे शायद ही पढ़े जायँ, क्योंकि साहित्यिक विचित्रता के नाते ही उनका मूल्य है। किन्तु वे एक बहुत बड़े यत्न के प्रतीक अवश्य हैं, और भाषा को बनाने में भी उनका बहुत हाथ रहा।

आधुनिक काल

जनता की अभिरुचि में क्रान्तिकारी भावना की पहली सूचना कुमारन आशान् के 'नलिनि' के प्रकाशन में मिलती है। यह एक छोटी-सी कविता थी, जिसका विषय प्रेम था, परन्तु यह एक भिन्न प्रकार का प्रेम था। कुमारन आशान् के प्रेम-विषयक लेखन में प्रेम एक उच्चतर जीवन में परिवर्तित हो जाता है। यह उत्तोलन बहुत कुशलता और सूक्ष्मता के साथ उन्होंने चित्रित किया है। इस प्रकार प्राचीन काल के निर्जीव श्रृंगार से हटकर उन्होंने नये ढंग से प्रेम का वर्णन किया। वह प्राचीन परम्परा तो संस्कृत के श्रृंगारिक कवियों पर आश्रित थी और नायिका-भेद में खो गई थी। आशान् ने केरल वर्मा की ललित भाषा-परम्परा को भी छोड़ दिया और इसके बदले एक सीधी और परिष्कृत अभिव्यक्ति अपनाई। इसमें बाह्य रूप के बदले विचारों की सूक्ष्मता पर अधिक बल दिया गया था।

नई भावना का पहला रूप 'नलिनि' में व्यक्त हुआ। फिर भी पुरानी परम्परा को जाते-जाते बहुत वर्ष लगे। मलयालम साहित्य में काव्य की आधुनिक अवस्था आने में बहुत समय लगा। इस आन्दोलन के प्रमुख व्यक्ति हैं—वल्लत्तोल। उन्होंने भी गद्य से कविता की ओर अपने चरण १९१५ में बढ़ाए, जबकि 'ओरु चित्रम्' नामक पुस्तक उन्होंने प्रकाशित की। वल्लत्तोल पुराने क्लासिक शैली के प्रसिद्ध कवि थे, जबकि नवयुग ने उन्हें परिवर्तित किया। वाल्मीकि रामायण का

समश्लोकी अनुवाद उन्होंने पहले ही प्रकाशित किया था और उस युग की गति के अनुसार 'चित्रयोगम्' नामक १८ सर्गों का महाकाव्य भी लिखा था। पर महान राष्ट्रीय आन्दोलन ने उन्हें परिवर्तित कर दिया। प्रथम महायुद्ध ने राष्ट्रीय पुनरुत्थान की शक्ति को मुक्त किया था और सब ओर जनता नवजीवन के लिए छटपटा रही थी। इस नवजीवन की माँग के नये भाष्यकार वल्लत्तोल बने। उनके स्वर में राष्ट्रीयता का तूर्यनाद था। यह राष्ट्रीयता कोई अलग कटी हुई संकीर्ण भावना नहीं थी, वरन् रचनात्मक रूप से एक राष्ट्रीय प्रतिमा को भव्य, उदात्त और आदर्शवादी ढंग पर निर्मित किया गया था। उन्होंने परम्परित संस्कृत-छन्दों को छोड़ दिया, जिनमें वे पहले लिखते थे, और मलयालम महाकवियों की प्रारम्भिक शैली को अपनाया। १० वर्षों से अधिक समय तक उनकी प्रतिभा काव्य-सृजन करती रही, जिसमें न केवल भावनाएँ थीं, बल्कि जो साहित्यिक रूप से भी सर्वगुण संपन्न थीं। उन्होंने राष्ट्रीय महत्त्व के प्रत्येक विषय पर लिखा—सामाजिक और आर्थिक अन्याय पर भी और भविष्य की पुकार पर भी। परन्तु इस काल में भी, वल्लत्तोल केवल राष्ट्रीयता या सामाजिक संदेश के कवि न थे। उनकी महान कृति 'मगदलन मरियम'[1] भी इसी युग में लिखी गई। इस कृति में मेरी मैगडलीन के जीवन और मत-परिवर्तन का चित्र है। ईसा की प्रतिभा के आस-पास उन्होंने दैवी शान्ति का बड़ा ही अद्भुत वातावरण निर्मित किया है।

नवीन आन्दोलन तीन व्यक्तियों के साथ बढ़ा, वल्लत्तोल स्वयं, कुमारन् आशान् और उल्लूर परमेश्वर ऐय्यर। उल्लूर प्रसिद्ध विद्वान थे और आरम्भिक दिनों में उन्होंने केरल वर्मा की साहित्यिक टेकनीक का अनुकरण किया और एक सामान्य गुण वाला महाकाव्य 'उमाकेरलम्' नाम से लिखा। यद्यपि इसमें पुराने ही सिद्धान्त का अधिक निरूपण था, फिर भी वे नये आन्दोलन की भावना से प्रेरित हुए। लेकिन सामाजिक विषयों में वे पुनरुत्थानवादी थे, इस कारण युग की आत्मा को नहीं पकड़ सके। वे सदा पीछे मुड़कर देखते थे और 'पिंगला' और 'कर्ण-भूषणम्'—जैसे उनके प्रमुख काव्यों में, उनका विषय प्राचीन की उद्भावना ही रहा। 'पिंगला' भी मेरी मैगडलीन की तरह एक ऐसी गणिका की कहानी थी, जिसे मुक्ति मिली। उनकी भाषा भी बहुत अलंकृत और बोझिल थी; उसमें संस्कृत ढंग से समास अधिक होते थे। इस कारण उनकी रचनाएँ कभी भी अधिक

---

१. इसका अनुवाद साहित्य अकादेमी अन्य भारतीय भाषाओं में करा रही है।

लोकप्रिय न हो सकीं।

कुमारन् आशान् की बात दूसरी थी। वल्लत्तोल से भी अधिक नये आन्दोलन ने उनकी अभिव्यंजना में सहायता दी। उनके काव्य में बड़ी गहराई और शक्ति थी; इसके कारण मलयालम साहित्य में उन्हें बहुत ऊँचा स्थान मिला। उनकी सबसे प्रारम्भिक कविता 'वीण पूवु' में भी परम्परागत लीक से हटकर चलने की सजग प्रवृत्ति दिखाई देती है। उनकी आरम्भिक कृतियाँ 'नलिनि' और 'लीला' असफल प्रेम पर आधारित हैं। इनमें बहुत उच्च प्रतिभा दिखाई देती है, परन्तु जब उन्होंने सामाजिक विषयों पर लिखना आरम्भ किया, तब उनकी प्रतिभा पूर्ण पुष्पित हुई। 'दुरवस्था', 'चाण्डाल भिक्षुकी' और 'करुणा' में कुमारन् आशान् ने तीन शाहकार पैदा किए। इनमें से पहली दो रचनाओं में ऐसी जाति का दर्द प्रतिगुंजित है, जिसे बहुत लम्बे समय तक सामाजिक अन्याय सहना पड़ा था। 'दुरवस्था' में एक ऐसी ब्राह्मण स्त्री की जीवनी है, जो मोपला-विद्रोह के दिनों में अपना घर-बार खो बैठी और उसे एक हरिजन की पत्नी होना पड़ा। इस कविता में बड़ा सौन्दर्य है और यह उत्कट भावना तथा गहरी प्रामाणिकता से भरी रचना है। उनकी दूसरी कविता-पुस्तक 'चिन्ताविष्टयाय सीता' भी नारी-चरित्र का बड़ा अच्छा अध्ययन है। सनातन मतावलम्बी इसमें व्यक्त सीता की सच्ची मानवीय भावना के कारण इस ग्रंथ की बहुत आलोचना करते हैं, परन्तु कविता के नाते यह ग्रंथ सचमुच श्रेष्ठ गुणयुक्त है। अनेकानेक जीवन्त चरित्रों का निर्माण उनकी प्रमुख उपलब्धि है। उनकी शैली कभी-कभी ऊबड़-खाबड़ हो जाती है, पर चरित्र-चित्रण के मामले में वे अन्य दोनों लेखकों से निश्चित ही श्रेष्ठ हैं।

इन तीन महान लेखकों को लेकर मलयालम-कविता आज की उच्च अवस्था तक विकसित हुई। इस निबन्ध की सीमा में यह सम्भव नहीं है कि इस काल के और दूसरे सभी बड़े कवियों का उल्लेख किया जाय। जो कवि अपेक्षाकृत कम महत्त्व-पूर्ण होते हुए भी रोमांचवाद के क्षेत्र में प्रमुख रहे, उनमें वी० सी० बालकृष्ण पणिक्कर का नाम सबसे पहला है। अकाल मृत्यु हो जाने के बावजूद उनका बहुत गहरा प्रभाव उनकी पीढ़ी पर पड़ा। नालप्पाटु नारायण मेनन ऐसे कवि नहीं हैं जिन्होंने अधिक लिखा हो; परन्तु उनकी कुछ कृतियों में, विशेषत: 'कण्णुनीर तुल्ली' में, जो एक विलाप-कविता है और जिसमें पत्नी की मृत्यु पर शोक व्यक्त किया गया है, स्थायी साहित्यिक गुण है। इस रचना में भावना की प्रामाणिकता

ऐसी है कि वह जीवन के तलस्पर्शी सत्यों को छूती है। उनकी सभी कविताओं में दार्शनिकता का पुट मिलता है—विशेषत: 'चक्रवालम्' (क्षितिज) और 'ओरु मणल् तरि' (सिकता-कण) में। इसके कारण उनकी कविता जनसाधारण के लिए न होकर मुट्ठी-भर लोगों तक ही सीमित रह गई।

चङ्ङम्पुषा कृष्ण पिल्लई एक अन्य प्रसिद्ध लेखक थे, जिनकी अकाल मृत्यु हो गई और जिन्हें अपनी कविता की संगीतमयता और विषाद की भावना के कारण अपने जीवन-काल में अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। उनकी सबसे पहली प्रमुख रचना एक ग्राम-जीवन का शोक-काव्य थी, जिसका शीर्षक था—'रमणन्' और जो कवि ने अपने एक असामान्य प्रतिभावान और होनहार कवि-मित्र ईडप्पल्ली राघवन पिल्लई की दुखद परिस्थितियों में हुई मृत्यु पर लिखी थी। 'रमणन्' की रचना कवि ने बीस-पचीस वर्ष की उम्र में ही की थी और यह एक अत्यन्त सुन्दर काव्य है। उसका भयोत्पादक संगीत विषय-वस्तु के नितान्त अनु-रूप है और उसके माध्यम से कवि अकेलेपन की भावना को पाठकों के सम्मुख व्यक्त कर सका है, जो केवल शब्दों की सहायता से इतने प्रभावपूर्ण ढंग से न किया जा सकता था। चङ्ङम्पुषा ने प्रचुर मात्रा में लेखन-कार्य किया था और युवा पीढ़ी पर उनकी रचनाओं का बड़ा प्रभाव पड़ा है। उनके मित्र ईडप्पल्ली ने अधिक तो नहीं लिखा, पर उनकी कुछ कविताएँ इतनी उच्च कोटि की हैं कि वे वर्षों तक बड़ी रुचि के साथ पढ़ी जाती रहेंगी।

आधुनिक लेखकों में सबसे अधिक बहुमुखी प्रतिभा वाले लेखक हैं—सरदार का० मा० पणिक्कर। वस्तुत: वे इतने बहुमुखी हैं, और अपने प्रदेश के बाहर राजदूत, इतिहासकार और अंग्रेज़ी लेखक के नाते इतने प्रसिद्ध हैं कि केरल के बाहर बहुत थोड़े लोग यह जानते हैं कि वे मलयालम के प्रसिद्ध लेखकों में से एक हैं। वे कवि, नाटककार, उपन्यासकार और आलोचक के नाते प्रसिद्ध हैं। साहित्य की शायद ही कोई शाखा हो, जिसे उन्होंने समृद्ध न किया हो। उनकी काव्य-कृतियों में 'चिन्ता तरंगिणी', 'पंकीपरिणयम्' और 'अम्बापाली' विशेष उल्लेख-नीय हैं। 'कुमारसम्भव', 'इणपक्षीकल' और 'पटिञ्जारे मुरि' उनके कुछ पद्या-नुवाद हैं और प्राचीन क्लासिक शैलियों में लिखी गई उनकी नाट्य कृतियों में 'भीष्मर', 'मन्डोदरी' और 'ध्रुवस्वामिनि' बहुत प्रसिद्ध हैं। उनकी शैली सरल और प्रसादयुक्त है, संस्कृत और द्राविड़ दोनों प्रकार के छन्दों में वे एक-सी

आसानी से लिखते हैं। मलयालम में उनके गद्य-ग्रंथों में विशेष-प्रसिद्ध हैं—उनकी 'आत्मकथा' और ऐतिहासिक उपन्यास 'केरलसिंह'[१]। उनकी सशक्त बौद्धिकता, व्यापक अभिरुचि और ऐतिहासिक दृष्टिकोण उनकी सभी रचानाओं में व्यक्त होते हैं।

इस काल में जो कवि अधिक प्रसिद्ध हुए, उनमें प्रमुख जी० शंकर कुरुप्प[२] हैं। बाद में आने वाले युग में, उनकी काव्य-शक्ति में प्रौढ़ता आई। गीतकार और कवि के नाते वे संकेतवाद या प्रतीकवाद को अपनी प्रमुख शैली मानते हैं और नई पीढ़ियों के कवियों में उनका ऊँचा स्थान है। उनकी रचनाओं में आलंकारिक गुण हैं, लेकिन अलंकृत मुहावरों का उपयोग करने वाले अन्य लेखकों से वे इस अर्थ में भिन्न हैं कि वे अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का व्यापक रूप से प्रयोग करते हैं। निश्चय ही वे कवियों की तरुण पीढ़ी के अग्रणी हैं और उनके विचारों तथा कल्पनाओं को व्यक्त करते हैं। आधुनिक युग की सामाजिक और आर्थिक आकांक्षाओं से वे बहुत प्रभावित हुए हैं और तरुण पीढ़ी की प्रगतिशीलता उनकी कविता में व्यक्त हुई है। परन्तु वल्लत्तोल की तरह इनमें भी परिवर्तनों का द्वंद्व है; कुछ मामलों में वे एकदम प्राचीनपंथी हैं और हमारी संस्कृति की भारतीयता पर तथा परम्परा के निर्वाह पर बल देते हैं। इनके साथ ही साथ कुछ मात्रा में वे वामपक्षियों के सामाजिक सिद्धान्तों से भी प्रभावित होते हैं।

इसी पीढ़ी के कुछ और कवि व्यक्तिगत रूप से उल्लेख-योग्य हैं। कुण्डूर नारायण मेनन ने सफलतापूर्वक एक नये ढंग की वीर-गाथा जैसी कविता शुरू की, जिसका कथानक लोकप्रिय गीतों से लिया गया था। उनकी विशेष देन यह थी कि उन्होंने सब संस्कृत शब्दों को दूर रखा और ऐसी शब्दावली में ही लिखा, जिसे 'पच्चा' या शुद्ध अमिश्रित मलयालम भाषा कहा जाता है। उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ 'कोमप्पन्' है। उसमें उन्हें अद्भुत सफलता मिली है। उन्होंने एक लम्बी वर्णनात्मक कविता एक भी संस्कृत का शब्द न प्रयुक्त करते हुए, लिखी—यह तो एक बहुत बड़ी बात थी ही, साथ ही इस शाब्दिक कसरत के अलावा,

१. साहित्य अकादेमी की ओर से यह पुस्तक हिन्दी में प्रकाशित की गई है।

२. श्री जी० शंकर कुरुप्प को १९६३ में 'विश्व-दर्शन' (काव्य) पर साहित्य अकादेमी पुरस्कार तथा १९६६ में 'ओटक्कुषल' (काव्य) पर ज्ञानपीठ पुरस्कार मिले।

कुण्डूर ने अपने काव्य में असामान्य ताज़गी, ओज और साहित्यिक गुण अपूर्व ढंग से व्यक्त किए। कट्टक्कयत्तिल् चेरियान माप्पिला पुरानी धारा के एक दूसरे कवि थे जिनका महाकाव्य, 'श्री येशु विजयम्' ओल्ड टेस्टामेंट और ईसा की जीवनी की प्रमुख घटनाओं पर आधारित प्रबंध है। वडक्कुंकूर राजराज वर्मा पुरानी शैली के उन लेखकों में हैं जिनकी साहित्यिक कृतियाँ आज भी उतनी ही सशक्त हैं। उन्होंने बहुत-से महाकाव्य लिखे, जिनमें सबसे प्रसिद्ध है—'राघवाभ्युदयम्'। इसमें वे अपनी शक्ति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हैं।

सभी युगों में मलयालम की लेखिकाएँ बराबर योग देती रहीं। अपेक्षाकृत पहले के काल में, १९१५ के पहले, तोट्टक्काटर इक्कावम्मा थीं, जिनका नाटक 'सुभद्रार्जुनम्' गद्य-पद्य-मिश्रित चम्पू शैली में लिखा गया था, जिसके कारण वे प्रसिद्ध हुईं। इधर आधुनिक काल में, कविता के क्षेत्र में, नालप्पाट्टु बालामणी अम्मा[1], ललिताम्बिका अन्तर्जनं, मेरी जोन तोट्टं, मुतुकुलं पार्वति अम्मा उल्लेखनीय हैं। बालामणी अम्मा वात्सल्य रस की कवयित्री हैं, उनकी कविता में विशेप भावनात्मक गहराई तो है ही, रूप-शिल्प और शैली भी बहुत शुद्ध है। औचित्य का सामान्य ध्यान भी बहुत अच्छी तरह रखा गया है। ललिताम्बिका अन्तर्जनं कहानी-लेखिका के नाते अधिक प्रसिद्ध हैं, परन्तु वे भी एक प्रसिद्ध कवयित्री हैं। मेरी जोन तोट्टं, साहित्य-जगत् में थोड़ा कार्य करके बाद में ईसाई साध्वी बन गईं। उनकी रचनाओं में दार्शनिक और धार्मिक रुझान दिखाई देता है। उनकी कविताएँ विशेषतः 'कवितारामम्' में संगृहीत 'आत्मा का स्वगत भाषण'—यद्यपि शैली में कच्ची हैं, फिर भी यह दर्शाती हैं कि वे एक उच्च कोटि की विचारशील कवयित्री हैं।

नया मोड़

१९३६ के करीब मलयालम कविता ने नया मोड़ लिया। राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रेरणा कम हो गई थी और एक नई पीढ़ी सामने आ रही थी, जिसे वामपक्षी राजनीति से प्रधान प्रेरणा मिलती थी। इन लेखकों में जो सशक्त आलोचक थे, उनके समर्थन से पुराने कवियों के ढोंगीपन और झूठी भावुकता का पर्दाफ़ास किया गया, तथाकथित प्रतिक्रियावादी साहित्य की निंदा की गई और इनके साथ

१. 'मुथास्सी' (काव्य) पर इन्हें १९६५ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

वह नया 'प्रगतिवाद' शुरू हुआ, जिसे मलयालम में 'पुरोगमन वादम्' कहते हैं। इस धारा के अग्रणी लेखक आलोचना के क्षेत्र में ए० बालकृष्ण पिल्लई, जोसेफ मुण्डश्शेरी और एम० पी पॉल हैं। इस धारा ने जो कविता निर्मित की वह बहुत उच्चकोटि की थी, परन्तु कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में इसकी सफलता निःसन्देह बहुत है। परन्तु यह मानना चाहिए कि अनेक प्रमुख लेखकों पर इस 'वाद' का प्रभाव पड़ा और इसने उन्हें एक नया दृष्टिकोण दिया। विशेषतः वल्लत्तोल और शंकर कुरुप्प पर 'प्रगतिवादी' विचारों का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। शुद्ध 'प्रगतिवादी' धारा ने हमें कुछ अच्छे कवि दिए, जिनमें ये नाम प्रमुख हैं: एन० वी० कृष्ण वारियर, अक्कीत्तम, ओलप्पमण्णा, वयलार रामवर्मा, पी० भास्करन् केडमंगलम् पप्पुकुट्टि, इडकेशरी गोविन्दन नायर[1] ओ० एन० वी० कुरुप्प, और अनुजन।

यद्यपि यह सही तौर पर कहा जा सकता है कि गए २० वर्षों में ऐसा कोई भी कवि नहीं है, जिसे 'प्रगतिवादी' विचारों ने अनजाने रूप से ही क्यों न हो, प्रभावित न किया हो; फिर भी मलयालम कविता का मूल प्रवाह उसकी प्रमुख धारा से अलग नहीं हुआ। तरुण पीढ़ी के तीन प्रसिद्ध कवियों के नाम हम दे सकते हैं: वैलोप्पल्ली श्रीधरा मेनन, वेण्णिकुलम् गोपाल कुरुप्प और पालाई नारायणन नायर। ये मलयालम-कविता की सच्ची परम्परा में हैं, यद्यपि ये प्रगतिशील विचारों से अधिक प्रभावित हैं। पालाई की 'केरलम वलरुन्नू' (केरल बढ़ता है) एक ऐसी कविता है जो आधुनिक केरल के विषय में एक महाकाव्य की तरह है। एक ही कविता में में मलयालम-भाषी प्रदेश की लोक-गाथाएँ, चरित्रादि और सभी प्रवृत्तियाँ मिली हुई हैं। प्राचीन शैली भी बिलकुल मरी नहीं है। पी० कुञ्जिरामन् नायर[2], के० के० राजा और अन्य इस परम्परा को अच्छी तरह से निभा रहे हैं।

गद्य

१६१६ के बाद का नया युग गद्य-साहित्य के लिए प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक उपन्यास अपनी प्रौढ़ता पर पहुँचे। सी० वी० रामन् पिल्लई का टीपू के आक्रमण

१. 'कविल पट्ट' (काव्य) पर इन्हें १६६६ में साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

२. 'तमराथनी' (काव्य) पर इन्हें १६६७ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

पर लिखा गया 'रामराजाबहादुर', अप्पन तम्पुरान का 'भूतरायर' और का० मा० पणिक्कर का 'केरलसिंहम्' इसके अच्छे उदाहरण हैं। एक नये ढंग का सामाजिक उपन्यास भी निर्मित हुआ, जिसमें बदलते हुए समाज की स्थिति का निरीक्षण और वर्णन था। 'इन्दुलेखा' और 'शारदा' ने इसका आदर्श प्रस्तुत किया था कि रोमांटिक लेखक की दृष्टि से उपन्यास कैसे लिखा जाता है, परन्तु नई धारा ने प्राचीन रोमांटिक दृष्टिकोण छोड़ दिया और नग्न यथार्दवाद की ओर मुड़ी। 'अफण्टे मकल' नम्पूतिरी-नायर-सम्बन्धों का एक अध्ययन था और इसे पहला यथार्थवादी उपन्यास कहा जा सकता है। बशीर का 'बाल्यकाल सखी' इस प्रकार का एक और महत्त्वपूर्ण उपन्यास था। परन्तु जिस लेखक ने यथार्थवादी और सामाजिक उपन्यास को महान साहित्य के स्तर तक उठाया, वह है : तकषी शिव-शंकर पिल्लई। तकषी ने पहले कहानी-लेखक के नाते बड़ी ख्याति पाई। उस क्षेत्र में तो वे मलायालम के सबसे बड़े उस्ताद हैं। पर 'थोट्टियूटे मकण' के द्वारा उन्होंने उपन्यास के क्षेत्र में प्रवेश करके भी बड़ी प्रसिद्ध पाई। उनका एक उपन्यास 'रण्टिटटङ्ङषि' (दो सेर धान)[1] है। इसमें अलेप्पी के दलदल या उसके नज़दीक के भूमिहीन खेत-मजदूरों का एक सच्चा चित्र है। इसमें चरित्र-चित्रण इतनी अच्छी तरह हुआ है और सामाजिक परिस्थितियों का ऐसा यथार्थ चित्र खींचा गया है कि यह रचना एक श्रेष्ठ कृति (क्लासिक) बन गई है। उनका नया उपन्यास 'चैम्मीन'[2] (एक विशेष प्रकार की मछली) अलेप्पी के क़रीब मछुओं की ज़िन्दगी का चित्र प्रस्तुत करता है। मलयालम में आज तक लिखित उपन्यासों में यह सर्वश्रेष्ठ है और अपने ढंग का एक अकेला उपन्यास है।

आधुनिक मलयालम कहानी और उपन्यास में महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाले पुराने लेखकों में पी० केशवदेव[3] का नाम उल्लेखनीय है। उनका 'ओडाविल निन्नु' मलयालम के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में से है। एस० के० पोट्टेक्काट्ट की 'विष-कन्यका' भी बड़ी अच्छी कृति है। एक दूसरे उपन्यासकार, जिनका उल्लेख यहाँ किया जा सकता है, जोसेफ़ मुण्डश्शेरी हैं। जिनका 'प्रोफ़ेसर' नामक उपन्यास

---

१. यह उपन्यास साहित्य अकादेमी द्वारा हिन्दी में अनूदित और प्रकाशित हो चुका है। अन्य भारतीय भाषाओं में भी यह अनूदित हो रहा है।

२. इस उपन्यास को साहित्य अकादेमी का १९५७ का पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

३. इन्हें 'अयलक्कार' (उपन्यास) पर १९६४ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

एक निर्धन अध्यापक की हृदयद्रावक कहानी है। इनका उपन्यास, 'कोन्तयुं कुरिशुं' ईसाइयों के ग़रीब वर्ग का चित्रण करता है और उनपर गिर्जे की संस्थाओं का प्रभाव चित्रित करता है।

मलयालम में कहानी बहुत जल्दी प्रौढ़ हो गई और उसका सामान्य स्वर बहुत उच्च है। इस क्षेत्र में इतने प्रसिद्ध लेखक हैं कि उनके नाम कहाँ तक गिनाएँ। परन्तु निःसंदेह सबसे बड़े लेखक हैं तकषी, जिनकी कहानियाँ आसानी से मोपासाँ या चेखव के समकक्ष रखी जा सकती हैं। अन्य उल्लेखनीय हैं : पोन् कुन्नं वर्की, के० टी० मुहम्मद, बशीर, पी० सी० कुट्टीकृष्णन्[1], पोट्टेक्काट, कोवूर, कारूर, सरस्वती अम्मा और ललिताम्बिका अन्तर्जनं। वर्की, बशीर, पोट्टेक्काट और कुट्टीकृष्णन् वामपक्षी लेखक कहे जा सकते हैं; ये मुख्यतः सामाजिक अन्यायों की समस्याओं को अपना विषय बनाते हैं। कुट्टीकृष्णन् का उपन्यास 'उम्माबु' अत्यंत विशिष्ट माना गया है। ललिताम्बिका अन्तर्जनं नम्पूतिरि समुदाय के सामाजिक अन्तर्विरोध को व्यक्त करती हैं, और इस कारण उनकी कहानियाँ उन लोगों के एक बन्द हिस्से की सामाजिक ज़िन्दगी पर प्रकाश डालती हैं।

नाटक

नाटक के क्षेत्र में बड़ा साहित्यिक कार्य हो रहा है। मलयालम में नाटक को साहित्य समझने की परम्परा रही है। कालिदास और भवभूति तथा अन्य नाटककारों की शैलियों में नाटक को 'दृश्यकाव्य' माना जाता है और यह परम्परा अभी तक मृत नहीं है। नये विषयों में ज्यों-ज्यों रुचि बढ़ती गई, पश्चिमी नाटकों के ढंग के अभिनेय नाटक अधिक लोकप्रिय होने लगे, गोकि जो बहुत-से नाटक मंच पर खेलने के लिए लिखे जाते हैं, उन्हें साहित्यिक गुण-युक्त शायद ही कहा जा सके।

इनमें सबसे प्रमुख हैं सी० पी० रामन पिल्लई का 'कुरुपिल्ला कळरी' (बिना मास्टर का स्कूल)। इस नाटक में नायरों की सामाजिक अराजकता का चित्रण है। इस सामाजिक सुखान्त नाटक में संक्रान्तिकालीन अनिश्चित स्थिति का बड़ा अच्छा वर्णन मिलता है। ई० वी० कृष्ण पिल्लई दूसरे ऐसे लेखक थे जिन्होंने

1. इन्हें 'सुन्दरिकालम सुन्दरनमरुम' (उपन्यास) पर १९६० में साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला है।

ऐतिहासिक नाटक के द्वारा रंगमंच के विकास में सहायता दी। कैणिक्कर पद्मनाभ पिल्लई ने ईसा के आदेश पर एक महत्त्वपूर्ण नाटक 'कालिवारिथिले कल्पपादयं' लिखा। एन० कृष्ण पिल्लई और इडामेरी गोविन्दन नायर प्रसिद्ध नाटककार हैं, जिनकी कृतियों में पर्याप्त साहित्यिक गुण हैं। तरुण और सफल नाटक-लेखकों में चेल्लप्पन नायर, के० टी० मुहम्मद और टी० एन० गोपीनाथन नायर हैं।

आलोचना

इस युग में आलोचना-साहित्य में बड़ी प्रगति हुई। पुराने आलोचक प्राचीन संस्कृत-साहित्य-शास्त्र से ही अधिक सम्बद्ध थे और उन्होंने स्वस्थ आलोचनात्मक परम्परा को विकसित करने में बड़ी मदद दी। इनमें पी० के० नारायण पिल्लई और के० रामकृष्ण पिल्लई सर्वप्रमुख हैं। परन्तु एम० पी० पॉल, मुण्डश्शेरी और ए० बालकृष्ण पिल्लई के साथ-साथ मलयालम-आलोचना में नई जान आ गई। एम० पी० पॉल ने उपन्यासों और कहानियों के रूप का जो अध्ययन प्रस्तुत किया वह तरुण लेखकों के लिए पथ-प्रदर्शक बना। जोसेफ़ मुण्डश्शेरी ने प्राचीन साहित्य के विद्वत्तापूर्ण अध्ययन के साथ अत्याधुनिक दृष्टिकोण का समन्वय किया और वे आधुनिक विचार-धारा के प्रमुख उद्गाता बने। ए० बालकृष्ण पिल्लई ने मलयालम में फ्रेंच साहित्य रूपों को प्रस्तुत किया और उनकी ही प्रेरणा से मोपासाँ का बहुत बड़ा प्रभाव केरल के साहित्य पर पड़ा। कुट्टी कृष्ण मरार[1] और मूर्कोत्तु कुञ्जप्पा गुप्तन् नायर और अन्य आलोचकों ने नये विचारों के विकास में मदद दी और मलयालम का आलोचनात्मक साहित्य यद्यपि बहुत कुछ प्रगतिवाद की ओर झुका है, फिर भी उसे सुपठित, सुयोग्य और विश्व की विचार-धारा का उत्तम ज्ञान रखने वाला कहा जा सकता है।

जीवनी, यात्रा-साहित्य इत्यादि

आधुनिक काल में गद्य-साहित्य की एक और विधा ने बड़ी प्रगति की। वह है—जीवनी-साहित्य। पी० के० नारायण पिल्लई की जीवनी पी० के परमेश्वरन् नायर ने लिखी (और उसके बाद उन्होंने सी० वी० रामन पिल्लई की जीवनी भी लिखी)। और इसके द्वारा इस क्षेत्र में मानदंड स्थिर किया। केरल

१. 'कला जीवितम् तन्ने (निबन्ध) पर १९६६ में इन्हें साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

वर्मा, राजराज वर्मा और उल्लूर परमेश्वरा अय्यर जैसे व्यक्तित्वों की पुरानी जीवनियाँ एक तरह से प्रशस्तियाँ और स्तुति-पाठ जैसी ही थीं; उनमें कोई तटस्थता और गुण-दोष-विवेचन का प्रयत्न नहीं दिखाई देता था। परमेश्वरन् नायर ने जीवनी-लेखन की कला को गम्भीरतापूर्वक लिया और वे न केवल उसमें आलोचना और शोध की भावना लाए, वरन् उसमें साहित्यिक कलाकौशल भी जोड़ा। इस क्षेत्र में आई० सी० चाको, ए० डी० हरिशर्मा और डा० के० एम० जार्ज ने यथेष्ट कार्य किया है।

आत्मकथा-लेखन भी अब शुरू हुआ। इस क्षेत्र में महान ग्रंथ है—'स्मरण मण्डलम्' जिसके लेखक पी० के० नारायण पिल्लई आलोचक, कवि और विद्वान हैं, और उन्होंने वकील और जज के नाते बड़ी भारी ख्याति पाई थी। पी० के० की आत्मकथा उनके बचपन में त्रावनकोर की सामाजिक दशा का पूरा विस्तृत चित्र व्यक्त करती है, इसमें एक महान लेखक की मँजी हुई शैली का पता लगता है। दूसरे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के लेखक ई० वी० कृष्ण पिल्लई हैं। उनके जीवन में अनिश्चितता थी और इस कारण यह आत्मकथा अधिक रोचक बनी। प्रसंगवश यहां यह भी उल्लेखनीय है कि कृष्ण पिल्लई इस शताब्दी के एक प्रसिद्ध हास्य-लेखक माने जाते हैं। हास्य-लेखन में दूसरा बड़ा नाम संजयन (एम० आर० नायर) का है। का० मा० पणिक्कर की 'आत्मकथा', सी० केशवन की 'जीवित-समाम्' और के० पी० केशव मेनन की 'कापिञ्ञ कालंगल' का भी उल्लेख इस प्रसंग में आवश्यक है।

प्राचीन काल से ही मलयालम भाषा यात्रा-साहित्य के लिए प्रसिद्ध रही है। एक ईसाई पादरी ने यूरोप-यात्रा का अपना वर्णन १८वीं शती में लिखा था। १९वीं शती में यह फ़ैशन चल पड़ा कि यात्रा-वर्णन पद्य में लिखा जाय। आधुनिक काल में साहित्यिक गुणयुक्त यात्रा-ग्रंथ के० पी० केशव मेनन[1] का 'बिलात्ति विशेषं' है, जिसे एक प्रकार से इंग्लैंड की रिपोर्ट कहना चाहिए, जब वे विद्यार्थी के नाते वहाँ रहते थे। पोट्टक्काटु ने इस तरह के साहित्य में विशेषता प्राप्त की। इनके यात्रा-साहित्य में दुनिया का बहुत बड़ा हिस्सा हमें देखने को मिलता है, अर्थात् एशिया, अफ़्रीका और यूरोप के वर्णन इनके साहित्य में हैं। पोट्टक्काटु की

१. 'काझी जाकलम्' (आत्मकथा) पर इन्हें १९५८ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

दृष्टि मनोरंजक वस्तुओं की ओर है और वे सरल प्रसादपूर्ण गद्य शैली के उस्ताद हैं। इसी सम्बंन्ध में एक और उल्लेखनीय ग्रंथ का० मा० पणिक्कर का 'आपत्कर-माय यात्रा' (एक भयानक यात्रा) है। इसमें उनकी युद्धकालीन यात्रा का वर्णन है और 'चैनायिले ओरु यात्रा' (चीन की यात्रा) में चीन का विस्तृत वर्णन है।

साहित्य का इतिहास

साहित्यिक इतिहास इधर कई वर्षों से विद्वत्तापूर्ण अध्ययन का विषय बना हुआ है। इस दिशा में सबसे पहला प्रयत्न पी० गोविन्द पिल्लई ने 'मलयालम भाषा चरित्रम्' के ज़रिये किया था। १९वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में उनका यह मलयालम साहित्य का इतिहास प्रकाशित हुआ। तब से अब तक इस विषय में बराबर शोध-कार्य हो रहा है और प्राचीन कृतियों पर तथा विस्मृत लेखकों पर बहुत-सा प्रकाश डाला जा रहा है। इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण शोध 'लीला-तिलकं' नामक ग्रंथ की थी, जोकि मलयालम भाषा-शास्त्र और अलंकार-शास्त्र की रचना है; यह संस्कृत में १५वीं शताब्दी में लिखी गई थी। 'लीलातिलकं' प्राचीनतम मलयालम साहित्य का एक संकलन है, क्योंकि इसमें से उदाहरण के लिए प्राचीन लेखकों ने बहुत बार मसाला लिया है। ऐसे ग्रंथों में 'उण्णिनीलि सन्देशं' नामक १४वीं शती में 'दूतकाव्यम्' की शैली से लिखा हुआ 'मेघदूत' जैसा ग्रंथ है। दूसरे और प्राचीन ग्रंथों में, जो इधर प्रकाश में आए हैं, 'उण्णियाटि चरितं' है। यह जानना मनोरंजक होगा कि गत दस वर्षों में 'उण्णिनीलि सन्देशं' के पाँच संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। और 'लीलातिलकं' के भी कई समीक्षात्मक संस्करण निकले हैं। इन सबमें महत्त्वपूर्ण हैं, इलंकुलम् कुञ्ञान् पिल्लई और सूरनाद कुञ्ञान् पिल्लई, जिन्होंने मिलकर बड़े व्यापक क्षेत्र पर कार्य किया है।

साहित्यिक इतिहास के दो बड़े लेखक हैं: आर० नारायण पणिक्कर और उल्लूर परमेश्वर अय्यर। नारायण पणिक्कर का 'केरल भाषा साहित्य चरित्रम्'[1] नामक इतिहास ७ खण्डों में है। इसमें कई मत ऐसे हैं, जिनके बारे में विवाद हो सकता है, फिर भी यह विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ है। परमेश्वर अय्यर के ग्रंथ 'केरल भाषा साहित्य चरित्रम्' का प्रकाशन ट्रावनकोर विश्वविद्यालय ने लेखक की मृत्यु के

१. साहित्य अकादेमी ने १९५५ में, मलयालय में १९४७ के बाद से प्रकाशित सर्वोत्तम ग्रंथ का पुरस्कार इसे दिया है।

बाद अपने हाथ में ले लिया और यह अभी पूरा नहीं हो पाया है। यह विशेषत: मलयालम का ही इतिहास नहीं, केरल का भी इतिहास है; क्योंकि इसमें संस्कृत में लिखनेवाले केरलीय कवियों का वर्णन भी है। वडंक्कुंकूर राजराज वर्मा का 'केरल संस्कृत साहित्य चरित्रम्' यद्यपि बहुत विस्तृत है और उसमें की तिथियाँ अविश्वसनीय हैं, फिर भी वह एक महत्त्वपूर्ण प्रथम कार्य है।

भाषा-शास्त्र इतिहास इत्यादि

भाषा-शास्त्र और मलयालय से सम्बद्ध अन्य शोध-कार्यों ने आधुनिक काल में बड़ी प्रगति की है। ए० आर० राजराज वर्मा और अट्टूर कृष्ण पिषारैडि ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण ज़मीन तैयार की। डॉ० के० गोविन्दराम ने भाषा-शास्त्र का अध्ययन प्रस्तुत किया और मलयालम में अन्य भाषाओं से लिए गए शब्दों पर उन्होंने उल्लेखनीय शोध-कार्य किया। इस दिशा में दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान डॉ० के० एम० जार्ज ने दिया। 'रामचरितम्' में शब्द-रचना का उनका अध्ययन मलयालम भाषा के स्वतंत्र आत्म-विकास पर काफ़ी प्रकाश डालता है। डॉ० एस० के० नायर ने केरल के लोक-नाट्य और वीर-गाथा साहित्य का संग्रह किया और यह संग्रह बोली हुई भाषा के अध्ययन और मध्य युग के सामजिक जीवन के प्रतिबिम्ब के नाते बहुत महत्त्वपूर्ण है।

इतिहास मलयालम साहित्य का सबसे उपेक्षित अंग है। के० पी० पद्मनाभ मेनन के दो खण्डों के 'कोची राज्य चरित्रम्' को छोड़कर कोई भी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक रचना इस भाषा में नहीं है। सी० अच्युत मेनन द्वारा अंग्रेज़ी में लिखित 'द कोचीन स्टेट मैनुअल' साथ ही साथ प्रामाणिक रूप से मलयालम में भी रूपांतरित होता रहा। इलंकुलम् कुञ्ञन् पिल्लई का 'केरल इतिहास के कुछ अँधेरे पन्ने' और डॉ० गोदवर्मा की 'आरम्भिक ताम्रपत्रों के अध्ययन', केवल यही उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

पत्र-पत्रिकाएँ

मलयालम साहित्य की प्रगति में पत्र-पत्रिकाओं का विशेष महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इस शताब्दी के आरम्भिक काल में 'मलयालमनोरमा' कण्डत्तिल वर्गीस मप्पिल्लइ ने शुरू की और उसके द्वारा साहित्य को प्रोत्साहन दिया गया। साहि-

त्यिक रचनाओं के लिए स्तम्भ खुले थे और मनोरमा ने केरल में सबसे पहली साहित्यिक सभा बुलाई, जिसका नाम 'भाषा-पोषिणी सभा' था। इस प्रकार साहित्यिक आन्दोलन को बड़ा प्रोत्साहन मिला। उन्होंने 'भाषा-पोषिणी सभा' नामक एक साहित्यिक पत्रिका भी शुरू की, जोकि रचनात्मक साहित्य का माध्यम थी। 'विद्या विनोदिनी' और 'रसिक रंजनी' नामक दूसरे महत्त्वपूर्ण साहित्यिक पत्र कुछ विद्वानों के दल ने त्रिचूर से शुरू किए। 'आत्म-पोषिणी' के सम्पादक कुछ दिनों के लिए वल्लत्तोल थे। 'मंगलोदयम्' की प्रमुख आत्मा हैं अप्पन तम्पुरान। ऐसी साहित्यिक मासिक पत्रिका का एक उत्तम प्रयोग, जो कि केवल कविता के लिए ही, क़रीब २५ वर्षों के लिए वी० के० कृष्ण वारियर के संपादन में चलता रहा। इस पत्रिका का नाम 'कवन कौमुदी' था। इस युग का ऐसा शायद ही कोई कवि हो, जिसने इसमें न लिखा हो। 'कौमुदी' के द्वारा बहुत-से तरुण लेखकों को प्रथम अनुभव मिला। वल्लत्तोल, उल्लूर, शंकर कुरुप्प और अन्य लेखक इसमें बराबर लिखते रहे और 'कौमुदी' ने साहित्य में अपना स्थान बनाया, क्योंकि उसमें पहली बार कई उच्च कोटि की रचनाएँ प्रकाशित हुईं, उदाहरणतः वल्लत्तोल की 'विलास लतिका'; जो कि बाद में एक क्लासिक बन गई। समस्त केरल साहित्य परिषद् ने विशुद्ध साहित्यिक लेखों की एक पत्रिका प्रकाशित की और इसमें इतिहास, साहित्यालोचन तथा प्राचीन ग्रंथों पर अनेकानेक निबन्ध प्रकाशित हुए।

तीसरे दशक में न केवल मासिक पत्रिकाओं ने साहित्य को आकार दिया, बल्कि साहित्यिक साप्ताहिक भी शुरू हुए, जो दैनिक पत्रिकाओं के कार्यालय से निकलते थे। कोषीकोड का 'मातृभूमि' साप्ताहिक और कोल्लं का 'मलयाल राज्यं' तरुण लेखकों का प्रमुख व्यासपीठ बन गया। इनका प्रचार अधिकाधिक संख्या में होने लगा और लेखक साहित्यिक पत्रिकाओं की अपेक्षा पाठकों की कहीं बड़ी संख्या तक पहुँचने लगे।

इस सर्वेक्षण को समाप्त करने से पहले अनूदित साहित्य का उल्लेख करना चाहिए। पहले अनुवाद संस्कृत से होते थे। वस्तुतः इस शताब्दी के प्रथम दशक तक मलयालम में संस्कृत के सभी प्रमुख श्रेष्ठ ग्रंथ अनूदित हो चुके थे। आरम्भिक युग में अंग्रेज़ी से अनुवाद किया हुआ साहित्य प्रसिद्ध क्लासिकों का था। शुरू से ही बंगाली के जो अनुवाद मलयालम में होते थे, वे अंग्रेज़ी की मार्फ़त थे।

बंकिमचन्द्र चटर्जी की कृतियाँ सब प्रकार के पाठकों को अच्छी लगती थीं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को साहित्य के क्षेत्र में बड़ा गौरव मिला। उसका प्रतिबिम्ब बंगाली से अनुवाद की एक नई लहर में मिलता है।

प्रथम महायुद्ध के बाद जब कि लोगों की रुचि व्यापक होने लगी, फ्रेंच, रूसी और अन्य भाषाओं के श्रेष्ठ ग्रंथों के अनुवाद मलयालम में छपने लगे। यद्यपि कई रचनाएँ सीधी मूल से अनूदित नहीं होती थीं, फिर भी तरुण लेखकों के मन को आकार देने में उनका प्रभाव कम नहीं मानना चाहिए। विशेषतः नालाप्पाट नारायण मेनन का 'ले मिज़राब्स' का अनुवाद, गाय द मोपासाँ की कहानियों का ए० बालकृष्ण पिल्लई द्वारा किया गया अनुवाद, टाल्स्टाय के 'रिसरेक्सन' का सी० गोविन्द कुरुप्प कृत अनुवाद। राजनैतिक श्रेष्ठ ग्रंथ, जैसे महात्मा गांधी के 'सत्य के प्रयोग' और जवाहरलाल नेहरू की 'आत्मकथाएँ' मलयालम अनुवाद में क्लासिक बन गईं। दूसरे स्रोतों से मलयालम ने बड़ा बल पाया। फिट्ज़जेराल्ड के 'उमर ख़य्याम' के मलयालम में सात अलग-अलग अनुवाद हुए, जिनमें एक जी० शंकर कुरुप्प का है और दूसरा का० मा० पणिक्कर का। पवित्र कुरान का मलयालम में अनुवाद एक प्रसिद्ध मुस्लिम अनुवादक ने किया है। वल्लत्तोल बड़े भारी अनुवादक रहे हैं। वाल्मीकि रामायण, पाँच पुराण, कालिदास का 'शाकुन्तल', वत्सराज के सब नाटक, भास के छह नाटक, हाल की गाथासप्तशती (प्राकृत से) और अन्त में समूची 'ऋग्वेद संहिता'[1] अकेले वल्लत्तोल ने मलयालम पद्य में अनूदित की हैं। इस क्षेत्र में पाणिनि के संस्कृत व्याकरण का 'पाणिनीय पद्योत' शीर्षक से श्री आई० सी० चाको कृत अनुवाद और भाष्य[2] एक उल्लेखनीय योगदान है।

अन्त में एक महत्त्व की बात पर ज़ोर देना चाहिए। इस शताब्दी के आरम्भ में साहित्य एक वर्ग-विशेष की वस्तु थी। उच्च वर्ग में और राज-दरबारी सामन्त और अमीर वर्ग में ही साहित्य की रुचि थी और वहीं वह पनपता था। इस काल के आरम्भ में केरल वर्मा, राजराज वर्मा, कुञ्ञिकुट्टन् तम्पुरान् और अन्य महान व्यक्तियों का शासक-परिवार से गहरा सम्बन्ध था। धीरे-धीरे

---

१. साहित्य अकादेमी ने १५ हज़ार रुपये का अनुदान देकर इसके प्रकाशन में सहायता दी है।

२. इसे साहित्य अकादेमी ने १९५६ में पुरस्कृत किया।

लेखकों का क्षेत्र विस्तृत होने लगा। १९१५ से १९३६ के बीच साहित्य मध्यम वर्ग की वस्तु बन गया; अधिकतर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों तक ही साहित्य सीमित था जिनकी सामाजिक इच्छाएँ और आर्थिक वृत्तियाँ साधारणतः आत्मसंतोष वाली थीं। कुमारन् आशान् एकमात्र अपवाद थे, जिन्होंने सामाजिक अन्याय के विरुद्ध विद्रोह किया। राजनैतिक स्वतंत्रता के पक्ष में कुछ लेखकों ने आवाज़ उठाई। बीसवीं शती के तीसरे दशक में यह स्थिति आमूल बदल गई। अब साहित्य ने महलों से छुट्टी ले ली, विलासी मध्यम वर्गीय घरों से वह विदा हो गया और ग़रीब, दलित और शोषितों के बीच रहने लग गया। साहित्य जन-साधारण की वस्तु बन गया। केरल में प्रायः सब लोग पढ़े-लिखे हैं, कम से कम छोटी उम्र के लोगों के बारे में तो यह बात सही है ही कि भारत में सबसे अधिक साक्षरता का प्रतिशत यहाँ है; अतः यह सही आशा की गई थी कि साहित्य जन-साधारण की वस्तु बन जाता। आज सभी वर्गों और जातियों का प्रतिनिधित्व मलयालम के तरुण सृजनात्मक लेखकों में दिखाई देता है। केरल वर्मा के साथ प्राचीन पांडित्यपूर्ण रीतिबद्ध शैली और उसका दरबारीपन विनष्ट हो गया और 'मयूर संदेशम्' का सुमधुर संगीत अब हमें स्पर्श नहीं करता, पर उसके स्थान पर जो साहित्य आया है वह अधिक ओजस्वी, प्रामाणिक और जन-जीवन से घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध है।

संदर्भ-ग्रंथ

रिपोर्ट आफ़ द फ़र्स्ट आल इंडिया राइटर्स कांफ़्रेंस, १९४५—सिम्पोज़ियम आन माडर्न लिटरेचर्स खंड, मलयालम पर निबन्ध

शिपलेज़ इन्साइक्लोपीडिया आफ़ वर्ल्ड लिट्रेचर—मलयालम पर निबंध

ए प्राइमर आफ़ मलयालम लिट्रेचर—टी० के० कृष्ण मेनन

क्वेस्ट ऐंड अदर पोइम्स—जी० शंकर कुरुप्प

टियर ड्राप्स—नालप्पट नारायण मेनन

मेरी मैगडलीन—वल्लत्तोल नारायण मेनन

रामचरितम् ऐंड द स्टडी आफ़ अर्ली मलयालम—डॉ० के० एम० जार्ज

संस्कृत

वे० राघवन

प्रास्ताविक

संस्कृत भारत की प्राचीन श्रेष्ठ भाषा है। इसका इतिहास चार हज़ार वर्ष पुराना है। इसका आरम्भिक साहित्य 'ऋग्वेद' की ऋचाओं में मिलता है। भारतीय-यूरोपीय साहित्य के प्राचीनतम और सबसे विशाल अवशेष इन ऋचाओं में हैं। संस्कृत की प्राचीनता तो सर्वविदित है ही, उसकी परम्परा और सरणि भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जिस उच्चारण-पद्धति और जिन स्वराघातों से वैदिक ऋषियों ने मंत्र-पाठ किया था, आज भी उसी उच्चारण और स्वर-पद्धति से मन्त्र-पाठ किया जाता है। जिस माधुर्यपूर्ण शैली में कालिदास और बाण ने साहित्य-रचना की, उसी शैली में आज का संस्कृत-रचनाकार गद्य या पद्य लिखता है। वैदिक उपभाषाएँ, लोकप्रिय पुराण-शैली की स्वतन्त्रता, पाणिनि के व्याकरण में वाङ्मय के लिए नियम, आरम्भिक नाटक की शैली आदि उस युग का संकेत करते हैं जब संस्कृत एक सजीव भाषा थी। जब उसकी उपभाषाओं में एक साहित्यिक मानदंड स्थिर हुआ और आरम्भिक प्राथमिक प्राकृत धीरे-धीरे अधिकाधिक साहित्यिक प्रयोग में आने लगी, तब भी संस्कृत ने अपना महत्त्वपूर्ण अधिकार बनाए रखा। इस भाषा के एक अधुनातन विद्वान ने लिखा है कि यद्यपि यह प्रथम दर्शन में विरोधाभासपूर्ण लगेगा फिर भी संस्कृत भाषा संस्कृति और शासन की भाषा के नाते अपनी पूरी विकासावस्था में उस समय पहुँची जब वह मातृभाषा न रह गई थी।[2] बौद्ध और जैन धर्मों ने जन-भाषा का उपयोग करना आरम्भ किया। पर वे भी संस्कृत की उपेक्षा न

१. इस निबन्ध के लेखक को अपनी पुस्तक 'भोजांज श्रृङ्गार-प्रकाश' पुस्तक पर १९६६ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

२. टी० बरो : 'द संस्कृत लैंग्वेज' फेबर ऐंड फेबर, लंदन, १९५५, पृष्ठ ५७।

कर सके और उन्हें भी बाद में उसी में रचना करनी पड़ी। संस्कृत एक अखिल भारतीय भाषा के नाते संगठित बनी, क्योंकि उसमें एक सामान्य संस्कृति और विचारों की व्यंजना थी। इस देश की अधिकतर मातृभाषाओं की जननी संस्कृत थी। यह भाषा देश की एकता का सबसे दृढ़ सूत्र थी और आज भी है।

पालि और अर्द्धमागधी में धार्मिक साहित्य के आरम्भिक विकास के बाद शौरसेनी जैसी प्राचीन प्राकृतों में साहित्यिक सृजन अधिक हुआ। यही प्राकृत संस्कृत नाटक में प्रयुक्त की गई और महाराष्ट्री में कविता भी विकसित हुई। इतना ही नहीं कि यह प्राकृत साहित्य संस्कृत के ही ढंग पर रचा गया और वह संस्कृत के साथ-साथ ही विकसित हुआ, बल्कि यह भी कि इन भाषाओं के व्याकरण भी संस्कृत में ही लिखे गए। जब ये प्राकृत भी, अपनी साहित्यिक रीतिबद्धता के कारण स्तरीकृत बनकर विजड़ित हो गए, तब दूसरी अधिक लोकप्रिय बोलियाँ उनके स्थान पर प्रचलित हुईं, ये थीं : पहले अपभ्रंश और बाद में उत्तर भारत की आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएँ।

प्राकृतों की भाँति ही, दक्षिण भारत की भाषाओं में भी संस्कृत के प्रभाव से साहित्यिक पुनर्जागरण घटित हुआ। शब्द, व्यंजना के रूप और विषय तथा साहित्यिक विधाएँ आदि संस्कृत से इन भाषाओं में परिव्याप्त होती गईं। इनमें से तीन भाषाओं ने संस्कृत के आधार पर अपनी वर्णमाला विकसित की। उन्होंने अपने-आपको संस्कृत से उतना अधिक प्रभावित होने दिया जितना कि एक भाषा किसी अन्य भाषा से प्रभावित हो सकती है। दो भाषाओं में, संस्कृत के परे उद्धरण, बीच-बीच में उन भाषाओं के थोड़े-से शब्द या प्रत्यय-कृदन्त लगाकर, उन भाषाओं की रचनाओं के नाते माने जाने लगे। और दो भाषाओं में, जैसे जावानी भाषा में, काव्य रचना की एक शैली विकसित हुई, और कुछ भाष्य भी गद्य में लिखे गए। इस शैली को 'मणि-प्रवाल' कहते थे। इसमें कवि संस्कृत और स्थानीय भाषाओं का सुन्दर कलात्मक सम्मिश्रण प्रस्तुत करते थे। वस्तुतः स्थानीय भाषाओं के साथ संस्कृत ऐसी घनिष्ठता से विकसित हुई कि संस्कृत ग्रंथ अभी हाल तक, अधिकतर प्रादेशिक लिपियों में ही, तालपत्रों पर या काग़ज़ की पांडुलिपियों में सुरक्षित रखे जाते थे, या छपते भी थे।

संस्कृत ने अपनी भव्यता में दो और आयाम जोड़े। ईसा-पूर्व प्रथम शती के बाद, बौद्ध धर्म के द्वारा वह मध्येशिया और सुदूर पूर्व तक फैली; और ईसा की

दूसरी शताब्दी के बाद वह उस हिन्दू-संस्कृति का माध्यम बनी जो कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में फैली। संस्कृत-महाकाव्यों, नाटकों और कविताओं ने इन देशों को एक लिपि और साहित्य दिया, और नृत्य, नाटक, संगीत और शिल्प-कलाएँ दीं। इस प्रकार, न केवल संस्कृत ने समूचे प्रायद्वीप को एकसूत्रता में बाँधा, बल्कि उसने समूचे सुदूर पूर्व और दक्षिण-पूर्वी एशिया को एक सांस्कृतिक अखंडता में जोड़ दिया।

अपने इतिहास की लम्बी अवधि में, संस्कृत ने साहित्य, दर्शन, कला, विज्ञान आदि प्रत्येक क्षेत्र में बड़ा साहित्यिक कार्य कर दिखाया। यदि केवल परिमाण को ही लें तो यह महान साहित्य, जिसका केवल एक अंश प्रकाशित हुआ है—चूँकि बहुत-सी पाण्डुलिपियाँ ग्रंथालयों में पड़ी हैं और बहुत-सा हिस्सा नष्ट हो चुका है—विश्व-साहित्य के एक विलक्षण भाग का प्रतिनिधित्व करता है। यदि उसकी विविधता पर ध्यान दें, तो हमें उसमें मानवी क्रिया-कलापों की प्रत्येक कल्पनीय शाखा के विषय में रचनाएँ मिलेंगी। गुण, मौलिकता और अभिव्यक्ति-कुशलता के लिए उसकी दार्शनिक विचार-धाराओं, कविताओं और नाटकों का नामोल्लेख किया जा सकता है; इनमें से कुछ रचनाएँ, जैसे 'उपनिषद्' और 'गीता' भारत की सांस्कृतिक परम्परा का एक मूल्यवान अंश हैं, और वे आज वस्तुतः विश्व-विचार-सम्पदा का भाग बन चुके हैं। दो संस्कृत-महाकाव्यों ने न केवल प्रादेशिक भाषाओं में बड़ा साहित्य निर्मित किया, बल्कि उसमें व्यक्त चरित्रों ने राष्ट्रीय आदर्श भी बनाया। कालिदास और शूद्रक की कविता तथा नाटक आज भी इन क्षेत्रों में भारत की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ मानी जाती हैं। बोलचाल की भाषाओं में साहित्यिक कार्य कुछ विशेष क्षेत्रों में ही अधिक बढ़ा, जैसे धर्म, गीत और महाकाव्य में। साहित्यिक समालोचना, तर्क-शास्त्र, अध्यात्म-विद्या, चिकित्सा, कला, विधि, खगोल, गणित इत्यादि विषयों पर अधिकतर ग्रंथ संस्कृत में ही लिखे गए। यदि किसी प्रमुख प्रादेशिक भाषा में ही किसी लेखक या वक्ता की भाषा का विश्लेषण किया जाय, तो यह पता चलता है कि जहाँ भी वह विचार के उच्चतम स्तर को छूता है, वहीं उसकी शब्दावली संस्कृतमयी हो उठती है। कितना भी प्रादेशिक साहित्य विकसित हुआ हो और किसी भी लेखक की स्थानिक भाषा में जो भी महत्ता रही हो, न तो वह साहित्य और न वह लेखक ही संस्कृत की परम्परा की बिलकुल उपेक्षा करके चल सका।

संस्कृत की परम्परा से वह निरन्तर स्फूर्ति प्राप्त करता रहा है। इधर सारे देश में जो आत्मिक जागरण हुआ और उसने नवजीवन की जो चेतना निर्मित की, उसका बहुत-सा श्रेय भारत के भूतकालीन वैभव के नवीन बोध को है। इस चैतन्य का मूल आशय संस्कृत की परम्परा के पुनः भान से संबद्ध है। इसलिए बहुत हद तक, नवीन रचनाओं के पीछे जो भावना रही है वह संस्कृत की ही है, चाहे उनका माध्यम स्थानीय भाषा ही रही हो।

प्राचीन संस्कृत-साहित्य अपनी विविधता और रूप-समृद्धि की दृष्टि से महान है। यदि ललित साहित्य को ही लें, तो संस्कृत में महाकाव्य, खंडकाव्य और स्फुट कविता का अच्छा विकास हुआ। उसमें जहाँ वीरकाव्य वर्णनात्मक काव्य और गीतात्मक काव्य मिलता है, वहीं विचार-प्रधान, नीतिपरक, ऐतिहासिक और वर्णनात्मक रचनाएँ भी मिलती हैं। संस्कृत-कविताओं में छन्द-सौंदर्य की विलक्षण विविधता दृष्टिगोचर होती है। गद्य-कालों के उत्थान-पतन के कारण भाषा की संगीतमयी सम्भावनाओं का विकास हुआ। इसमें गद्य और पद्य दोनों का मिश्रित चंपू रूप भी विकसित हुआ। नाटकों में संस्कृत-कवियों ने कई प्रकार के रूपक दिये : नायक-प्रधान नाटक, सामाजिक प्रकरण, लम्बे नाटक और छोटे नाटक, एकांकी, प्रहसन, स्वगत-भाषण, ऐतिहासिक, राजनैतिक, धार्मिक और पौराणिक रूपक इत्यादि। बाद के काल में, संस्कृत-रंगमंच भी विकसित हुआ और कई गौण प्रकार के नृत्य-नाटक भी उसके साथ-साथ लिखे तथा खेले गए। सबसे ऊपर रस-सिद्धांत, जो कि भारतीय संस्कृति का धर्म की ही भाँति एक सूत्र था, अपने ध्वनि और औचित्य के सिद्धान्तों के साथ संस्कृत अलंकार-शास्त्र की एक बड़ी देन थी। इससे बढ़कर प्रादेशिक भाषाओं में कोई सिद्धांत प्रतिपादित नहीं किया गया।

जीवित भाषा

इस सबसे यह नहीं मानना चाहिए कि संस्कृत ने अपने-आपको एक ऊँचे अधिष्ठान पर अवस्थित कर लिया। उसने एक प्राचीन निश्चित मानदंड का अनुकरण किया और परंपरित साँचों में ही वह ढलती गई। संस्कृत-साहित्य के लंबे इतिहास और उसके समृद्ध तथा विविधतायुक्त विकास का विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि उसमें कितने परिवर्तन घटित हुए और देशी भाषाओं से उसने

कौन-से प्रतिप्रभाव ग्रहण किये। उच्चारण और शब्द-रचना में, शब्द-भंडार एवं वाक्य-रचना में, संस्कृत पर उससे निकली हुई प्राकृतों का प्रभाव पड़ा है, और संस्कृत-परिवार से भिन्न परिवारों की भाषाओं का भी असर पड़ा है। कविता के छन्दों और अलंकारों में, विषय और मूल कल्पनाओं में रोमांस और वर्णनों में, मंच के नृत्य-नाट्यमय उपरूपकों में जहाँ उसने विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं से बहुत-सा प्रभाव ग्रहण किया, वहाँ प्रादेशिक परम्पराओं और रूपों से उसका मिलन हुआ। संस्कृत ने अपने उदार दृष्टिकोण से अपना सर्वोत्तम अंश दूसरों को दिया और उनसे लिया भी। संस्कृत सदा पंचशील के 'जियो और जीने दो' के आदर्श में विश्वास करती रही। उसने अपने भीतर प्रादेशिक संस्कृतियों के सौंदर्य-तत्त्व आत्मसात् कर लिये। संस्कृत की विशेषता यह है कि उसका विकास भारत के सब हिस्सों में हुआ। अपनी विशेष प्रतिभा से वह वही कार्य चुपचाप करती रही जो आज हमारे संविधान के अनुसार, राष्ट्रभाषा बनने के लिए हिन्दी को करना चाहिए—यानी अपने-आपको विविध प्रदेशों द्वारा विकसित होने देना, और प्रादेशिक भाषाओं में जो मूल्यवान बातें हैं, उन्हें ग्रहण करना।

संस्कृत के लेखक अपने-आपको समकालीन घटनाओं के घनिष्ठ सम्पर्क में रखते थे, और जो भी नई सामग्री उन्हें मिलती थी उसका पूरा उपयोग करते थे। आरम्भिक अवस्था में, यूनान और रोम का प्रभाव था, जैसे खगोल विद्या में। इधर के काल-खंड में मुग़ल-काल में, संस्कृत के लेखकों ने फ़ारसी सीखी, फ़ारसी-संस्कृत के कोश बनाये और फ़ारसी तथा अरबी से संस्कृत में अनुवाद भी किये। संस्कृत वाले कभी भी अलग दुनिया में नहीं रहते थे, परन्तु वे अन्य प्रभाव इस प्रकार से आत्मसात् करते थे कि अपनी विशेषता रखकर भी वे विभिन्न तत्त्वों को अपने भीतर समो लेते थे। यदि परवर्ती इस्लामी सम्पर्क उन आरम्भिक मध्य-पूर्वी सम्पर्कों के ही पुरस्सरण थे, जो ख़ुसरू नौशेरवान (५३१—५७९ ईस्वी) से शुरू हुए थे और खिलाफ़त के दिनों में और भी मज़बूत बने, जबकि संस्कृत के औषधि और गणित के ग्रंथ अनूदित होकर पश्चिम में ले जाए गए, तो आधुनिक काल के यूरोपीय संपर्कों को प्राचीन भारत के एथेन्स, अलेक्ज़ैंड्रिया और रोम के साथ बौद्धिक सम्पर्क का पुनर्नवीकरण कहा जा सकता है।

आधुनिक काल में भारत और यूरोप का सम्पर्क दोनों भूखंडों के लिए समान

रूप से महत्त्वपूर्ण रहा है। पश्चिम ने संस्कृत की खोज की, जो कि पुनर्जागरण के समय से यूरोपीय विचार-धारा में सबसे सार्थक घटना कही जा सकती है। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, संस्कृत की यह खोज दो प्रकार से प्रभावशाली सिद्ध हुई। एक ओर जहाँ आधुनिक शिक्षा-प्राप्त भारतीय अपनी सांस्कृतिक परम्परा के मूल्यों को नये सिरे से पहचानने लगे, और पश्चिम के प्राच्य विद्याविदों ने भारत में साहित्यिक तथा सांस्कृतिक पुनर्जागरण निर्मित किया, वहाँ दूसरी ओर पश्चिमी विचार और जीवन की पद्धतियों ने परंपरित संस्थाओं और ज्ञान में परिवर्तन की प्रक्रिया आरंभ की। संस्कृत की खोज आधुनिक तथा रूढ़िवादी दो पद्धतियों में बँट गई। इस प्रकार के अध्ययन की प्रथम पद्धति नये अंग्रेज़ी स्कूलों, कालिजों और यूनिवर्सिटियों में तथा दूसरी पद्धति परंपरित टोलों, पाठशालाओं तथा कालेजों में विकसित होती रही। पश्चिम के साहित्य और विचार-धाराओं का प्रभाव शिक्षा एवं शासन के द्वारा स्पष्ट होने लगा। उसकी प्रतिक्रिया दोनों प्रकार के संस्कृतज्ञों पर पड़ी। फलतः आधुनिक यूरोपीय प्रभाव के साथ-साथ संस्कृत-साहित्य एक नई अवस्था में प्रवेश करने लगा।

पहला प्रभाव तो यह हुआ कि संस्कृत में जो रचनात्मक कार्य तब तक चल रहा था, उसे एक नई प्रेरणा मिली, परन्तु धीरे-धीरे अंग्रेज़ी अखिल भारतीय माध्यम का स्थान लेने लगी, जो कि पहले संस्कृत का था; और संस्कृत सीखने का माध्यम पहले जो प्रादेशिक भाषाएँ थीं, उनके बदले में अंग्रेज़ी माध्यम बनी। संस्कृत इस प्रकार से दैनिक जीवन और मातृभाषा से दूर होती गई; उसका अध्ययन अधिकाधिक पुरातत्त्व की भाँति होने लगा। जब हम इसका तुलनात्मक अध्ययन करेंगे कि अंग्रेज़ी प्रभाव के प्रथम आघात के समय, संस्कृत के पंडित किस उत्साह से संस्कृत की पत्रिकाएँ सम्पादित करते थे, विदेशी ग्रन्थों के अनुवाद करते थे, उपन्यास और कहानियाँ लिखते थे; तथा आज कैसी विवशता और निस्सहायता की भावना उनमें आ गई है; तो इस अधःपतन का और संस्कृत के धीरे-धीरे एक सजीव अभिव्यंजना के माध्यम के नाते गिरते जाने का स्वरूप हमारे सम्मुख स्पष्ट होता जाएगा। संस्कृत के आश्रयदाता भी, जो संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहन देने के लिए बड़े ज़ोरों से तर्क करते थे, संस्कृत में मौलिक लेखन को उपेक्षा से देखने लगे। सौभाग्य से अब संस्कृत में साहित्य-रचना की ओर फिर ध्यान दिया जाने लगा है; और आधुनिक शिक्षा-प्राप्त

संस्कृतज्ञों में भी इस भाषा को अपने विचारों का माध्यम बनाने और उस रूप में विकसित करने की इच्छा बढ़ती जा रही है।

ब्रिटिश काल के आरम्भ में संस्कृत शिक्षा बड़े ज़ोरों पर थी, और पुराने संस्कृत पंडितों की परम्परा तब तक चालू थी। १९वीं शती में संस्कृत के पंडित या उनके नवशिक्षित पुत्र या प्रपौत्र बराबर संस्कृत में लिखते रहते थे। उनमें से जो विशेष अच्छा या अधिक लिखने वाला होता, वह शताधिक ग्रंथों की रचना करता। जब साहित्य के प्रचार की सामान्य पद्धति मुद्रण द्वारा होने लगी और संस्कृत-प्रकाशन का साधन अच्छी तरह विकसित नहीं हुआ, तब यह सब साहित्य हस्तलिखित रूप में अप्रकाशित पड़ा रहने लगा। आधुनिक संस्कृत-साहित्य का पूरा वर्णन तब तक नहीं दिया जा सकता, जब तक कि उसकी अधिकतर सामग्री अप्रकाशित हस्तलिखित पांडुलिपियों में और पहुँच के बाहर है। समकालीन संस्कृत-लेखकों में से अनेक ने ऐसी कविताएँ, नाटक और कहानियाँ लिखी हैं, जिनके सारे देश में जनता के व्यापक उपयोग के लिए प्रकाशित होने की कोई आशा नहीं। परन्तु प्रचार के इस अभाव से कोई यह न समझ ले कि संस्कृत में रचनाएँ बराबर होती नहीं रही हैं। आधुनिक काल में बहुत-सा आधुनिक साहित्य उस भाषा में लिखा गया है; और देश की अन्य भाषाओं की रचनाओं की तुलना में वह कम नहीं माना जाना चाहिए।

इस बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है कि संस्कृत साहित्य के इतिहास के प्रसिद्ध ग्रंथ उसका विवरणयुक्त वर्णन बारहवीं शती तक लाते हैं, और बाद की शताब्दियों की कुछ फुटकर कृतियों का उल्लेख करके समाप्त हो जाते हैं। इस दोष का परिहार कम से कम एक लेखक[1] ने किया है, जिसने भारत के विभिन्न प्रदेशों में आधुनिक संस्कृत-लेखकों और उनकी रचनाओं के विषय में बड़ी सामग्री एकत्रित की है। संस्कृत-लेखन के कुछ नमूने उन संस्कृत-पत्रों में प्रकाशित हुए जो अब अस्तप्राय हैं, और जिनके पुराने अंक अब मुश्किल से ही पाए जाते हैं। प्रस्तुत लेख जैसे सर्वेक्षण और दो ऐसे ही सिंहावलोकन, जो प्रस्तुत लेखक ने किये हैं,[2] भारतीय साहित्यिकारों और सर्वसाधारण पाठकों को यह आभास देने में

---

१. एम० कृष्णमाचारियर, 'हिस्ट्री आफ़ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर', मद्रास, १९३७।

२. 'माडर्न संस्कृत राइटिंग्ज़' अडयार लाइब्रेरी बुलेटिन, १९५६; संस्कृत लिटरेचर १७००–१९३७ जर्नल आफ़ दि मद्रास यूनिवर्सिटी, सेण्टेनरी नम्बर, १९५७।

उपयोगी होंगे कि इस साहित्य का स्वरूप और विस्तार कितना है। इस प्रकार इसमें उनकी दिलचस्पी बढ़ेगी।

पश्चिम से सम्पर्क

संस्कृत साहित्य में आधुनिक धाराएँ विशेष रूप से पश्चिमी साहित्य के संपर्क का परिणाम हैं। अब जिन प्रमुख रूपों में यह नई अभिरुचि अभिव्यंजित हुई है वे हैं संस्कृत-पत्रिकाओं का प्रकाशन, पश्चिमी श्रेष्ठ ग्रंथों का अनुवाद, कहानी, छोटी कविता और उपन्यास का विकास वर्णनात्मक, कथात्मक और छोटे निबन्धों या लम्बे प्रबन्धों के लिए आलोचनात्मक रूप में तथा वाद-विवाद और उल्लेख के लिए गद्य का विशेष उपयोग, साहित्य-समीक्षा, रसास्वाद और ऐतिहासिक समालोचना की पश्चिमी ढंग पर अभिवृद्धि तथा आधुनिक वैज्ञानिक विचारों का प्रकटीकरण। देश के भीतर जो संस्कृतज्ञ प्रादेशिक भाषाओं में नवीन-तम रचनाएँ पढ़ते हैं या स्वयं अपनी मातृभाषाओं में लिखते हैं वे उन भाषाओं की अधिक महत्त्वपूर्ण पुरानी या नई कृतियों को संस्कृत में अनूदित करने लगे। इस प्रकार, वे संस्कृत और प्रादेशिक भाषाओं के सम्बन्ध पुनः घनिष्ठ बनाने लगे। तीसरी बात यह थी कि देश के सार्वजनिक जीवन में जो नये सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलन हो रहे थे, उन्होंने संस्कृत के लेखकों पर अपना प्रभाव डाला, और इस प्रकार संस्कृतज्ञों ने नये रूप में जो साहित्य पैदा किया, उसमें संस्कृत पूरी तरह से जीवित दिखाई दी। 'जीवित' शब्द यहाँ पूरे अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, क्योंकि यह संस्कृत समकालीन जीवन और विचारों की अभिव्यंजना का माध्यम बन गई है।

संस्कृत विद्या के परंपरित रूप चल ही रहे थे। प्राचीन पद्धति से अधीत पंडित लम्बी और छोटी कविताएँ, भजन, नाटक, धार्मिक रचनाएँ, भाष्य और शास्त्रों पर या अन्य विशेष प्रकार की टीकाएँ पुरानी शैली में लिखते जा रहे थे। दक्षिण में अभी-अभी तक भट्ट श्रीनारायण शास्त्री जैसे लेखक हुए, जिन्होंने ९३ नाटक लिखे; राधामंगलम् नारायण शास्त्री १०८ ग्रंथों के रचयिता थे और काव्यकण्ठम् गणपति शास्त्री ने विपुल रचना की है। इसी प्रकार, दूसरे लेखक अन्य विद्या-केन्द्रों में हुए। ऐसी रचनाएँ, जिनमें रचयिता की विद्वत्ता और कुशलता छन्द-रचना में व्यक्त होती है, (जैसे चित्रबंध काव्यों में) अभी भी की जाती

हैं।[1] मैसूर के सी० एन० राय शास्त्री ने १६०५ में एक 'सीता-रावण-संवाद-झरी' लिखा, जिसमें रावण जो छन्द कहता है, उसका एक अक्षर कम कर देने से सीता का उत्तर उसी छन्द में हो जाता है।[2] प्राचीन ढंग पर काव्य और नाटकों पर असंख्य भाष्य लिखे गए हैं, विशेषतः जो विश्वविद्यालयीन पाठ्यक्रमों में हैं, उन पर तो कई पुराने ढंग के पंडितों[3] ने और बहुत पढ़े-लिखे अंग्रेज़ी जानने वाले संस्कृतज्ञों ने[4] भी टीकाएँ लिखी हैं। दर्शन की विविध शाखाओं में जिन्होंने सिद्धान्त-स्पष्टीकरणादि रचनाएँ की हैं, उनमें म० म० अनन्तकृष्ण शास्त्री, जयपुर के मधूसूदन शर्मा और इसी प्रकार बनारस, कलकत्ता, मिथिला और केरल के विद्वानों का उल्लेख किया जा सकता है। यहाँ यह सम्भव नहीं है कि प्राचीन परंपरित ढंग से जो विशाल परिणाम पर साहित्य आज भी रचा जाता है, उसका वर्णन विस्तार से दिया जा सके।

ब्रिटिश शासकों ने संस्कृत के पंडितों को अपनी शासकीय आवश्यकताओं से प्रेरित होकर, न्याय और क़ानून के सार बनाने के लिए नौकरियाँ दीं। साथ ही ब्रिटिश सम्राटों की प्रशस्तियाँ लिखने के लिए पंडितों को प्रलोभन दिया गया। विक्टोरिया, एडवर्ड सप्तम और जार्ज पंचम के प्रति भी ऐसी रचनाएँ लिखवाई गईं। पंडितों ने इन विषयों पर उसी ढंग से महाकाव्य लिखे, नाटक भी लिखे, जैसे कि इन कवियों के पूर्वजों ने परमार चालुक्य या विजयनगर-वंशों के विषय में स्तुति-पाठ लिखे होंगे। अंग्रेज़ों के प्रति निष्ठा की ऐसी उमड़ती हुई बाढ़ को आज हम महत्त्व नहीं दे सकते; परन्तु यहाँ यह बात अत्यन्त उल्लेखनीय है कि किसी संस्कृत-काव्य या नाटक के लिए एक नया विषय इस प्रकार से प्राप्त हुआ। यों साथ ही, अंग्रेज़ों का या भारत में उनकी विजय का, इतिहास भी संस्कृत में

१. उदाहरणार्थ, देखिए टी० एस० श्रीनिवासदेशिकाचार्य, 'मैसूर संस्कृत कालेज मैगज़ीन,' १६५१, मार्च-दिसम्बर; मथुरानाथ शर्मा, जयपुर, 'जयपुर-वैभव' (१६०७)—चित्रवत्वर विभाग।

२. 'निरोष्ठय-दशावतारास्तव'—लेखक : तत्ति श्रीनिवासाचार्य, तंजौर, १६००; तथा टी० एस० श्रीनिवासदेशिकाचार्य, महाराजा संस्कृत कालेज मैगज़ीन, मैसूर १६५१, मार्च-दिसम्बर।

३. उदाहरणार्थ महामहोपाध्याय लक्ष्मण सूरि, मद्रास।

४. उदाहरणार्थ बम्बई में एम० आर० काले और कलकत्ता में एस० आर० रे; प्रस्तुत लेखक की 'आर्यशतक व्याख्या' और 'आनन्दरंगचंपूव्याख्या' भी उल्लेखनीय हैं।

लिखा गया। वस्तुतः कुछ रचनाएँ तो इतिहास के रूप में ही थीं। विनायक की 'अंग्रेज चंद्रिका' या अज्ञातनाम लेखक का 'इतिहास-तमोमणि' इतिहास के आरम्भिक उदाहरण हैं ; 'नूतनोदंतोष्ठ' (कलकत्ता, १८६६) मिस बर्ड की रचना के आधार पर इंग्लैंड का वर्णन है; तंजौर के रामस्वामी राजा का 'राजांग्ल-महोद्यान' (कुंभकोणम्, १८६४) अंग्रेज़ों के बारे में काव्य है, परन्तु इसमें प्रसिद्ध भारतीयों की जीवनी भी मिलती है। तिरुमल बुक्कपट्टनण् श्रीनिवासाचार्य ने प्रथम विश्व-युद्ध का वर्णन 'आंग्ल-जर्मन-युद्ध-विवरण' में दिया है। संस्कृत की प्राचीन प्रेम-कविता में डूबे हुए कवि पर एडवर्ड अष्टम का अपनी प्रिया के लिए त्याग का प्रभाव बहुत गहरा पड़ा होगा; इसका उदाहरण 'यदुवृद्धसौहार्द्र' नामक ए० गोपाल अय्यंगार (मद्रास, १९३७) की कविता है।

इतिहास और जीवनी

स्थानीय राजवंशों पर ऐतिहासिक काव्य-लेखन की परंपरा चल ही रही थी, परन्तु यहाँ उन वर्णनों का क्रम हमें ध्यान में रखना चाहिए जो नई ऐतिहासिक भावना से लिखे गए थे और जो हमारे इतिहास को ब्रिटिश शासन-काल तक ले आते हैं। यह नये ऐतिहासिक वर्णन गद्य और पद्य दोनों में मिलते हैं और वे समूचे भारतीय इतिहास के क्षेत्र को या उसके विशिष्ट अंश को अपना लक्ष्य बनाते हैं। इतिहास-दीपिका[1] पाँच अध्यायों में टीपू सुलतान के साथ मराठा साम्राज्य के युद्धों का वर्णन देती है। 'भारतेतिहास' (सं० सा० प० प०[2] १९४८–

१. प्रकाशन-तिथि अज्ञात।

२. निम्न संक्षिप्त चिह्न इस सर्वेक्षण में संस्कृत-पत्रिकाओं के लिए प्रयुक्त किये जाएँगे :

सं० सा० प० प०—'संस्कृत साहित्य परिषद् पत्रिका', कलकत्ता

सं० र०—'संस्कृत रत्नाकर', जयपुर, बनारस

सहृ०—'सहृदय', श्रीरंगम्

अ० व०—'अमृत वाणी', बैंगलोर

म० व०—'मधुर वाणी', गदग, धारवाड

उ० प०—'उद्यान पत्रिका', तिरुवाय्यूर, तमिलनाड

म० सं० का० मै० मै०—'महाराजा संस्कृत कालेज मैगजीन', मैसूर

मंजू०—'मंजूषा', कलकत्ता

सं० च०—'सस्कृत चंद्रिका', कोल्हापुर

४६) भारतीय इतिहास का एक गद्य-लेखा है। एम० एम० टी० गणपति शास्त्री ने 'भारतानुवर्णन' नाम से भारत का इतिहास लिखा है, और रामावतार शर्मा ने 'भारतीयम् इतिवृत्तम्' नामक उसी प्रकार का ग्रंथ लिखा है। 'भारतेतिवृत्तसार' जयपुर के लक्ष्मीनाथ शास्त्री[1] की ऐतिहासिक कृति है। 'भारत संग्रह' में काव्य-कंठम् गणपति शास्त्री ने भारतीय इतिहास का सिंहावलोकन[2] किया है। 'श्रियां काव्य'[3] के १६ छोटे सर्गों में, कवि कृष्णकौर ने सिखों का आरम्भिक इतिहास दिया है। श्रीपाद शास्त्री हसूरकर ने 'भारत-नर-रत्नमाला' में ऐतिहासिक वर्णनों की एक क्रमणिका चलाई थी, और हमें 'सिख गुरु चरित्रामृतम' (इन्दौर, १६३३) दिया था। सहृ० ने चौथे खंड में महमूद ग़ज़नी पर एक ऐतिहासिक कविता छापी थी, जिसका शीर्षक था 'ग़ज़नीमुहम्मद-चरित्र'। बाद में उसी पत्रिका में चंद्रगुप्त, अशोक, संयोगिता आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों के छोटे गद्य-वर्णन छपे थे। सहृ० में १६१४ में अलेक्ज़ेंडर के भारत-आक्रमण का वर्णन भी मिलता है। अपनी 'संस्कृत चंद्रिका' (१६०७) में प्रकाशित 'स्वदेशीय-कथा' में अप्पा शास्त्री ने भारत के इतिहास से संबद्ध तथ्य निरूपित किए और अंग्रेज़ी शासन की अच्छाइयों तथा बुराइयों की चर्चा की। गोविन्द राजानक ने अपने 'श्री' (श्रीनगर से प्रकाशित) नामक पत्र में उस 'राज़तरंगिणी' को आधुनिक काल तक पहुँचा दिया, जिसमें उत्तर कल्हण काल में तत्कालीन समय तक का इतिहास अंकित किया गया था।

प्रसिद्ध व्यक्तियों की जो जीवनियाँ प्राचीन साहित्य में लिखी जाती थीं, उनमें तथ्य और कपोल-कल्पना का मिश्रण होता था। महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों का जीवन काव्यमय और प्रशस्तिपूर्ण शैली में लिखा जाता था, जिसमें वर्णनात्मक अंश अधिक होते थे। जो थोड़ा-बहुत ऐतिहासिक तथ्य-संग्रह रहता था, वह इनके कारण अस्पष्टतर हो जाता था। नई जीवनियों में, ऊँची आलंकारिक शैली के बदले सरल वर्णनात्मक गद्य लिखा जाने लगा और लेखक घटनाओं पर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित करने लगे। वे चरितनायक के जीवन और काल के विवरणों पर अधिक बल देने लगे। ऐसे जीवन-वृत्त कई प्रकार के व्यक्तित्वों के बारे में लिखे

१. देखिए पृ० ४०, 'जयपुर वैभव' की भूमिका, जयपुर, १६४७।

२. देखिए पृ० ११, उनके 'उमासहस्र' की भूमिका, सिरसी, उत्तर कर्नाटक, १६४३।

३. लाहौर, १६३५।

गए हैं—भूतकालीन ऐतिहासिक व्यक्ति, प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक, संत, विद्वान्, राजनैतिक नेता और वर्तमान समय के सार्वजनिक कार्यकर्त्ता। अन्तिम प्रकार के व्यक्तियों का विचार अलग परिच्छेद में होगा; अब हम दूसरे प्रकार की जीवनियों का विचार करेंगे। जयपुर के अंबिकादत्त व्यास ने 'शिवराज-विजय' नाम से शिवाजी पर एक ऐतिहासिक गद्य-ग्रंथ लिखा। यह ग्रंथ 'संस्कृत-चंद्रिका' के ७वें और ८वें खंडों में क्रमशः प्रकाशित हुआ। श्रीपाद शास्त्री हसूरकर ने पृथ्वीराज, शिवाजी और राणा प्रतापसिंह पर गद्य में लिखा। ('भारत-वीर-रत्नमाला', इन्दौर, १९२०–१९२२)। सखाराम शास्त्री ने रानी अहल्याबाई पर एक महाकाव्य रचा (सतारा, १९५१)। उसी काव्य-शैली में जयपुर (उड़ीसा) के रामनाथ नन्दा ने 'जयपुर-राज-वंशावली' (जयपुर, १९३८) लिखी। इससे भी अधिक मनोरंजक 'चालुक्य-चरित' (मद्रास, १९३८) है, जिसमें परवस्तु लक्ष्मीनरसिंह शास्त्री ने चालुक्य शिला-लेखों को एक सुसूत्र ऐतिहासिक वंश-विवरण के रूप में एकत्रित और सुगुंफित किया है। वी० ए० लतकर शास्त्री ने 'साहूचरित्र' (कोल्हापुर, १९३९) में कोल्हापुर रियासत के एक हाल के शासक का जीवन-चरित्र गद्य में लिखा है। 'भारत-रत्न' नाम के छोटे वर्णनों के क्रम में नागपुर के संस्कृत-पत्र 'भवितव्यम्' ने पाठकों को भारत की विभिन्न भाषाओं और प्रदेशों के प्रमुख व्यक्तियों का परिचय कराया है। कथा-उपन्यास की रचना के लिए ऐतिहासिक घटनाओं का उपयोग भी किया गया, जैसा कि प्रस्तुत लेख में निर्दिष्ट एक और विभाग से सिद्ध होगा।

गद्य और पद्य जीवनियों में देश के विभिन्न विभागों के संतों के चरित्र अधिक रचे गए हैं। अलमेलम्मा मैसूर की एक भद्र महिला हैं, जिन्होंने 'बुद्धचरितामृत' (१९२२ में) रचा। हसूरकर ने 'भारत-साधु-रत्नमाला' नामक एक माला और चलाई थी, जिसमें वल्लभाचार्य और रामदास की गद्य-जीवनियाँ दी गई थीं। श्री चैतन्य और उनके बड़े समकालीन अद्वैत आचार्य की जीवनी कालीहरदास वसु ने गद्य में लिखी है (सं० सा० प० प०, १९२८-२९ और १९३८-३९ खंड)। ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास और मीरा पर श्रीमती क्षमाराव ने कविताएँ लिखीं।[1] सत्यनारायण पर सं० सा० प० प० में 'सत्यानुभव' नाम से एक वर्णनात्मक लेख मिलता है (१९४६ खंड)। राजवल्लभ शास्त्री ने शृङ्गेरी के

१. १९४४, १९५० खंड, १९५३ खंड।

प्रसिद्ध स्वामी नृसिंह भारती पर एक महाकाव्य[1] लिखा है। कामकोटि के शकराचार्य के जीवन और विजय-यात्राओं का वर्णन तीन ग्रन्थों[2] में है। नये धार्मिक नेताओं में दयानन्द पर वामनाचार्य का 'दयानन्द प्रभाव', अखिलानन्द शर्मा के दो ग्रंथ और 'दयानन्द-दिग्विजय' (इलाहाबाद, १९१०) आदि पुस्तकें हैं। इधर 'आर्योदय काव्य' नाम से एक बृहत् महाकाव्य २१ सर्गों में गंगाप्रसाद उपाध्याय (इलाहाबाद, १९५२) ने प्रकाशित किया है। इसमें लेखक ने दयानन्द के आविर्भाव की एक बड़ी ऐतिहासिक भूमिका दी है तथा हिन्दुओं के पतन और पुनरुत्थान, भारत पर विदेशी अधिसत्ता और स्वतन्त्रता-प्राप्ति का वर्णन किया है। श्रीनगर से प्रकाशित होने वाले पत्र 'श्री' में कुछ कश्मीरी संतों के जीवन-चरित्र छपे। पी० पंचापकेश शास्त्री ने रामकृष्ण परमहंस की जीवनी गद्य में लिखी है (मद्रास, १९३७) और बंगलौर के के०एस० नागराज ने 'विवेकानंद चरित'[3]। संगीतज्ञ संतों में, कर्नाटक संगीत के दो प्रसिद्ध संगीत-रचनाकारों त्यागराज और मुत्तूस्वामी दीक्षितार पर भी महाकाव्य रचे गए। उनमें इन संगीतज्ञों की जीवनी, काल तथा कृतियों का वर्णन है। प्रथम जीवनी सुन्दरसेन शर्मा (कुम्भकोणम्, १९३७) ने छापी है; और दूसरी अभी प्रकाशित नहीं हुई है और वह इन पंक्तियों के लेखक की रचना है।

आंध्र के वयोवृद्ध संस्कृतज्ञ काशी कृष्णाचार्य ने 'वाल्मीकि' की कथा सरल गद्य में लिखी है और उनमें अनेक कथा-प्रसंगों, उपकथाओं तथा अन्य रोचक साहित्यिक सामग्री का समावेश किया है (गुन्तूर, १९५७)।

हिन्दू धर्म से बाहर के क्षेत्रों में, त्रिवेन्द्रम के नीलकंठ शास्त्री ने ईसा मसीह की जीवन-गाथा 'यीशुचरितम्' नाम से संस्कृत गद्य में लिखी है; और गदवाल के श्री गुंदे राव हरकरे ने 'कुरान' के पाँच अध्यायों (सी० एच०, १ पी० टी० डी०, इस्लामी संस्कृति, हैदराबाद, १९, आई, १९४५) का अनुवाद किया है।

विद्वानों के जीवन और कृतियाँ भी लिखी गई हैं। चन्द्रभूषण शर्मा ने 'जीवित वृत्तांत' नाम से बनारस संस्कृत कालेज के पं० बेचन शर्मा की जीवनी लिखी है

१. मद्रास, १९३६।

२. उदाहरणार्थ 'श्री चन्द्रशेखर विजयमहारत्नाकर', लेखक पी० उमामहेश्वर शास्त्री, १९३९।

३. अ० व०, अलग से भी, १९४७।

(बनारस, १८९०)। नारायण शास्त्री खिस्ते ने 'विद्वत्-चरित-पंचक' (बनारस, १९२८) लिखा; इस ग्रंथ में चम्पू के रूप में बनारस के जिन पाँच प्रमुख महा-महोपाध्यायों की जीवनी दी गई है, उनके नाम हैं—सर्वश्री गंगाधर शास्त्री मनवल्ली, कैलाशचन्द्र, दामोदर शास्त्री, शिवकुमार शास्त्री और रामकृष्ण (तात्या) शास्त्री। 'संस्कृत चन्द्रिका' में पुराने और नये विद्वानों के संस्कृत-गद्य-चरित्र प्रकाशित हुए हैं। म० म० यज्ञस्वामी शास्त्री ने 'त्यागराज-विजयम्' नामक ग्रंथ में अपने नाना की जीवनी लिखी है। उनके नाना का नाम म० म० राजू (त्यागराज) शास्त्री था। वे मन्नरगुडी के थे। यह ग्रंथ तंजौर से १९०४ में प्रकाशित हुआ। क्षमाराव का 'शंकराजीवनाख्यान' (बम्बई, १९३९) विदुषी के पिता, प्रसिद्ध-संस्कृत-शोधक विद्वान् शंकर पांडुरंग पंडित की पद्यबद्ध जीवनी है। 'हरनामामृत काव्य' (बीकानेर, १९५५) विद्याधर शास्त्री-विरचित अपने पितामह का जीवन-वृत्तांत है, जिसमें उनके काल के संस्कृत-आन्दोलन का भी यथाप्रसंग वर्णन आ गया है। वीरेन्द्र बहादुरसिंह का 'ब्रह्मर्षिविलास' (लखनऊ, १९५५) का विद्वान् संत के जीवन और त्याग की गाथा है और उससे यह ज्ञात होता है कि लेखक ने शास्त्रों का अध्ययन भी किया है। दीनानाथ त्रिवेदी ने पं० पुरुषोत्तम दास शर्मा की संक्षिप्त जीवनी लिखी है। डॉ० वी० एम० कैंकिणी (बम्बई, १९५०) का 'शिवकैवल्य चरित' लेखक के एक पूर्वज की जीवनी पर आधारित है और उसमें पंडित-परिवारों की देशान्तर-यात्रा पर रोचक ऐतिहासिक सामग्री मिलती है। लेविस राइस जैसे यूरोपीय प्राच्यविद्याविद् की जीवनी भी संस्कृत में लिखी गई (पद्मराज पंडित, बंगलौर, १९०५)।

वस्तुतः आत्मकथा को आधुनिक साहित्य की एक विधा मानना चाहिए।[1] कोराड रामचन्द्र कवि (१८१६–१९००) ने एक 'स्वोदय काव्य' लिखा है, जो अभी अप्रकाशित है। दुर्गानन्द स्वामी ने 'विद्योदय' में अपने जीवन पर प्रकाश डाला है। हाल में ही प्रकाशित कृतियों में 'ईश्वर-दर्शन' या 'तपोवन-चरित्र' (त्रिचूर, १९५०) है, जिसके लेखक मलाबार के स्वामी तपोवनम् हैं, जिनका देहावसान हाल में ही उनके आश्रम में हुआ। यह उत्तम गद्य शैली में लिखा हुआ ग्रंथ है।

जिनके शासन-काल में राज्यों की सर्वांगीण प्रगति हुई उन सुविद्य भारतीय

---

१. बाण और दण्डी के आत्म-वृत्तों को छोड़कर।

राजाओं में से कुछ लोगों को नहीं भुलाया जा सकता। इनमें प्रथम हैं—मैसूर के महाराजा स्वर्गीय कृष्ण वोडायार, जिनपर कई कविताएँ म० सं० का० मै० मै० में हैं।[१] इनमें की कुछ कविताओं में राज्य के कई आधुनिक सुधारों, जैसे बिजली, कावेरी-बाँध, जोग-जल-प्रपात, कोलार की खानें, हुलिकेरि सुरंग आदि के वर्णन हैं। कोचीन के हिज़ हाइनेस रामवर्मा पर, जो कि वर्तमान महाराजा के चाचा और सुविख्यात संस्कृत-विद्वान् भी थे, 'रामवर्माविजय'[२] नामक ग्रंथ लिखा गया। 'माला'[३] कोचीन के वर्तमान राजा पर रची गई। ये भी संस्कृत के बहुत अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने परंपरित शैली में कई काव्य लिखे हैं। 'जयपुर वैभव'[४] मथुरानाथ कवि शास्त्री की रचना है, जो कि आधुनिक जयपुर का वर्णन है। उसमें राजवंशों, संस्कृत के विद्वानों तथा जयपुर में रहने वाले परिवारों का वर्णन है।

आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य

संस्कृत-पाठ्य-क्रम का एक अंग संस्कृत भाषा और साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन भी है। पुराने ढंग की संस्कृत-पाठशालाओं में भी अध्ययन के पाठ्य-क्रम में संस्कृत को रखा गया। पंडितों के दृष्टिकोण में ऐतिहासिक और आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य लाना और भी आवश्यक हो गया। इस प्रकार, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधुनिक विज्ञान और विशेषत: भारोपीय भाषाओं पर संस्कृत में गद्य ग्रंथ लिखे गए। संस्कृत-साहित्य के इतिहास भी रचे गए। राजराज वर्मा ने अपने 'लघुपाणिनीय'[५] में भारतीय भाषा-विज्ञान के सम्बन्ध में एक परिशिष्ट जोड़ा। आर० सामा शास्त्री ने म० स० स० म० म० (१९२५-२६) में 'भाषातन्त्र' लिखा; सहृ० (३) में 'आर्य-भाषा-चरित्र' प्रकाशित हुआ और सं० सा० प० प० (१९३५) में द्विजेन्द्रनाथ गृह चौधरी ने 'देवभाषा-देवनागर-अक्षरयोः उत्पत्तिः' लिखी। आर० एस० वेंकटराव शास्त्री ने 'भाषा-शास्त्र प्रकाशिनी'[६] पुस्तक लिखी,

१. १९२५, रामपल्ली अनन्तकृष्ण शर्मा, नरसिंहाचार्य, सिंगेरियांगार तथा अन्य।

२. लेखक—कुञ्चन वारियर, प्रकाशन १९३०

३. ए० वी० कृष्ण वारियर, त्रिचूर, १९४८

४. जयपुर, १९४७

५. दूसरा संस्करण, त्रिचनापल्ली, १९१३

६. मद्रास, १९३८, बाल मनोरमा प्रेस

और एस० टी० जी० वरदाचारियर ने 'भाषा-शास्त्र संग्रह'[1] लिखा। इसी प्रकार संस्कृत साहित्य के विकास के वर्णन सब शाखाओं में प्रकाशित हुए। आर० श्रीनिवासराघव ने सहृ० (३) में 'गीर्वाणभाषाभ्युदय' लिखा और 'मित्र-गोष्ठी' में गिरिजाप्रसाद शर्मा ने संस्कृत-कवियों पर गद्य-निबंध लिखे। म० स० का० मँ० मै० में राजगोपाल चक्रवर्ती ने 'कवि-काव्य-विचार' लिखा तथा उ० प० में क्रमशः 'संस्कृत ग्रंथचरित्रम्' छप रहा है। पी० पी० एस० शास्त्री और के० एल० वी० शास्त्री[2] ने मेक्डोनाल के 'हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर' से वैदिक साहित्य का वृत्तांत्त अनूदित किया और पंजाब विश्वविद्यालय के प्रो० हंसराज अग्रवाल ने हाल में ही उसी विषय पर[3] दो खंडों में एक अपेक्षाकृत बड़ा ग्रंथ लिखा है। द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री का 'संस्कृत-साहित्य विमर्श' (मेरठ, १९५७) संस्कृत साहित्य का संस्कृत भाषा में लिखित एक अन्य इतिहास है। अनेक पंडित और शोध-कार्य में निरत विद्वान् प्राचीन ग्रंथों के शुद्ध पाठों के सम्पादन और भाष्य आदि में जुटे हैं। उन्होंने अपनी भूमिकाएँ और समीक्षा आदि अंग्रेज़ी के बजाय संस्कृत में ही प्रस्तुत की हैं। इस प्रकार इन ग्रंथों का उपयोग करने का क्षेत्र विस्तृत होता गया है। जयपुर के मधुसूदन शर्मा जैसे पंडितों ने संस्कृत में इन्द्र, चातुर्वर्ण्य, अत्रि और यज्ञ[4] जैसे विषयों पर शोधपरक निबंध प्रस्तुत किये हैं।

सामाजिक और दार्शनिक निबंध

जिस काल-खंड का हम पर्यवलोकन कर रहे हैं, वह सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक क्षेत्रों में नये आन्दोलन का काल था। भारतीय जनता ज्यों-ज्यों पाश्चात्य जीवन-पद्धति को अधिकाधिक अपनाने लगी, समुद्र-पार की विदेश-यात्राएँ ज्यों-ज्यों अधिक सामान्य बनती गईं, हिन्दू रूढ़ियों और रीतियों पर एक ओर पश्चिम के लोग और भारतीय सुधारक ज्यों-ज्यों आलोचना करने लगे (उदाहरणार्थ बाल-विवाह, वैधव्य, जाति-भेद, छुआछूत आदि पर), त्यों-त्यों सनातनी हिन्दू रूढ़

१. १९३३, हिट्टिडगूरू और मद्रास।

२. पालघाट, १९२७।

३. लुधियाना, १९५१।

४. इंद्रविजय १९३०; चातुर्वर्ण्य शिक्षा १९२७; अत्रिख्याति १९३६; यज्ञसरस्वत १९४६; महर्षिकुल वैभव, १९५६।

पद्धतियों से चिपटने लगा। आरम्भ में पंडितों ने सुधारकों के आन्दोलन का बड़े साहसपूर्वक सामना किया और समुद्र-यात्रा, ऋतु-प्राप्ति के पश्चात् विवाह और विधवा-पुनर्विवाह आदि[1] के विरोध में बहुत लेख लिखे। सामाजिक-धार्मिक क्षेत्र में आर्यसमाज का आन्दोलन था, जो वैदिक धर्म की सच्ची शुद्धि की ओर समाज को पीछे बुलाना चाहता था। उसने संस्कृत के अध्ययन में बड़ी सहायता दी, और उसके विस्तार के लिए बहुत-से पाठ्य-ग्रंथ तैयार किये। पंडितों ने जो सैद्धान्तिक साहित्य रचा, उसमें दयानन्द सरस्वती के विचारों की समीक्षा भी सम्मिलित है। सनातनियों की ओर से स्वतंत्रता-पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर काल में भी सामाजिक-धार्मिक क्षेत्र में क़ानूनी हस्तक्षेप का विरोध बराबर चलता रहा। ऐसी संस्कृत-पत्रिकाओं में, जिनका सम्पादन रूढ़िवादी सम्पादकों के हाथों में था, सुधारों का विरोध प्रकाशित होता रहा। इसका उदाहरण १९५१ के स० र० शिवनाथ उपाध्याय का एक छोटा-सा नाटक है, जिसमें दो स्त्रियाँ हिन्दू कोड बिल पर वाद-विवाद करती हैं और यह सिद्ध करती हैं कि इस प्रकार से भारत के प्रत्येक घर में एक पाकिस्तान पैदा हो जायगा। कुछ संस्कृतज्ञ ऐसे भी थे जो सुधारों का स्वागत करते थे। इस युग में समाज-विज्ञान या धर्मशास्त्र के क्षेत्र में दो उल्लेखनीय ग्रंथ प्रकाशित हुए: डॉ० भगवानदास का 'मानवधर्मसार' और जोधपुर के म० म० विश्वेश्वरनाथ रेऊ का 'आर्य-विधान या विश्वेश्वर-स्मृति'। प्रथम ग्रंथ में, जिसके कि लम्बे और छोटे दो संस्करण हैं, और जो देश-भक्ति तथा सांस्कृतिक परंपरा के प्रति अगाध प्रेम से भरे अनुष्टुप् छन्दों में लिखा गया है, लेखक ने अपने व्यापक ज्ञान के आधार पर भारतीय इतिहास, विभिन्न दार्शनिक विचार-धाराओं

---

१. उदाहरणार्थ 'अब्धि-नौ-यान-मीमांसा', काशी, शेष वेंकटाचल शास्त्री, बम्बई, १९०३; दुर्वृत्तधिकृति, सं० चं० अप्पा शास्त्री, १९०७; 'विवाह-समय-मीमांसा-अब्धियान विमर्शौ', एन० एस० अनन्तकृष्ण शास्त्री, १९१३; 'बाल-विवाह-हानि-प्रकाश', रामस्वरूप, इटावा, १९२२; 'ऋतुमती-विवाह-विधि-निषेध प्रमाणानि', मद्रास, १९१२; 'परिणय मीमांसा', के० जी० नटेश शास्त्री, श्रीरंगम् १९१३; 'वयोनिर्णय', पी० गजपति शास्त्री, कुम्भकोण्म, १९१०। संस्कृत परिषद्, श्रीनगर के पत्र 'श्री' में स्वीकृति के युग, मंदिर-प्रवेश आदि पर धारावाहिक लेख निकले। कुछ उदारमतवादी पण्डित भी थे, जो सुधारकों के साथ चलते थे, उदाहरणार्थ काशीचंद्र ने 'उद्धारक चंद्रिका' लिखी, जिसमें समुद्र-यात्रा से लौटे हुए व्यक्तियों को धन के घेरे में ले लेने की बात थी (आर० के० मिशन इंस्टीट्यूट आफ़ कल्चर का बुलेटिन, जून १९५६, पृ० १३२)।

और ऐहिक तथा पारलौकिक हिन्दू दृष्टिकोण का पूरा विश्लेषण करके जाति, स्त्री, मंदिर इत्यादि के विषय में शास्त्राज्ञाओं का सच्चा अर्थ प्रस्तुत किया है। उन्होंने हिन्दू धर्म की अन्य धर्मों से तुलना करके हिन्दू राज्यों के उत्थान-पतन की मीमांसा की है और यह दिखलाया है कि इस संस्कृति का एक दोष 'संघ-शक्ति' का अभाव है। विश्वेश्वरनाथ रेऊ के एक इतने ही बड़े ग्रंथ 'आधुनिक-स्मृति' में नवीन वैज्ञानिक भूगोल और इतिहास, आधुनिक स्वच्छता-शास्त्र, संतति-निरोध आदि को अपनाया गया है।

बौद्ध और जैन धर्मों से हिन्दुत्व की रक्षा करने के लिए संस्कृत के दार्शनिकों ने विरोधी मतवादों के आध्यात्मिक तर्कों का पूरा अध्ययन किया और अपनी रचनाओं के द्वारा एक अविच्छिन्न दार्शनिक परम्परा निरन्तर बनाये रखी। बाद में, दुर्भाग्यवश पण्डित लोग आपसी लड़ाई में शक्ति का अपव्यय करने लगे: उदाहरणार्थ, अद्वैतवादी द्वैतवादियों से, भौतिकवादी अध्यात्मवादियों से, एकेश्वरवादी अनेकेश्वरवादियों से, आस्तिक नास्तिकों से, और आस्तिकों में भी विभिन्न दल आपस में खूब लड़ने लगे। जबकि आरम्भिक संस्कृतज्ञ अपने विरोधियों को भी अपनी भाषा, साहित्य और मत-धारा की जानकारी कराने को बाध्य करते थे और अपनी रचनाओं के पृष्ठों में ही वाद-विवाद करते थे, बाद के पंडित यह कार्य पूरी तरह से सिद्ध नहीं कर सके, जबकि हिन्दुत्व को पहले इस्लाम से और बाद में ईसाइयत से चुनौती[1] मिली; इसलिए इस दिशा में कोई साहित्य विकसित नहीं हुआ। इस दृष्टि से भारतीय दार्शनिक साहित्य समय की माँग के साथ-साथ आगे नहीं बढ़ पाया। यह भी एक कारण था कि ज्यों-ज्यों सामाजिक परिवर्तन होते जा रहे थे, संस्कृत का पंडित उनके साथ निहत्था लड़ता रहा, और इसका परिणाम यह हुआ कि वह धीरे-धीरे उस युद्ध में पराजित होता गया। इसी प्रकार पश्चिम की विचार-धारा का सामना न करके, वहाँ के इतिहास और विकासवाद के सिद्धान्तों को न मानकर, पण्डित सम्प्रदाय अपना ही नुकसान कर

---

१. एकाध अपवाद इधर-उधर नजर आता है; जैसे: 'खिृष्ट-धर्म-कौमुदी-समालोचना', लेखक: व्रजलाल मुखोपाध्याय (कलकत्ता, १९०४) जो कि डॉ० बैलेण्टाइन के ईसाई दृष्टिकोण से हिन्दुत्व की आलोचना का खण्डन था; 'शास्त्र-तत्त्व-विनिर्णय', (उज्जैन, १९५१) जिसकी रचना पंडित नीलकंठ शास्त्री गोरे ने ईसाई धर्म अपनाने से पूर्व की थी और जो जान म्यूर की हिन्दू धर्म-विरोधी 'माता परीक्षा' का उत्तर था।

रहा था। कभी वह वैदिक या अन्य ग्रन्थों के ग़लत अर्थों का उत्तर देता, कभी विदेशी पश्चिमी प्राच्यविद्याविदों के द्वारा संस्कृत-साहित्य के सम्बन्ध में फैलाई गई मिथ्या धारणाओं से जूझता। हिन्दू धर्म के भीतर भी, जो नई धार्मिक और दार्शनिक मतावलियाँ चल पड़ी थीं, उनकी ओर संस्कृत साहित्य ने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया, क्योंकि विरोधियों द्वारा विचार-मंथन या साहित्य-सृजन पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता। आर्यसमाज के विरोध में कुछ फुटकर आलोचनाएँ हैं, जिनका उल्लेख पहले आ चुका है। मद्रास के साधु-धर्म-मंडल ने २४ अध्याय वाली नई गीता के विरोध में एक संस्कृत-पुस्तिका छापी है। उसका नाम है 'नूतन गीता वैचित्र्यविलास'; और लेखक हैं 'भगवद्गीता दास' (मद्रास, १९१७)।

क्या इस काल में कुछ ऐसी भी धाराएँ थीं जिनपर रूढ़िवादी पण्डितों ने अपने दार्शनिक मतवादों को प्रतिपादित किया? हाँ, कुछ पण्डितों और विद्वानों ने साहसपूर्वक अपना जो मौलिक दृष्टिकोण व्यक्त किया वह उल्लेखनीय है। तिरुविशानल्लूर के रामसुब्बाशास्त्री नामक पण्डित ने, जो कि अपनी मौलिक टीकाओं के लिए प्रसिद्ध थे, अपनी मौलिक व्याख्याएँ लिखीं। कभी-कभी वे अपने विचारों को बड़ी विचित्र स्थिति में ले जाते, जैसा कि ब्रह्मसूत्र और शांकरभाष्य में अद्वैत को ह्रस्व बनाने के यत्न में उन्होंने किया है।[1] इधर हाल में बैंगलोर के वाई० सुब्बाराव ने अद्वैत में अविद्या के नये दृष्टिकोण को स्पष्ट करना आरम्भ किया है, और शंकर को अद्वैतानुयायियों से और बाद में यह दर्शन जिस प्रकार का निरा तर्क-जाल बन गया, उससे उबारने का यत्न किया है। इसके लिए उन्होंने 'मूलविद्यानिरास' (बैंग्लोर, १९२९) लिखा, जिसमें एक विधायक कारण—चैतन्य की सम्भावना का खण्डन है; और बाद में जब सच्चिदानन्द सरस्वती के नाम से उन्होंने संन्यास ले लिया, तब उसके आगे शंकर के अध्यास-भाष्य पर 'सुगम' नाम से एक नई टीका लिखी (होले नरसीपुर, १९५५)। के० वेंकटरत्नम् पन्तुलु ने अपनी 'मार्गदायिनी' नामक कृति में 'अक्षरसांख्य' नाम से एक नया दर्शन स्थापित किया। गत शताब्दी के अन्त में अप्पाचार्य (मृत्यु १९०१) ने सांख्य-योग-समुच्चय या अनुभवाद्वैत नामक एक नया सर्वधर्म सार स्थापित

---

१. गौरीनाथ शास्त्री ने अपने 'शांकरभाष्यगांभीर्य निर्णय-खण्डन' (वाणीविलास प्रेस) में इस शंकर-मीमांसा की आलोचना की है और उस मत का समर्थन वेंकटराघव शास्त्री ने अपने 'भाष्य-गांभीर्य निर्णय-मण्डन' (१९१३) में किया है।

किया था और अपने विचारों के स्पष्टीकरणार्थ कई ग्रंथ भी लिखे थे।[1]

साहिष्णुता की भावना

संस्कृत-परम्परा का एक भाग है, सहिष्णुता की भावना। जहाँ संस्कृत ने अपने तर्क और न्याय के ग्रन्थों द्वारा विभिन्न मतों के विचारों के विकास में सहायता की, वहाँ वह इस मूल सत्य पर विशेष ध्यान देने से कभी भी नहीं चूकी कि विभिन्न पन्थों का ध्येय एक ही है। यह उच्चतम विवेक आधुनिक भारतीय विचार-धारा में विशेष अर्थ और महत्त्व पाने लगा है; और इस युग में जिन्होंने संस्कृत-भाष्य लिखे हैं उन पंडितों में यह भावना भी दिखाई देती है। यह विशेष सन्तोष की बात है। हम यहाँ कम से कम दो ऐसे ग्रन्थों का उल्लेख करना चाहते हैं जिनमें यह भावना विशेष रूप से दिखाई देती है। पोल्लाहम राम शास्त्री ने 'चतुर्मत सामरस्य' (कुम्भकोणम्, १६४४) लिखा, जिसमें वेदान्त की चार शाखाओं में समानता देखी गई थी। इसी ढंग का एक और महत्त्वपूर्ण संस्कृत-ग्रंथ म० म० लक्ष्मीपुरम् श्री निवासाचार्य का 'दर्शनोदय' है। यह ग्रन्थ केवल इसी उद्देश्य से लिखा गया था कि संप्रदायवाद कम हो और परस्पर सामंजस्य बढ़े।

नये आन्दोलनों में, आर्यसमाज का संस्कृत के पुनरुत्थान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस विचारधारा के कारण कई संस्कृत-ग्रन्थ लिखे गए। ऐसे लेखकों में अखिलानन्द शर्मा सबसे अधिक लिखने वाले, प्रतिभाशाली कवि और लेखक हैं।[2] इस विचार-धारा के और नये लेखकों में हरिद्वार के ब्रह्ममुनि परिव्राजक हैं, जिन्होंने वेदान्त सूत्रों पर एक नया भाष्य लिखा है, जिसका नाम है 'वेदान्त दर्शन' (होशियारपुर, १६५४)। इसमें प्राचीन भाष्यकारों की पद्धति की आलोचना है। रामकृष्ण-विवेकानन्द-आन्दोलन ने अभी तक केवल कुछ संस्कृत के स्तोत्र[3] निर्मित किये हैं। यद्यपि जैसा कि हम आगे बताएंगे, इस आन्दोलन के दोनों संस्थापक कई साहित्यिक कृतियों के विषय बने हैं।[4] रमण महर्षि और अरविन्द के आश्रमों में संस्कृत की कई प्रसिद्ध रचनाएँ लिखी गईं। काव्यकंठम् गणपति

१. देखिये 'नया कैटेलोग्स कैटेलागोरम', मद्रास विश्वविद्यालय, १, पृ० १६४५।

२. देखिये 'नया कैटेलोग्स कैटेलागोरम', पृ० १५-१६—उनकी कृतियों के लिए।

३. देखिए 'रामकृष्णसहस्रनामस्तोत्र'—एम० रामकृष्ण भट्ट, बैंगलोर, १६५०।

४. विवेकानन्द का 'संन्यासी का गीत' संस्कृत में नित्यानन्द भारती ने अनूदित किया।

शास्त्री, जो बाद में वसिष्ठ मुनि कहलाए, बहुत अच्छे कवि थे। वे रमण के शिष्य हुए और उन्होंने 'रमण गीता' लिखी। 'सद्-दर्शन' में रमण के अद्वैत का सुन्दर छन्दोबद्ध वर्णन उन्होंने किया है। इस पर उनके शिष्य टी० वी० कपालि शास्त्री ने टीका लिखी है। वी० जगदीश्वर शास्त्री ने रमण पर काव्य लिखा, जिसका नाम 'रमण-स्तोत्र' (तिरुअण्णामलै) है। कपालि शास्त्री बाद में पांडिचेरी आश्रम में गए और वहाँ के प्रमुख संस्कृतज्ञ बने। पांडिचेरी से शास्त्री ने 'साधना-साम्राज्य' (१९५२) नामक अरविन्द की योग-साधना के महत्त्व पर पच्चीस छन्द लिखे, और 'आह्निक स्तव' (१९५४) नामक प्रार्थना-संग्रह लिखा। उनका बृहत्तर ग्रन्थ है, ऋग्वेद संहिता पर अरविन्द भाष्य के अनुसार लिखी 'सिद्धांजना' टीका।[1] परम्परित सूत्र शैली में, उसी आश्रम के अम्बालाल पुराणी ने अरविन्द योग को अपने 'पूर्णयोग सूत्राणि'[2] में सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया।

दूसरे संस्कृत-लेखकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से अन्य दार्शनिक ग्रन्थ लिखे हैं। कुछ सामान्य संस्कृत निबन्ध और पुस्तिकाएँ धार्मिक दार्शनिक विषयों पर मिलती हैं। प्रसिद्ध शोधकर्ता और विद्वान महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा ने 'परमार्थदर्शन भाष्य' लिखा, जिसमें भारतीय दर्शन के छः परम्परागत सम्प्रदायों के अतिरिक्त, एक सातवें 'दर्शन' का निरूपण किया गया था। दर्शन के विश्व-विद्यालयीन प्रोफ़ेसरों में अमरावती के ज्वालाप्रसाद ने अपने 'तत्त्व दर्शन'[3] में नई विचार-धारा व्यक्त की है, जो सूत्र शैली में रची गई है और विशेष सफल नहीं है। उनका मत है कि भारतीय दर्शन को आधुनिक वैज्ञानिक विचारों के साथ मिलाया जाय। बड़ौदा के एम० ए० उपाध्याय ने, जो गांधीजी के अनुयायी हैं, अपने 'ईश्वर-स्वरूप'[4] में एक ऐसी विचार-पद्धति का विवेचन किया है जो जात-पाँत, छुआछूत और पुनर्जन्म इत्यादि में सन्देह व्यक्त करती है। 'पूर्ण ज्योति' (१९२९) हृषीकेश के स्वामी पूर्णानन्द का सामान्यत: असाम्प्रदायिक दर्शन-ग्रन्थ है, जो आधुनिक ढंग से जाति-पाँति से ऊपर रहकर सबके लिए लागू होता है। इसमें धर्म, वैराग्य, भक्ति, योग इत्यादि की मीमांसा है। यह गद्य और पद्य-मिश्रित

१. पांडिचेरी, दो खंड, १९५०, १९५१।

२. पांडिचेरी, १९५५।

३. मूल और टीका, अमरावती, १९५०।

४. बड़ौदा, १९५१

पुस्तक है। डॉ० सम्पूर्णानन्द उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री और संस्कृत के बड़े ही समर्थक हैं। (इस अवधि में उनका देहान्त हो चुका है।) वे संस्कृत में बोलना और लिखना पसन्द करते हैं। 'चिद्विलास'[1] उनके एक दार्शनिक निबन्ध का सस्कृत रूपान्तर है। उन्होंने अथर्ववेद के व्रत्यखंड पर 'श्रुतिप्तमा' नामक एक टीका भी लिखी है। रामकृष्ण मठ, कालडी के स्वामी अगमानन्द ने हाल में ही धर्म पर[2] एक संस्कृत-प्रबन्ध लिखा है, जिसमें राजनीति और अर्थशास्त्र के प्रसंग में धर्म की मीमांसा की गई है।

कालेजों के पाठ्य-क्रम में यूरोपीय दर्शन का अध्ययन, जिसमें पश्चिमी लेखकों द्वारा लिखित तर्क-शास्त्र, मनोविज्ञान और नीति-शास्त्र आते हैं, कुछ लोगों के मन में यह इच्छा पैदा करने लगा कि संस्कृतज्ञों के क्षेत्रों में भी पश्चिम के इन विषयों का परिचय या ज्ञान कराया जाए। इस प्रकार के साहित्यिक कार्य के परिणाम-स्वरूप विगत शताब्दी के मध्य तक बनारस की 'पंडित पत्रिका' ने वर्कले के 'प्रिंसिपिल्स आफ़ ह्यूमन नालेज'[3] और लॉक के 'ऐसे कन्सर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग'[4] के संस्कृत-अनुवाद छापे, और विट्ठल ने बेकन के 'नोवम आर्गेनम'[5] का संस्कृत अनुवाद किया। डॉ० साम शास्त्री ने म० सं० का० मैं० मैं० (१९२९) में आधुनिक पाश्चात्य तर्क और मनोविज्ञान का वर्णन 'पाश्चात्य प्रमाण-तत्त्व' और 'मानस-तत्त्व' के नाम से किया। इस प्रकार का नवीनतम उदाहरण पाश्चात्य-नीति-शास्त्र[6] पर वृन्दावन के विश्वेश्वर सिद्धांत शिरोमणि द्वारा लिखा हुआ प्रबन्ध है।

आधुनिक विज्ञान

आरम्भिक काल के संस्कृतज्ञों को आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान को अंग्रेजी न जानने वालों तक पहुँचाने की आवश्यकता जान पड़ी थी। इस कार्य में संस्कृत-पत्रिकाओं,

१. बनारस, १९५०

२. कालडी, १९५५

३. 'ज्ञानसिद्धान्तचंद्रिका', पंडित ओ एस, ८, ९, १०

४. विद्वद्वर-लोकमद-विरचित 'मानवीय-ज्ञान-विषयक शास्त्र', पंडित ओ एस १०।

५. बेकनीय सूत्र-व्याख्यान, बनारस, १८५२। इस प्रकार की और रचनाओं के लिए देखें बुलेटिन, आर० के० एम० इंस्टिट्यूट आफ़ कल्चर, जून, १९५६, पृ० १३३-४

६. नीति-शास्त्र (पांडुलिपि में)।

जैसे अप्पा शास्त्री राशिवडेकर की 'संस्कृत-चन्द्रिका', सहृ० इत्यादि ने बड़ा अच्छा कार्य किया। 'विज्ञान-कुसुम' शीर्षक से सं० चं० ने संस्कृत के वैज्ञानिक लेखन (यथा : 'प्राचम् भूगोल विज्ञानम्', 'ज्योतिष् तत्त्वम्' आदि) का ब्योरा दिया है। १८२३ और १८२८ जैसे प्रारम्भिक वर्षों में इलत्तूर रामस्वामी शास्त्री और योग-ध्यान मिश्र ने ज्यामिति पर 'क्षेत्र तत्त्व दीपिका' नामक दो पुस्तकें लिखीं। सहृ० ने लेख छापे, जिनमें कुछ चित्र भी होते थे, और वे भौतिकी, रसायन, खगोल-शास्त्र, प्राणिशास्त्र आदि विज्ञानों पर थे (एन० एस० वा० २ फो०) और उनका शीर्षक था—'पाश्चात्य शास्त्र सार'। अप्पा शास्त्री ने खगोल विद्या पर लिखा। मैसूर के सी० वेंकटरामैया ने 'सनातन भौतिक-विज्ञान' (मैसूर १९३९) नाम से प्राचीन भारतीय लेखकों के वैज्ञानिक ज्ञान का सार प्रस्तुत किया। विट्ठल शास्त्री ने 'पंचभूत-पदार्थ' (बनारस, १८५९) में, हिन्दू शास्त्रों में वर्णित पंचतत्त्वों के रसायन-पक्ष पर लिखा। बैंगलौर और मैसूर से 'अंशुबोधिनीसार' नाम से भौतिकी पर भारद्वाज और अन्य ऋषियों के नाम से कहे जाने वाले भाष्य छपे। वैज्ञानिक विषयों पर लिखते समय 'मानवप्रजापतिम्' नामक १६० छन्दों की कविता का उल्लेख भी आवश्यक है (स० सा० प० प०, फरवरी, १९४७ फो०)।

इस कविता में रवीन्द्रकुमार शर्मा ने विज्ञान की अन्तिम पराजय का वर्णन किया है। एक प्रतिभाशाली तरुण भारतीय जर्मनी में जाता है। विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करके जब वह वापस लौटता है तब एक ऐसी अजीब नारी कारखाने में निर्मित करना चाहता है जो उसकी आशाओं की पूर्ति करे। इस कार्य में वह कदम-कदम आगे बढ़ता है, अन्त में जब वह उसमें प्राण फूँकता है तो सहसा वह अत्यन्त दुखी हो जाता है। 'संस्कृतम्' नामक साप्ताहिक के (२०-३-५६ और १७-४-५६ के) अंकों में, वंशगोपाल शास्त्री (राजपूताना) ने दो वैज्ञानिक लघु-कथाएँ लिखी हैं, जो बहुत सुन्दर शैली में हैं। उनके नाम हैं—'चेतनम् क्व अस्ति' और 'शुक्रलोकयात्रा'। इनमें से पहली कहानी में जीवन के गुह्य रहस्य का आविष्कार पाने में विज्ञान की पराजय वर्णित है। विद्याधर शास्त्री ने 'डूँगर कालेज पत्रिका' में, महाराज परीक्षित और कलियुग पर एक छोटा-सा प्रहसन लिखा कि शुकदेव और महाराज परीक्षित की उपस्थिति के कारण जब कलियुग इस संसार में अवतरित न हो सका तो उसने अपने विजय-अभियान के लिए आधुनिक विज्ञान और राजनीति की सहायता ली। गणित एवं फलित ज्योतिष और आयुर्वेद पर

अनेक ग्रंथ संस्कृत में प्रकाशित हो रहे हैं। कविराज गणनाथ सेन से शरीर-रचना पर 'प्रत्यक्ष शरीर' (कलकत्ता, १९१९) और रोग-निदान पर 'सिद्धान्त-निदान' (१९२२), तथा भूदेव मुखर्जी ने हिन्दू रसायन पर 'रस-जलनिधि' (१९२६) की रचना की। मलाबार और तमिलनाड के आयुर्वेद-विशारदों ने भी इस प्रकार के ग्रंथ लिखे हैं, यथा: पी० एस० वारियर; कीटाणु-सिद्धांत पर वी० एन० नायर कृत 'अनुग्रह-मीमांसा' (कालीकट, १९३८); तमिल की आयुर्वेद-शैली पर तिरुचि के नटराज शास्त्री-लिखित संस्कृत-ग्रंथ 'सिद्ध वैद्य'; स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य पर सर्वश्री के० एस० म्हसकर तथा एन० एस० वात्वे कृत 'स्वास्थ्य वृत्त' (बम्बई, १९५४), तथा आयुर्वेद की समूची पृष्ठभूमि पर पूना के सी० जी० काशीकर विरचित 'आयुर्वेद पदार्थ-विज्ञान' (१९५३)। अर्थशास्त्र, वाणिज्य, कृषि और पशु-पालन आदि विषयों पर पी० ए० सुब्बाराम पत्तर ने अपनी छोटी-सी पुस्तक 'वर्त' (त्रिचूर, १९५४) में लिखा। पुरातत्त्व के क्षेत्र में, केदारनाथ शास्त्री ने 'सिन्धु सभ्यता' पर एक ग्रंथ लिखा। पं० कुलभूषण ने भी इस विषय पर संस्कृत साहित्य परिषद्, श्रीनगर के मुखपत्र 'श्री' (खंड ६, अंक ३-४) में एक निबंध प्रकाशित किया है।

संस्कृत-पत्रिकाएँ

संस्कृतज्ञों को प्रथम उत्साह ने जब ऊर्जित किया, उस समय संस्कृत में पत्र-पत्रिकाएँ आरम्भ करने की आवश्यकता उन्हें जान पड़ी। संस्कृत-पत्रिकाओं का उल्लेख बहुत ही मनोरंजक और नवीन बातों का पता देने वाला है। उस समय न केवल अगणित पत्र-पत्रिकाएँ चलीं, बल्कि उनमें ऐसी विविध सामग्री मिलती है कि संस्कृत में नवचेतना फूँकने का महत्त्वपूर्ण कार्य इन पत्रिकाओं ने किया: ऐसा भी कहा जा सकता है। बनारस के 'पण्डित' के बाद इस दिशा में अग्रगामित्व का श्रेय 'संस्कृत चन्द्रिका' और कोल्हापुर की 'सुनृतवादिनी' (प्रारम्भ में साप्ताहिक) को दिया जा सकता है, जिनके साथी अप्पाशास्त्री राशिवडेकर का सक्रिय सम्बन्ध था। बनारस से निकलने वाली पत्रिकाओं में, जिनमें से कई अब अस्तंगत हो चुकी हैं, 'मित्रगोष्ठी', 'वल्लरी', 'सूर्योदय' (भारत धर्म महामण्डल का मुखपत्र) और 'सुप्रभातम्' (काशी विद्वान् मण्डल का पत्र), संस्कृत रत्नाकर' (संस्कृत साहित्य सम्मेलन का पत्र) और 'पण्डित पत्रिका' (अखिल भार-

तीय पण्डित परिषद् का पत्र) का भी उल्लेख आवश्यक है। 'सूक्ति-सुधा' और "विद्या रत्नाकर' नामक दो और पत्र भी बनारस से प्रकाशित हुए। हृषिकेश भट्टाचार्य ने लाहौर से 'विद्योदय' आरम्भ किया; आर्यसमाज ने 'आर्य-सिद्धान्त' (इलाहाबाद) शुरू किया, और ब्रह्मसमाज ने 'श्रुतप्रकाशिका' (कलकत्ता) प्रकाशित की। दक्षिण भारत में जो पत्र-पत्रिकाएँ चलीं, उनमें सर्वोच्च सम्माननीय स्थान 'सहृदय' (श्रीरंगम्) को देना चाहिए, जिसने बड़ा उच्च स्तर क़ायम रखा, और जिसके साथ दो बड़े लेखक सम्पादन में सम्मिलित थे—आर० कृष्णमाचारियर और आर० वी० कृष्णमाचारियर। उस पत्रिका का स्थान तिरुवायरु से निकलने वाली 'उद्यान पत्रिका' ने ले लिया, जिसके सम्पादक डी० टी० तात्ताचार्य थे। 'मंजुभाषिणी' कांचीपुरम् से निकलती थी, 'ब्रह्मविद्या' चिदम्बरम् से और 'विचक्षण' श्रीपेरुम्बटूर से। रामकृष्ण भट्ट बंगलौर से 'अमृतवाणी' निकालते थे, जो अब बन्द हो गई है। पर उत्तर कर्नाटक से जो 'मधुर वाणी' निकलती थी, वह अभी चल रही है और उसका स्तर भी अच्छा है। विविध प्रदेशों से संस्कृत-पत्रिकाएँ ऐसी निकलती थीं कि जिनमें प्रादेशिक भाषाओं के परिशिष्ट रहते थे, यथा : संस्कृत-कन्नड़ में 'काव्य-कल्पद्रुम' (१८९७) बंगलौर से, 'द्विभाषिका' बंगाल से, 'भारतदिवाकर' गुजरात से, 'मिथिला मोद' बिहार से, 'बहुश्रुत' वर्धा से। कुछ पत्रिकाएँ अंग्रेज़ी और संस्कृत-मिश्रित थीं, जैसे 'लोकानांदीपिका' मद्रास से, 'संस्कृत जरनल' पुदुकोट्टा से और 'सस्कृत भारती' बर्दवान से। क० मा० मुंशी की संस्कृत-विश्व-परिषद् से जो पत्रिका निकलती है, उसमें अंग्रेज़ी और संस्कृत की सामग्री होती है। अगणित कालेजों की पत्रिकाओं में, जो कि अनेक भाषाओं में साहित्यिक सामग्रीयुक्त होती हैं, कई मौलिक संस्कृत-रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। जिन पत्रिकाओं की अखण्ड प्रकाशन-परम्परा रही है, उनमें 'संस्कृत साहित्य परिषद् पत्रिका' कलकत्ता का उल्लेख आवश्यक है। वहाँ से के० सी० चटर्जी 'मंजूषा' चलाते थे। विविध केन्द्रों में संस्कृत कालेजों से संस्कृत-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं : पट्टाभि संस्कृत कालेज ने। 'विज्ञान-चिन्तामणि' चलाया, जिसे पुन्नासेरी नीलकंठ शर्मा सम्पादित करते थे। त्रिवेन्द्रम् के महाराजा संस्कृत कालेज से कुछ समय तक 'श्री-चित्र' प्रकाशित होता रहा, और मैसूर से अभी भी एक पत्रिका निकलती है। सरस्वती भवन, काशी और बनारस संस्कृत कालेज एक उच्च कोटि की पत्रिका 'सरस्वती सुषमा' नाम से प्रकाशित

करते हैं। सुदूर हैदराबाद (सिन्ध) से 'कौमुदी' छपता था। बिहार संस्कृत अकादेमी 'संस्कृत सजीवनम्' प्रकाशित करती थी। 'संस्कृत' (साप्ताहिक) और 'संस्कृत साकेत' अयोध्या से निकलते हैं। जयपुर से निकलने वाले 'संस्कृत रत्नाकर' के स्थान पर अब 'भारती' निकलती है। शिमला से 'दिव्य ज्योतिष' नामक एक नये पत्र का प्रकाशन हुआ है। दरभंगा से 'सुर-भारती' प्रकाशित होता है। संस्कृत विद्वत् सभा, बड़ौदा 'सरस्वती सौरभ' का प्रकाशन करती है। संस्कृत साहित्य परिषद्, श्रीनगर पिछले कुछ वर्षों से एक त्रैमासिक पत्रिका 'श्री' निकाल रही है, जिसमें मुख्यतः निबंध रहते हैं। साप्ताहिक 'संस्कृत भवितव्यम्' का विशेष उल्लेख करना चाहिए; यह संस्कृत प्रचारिणी सभा, नागपुर का मुखपत्र है। इसमें जो सामग्री प्रकाशित होती है वह उत्तम होती है, और जिस शैली का उपयोग होता है वह भी उत्तम है। कुछ और पत्र-पत्रिकाएँ, जो अब बन्द हो गई हैं, निम्न हैं—'प्रत्न काम्र-नंदिनी', 'विद्वत्कला', 'संस्कृत भारती', 'संस्कृतमहामंडल' और 'संस्कृत पद्यवाणी' (कलकत्ता), 'संस्कृत भास्कर' (मथुरा), 'संस्कृत कादंबरी', 'विद्योदय' (भरतपुर), 'अमृत भारती' (कोचीन), 'अमर भारती' (बनारस), 'अच्युत' (बनारस), 'शारदा' (इलाहाबाद), 'वेंकटेश्वर पत्रिका' (मद्रास), 'उषा' और 'आर्यप्रभा'। 'संस्कृत रत्नाकर' (जयपुर) के १९१४ के एक अंक में संस्कृत-पत्रों के बीच एक मनोरंजक नाटकीय संवाद है: 'रत्नाकर', 'विज्ञान चिन्तामणि', 'मंजु-भाषिणी', 'सहृदय', 'उषा', 'शारदा', 'आर्यप्रभा' और 'विद्योदय' को पात्र बनाकर एक जगह पर मिलाया गया है और उनसे आपस में वार्तालाप कराया है।

इन पत्रिकाओं में छोटी कविताएँ, छोटी कहानियाँ तथा धारावाहिक कहानियाँ और उपन्यास तो प्रकाशित किए ही गए हैं, साथ ही निबंधों और संपादकीय टिप्पणियों में समकालीन घटनाओं, सामाजिक प्रश्नों, नये सुधारों और परिवर्तनों पर भी लिखा गया है। इन सब विषयों पर सरल गद्य में चर्चा की गई है। उनमें विषय पर अधिक बल है। इन पधिकाओं से इन विषयों का अधिक स्पष्टीकरण हो सका है और उनकी चर्चा आगे बढ़ी है। संस्कृत पत्रिकाओं में कैसे-कैसे विषयों पर चर्चा की गई थी, उसका कुछ अनुमान इन नमूनों से किया जा सकता है: जर्मनी में शिक्षा, रिक्शा और रिक्शेवाले की दयनीय स्थिति में सुधार, भारत में पशु-धन की वृद्धि, संततिनिरोध, भावी अकाल का

ख़तरा, किसान का भाग्य, अब कैसी शिक्षा की आवश्यकता है, परीक्षा-पद्धति के दोष, भारतवासी और यूरोपीय महायुद्ध, अणु-शक्ति के शांतिपूर्ण उपयोग, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता, हिन्दू-क़ानून में सुधार। उनमें छोटे-छोटे समाचार, चुटकुले और स्फुट चर्चा भी होती है। संस्कृत के विकास के विषय में जो प्रश्न हैं उनके बारे में भी बहुत-सा स्थान इन पत्रों में दिया जाता है। इनमें से कुछ ऐसे भी विषय हैं जिनके बारे में अब बहुत बार कहा और लिखा जाता है—यथा : संस्कृत राष्ट्रभाषा, संस्कृत का सरलीकरण, संस्कृत शिक्षा की पद्धतियां, संस्कृत की महत्ता, संस्कृत की वर्तमान दुर्दशा, संस्कृत विश्वविद्यालय इत्यादि। द्राविड़ आन्दोलन और ईसाई प्रचार की भी चर्चा रहती है। एक सामान्य भाषा में विभूतियों के बारे में लिखकर और प्रादेशिक भाषाओं में महत्त्वपूर्ण देन देकर, इन पत्रिकाओं ने अंतर्-प्रदेश-मैत्री-वर्धन में और देश के ऐक्य-स्थापन में बड़ा योगदान किया है।

निबंध

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों के साथ-साथ, साहित्य-रूप के नाते निबंध भी अलग से विकसित हुआ। विभिन्न स्कूलों और कालिजों की कक्षाओं के लिए नये गद्य-ग्रंथों की आवश्यकता ने इस साहित्य-रूप को आगे बढ़ाया। जिन्होंने ऐसे निबन्ध-संग्रह लिखे हैं, उनमें श्री हंसराज अग्रवाल और श्रुतिकान्त शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। 'संस्कृत-प्रबन्ध-प्रदीप' (लुधियाना, १९५५) में श्री अग्रवाल ने ऐसे आधुनिक विषयों पर निबंध दिये हैं, जैसे हाल के वैज्ञानिक आविष्कार, कश्मीर का प्रश्न, अन्न-स्थिति, स्वतन्त्रता के चार वर्ष, संसार के प्रमुख देशों के संविधान, संस्कृत का भविष्य, हिन्दू कोड बिल, भारत का भविष्य और संस्कृत शिक्षा की पद्धति। श्री शर्मा ने अपनी पुस्तक लघु निबन्ध मणि-माला (लुधियाना, १९५५) में कुछ हल्के-फुल्के विषयों पर भी निबंध लिखे हैं, जैसे : हुक्का, घोड़े और साइकिल में वार्तालाप, फुटबाल-मैच, तीसरे दर्जे में रेल-यात्रा, धर्म-निरपेक्ष राज्य, संयुक्तराष्ट्र, चुनाव और मित्रता, वाक्पटु, निष्प्रयोजन घूमने का आनन्द, पिकनिक, शौक़, क्रीड़ा-वृत्ति इत्यादि। 'प्रबंध-पारिजात' नये-पुराने विषयों पर स्फुट लेखकों द्वारा लिखे गए निबंधों का संग्रह है। इसका प्रकाशन हाल में ही (१९५८) चामराजेन्द्र संस्कृत कालेज, बैंगलोर ने किया है, इसके निबंधों में

पंचशील, बृहत्तर मैसूर, संतति-निरोध, संयुक्तराष्ट्र, रानी लक्ष्मीबाई, तिलक, गांधी जैसे आधुनिक विषयों पर निबंध संगृहीत हैं। 'गल्पकुसुमांजलि' ऐतिहासिक विषयों पर ऐसा ही एक और निबंध-संग्रह है।

पत्र-साहित्य का विकास विशेष नहीं हुआ है, यद्यपि यहाँ भी अप्पा शास्त्री ही अगुआ थे, जैसा कि उनके कुछ प्रकाशित पत्र सिद्ध करते हैं।

यात्रा-वर्णन

प्राचीन संस्कृत-साहित्य में विशेषकर तीर्थ-यात्रा के रूप में, यात्राओं का उल्लेख है। आधुनिक काल में भी, इस प्रकार की कुछ रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री का 'सेतु-यात्रा वर्णन' यद्यपि परम्परित शैली में लिखा गया है, फिर भी उसमें हिन्दू आदर्शों का वर्णन है तथा कई समकालीन विषयों और सामाजिक कुरीतियों का भी उल्लेख है। 'त्रिविल्वदलचम्पू'[1] मदुरै के एक वकील वी० एस० रामस्वामी शास्त्री की रचना है। उन्होंने अपने अखिल भारत-भ्रमण और तीर्थ-यात्रा का वृत्तांत इसमें दिया है। इसमें केवल पवित्र तीर्थ-स्थानों का ही वर्णन नहीं, बल्कि आधुनिक मनुष्य का ध्यान आकर्षित करने वाले विश्वविद्यालयों, सार्वजनिक भवनों और प्राचीन ऐतिहासिक स्थलों का भी वर्णन है। सखाराम शास्त्री ने कोंकण[2] में अपनी यात्राओं का वर्णन १९२४ में लिखा। 'श्री' नामक पत्र में अमरनाथ (खंड ५, अंक ४) और गाँवों-देहातों की यात्रा के विवरण प्रकाशित हुए और 'सरस्वती-यात्रा' नाम से धारावाहिक रूप में प्रकाशित विवरण में ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व के स्थानों पर प्रकाश डाला गया। इसी पत्रिका के खंड १०, अंक ३, ४ में 'शिमला-वर्णन' भी प्रकाशित हुआ। एस० पी० भट्टाचार्य की 'उत्तराखण्ड-यात्रा'[3] में हिमालय के तीर्थों का वर्णन है। डॉ० बी० छ० छाबरा के 'न्यगतराजन-पदशोभा'[4] में हालैंड का वर्णन है, जहाँ उन्होंने कुछ समय बिताया था। डॉ० कुञ्जन् राजा, जो तेहरान में संस्कृत के प्रोफ़ेसर थे, एक कविता में पर्सिपोलीस का वर्णन देते हैं

१. मदुरा, १९३७।
२. 'ओरिएंटल लिटरेरी डाइजेस्ट', पूना, खण्ड दो; पृ० १६५ देखें।
३. कलकत्ता, १९४८।
४. अ० व० बंगलौर १९५३।

('अडयार लाइब्रेरी बुलेटिन', दिसम्बर १९५३)। इधर एम० रामकृष्ण भट्ट ने, जो कि बंगलौर से 'अमृत-वाणी' नामक संस्कृत-पत्रिका का संपादन करते थे और जो कुछ समय के लिए पूर्व अफ़्रीका गए थे, उस देश के बारे में लिखा है। उन्होंने वहाँ के अपने अनुभव 'संस्कृत भवितव्यम्'[1] में प्रकाशित एक लम्बे पत्र में दिये हैं।

साहित्य-समीक्षा

अलंकार-शास्त्र के रूप में संस्कृत में साहित्य-समीक्षा का व्यापक विकास हुआ। अंग्रेज़ी शिक्षा के बाद, विदेशी आलोचना के नियम लगाये जाने लगे, कवि के चरित्र-चित्रण, शैली और संदेश-व्यंजना आदि का विचार अधिक होने लगा। तब संस्कृत में भी यह आवश्यकता अनुभव हुई कि पश्चिमी साहित्य में प्रचलित ढंग की लंबी समालोचनात्मक निबंध-रचना की जाय। संस्कृत की पत्र-पत्रिकाओं में इस प्रकार के कई लेख प्रकाशित किये गए, परन्तु इस प्रकार की पुस्तकें प्रकाशित करने का प्रथम श्रेय श्री आर० कृष्णमाचार्य को दिया जा सकता है, जो 'सहृदय' का संपादन करते थे। उन्होंने 'रघुवंशविमर्श'[2] और 'मेघ-संदेशविमर्श'[3] नाम से दो पुस्तकें लिखीं। तिरुचिरापल्ली के ए० वी० गोपालाचार्य ने इस प्रकार के साहित्यिक टीका-लेखन में विशेषता प्राप्त की। उनकी इस प्रकार की रचनाओं में एक है, 'संदेशद्वय-सरस्वादिनी'—जिसमें मेघ-संदेश और हंस-संदेश की तुलनात्मक समीक्षा है। मद्रास संस्कृत अकादेमी विगत तीस वर्षों से संस्कृत-कवि-दिवस मनाने के अतिरिक्त संस्कृत-कवियों और नाटककारों की रचनाएँ पढ़ने और उनकी आलोचनात्मक समीक्षाएँ करने को प्रोत्साहन देती रही है।[4]

लघुकथा

संस्कृत में जो नये परिवर्तन आ रहे थे, वे सर्वाधिक छोटी कहानी में दृष्टि-

---

१. श्री भट्ट ने उक्त पत्रिका (२६-६-१९५६) में अफ़्रीका की एक कथा भी संस्कृत में प्रकाशित की है।

२. काव्यगुणादर्श सीरीज, श्रीरंगम्, १९०८, १९१५।

३. इस प्रकार के कई निबंध 'जर्नल आफ़ ओरिएंटल रिसर्च', मद्रास में प्रकाशित हुए हैं।

४. नागपुर-प्रतियोगिता की कहानियों में से आठ का प्रकाशन 'संस्कृत भवितव्यम्' के २४-४-१९५४ के विनोदांक में हुआ है।

गत होते हैं। छोटी कहानी संस्कृत के लिए नई नहीं है; परन्तु जिस रूप में वह अब संस्कृत में लिखी जाती है, उस पर पश्चिम का ऋण स्पष्ट है। आधुनिक काल के आरम्भ से, संस्कृत पत्रिकाओं में आधुनिक ढंग की जो कहानियाँ प्रकाशित होती रही हैं, उनकी संख्या अब बढ़ रही है और नागपुर तथा मद्रास में संस्कृत लघु-कथा-स्पर्द्धाएँ भी की गई हैं। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत में ऐसे अगणित लेखक हैं जो इस नये रूप में सम्यक् रचना कर सके हैं।

आधुनिक कहानी की रचना से पहले लेखकों ने अनुभव किया कि संस्कृत के विद्यार्थियों को सरल वर्णनात्मक गद्यांशों को पठनार्थ देना आवश्यक है और इस उद्देश्य से बहुत-सा कहानी-साहित्य निर्मित किया गया। ए० वेंकटराम शास्त्री ने 'गद्य में सौ लोकप्रिय कहानियाँ और लोक-कथाएँ' (मद्रास, १८९८) लिखीं, श्वेतारण्यम नारायण याजवन ने 'गद्य-काव्य' में गद्य-कहानियाँ और दो कल्पना-प्रधान अंश ('सुकुमार वर्मन' और 'महामोद') लिखे और पी० शिवराम शास्त्री ने 'चरित्र रत्नावली'[1] दो भागों में लिखी—जिसके विषय महाकाव्यों-पुराणों आदि से लिये गए। गद्य में एन० नीलकंठ पिल्लई (त्रिवेन्द्रम्, १९३६) का 'विश्वामित्र', वेंकटराम शास्त्री (उ० प्र० तिरुवाय्यूर, १९३४) का 'परशुराम-चरित', पी० वी० काणे[2] की 'संस्कृत गद्यावली'[3], एम० के० तिरुनारायण अय्यंगार (बैंगलोर, १९१०) की गद्य-कहानियाँ, एम० रामकृष्ण भट्ट (बैंगलोर, १९५३) का 'अर्जुन और अन्य वृत्तांत' इसी कोटि के उदाहरण हैं। सरल गद्य में प्राचीन संस्कृत के श्रेष्ठ ग्रंथों को प्रेषित करने का प्रयत्न किया गया। बाण और सुबन्धु की गद्य-कृतियों को संक्षिप्त बनाया गया, उन्हें सरल, छोटी आवृत्तियों में आर० वी० कृष्णमाचारियर, म० म० वी० वी० मिराशी, वी० वी० शर्मा आदि ने प्रस्तुत किया; दूसरी ओर भास तथा कालिदास आदि संस्कृत के नाटककारों के नाट्य-कथानक गद्य-वर्णनों के रूप में वी० अनंताचार्य, वाई० महालिंग शास्त्री, एल० वी० शास्त्री और कैलाशनाथ ने प्रस्तुत किये।

'सहृदय' में प्रकाशित आरम्भिक कहानियों में 'साधु-मणि' नामक एक गंगा-

---

१. कुम्भकोणम्, १९२२, १९२४।

२. हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, (शोध) पर श्री पी० वी० काणे को १९५६ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

३. मैकमिलन्स।

तटवर्ती ग़रीब मिठाई बेचने वाले की जो कहानी के० श्रीनिवासन् ने लिखी है, वह बड़ी मार्मिक और उत्तम शैली में है। सं० सा० प० प० में प्रकाशित कहानियों में से कुछ उल्लेखनीय हैं : भवभूति विद्यारत्न-लिखित 'लीला' (१९२३-२४), तारणिकांत चक्रवर्ती की 'पुष्पांजलि' (१९२४-२५), के० आर० शंकरनारायण शास्त्री की 'ऐंद्रजालिक' (मई १९३२), 'रसमयी' (१९३३-३४), एक वृद्ध की तरुणी भार्या के विषय में 'भामिन्य मदनातप' (मई १९५५), तथा आर० रंगाचारी की 'आई० सी० एस० जामाता'। इन सबमें पी० वी० वरदराज शर्मा की 'कस्यम् अपराधः' सं० सा० प० प० (अप्रैल १९३७) टेकनीक की पूर्णता और सूक्ष्म वर्णन-सौंदर्य की दृष्टि से अलग छाँटी जा सकती है। इसका कथानक भी दरिद्रता-दैन्य के उस सामाजिक कलंक पर आधारित है, जिसके कारण जनसाधारण पाप की ओर प्रवृत्त होते हैं। सं० सा० प० प० (मई, १९३७) में रंगाचार्य ने 'नगर परिपालन सभा' नाम से एक प्रहसन लिखा है, जिसमें एक वृद्धा को म्युनिसिपल कौंसिल के लिए चुना जाता है। सं० सा० प० प० के पुराने अंकों में (१९२८-२९) वेणुधर तर्कतीर्थ का एक प्रहसन है। एक यात्रा की कहानी कहते-कहते लेखक स्वप्न में 'यमपुरी-पर्यटन' करता है, परन्तु उसकी यात्रा अधूरी रह जाती है, क्योंकि यमराज यह नहीं निर्णय कर पाते कि उनका अधिकार-क्षेत्र केवल हिन्दुओं तक सीमित है, या उसमें म्लेच्छ भी शामिल हैं। उस भारतीय प्रवासी को अपने मृत्युलोक में पुनः इसलिए भेजा जाता है कि वह एक पंडित-सभा बुलाकर पहले इस बात का निर्णय करे।[1]

सं० र० (१९०९–१९४८) में 'पश्यतोहरः', 'दुःखिनी बाला', 'असम साहस', 'अर्वाचीन सभ्यता', 'निराश प्रणय', 'सरला', 'साक्षी', 'आदर्श दम्पति', 'अयमेव प्रेमपरिपाकः' (यह है प्रौढ़ प्रेम!) 'करुणा', 'वरेप्सु-वटुक-संवाद' (भावी ससुर और ब्रह्मचारी के बीच बातचीत) और 'न्यायाधिकारिणी' आदि कहानियाँ छपी हैं। सं० र० में दो कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है; एक १९४५ में प्रकाशित हुई थी, जिसका आशय था कि आधुनिक चकाचौंध और छाया-प्रेम के पीछे भागने से नारी को सुख और शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती; दूसरी कहानी जून १९४७ में छपी थी, जिसका शीर्षक था 'धन्योऽयम् परीक्षा युगः'। इस कहानी में परीक्षाओं द्वारा सच्ची ज्ञानोपासना नहीं हो सकती, यह सिद्ध किया गया था।

१. 'यमराजविचार' नामक कृति 'विद्योदय' में प्रकाशित हुई थी।

इनमें से कुछ रचनाएं प्रहसनों के रूप में हैं। हैदराबाद (सिन्ध) की 'कौमुदी' में राम द्विवेदी (१९४४-४५) की 'विशाखा' और 'प्रमोद-गृहम्' नामक कहानियाँ और दहेज की कुप्रथा पर विश्वेश्वर दयाल द्वारा लिखित 'यौतक' नामक कहानी प्रकाशित हुई थी। एक चोर बाज़ार वाले ने एक बिल्ली पर कैसे विजय प्राप्त की, यह के० सी० चटर्जी ने 'मार्जार चरित्र' नामक कहानी (अक्तूबर १९५३) में लिखा है। श्रीमती क्षमा राव ने १९५३ में सदा की भाँति अनुष्टुप् छंद में अपनी पाँच कहानियाँ प्रकाशित कीं; ये पहले अंग्रेज़ी में लिखी गई थीं और बाद में ढाली गई; उनके विषय समाज-सुधार, बाल-विवाह, अल्पायु में वैधव्य इत्यादि हैं। 'कथा मुक्तावली' (बम्बई, १९५४) के शीर्षक से उनकी १५ कहानियों का संग्रह इनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ है। उनकी एक पुरानी पद्य-कथा इसमें गद्य में प्रकाशित है। उनके 'ग्राम-ज्योतिष' में सविनय अवज्ञा आन्दोलन और सत्याग्रह के दिनों में गुजरात के गाँव के बारे में तीन कहानियाँ हैं। 'संस्कृत' (जून, १९५७) में 'गहुल' के नाम से भारतीय इतिहास के हूण काल पर एक अत्यन्त प्रभावपूर्ण रेखाचित्र प्रकाशित हुआ है।

'सर्वजन संस्कृत माला' में जिसका उद्देश्य संस्कृत में सरल गद्य की पाठ्य-सामग्री प्रस्तुत करना था, ए० कृष्ण सोमयाजी ने संस्कृत में टाल्स्टाय की कहानी 'कणो लुप्तः गृहम् दहति' (एक चिंगारी घर को जला देती है) (गुण्टूर, १९५४) दी है। ईसप की लोक-कथाएँ एक से अधिक संस्कृत-लेखकों द्वारा अनूदित हैं।

उपन्यास

अब हम एक ऐसे साहित्य-रूप पर विचार करेंगे जो निश्चित रूप से आधुनिक कहा जा सकता है, और पाश्चात्य प्रभाव ने जिसको आकार दिया है। वह है, उपन्यास। यहाँ भी हम देखेंगे कि 'कादंबरी' जैसे कथानकों से सामाजिक कथानक और वातावरण तक परिवर्तन होता गया है। यह विधा अनुवादों, रूपांतरों और मौलिक रचनाओं आदि तीनों रूपों में समृद्ध हुई है। अप्पा शास्त्री ने बंकिमचंद्र की 'लावण्यमयी' का संस्कृत अनुवाद किया, यह पहले 'संस्कृत चंद्रिका'[1] में प्रकाशित हुआ और बाद में एक स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में प्रकाशित

१. वाई १९०७, धारवाड़ १९२०, बनारस १९४७। उनके अन्य गद्य-ग्रन्थों में 'देवी कुमुद्वती', 'दास परिणति' तथा 'मातृ-भक्ति' आदि हैं।

हुआ। इसी प्रसिद्ध बंगाली लेखक का 'कपाल-कुंडला'[1] हरिचरण ने अनूदित किया। अप्पा शास्त्री की जो अन्य रचनाएँ सं० चं० में प्रकाशित हुईं, उनमें 'कृष्णकान्तस्य निर्वाणम्' और नायिका द्वारा आत्मकथात्मक रीति से वर्णित 'इंदिरा' उल्लेख्य हैं। अन्य लेखकों की जो रचनाएँ सं०चं० में छपीं, उनमें प्रमुख हैं: नरसिंहाचार्य अणेकर की 'मृत्तिकावृषभकथा' और बालभद्र शर्मा की 'वियोगिनी बाला'। उपेन्द्रनाथ सेन ने 'पल्लिच्छवि', 'मकरंदिका' और 'कुंदमाला' लिखीं। हरिदास सिद्धांतवागीश ने 'सरला'[2] नामक उपन्यास लिखा। ए० राजगोपाल चक्रवर्ती का 'शैवालिनी'[3] नामक रूपान्तर है। इसी लेखक ने दो और उपन्यास लिखे—'कुमुदिनी' और 'विलासकुमारी संगर'। चिंतामणि माधव गोले ने 'मदनलतिका' (बम्बई, १९११) की रचना की। कई लम्बी कहानियाँ और रोमांटिक कथाएँ तथा लघु उपन्यास संस्कृत की कई पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठों में क्रमशः प्रकाशित हुए हैं: सहृ० (३) में कल्याणराम शास्त्री की 'कनकलता' छपी। उत्तम गद्य में लिखा हुआ नब्बे पृष्ठों का यह रोमांस शेक्सपीयर के 'ल्यूक्रिसी' पर आधारित है। गोपाल शास्त्री द्वारा लिखित 'अतिरूप' (३); परशुराम शर्मा का 'विजयिनी' (४); नारायण शास्त्री का 'सीमन्तिनी' (७), चिदंबर शास्त्री लिखित 'कमलाकुमारी' और 'सती कमला' (९); एवं आर० कृष्णमाचारियर जैसे प्रतिभाशाली सम्पादक द्वारा लिखित 'सुशीला' (११) उल्लेखनीय हैं।

सं० सा० प० प० में निम्न उपन्यास छपे थे: रेणुदेवी का 'रजनी' (१९२८-२९), 'राधा', 'दुर्गेशनंदिनी' (१९२२-२३) और 'राधारानी' (१९३०-३१) बंकिम बाबू की बंगाली कृतियों के अनुवाद थे। उसी पत्रिका में 'दत्ता' नामक उपन्यास छपा (अक्तूबर १९३५)। 'मधुरवाणी' में उसके संपादक जी० रामाचार्य ने धारावाहिक रूप से 'देवी वासंती' नामक कथा प्रकाशित की। म० सं० का० मै० मै० में एम० नरसिंहाचारी ने एक वीर रस के कथानक के आधार पर 'कीर्तिसेन' (१९४८-४९) लिखा। के० कृष्णमाचार्य (मद्रास, १९२९) की

---

१. कलकत्ता, १९२६।

२. इस लेखक की प्रस्तुत तथा अन्य रचनाओं के लिए देखिए, 'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर', कृष्णमाचार्य, पृष्ठ ६७३।

३. मैसोर, १९१७।

'मंदारवती' बृहत्कथामंजरी की एक कहानी पर आधारित है। श्रीशैल ताताचार्य (मृत्यु १९२५) ने भी बंगाली उपन्यासों के अनुवाद के लिए पग उठाया, उनकी दो कृतियाँ थीं—'दुर्गेशनन्दिनी' और 'क्षत्रियरमणी'। काव्यकंठम् गणपति शास्त्री ने 'पूर्णा'[1] नामक उपन्यास लिखा। बनारस से 'मित्रगोष्ठी' का संपादन करने वाले विधुशेखर ने 'चंद्रप्रभा' नामक रोमांस लिखा। मेधाव्रत ने 'कुमुदिनी चंद्र' नामक उपन्यास लिखा (येवले, १९२०)। श्री नरसिंहाचार्य ने, जिनकी शैली बहुत प्रसन्न, काव्यमयी और प्रांजल थी, 'सौदामिनी' नाम से एक उपन्यास लिखा (नवीन कृति, मद्रास, १९१४)। 'सीमा समस्या' (मंजू०, नवम्बर १९५०) गंगोपाध्याय का नया उपन्यास है, जिसमें एक वामपक्षीय तरुण का चित्रण है। ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित लंबी कहानियों में देवेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय की 'बंगवीर प्रतापादित्य' (सं० सा० प० प० १९३०-३१), इन्द्रनाथ वंद्योपाध्याय की 'गौरचन्द्र' (सं० सा० प० प० १९३२-३३), आर० राममूर्ति की चोल इतिहास पर आधारित 'वीरलब्धम् पारितोषिकम्' (उ० प्र० १९५५) हैं। ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित कहानियों के कुछ उदाहरण हैं : 'वीरमती' (सं० र० १९०९), मुस्लिम युग की एक-एक घटना के आधार पर अत्याचार के परिणाम दरसाने वाली 'अत्याचारिणः परिणामः' (सं० र० १९४२) और 'दानी दिनेश' (सं० र० १९४३)। साप्ताहिक 'संस्कृत' में कुछ अच्छी ऐतिहासिक कहानियाँ छपी थीं, 'अजंता' (२७-३-५६), 'हीरू' (१७-१-५६), 'द्विराश्वमेध याजि' (२७-१२-५५) इत्यादि। ए० राजम्माल, मद्रास की 'चन्द्रमौलि' में पुराने ढंग का कथानक है और कहानी के बीच में एक नाटक भी जोड़ा गया है। डी० टी० ताताचार्य ने वादुबुर दोराई-स्वामी अय्यंगार के तमिल उपन्यास 'मेनका' का संस्कृत अनुवाद किया है, जो उ० प० में क्रमशः छपता है। होशियारपुर के श्री जगद्राम शास्त्री ने 'छत्रपाल विजय' नामक गद्य-कथा लिखी है।

छोटी कविताएँ

आधुनिक भारतीय लेखन की एक अन्य विशेषता है छोटी कविता को मिला हुआ नया जीवन। अभिजात संस्कृत में मुक्तक, युग्मक, कल्पक, कुलक और

१. देखिए पृष्ठ ११, उमासहस्र की भूमिका।

शतक की परम्परा रही है। परन्तु पाश्चात्य लिरिक के ढंग पर थोड़े-से छन्दों में एक विशिष्ट विचार के विषय में आधुनिक संस्कृत-कवियों ने कविता-संग्रह कम प्रकाशित किए थे, अब वह भी होने लगे हैं। संस्कृत-कवि इन भाव-गीतों में अभिव्यंजना कर रहे हैं। कुछ कवियों ने अपने छोटी कविताओं के संग्रह प्रकाशित किए हैं, परन्तु अधिकांश रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में यत्र-तत्र या हस्तलिखित रूप में दबी पड़ी हैं। इन रचनाओं में अंग्रेज़ी साहित्य से अनुवाद और रूपान्तर हैं। श्री रामाचन्द्राचार्य की 'लघुकाव्यमाला' (मद्रास, १६२४) में कई अनुवाद हैं : मनुष्य की सात अवस्थाओं के विषय में 'पुरुष-दशासप्तक' (शेक्सपीयर का 'ऐज़ यू लाइक इट'), 'सुमनोरथ' (राजर का 'ए विश'), 'पितृपदेश' (हैमलेट) और 'साधुवाद-मंजरी' (ब्राउनिंग का 'आल्ज़ राइट विद वर्ल्ड')। वाई० महालिंगम् शास्त्री के 'किंकणीमाल' (मद्रास, १६३४) में शेक्सपीयर, वर्ड्स्वर्थ, शैली और डॉ० जानसन के अनुवाद हैं, साथ ही कई नई छोटी कविताएँ भी हैं, जिनमें नये छन्द, जो कि संगीत, लय पर आधारित हैं, प्रयुक्त किये गए हैं। उदाहरणार्थ सबसे उल्लेखनीय रचना है 'स्थाणुपरिवेदना' (भगवान् शंकर के दुःखों पर आधारित)। वी० सुब्रह्मण्य अय्यर की 'पद्यपुष्पांजलि' (मदुरा, १६५१) में मौलिक रचनाएँ और अंग्रेज़ी के अनुवाद दोनों हैं; प्रथम रचना में ऋषियों, कविता, जीवन, प्रकृति और कला, शकुन्तला का स्वगत भाषण, अदम्य भारत इत्यादि विषयों पर कविताएँ हैं। एम० एम० के० एम० कृष्णमूर्ति शास्त्री के 'प्रकृति-विलास' (मदुराई, १६५०) में प्रकृति के कई वर्णन हैं। जतीन्द्रनाथ भट्टाचार्य की 'काकली' (कलकत्ता, १६३३) में परम्परित कविताएँ और स्तोत्र हैं, गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की दो छोटी प्रशस्तियाँ भी हैं। प्रोफ़ेसर जी० सी० झा की 'सुषमा' (बम्बई, १६५५) एक छोटी पुस्तिका है, जिसमें व्यंग्य, विलापिका, वर्णनात्मक पद्य आदि हैं। डॉ० ब० चन्द्र छाबरा के 'स्वर्णबिन्दु' (१६५१, साईक्लोस्टाइल) में कुछ महत्त्वपूर्ण पद्य हैं; एक चींटी पर है, दूसरा इस पर कि सच्चे मित्र जीवन के सर्वोच्च आशीर्वाद हैं। गांधी जी पर कविता वैदिक गायत्री छन्द में लिखी गई है, इसलिए उल्लेखनीय है; साहित्य तथा पुरातत्त्व-उत्खनन पर आधारित सांस्कृतिक स्थानों के उल्लेख वाली एक कविता मथुरा पर है। एस० बी० वर्णेकर की 'मन्दोर्मिमल' (पार्दी, १६५६) में अनेक वर्णनात्मक, विचारात्मक, उपदेशात्मक और देशभक्तिपूर्ण अंश हैं। मथुरानाथ

कवि शास्त्री जयपुर निवासी ने कोई भी ऐसा आधुनिक या विकास-सम्बन्धी विषय अछूता नहीं छोड़ा है, जिस पर उन्होंने अच्छी कविता न लिखी हो। इन कविताओं का संग्रह उनके बड़े ग्रंथ 'साहित्य वैभव' (बम्बई, १६३०) में मिलता है; इसके प्रथम खण्ड में प्रकृति-विषयक कविताओं के नमूने हैं; बाद में विविध भावों पर रचनाएँ हैं, विचारात्मक 'अन्यापदेश' पद्य हैं और उनके बाद एक खण्ड है, जिसका शीर्षक है—'नवयुग-वीथि', जिसमें कवि ने ट्राम, मोटर-कार, रेलवे, जहाज़, विद्युत्, रेडियो, ग्रामोफ़ोन, चिकित्सा, क्षय-किरण, छायाचित्र, चित्रपट, विज्ञान की महत्ता, विदेशियों के गुण आदि पर कविता की है। भारतीय सार्वजनिक आन्दोलनों पर भी वे अपने विचार ग्रथित करते हैं।

'मेघ-संदेश' के अगणित अनुकरणों में यहाँ कुछ विचित्र नमूनों का उल्लेख किया जा सकता है। अलका में यक्ष के जीवन को पुनर्कल्पित किया गया है, उसका कार्यालय कैसा होगा, शाप का क्या कारण था इत्यादि। (मेघप्रति संदेश:; एम० रामा शास्त्री, मैसोर, १६२३); इसके बाद कोराड रामचन्द्र कवि ने 'घनवृत्त' (मद्रास, १६५५) लिखा, जो कि कालिदास की कृति का क्षेपक है। 'मेघ संदेश' की व्यंग्य-भरी पैरोडियाँ अन्यत्र उल्लिखित हैं।

पत्रिकाओं में प्रकाशित कविताओं के कुछ उदाहरण यहाँ यह दिखलाने के लिए जा रहे हैं कि कितने विविध विषयों पर संस्कृत में काव्य-रचना हुई। सहृ० (२) में के० कल्याणी ने 'भारतीविलाप' नामक कविता में एक लेखक के दुःखों का वर्णन किया है कि लेखन, प्रकाशन, समालोचन, पठन और आस्वादन में कितनी कठिनाइयां आती हैं। 'भारतीय युद्धसज्जा' (सं० सा० प० प०, अक्तूबर, १६४२) प्राचीन और नवीन युद्ध-पद्धति के बीच पद्यमय संवाद है, यह भारत के गत महायुद्ध में योगदान पर आधारित है। 'चर्म-गोल-क्रीड़ा' पुलिन-बिहारी दासगुप्त (सं० सा० प० प०, १६२८-२६) की फ़ुटबाल पर एक रचना है। कुक्के सुब्रह्मण्यम् शास्त्री ने (म० सं० का० मै० मै०, १६२५) में जोग जलप्रपात पर एक कविता लिखी है। अप्पा शर्मा ने 'पिंजरबद्ध शुक' (सं० चं०, १६०४) नामक एक बड़ी सुन्दर कविता लिखी और 'डेज़र्टेड विलेज' का बहुत अच्छा अनुवाद (सं० चं० में, तथा अलग से भी, धारवाड़, १६१५) प्रकाशित किया।

कई छोटी-बड़ी कथात्मक कविताएँ भी प्रकाशित हुई हैं। 'महीपो मनुनीति चोलः' (१६४६) और 'देवबन्दी वरदराजः' (१६४८) प्रस्तुत लेखक ने चोल

इतिहास और श्रीरंगम् मंदिर से प्राप्त वृत्तांतों के आधार पर लिखे हैं। लेखक की एक अप्रकाशित कविता, 'ना कदाचिद् अनीदृशम् जगत्' शीर्षक के प्रथम खण्ड में, पुरुरवा को उर्वशी ने वैदिक काल में कठोरता से छोड़ दिया था, इसका वर्णन है और दूसरे खण्ड में, एक भारतीय राजपुत्र को अंग्रेज़ पत्नी ने खूब लूटकर कैसे छोड़ दिया, इसका वर्णन है।

संस्कृत भाषा और उसकी महानता पर अनेक छोटी-मोटी कविताएँ पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं; इस विषय पर प्रभुदत्त शास्त्री ने एक सौ छः श्लोकों की एक लंबी कविता 'संस्कृत-वाक्-सौन्दर्यामृतम्' (दिल्ली, १९५७) भी लिखी है।

पुराने खण्डकाव्यों के ढंग पर किंचित् बड़ी कविताएँ लिखी गई हैं और नये ढंग से उनमें विषय-निरूपण हुआ है। सी० वेंकटरमणैया (बैंगलौर, १९४४) ने 'काव्य समुदाय' में हरिश्चन्द्र, नभनेदिष्ठ और विश्वामित्र की वैदिक कथाओं पर नये ढंग से लिखा है। 'धरा यशोधरा:' (सतारा, १९५२) डी० एम० कुलकर्णी द्वारा रचित एक कविता है, जिसमें प्राचीन भारत के एक सांस्कृतिक केन्द्र, भोज की राजधानी के वैभव का वर्णन है। विजयानगरम् के वी० वेंकटनारायणराय (बनारस, १९०९) ने 'पद्मिनी-चन्द्रसंवाद' नामक एक रचना लिखी है, जो कि 'चरित्र' पर है। मेधाश्री नारायण शास्त्री तिरुवाय्यूर की अनेक रचनाओं में एक 'चतुर्वर्ग-चिन्तामणि' (श्रीरंगम्, १९२२) भी है। वैचारिक कविता के लिए अन्यापदेश शतक जैसी प्राचीन शैली बहुत उपयुक्त माध्यम है और कई आधुनिक संस्कृतज्ञों ने भी इस तरह के छन्द लिखे हैं। मथुरानाथ शास्त्री के 'अन्यापदेश' का पहले उल्लेख हो चुका है। वाई० महालिंगम् शास्त्री की 'व्याजोक्ति रत्नावली' (तिरुवाय्यूर, १९३३) इसी कोटि की रचना है। जम्मू के सुखदेव शास्त्री का 'जीतमल चरित' (प्रकाशन, लाहौर) विशेष रूप से उल्लेखनीय है; इसमें छोटे-छोटे आठ सर्गों में कवि ने निर्धन ब्राह्मण बाबा जीतू और उसकी पुत्री की दुःखद कथा कही है; ये पात्र डोगरा चारण-काव्य में सुविदित हैं। वाई० नागेश शर्मा ने उपगुप्त और वासवदत्ता से सम्बद्ध बौद्ध-कथा पर 'नेत्रोन्मीलन' नामक तीन सर्गों का काव्य (बैंगलोर, १९५५) लिखा है और अपना आधार बनाया है उस हिन्दी गद्य रचना को, जो कि इस विषय पर लिखी गई है।

व्यंग्य-विनोद की कविता

वर्तमान युग में व्यंग्य-विनोद की कविता को विशेष प्रोत्साहन मिला है। आधुनिकतावादी लेखकों ने परम्परावादियों को अपने व्यंग्य-बाणों का लक्ष्य बनाया है और पुराण-पंथियों ने भी उसका प्रत्युत्तर उसी प्रकार से दिया है। बहुत-से आधुनिक फैशन और रंग-ढंग उनकी आलोचना के विषय बने हैं। प्रहसनों, स्केचों और व्यंग्य-रचनाओं के लिए विविध प्रकार के मत और मतभेद, कई पार्टियाँ और नेतागण विषय बने हैं। यह एक ऐसा लेखन-प्रकार है, जिसमें संस्कृत का उत्तम उपयोग किया गया है।

कुछ आधुनिक लेखकों ने हास्य-कविताएँ लिखने के लिए 'मेघ-सन्देश' का रूप सामने रखा है। ऐसी पैरोडियों के उदाहरण हैं—सी० आर० सहस्रबुद्धे (धारवाड़, १९१७) का 'काकदूत'। एम० आर० राजगोपाल अय्यंगार ने 'काकदूत'[१] नाम से एक काव्य लिखा है, जिसमें जेल का एक चोर सन्देश भेजता है। पूना के के० वी० कृष्णमूर्ति शास्त्री ने 'शकुनदूत'[२] लिखा है जिसमें जेल में बन्दी एक चोर अपने एक कुत्ते को अपनी प्रिया के पास सन्देशवाहक के नाते भेजता है। प्याज का स्वाद रोक पाना बहुत कठिन है और सह० (८) में मुद्दु विट्ठलाचार्य सनातनियों को इस वर्जित खाद्य वस्तु के प्रति आकृष्ट करते हैं (पलांडु-प्रार्थना)। जयपुर के कृष्णराम ने इस अमूल्य वस्तु पर 'पलांडु-शतक' नामक पूरा शतक लिख डाला है। झाड़ू के दिव्य कार्य पर 'मार्जनी' नामक प्रशस्ति लिखी गई है और अनन्तलवार ने, जो मेलकोटे श्री वैष्णव मठ में बाद में आचार्य बने, झाड़ू के महत्त्व पर[३] एक पूरा शतक लिख डाला। कवियों ने खटमल और चींटी को भी नहीं छोड़ा है : के० वी० कृष्णमूर्ति शास्त्री पूना ने एक 'मत्कुणाष्टक' लिखा है (सं० र० में प्रकाशित) और खटमल जैसे पूना में त्रासदायक हैं वैसे ही बंगाल में भी हैं। फलतः पुलिनबिहारी दासगुप्त ने सं० सा० प० प० (फ़रवरी, १९२८) में एक 'मत्कुणाष्टक' लिखा है। खटमल से भी और कष्टदायक मच्छर या 'मशक' को

१. अन्नामलाईनगर, मिसलेनी, १९४०।

२. सरस्वती-सुषमा, बनारस, १९५६।

३. 'सम्मार्जनी शतक', मैसोर। संस्कृत-चन्द्रिका, खंड ५ में झाड़ू पर एक अध्याय है (पृ० ७)।

प्राचीन संस्कृत-कविता में बड़ा गौरव दिया गया था। समकालीन लेखन में, आत्रेय (वी० स्वामिनाथ शर्मा) ने कुछ पंक्तियाँ उस पर लिखी हैं।[१] चाय और कॉफ़ी-पान के आनन्द और उसके व्यसन से हानि पर कई काव्य-पंक्तियाँ लिखी गई हैं। सी० आर० सहस्रबुद्धे ने चाय पर एक गीता लिखी है ('चाय-गीता', धारवाड़)। आत्रेय ने कॉफ़ी पर सोलह छन्द लिखे हैं (कॉफ़ीषोडशिका)[२] और दो अन्य कविताएँ भी बेचारी कॉफ़ी को बहुत भला-बुरा कहती हैं। ये हैं—एम० वी० संपतकुमार आचार्य की 'कॉफ़ी-पानीयम्' (सं० सा० प० प०, अप्रैल, १९४१) और 'कॉफ़ी-त्याग-द्वादश मंजरिका'। दूसरी कविता में शंकराचार्य के 'भजगोविन्दम्' छन्द और लय को प्रयुक्त किया गया है और उसमें जनसाधारण को कॉफ़ी पीना छोड़ देने का उपदेश है। इससे उस चाय की प्याली की ओर मुड़ना ताज़गी देगा जिस पर करिक्कड के एम० कृष्णन् नम्बूद्रिपाद ने सात छन्दों में एक कविता लिखी है (सं० ३-४-१९५६)। अप्पा शर्मा ने सं० चं० (१९०६) में 'उदरप्रशस्ति' नामक कविता लिखी। डी० टी० तात्याचार्य ने एक मौलिक कविता 'कपीनाम् उपवास:'[३] में उन लोगों के मन की चंचलता पर व्यंग्य किया है, जो बड़ी पवित्रता का ढोंग रचते हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'कान्यकुब्जलीलामृत' ३८ छंदों में कान्यकुब्जों का मज़ाक उड़ाती है (सं० चं० खण्ड ६)।

कुछ नये आन्दोलनों पर तथा उनके नेताओं और समर्थकों पर भी व्यंग्य लिखे गए हैं। दयानंद को छज्जूराम ने 'दयानंदाष्टक' में व्यंग्य का विषय बनाया है। बंकिमचन्द्र चटर्जी का पशुओं की कहानी के रूप में आधुनिक सम्मेलनों पर व्यंग्य संस्कृत में अनूदित किया गया है।[४] पुन्नसेरि नीलकंठ शर्मा ने सौ छन्दों में 'सात्त्विक स्वप्न' में राजनैतिक आन्दोलनकर्ता पर व्यंग्य-प्रहार किया है (एम० ई० १०९७, त्रिचूर) : विविध पार्टियों द्वारा विविध नारों और विचार-धाराओं का परिहास एक बाक़ायदा कान्फ़्रेन्स के रूप में पेश किया गया है, जिसमें वृषभ, श्वान, मर्कट, शृगाल, शुक इत्यादि भाग लेते हैं; और स्वागत-भाषण, उद्घाटन-भाषण, अध्यक्षीय भाषण इत्यादि होते हैं। 'कांग्रेस गीता' (मद्रास, १९०८) तूफ़ानी सूरत

---

१. अन्नामलाईनगर, मिसलेनी, १९४०।

२. वही।

३. कुम्भकोणम्, १९२५।

४. सहृदय एन० एस० २।

कांग्रेस पर एक व्यंग्य रचना है। बाबा दीक्षित वटावे ने 'कल्पिता-काली वृत्तान्ता-दर्श-पुराण' में उन लोगों पर व्यंग्य किया है जिन्होंने पुराने आचार-विचार त्याग-कर आधुनिक फैशन अपना लिया है।

नाटक

गंभीर नाटकों के क्षेत्र में, पुराने विषयों पर परम्परित ढंग से बड़ी संख्या में नाटक खेले गए हैं और यहाँ इतना सूचित करना काफ़ी है कि भारत में श्रीनारा-यण शास्त्री जैसे लेखक भी हुए हैं, जिन्होंने ९३ नाटक लिखे; और आज तक ऐसे नाटक नियमित रूप से रचे जा रहे हैं। यहाँ पर ऐसे नाटकों का उल्लेख विशेष रूप से करना चाहिए, जिनमें प्राचीन शैली और विषय होने पर भी, रूप, विचार तथा शैली की दृष्टि से कई नई उद्भावनाएँ की गई हैं। यह स्वाभाविक है कि जब आधुनिक शिक्षा-प्राप्त संस्कृतज्ञ संस्कृत में नाट्य-रचना करने लगे तो ये नये तत्त्व आये बिना नहीं रह सकते थे।[1]

क्लासिकल श्रेष्ठ रचनाओं में से नये विषय या प्राचीन नाट्य-वस्तुओं की नाट्यात्मक पुनर्रचना के प्रयत्न किये गए हैं। उदाहरणार्थ मैसोर के जग्गू बकुल भूषण ने अन्तिम प्रकार के नाटक रचे हैं और दो-तीन अंकों में छोटे नाटक रचे हैं, जिनमें कि 'प्रसन्न काश्यपिया' (मैसोर, १९५१) का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें दुष्यन्त और शकुन्तला के साथ शिशु भरत कण्व के आश्रम में जाते हैं। इसी आकर्षक विषय पर सूरत के जे० टी० पारीख ने एक एकांकी 'छाया शकु-न्तला' (सूरत, १९५७) लिखा है। जिस पर 'उत्तररामचरित' का प्रभाव भी अत्यंत स्पष्ट है। रूपकात्मक नाटक भी लिखे गए; उदाहरणार्थ : 'अधर्म-विपाक' (सं० चं० खण्ड ५)। सी० वेंकटरमणैया ने एक लंबा रूपक-प्रधान नाटक 'जीव-संजीवनी नाटक'[2] नाम से लिखा, जिसमें आयुर्वेद का मूल्य वर्णित था।

मद्रास संस्कृत अकादेमी ने एक अखिल भारतीय नाटक-स्पर्द्धा की, जिसका बहुत अच्छा परिणाम निकला। इस स्पर्द्धा का सम्मान 'प्रति-राजसूयम्' नामक नाटक को मिला, जो अभी प्रकाशित हुआ है। यह वाई० महालिंगम् शास्त्री ने लिखा। दुर्योधन ने अपने चचेरे भाइयों को जंगल में भेजने के बाद जो राजसूय-

१. एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह घटित हुआ कि प्राकृत का प्रयोग अब नहीं किया जाता।
२. बंगलौर, १९४९।

यज्ञ किया उस पर यह नाटक आधारित है। इसमें और इसी लेखक के अन्य अप्रकाशित 'उद्गात्रदशानन' आदि नाटकों में नये विचारों की उद्भावना है। उनका 'कलि प्रादुर्भाव'[१], जो हाल में प्रकाशित हुआ, कलियुग के आगमन के साथ-साथ जो शीघ्र अनीति छा जाती है उसकी सात छोटे अंकों में पुरानी, मनोरंजक कहानी है। इसी लेखक का 'उभयरूपक' एक सामाजिक सुखान्त नाटक है। तंजौर के सुंदरेश शर्मा ने बिल्हण की कहानी के अनुकरण पर, एक रोमांटिक विषय 'प्रेम-विजय'[२] में प्रतिपादित किया है। इस नाटक का वे अभिनय भी कर चुके हैं।

भारतीय इतिहास की प्रसिद्ध विभूतियों पर नाटकों की संख्या से ही यह पता चलता है कि नाट्य-विषयों में परिवर्तन घटित हुआ। इस वर्ग में हम म० म० मथुराप्रसाद दीक्षित के मेवाड़ का राणा प्रतापसिंह पर लिखे 'वीर प्रताप नाटक' (लाहौर, १९३७), म० म० याज्ञिक के 'संयोगिता-स्वयंवर', 'छत्रपति साम्राज्य' और 'प्रताप-विजय'[३] नामक तीन नाटक, (जिनमें गीत भी दिये गए हैं), सुदर्शनपति के 'सिंहलविजय'[४] (उड़ीसा के इतिहास पर आधारित और उड़ीसा के गीतों सहित), तथा पंचानन तर्करत्न के 'अमर मंगल' (बनारस, १९३९) को रख सकते हैं। विजयानंद ने 'प्रेममोहिनी-रणधार' नामक एक रूमानी नाटक लिखा (सं० चं०, १९०४), जिसमें परम्परागत प्रस्तावना का बहिष्कार किया गया है। प्रस्तुत लेखक की कृति 'अनारकली', जो अभी पांडु-लिपि रूप में है, जहाँगीर के दासी के साथ प्रसिद्ध रोमांस की कथा पर आधारित नाटक है। क्षमा राव की मरणोपरांत प्रकाशित कृतियों में कुछ सामाजिक सुधार के नाटक हैं, यथा : 'बाल विधवा'[५] तीन अंकों में है। नाटकीय रूप में कुछ एकदम नये विषय भी प्रस्तुत किये गए हैं। 'प्रकृति-सौंदर्य' (येवले, १९३४) आर्य समाजी लेखक महाव्रत की रचना है। पुन्नसेरि नीलकंठ शर्मा की 'विज्ञान चिन्तामणि' पत्रिका में प्रकाशित रचना 'गैर्वाणविजय' इस विषय का निरूपण करती है कि संस्कृत की सांप्रतिक दशा कितनी शोकास्पद है और विभिन्न रियासतों में

१. 'उदयनपत्रिका' में क्रमशः प्रकाशित और अलग से मुद्रित; तिरुवेलंगाडु, १९५६।
२. कुम्भकोणम्, १९४३।
३. अंग्रेज़ी अनुवाद सहित बड़ौदा से प्रकाशित, १९२९ (छत्रपति-साम्राज्य)
४. बहरामपुर, १९५१।
५. मं०, १९५५।

महाराजा संस्कृत कालेज खोलने से इस दशा में कैसा सामयिक सुधार हुआ है। इसमें ब्रह्मा, सरस्वती, ऋषिगण, अंग्रेज़ी, संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाएँ पात्र बनकर आते हैं। दिल्ली के प्रभुदत्त शास्त्री ने पाँच अंकों में ऐसा ही एक नाटक 'संस्कृत वाग्-विजय'[१] नाम से संस्कृत और हिन्दी में प्रकाशित किया है।

रचनात्मक उत्प्रेरणा के नये दौर में कालिदास, शूद्रक और भवभूति के भक्तों का ध्यान शेक्सपीयर की ओर भी गया। भारतीय भाषाओं में शेक्सपीयर पर कुछ परीक्षण प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु उनमें इस महान् नाटककार की कृतियों के संस्कृत-रूपांतरों का उल्लेख नहीं है।[२] १८७७ में मद्रास के श्री शैल दीक्षितार ने 'भ्रांति-विलास' नाम से 'कामेडी आफ़ एरर्स' का अनुवाद किया। राजराज वर्मा, त्रिवांकुर ने 'ओथेलो'[३] का रूपांतर प्रस्तुत किया। आर० कृष्णमाचार्य ने 'सहृदय' में प्रकाशित करके बाद में स्वतंत्र पुस्तकाकार 'वासंतिक स्वप्न'[४] छापा, जो कि 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम' का रूपांतर है। गदवाल के श्री गुंडे राव हरकरे ने 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम' का और 'हैमलेट' के कुछ अंकों का अनुवाद किया है। 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम' का एक अन्य अनुवाद 'श्री' (खंड ८, अंक ३-४) में प्रकाशित हुआ है। 'ऐज यू लाइक इट' अब क्रमशः 'यथाभिमतम्' शीर्षक से 'उदयन पत्रिका' में प्रकाशित हो रहा है। लैंब की 'टेल्स फ्राम शेक्सपीयर' विजयानगरम् के एम० वेंकटरमणाचार्य ने संस्कृत में प्रकाशित की है।[५] सहृ० ने अपने विविध अंकों में शेक्सपीयर केओथेलो, हैमलेट इत्यादि नाटकों की कहानियों को गद्य-रूप में प्रकाशित किया है। शेक्सपीयर के छोटे अंशों और कविताओं के रूपान्तर की चर्चा पहले आ चुकी है। संस्कृत में अन्य पाश्चात्त्य नाटक भी प्रकाशित हुए हैं। गेटे के 'फ़ाउस्ट' का संस्कृतानुवाद 'विश्वमोहन'[६] नाम से पूना के एस० एन० ताडपत्रीकर ने प्रकाशित किया है। डाक्टर सामा शास्त्री ने लेसिंग

१. दिल्ली, १९४२।

२. देखिये, 'आर्यन पाथ', नवम्बर और दिसम्बर १९५५, सी० आर० शाह शेक्सपीयर के के नाटक, भारतीय भाषाओं में।

३. प्रकाशन : त्रिवेन्द्रम्।

४. कुम्भकोणम १८९२

५. मद्रास, १९३३।

६. पूना ओरिएंटलिस्ट, १४।

के 'एमेलिया गॅलेट्टी' को म० सं० का० मै० मै०, (७,१९३१) में अनूदित किया है। टेनीसन की द्वि-अंकीय शोकांतिका 'दी कप' संस्कृत नाट्य-परम्परा के अनुकूल सी० वेंकटरमणैया के 'कमलाविजयनाटक'[1] में ढाली गई है।

पश्चिमी नाटकों के इन संस्कृत-अनुवादों के बाद छोटे आकार की नाट्य-रचनाएँ आती हैं, विशेषतः वे एकांकी, जिन्होंने पश्चिम की शैली से विशेष स्फूर्ति ली। ऐसे नाटक बहुत बड़ी संख्या में इस काल-खंड में प्रकाशित किए गए। प्रहसन प्राचीन काल से ही संस्कृत-रंगभूमि पर चले आ रहे हैं। ७वीं शती के बाद से ऐसे नाटकों के कुछ दो-चार अच्छे नमूने हमें मिलते हैं। यह देखकर आनन्द होता है कि इधर लिखे गए छोटे नाटकों में कई प्रहसन हैं। कालेज के वार्षिक दिवस आदि मौके थोड़े समय के लिए संस्कृत में मनोरंजन प्रस्तुत करने के उत्तम अवसर होते हैं, उनकी आवश्यकता से प्रेरित होकर कई ऐसे नाटक लिखे गए। इधर कुछ वर्षों से छोटे संस्कृत-नाटकों और नाट्य-संवादों को आकाश-वाणी भी बहुत प्रोत्साहन दे रही है।

समकालीन सामाजिक महत्त्व के विविध विषयों का, नये ढंग के एकांकियों में निरूपण मिलता है: वी० के० थम्पी के तीन संस्कृत-नाटक[2] ('प्रतिक्रिया', 'वनज्योत्स्ना', 'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः') राजपूत-मुस्लिम काल के ऐतिहासिक रोमांटिक विषयों पर आधारित हैं। सी० वरदराज शर्मा का 'कस्याहम्' (सं० सा० प० प०, १९३९) एक वधू के नये घर में स्वगत-भाषण पर आधारित नाटक है। ए० आर० हेबरे का 'मनोहरम् दिनम्' (सं० सा० प० प०, मार्च, १९४१) शाला की एक साधारण घटना पर आधारित रचना है जिसमें छुट्टी के लिए बच्चों की युक्ति-प्रयुक्ति की घटना है। सीता देवी अपने 'अरण्य-रोदन' (मनोरमा, बेरहामपुर, नं० ३, १९४९) में घरेलू झगड़ों को नाट्य-रूप देती हैं। 'अमर्षमहिमा' (अ० वा०, १९५१) में के० तिरुवेंकटाचार्य ने घर और दफ़्तर के साधारण अनुभव को सफल नाट्य-रूप दिया है। एक क्रोधी अफ़सर अपनी पत्नी से लड़कर दफ़्तर में आता है, अपना ग़ुस्सा वह क्लर्क पर उतारता है, क्लर्क से उसकी पत्नी पर और पत्नी से घर की नौकरानी पर यह ग़ुस्सा स्थानान्तरित होता जाता है। 'वणिक्सुता' (मं०, अगस्त १९५५) में एक विचित्र

१. मैसोर, १९४८।

२. त्रिवेंद्रम, १९२४।

विषय पर सुरेन्द्र मोहन पंचतीर्थ ने लिखा है: यहाँ एक धनी तरुणी विधवा का प्रणयाराधन हिन्दू और बौद्ध धर्माभिमानी दोनों करते हैं, जिनमें प्रथम विजयी होता है। श्रीमती क्षमा राव के 'कटुविपाक' (मं०, दिसम्बर १९५५) में सत्याग्रह के दिनों की उस सामान्य करुण घटना का चित्रण है जिसमें कोई लड़का या लड़की आन्दोलन में घर पर माता-पिता का दिल तोड़कर कूद पड़ता था, या पुलिस की हिंसा में अपनी जीवनाहूति देता या देती थी। बाद की एक करुण स्थिति में, जिससे कि देश गुज़रा, 'महाश्मशान' नामक एक एकांकी कुशलतापूर्वक और सशक्त ढंग से लिखा गया। यह दुखान्तिका तीन छोटे दृश्यों में है, और वह 'कौमुदी' (हैदराबाद, सिन्धु, सितम्बर, १९४४) में प्रकाशित हुई थी। इसमें विभाजन के समय के कलकत्ता की उन सड़कों का वर्णन है, जिनमें लाशें फैली हुई थीं; ५०० बस्ती वाले गाँव में ५ बच्चे, और एक मुस्लिम दर्ज़ी परिवार के सामने यह संकट था कि या तो वह अकाल से मर जाय या काले बाज़ार में पाए गए चावलों से बनी उस काँजी को पिए, जिसकी एक घूँट पीने से उसकी एकमात्र बच्ची मर जाती है।

गत शताब्दी के अन्तिम भाग में लिखे गए इलत्तूर सुन्दरराज कवि के 'स्नुषाविजय'[1] के रूप में एक ऐसा एकांकी नाटक हमें मिलता है जिसका विषय सामाजिक, पारिवारिक होते हुए भी उसके भीतर परिहास की सूक्ष्म छटा थी। ऐसे नाटक संस्कृत में प्रचलित हो गए हैं। इस शताब्दी में स्पष्ट रूप से प्रहसनात्मक तो कई नाट्य-कृतियाँ हैं। पुराने लेखकों में, जो अभी जीवित हैं और प्रहसन लिखते हैं, एस० के० रामनाथ शास्त्री हैं। 'दोला-पंचीलक प्रहसन' के अतिरिक्त, उन्होंने 'मणिमंजूषा' के नाम से अत्यन्त मनोरंजक और चमत्कारिक सामग्री दंडी के 'दशकुमारचरित' के अपहारवर्मन की कथा से ली।[2] मद्रास के के० एल० वी० शास्त्री ने तीन प्रहसन लिखे: 'लीलाविलास'[3], 'चामुण्डा'[4], और 'निपुणिका'। पहले में माता-पिता अपनी लड़की को दो अलग-अलग वरों को देना चाहते हैं,

---

१. प्रस्तुत लेखक द्वारा स्वतन्त्र टीका सहित संपादित ऐनल्स आफ़ ओरिएंटल रिसर्च, यूनिवर्सिटी आफ़ मद्रास—७, १९४२-४३ में प्रकाशित।

२. सं० सा० प० प० में क्रमश: प्रकाशित।

३. पालघाट, १९३५।

४. मद्रास।

उनमें से एक तरुण पंडित है, दूसरा शास्त्री और बिगड़ा हुआ लड़का है। लड़की का भाई चाहता है कि उसके एक सहपाठी के साथ वह विवाह करे, यह लड़का लड़की को कुछ चोरों से बचाता है, और इस प्रकार समस्या सुलझ जाती है—इसी लड़के के साथ लड़की का विवाह हो जाता है। 'चामुण्डा' में भी लेखक ने आजकल के एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक विषय को लिया है: गांवों में आधुनिक सुधारों के प्रति प्रारम्भिक विरोध और धीरे-धीरे उन सुधारों से मिलनेवाले फ़ायदों के कारण उस विरोध के कम होने का वर्णन है। इसी में एक तरुण विधवा, जो लन्दन से लौटकर डॉक्टर हो जाती है, विरोधी गाँववालों का सामना करती है जो उसका अपमान करने पर तुले हैं, जबकि एक विरोधी व्यक्ति की पत्नी को दी गई चिकित्सा-सहायता तथा डाक्टरनी का सेवा-भाव और त्याग इन विरोधियों का सहसा हृदय-परिवर्तन कर देते हैं। वाई० महालिंगम् शास्त्री ने दो प्रहसन लिखे हैं, एक 'कौंडिन्य प्रहसन'[१] जिसमें यह लोकप्रिय कथा है कि एक कंजूस को उससे भी सवाया धूर्त मिलता है, जो प्रतिदिन दूसरे के घर में खाता है; और दूसरा 'शृंगार नारदीय'[२] जिसका विषय है—एक पौराणिक कथा के आधार पर यौन-परिवर्तन। 'पल्लिशाला' प्रहसन में (म० सं० का० मै० मै०, मार्च-जून, १९४२), संस्कृत की श्लेष तथा वक्रोक्ति की शक्ति का पूर्ण उपयोग करते हुए, एक साहसी माता का वर्णन है जो उस शालाके अध्यापक को ठीक कर देती है, जिसने उसके बच्चे को मारा है। एक स्त्री का गहने के लिए अतिलोभ और उसका दुःखपूर्ण अंत सुरेन्द्रमोहन के 'कांचनमाला' (मं०, फरवरी १९५५) का मुख्य कथा-सूत्र है। जीव न्यायतीर्थ ने अपने 'पुरुषरमणीय' (कलकत्ता, १९४८) नामक प्रहसन के शीर्षक से एक बिखरी हुई रचना दी है, परन्तु इसकी क्षतिपूर्ति उन्होंने 'क्षुत-क्षेम' में (मं०, नवम्बर १९५६) की है। एक कंजूस आदमी काले बाज़ार में अपार धनराशि जमा करके परलोक में भी सफल होता है और चित्रगुप्त को भी अपनी नौकरी में रखकर मरण के देवता यमराज पर विजय और पुनर्जीवन प्राप्त करता है। दो अंकों के एक अन्य नाटक 'चंडतांडव' (कलकत्ता) में, जिसे कि उन्होंने प्रहसन की संज्ञा दी है, श्री जीव ने स्तालिन,

१. प्रकाशित, मद्रास, १९३०।

२. उ० प्र० में क्रमशः प्रकाशित, १९५६। देखें, 'स्त्री-नारद' गद्य में अ० वा०, १९४४; लेखक : पी० एस० दक्षिणामूर्ति।

हिटलर, मुसोलिनी तथा अन्य अधार्मिक एवं वैषम्यपूर्ण तत्त्वों का अंकन किया है और दिखाया है कि वे किस प्रकार धर्म एवं अध्यात्म के देश भारत में प्रवेश कर पाने में असफल (?) रहे। एस० एस० खोत ने छद्म-ज्योतिषी पर 'माला भविष्यम्' और छद्म-वैद्य पर 'लाला वैद्यम' नामक प्रहसन लिखे, जो नागपुर में खेले जाकर प्रशंसित हुए। श्री खोत ने 'ध्रुवावतार' और 'हा हन्त शारदे' नामक दो अन्य सामाजिक व्यंग्यपूर्ण प्रहसन भी लिखे हैं।

'आलस्य-कर्मीयम्' (बेकारी) नामक बहुत सुन्दर ढंग से लिखे नाटक में, जो कि 'श्रीचित्र'[1] में प्रकाशित हुआ, आलवाये के के० आर० नायर ने ग़रीब, बेकार संस्कृत विद्वान् की दुर्दशा का वर्णन किया है जो कि युद्ध-काल में रंगरूट बनकर अपना नाम भरती कराना चाहता है कि सहसा पन्द्रह रुपये मासिक की, एक अध्यापक की नौकरी उसे मिलती है, जो कि एक उपेक्षित संस्कृत कालेज के एक उपवासी प्राचार्य द्वारा दी जाती है; इसमें संस्कृत भाषा और साहित्य को रूपक के ढंग पर प्रस्तुत किया गया है। कवि नायक है, भावना उसकी अधीर पत्नी है। 'गीर्वाणी' मामा है, और घर में दैन्य के कारण संतति-निरोध द्वारा सन्तानों की संख्या दो तक सीमित की गई है : काव्य पुत्र है, अभिरुचि पुत्री। बटुकनाथ शर्मा अपने 'पांडित्य-तांडवित' (वल्लरी, १६५३) में विभिन्न शाखाओं और दलों के पंडित जो शोर मचाते हैं और मिथ्या अहंकार दरसाते हैं, उसका दम्भ-स्फोट करते हैं। मधुसूदन काव्यतीर्थ ने ऐसा ही एक व्यंग्य पंडितों पर 'विद्योदय' में 'पंडित चरित प्रहसन' नाम से प्रकाशित किया था। 'प्रतापरुद्रीय-विडंबना' प्रस्तुत लेखक की एक अप्रकाशित रचना है, जिसमें पैरोडी के रूप में परवर्ती संस्कृत कविता की अतिशयोक्तियों की असंभाव्यता का चार अंकों के हास्यपूर्ण कथानक में विवेचन किया गया है : प्रस्तुत लेखक का 'विमुक्ति' नामक दूसरा अप्रकाशित प्रहसन है, जिसमें एक पूरा दार्शनिक रूपक गुम्फित है। प्राचीन 'भाण' रूप में 'मर्कट मर्दलिका' वाई० महालिंग शास्त्री ने लिखा है (मं०, सितम्बर-नवम्बर, १६५१)। नारियों के नये फ़ैशन, उनके क्लब, नये परिधान, ताश-टेनिश आदि नये खेल, सिनेमा आदि के उल्लेख से समकालीन सामाजिक आधार देकर परम्परित भाण को भी इतना मनोरंजक बनाया जा सकता है, यह सुन्दरेण शर्मा के

१. महाराजा संस्कृत कालेज, त्रिवेन्द्रम में १६४२ में प्रकाशित।

'शृंगार-शेखरभाण'[१] से प्रमाणित है।

छोटे एकांकी नाटक और नाट्य-रूप में प्रस्तुत घटनाएँ आल इंडिया रेडियो के लिए विशेष रूप से इधर लिखी गई हैं, प्रस्तुत लेखक ने इस प्रकार की भागवत पर आधारित संगीत 'रासलीला'[२] और 'कुमार-सम्भव' में कालीदास के सन्देश का एक नया अर्थ देनेवाली नाटिका 'कामशुद्धि'[३] लिखी है। 'संस्कृत साहित्येतिहास' में प्रसिद्ध विज्जिका, विकटनितंबा और अवन्तिसुन्दरी नामक तीन लेखिकाओं के जीवन पर आधारित प्रसंग नाट्य रूप में आल इण्डिया रेडियो पर प्रस्तुत किए गए थे।[४]

प्रादेशिक भाषाओं से अनुवाद और रूपांतर

आरम्भिक वृत्तान्त में, जैसा उल्लेख किया गया है, संस्कृत ने सदा लोकप्रिय भाषाओं और उनके साहित्यों से बड़ा घनिष्ठ सम्पर्क रखा था। आधुनिक काल में भारतीय साहित्यों के आलोचनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन से कई संस्कृतज्ञों को प्रेरणा मिली कि वे अपने प्रादेशिक साहित्यों के उत्तम अंशों को संस्कृत में प्रस्तुत करें। यह अनुवाद इन भाषाओं के प्राचीन तथा आधुनिक साहित्यांशों से हैं। विविध भाषाओं से अनूदित कहानियों और उपन्यासों का उल्लेख हो चुका है। अब हम यह देखेंगे कि उन भाषाओं में से कौन-कौन छोटी और लम्बी कविताएँ तथा अन्य साहित्यिक अंश अनूदित हुए हैं। संस्कृत में भारतीय भाषाओं से अनुवाद का प्राचीनतम उदाहरण तमिळ से मिलेगा। प्रसिद्ध श्रीवैष्णव दार्शनिक वेदान्त देशिक के क़दमों पर क़दम रखकर कुछ आधुनिक दक्षिण भारतीय संस्कृतज्ञों ने आळवारों के धार्मिक स्तोत्रों के अनुवाद किये हैं; आन्ध्र के मेदेपल्ली वेंकटरमणाचार्य (गीर्वाणशगोपसहस्र) मैसूर के टी० नरसिंह अयंगार उर्फ़ 'कल्की' (सहस्रगाथारत्नावली)[५] और कांची के पी० बी० अनंगरंगाचारियर[६] आदि ने इस सारे

१. कुम्भकोणम्, १९३८।

२. अ० वा० और अलग से भी, १९४५।

३. अ० वा० और अलग से भी, १९४६।

४. मद्रास, १९५६।

५. बैंगलोर १९३०।

६. कांजीवरम् १९४७, १९५१, १९५३, १९५४।

स्तोत्र-संग्रह के कुछ अंशों को संस्कृत में निबद्ध किया है। प्रसिद्ध 'तिरुक्कुरळ' के दो संस्कृत अनुवाद मिलते हैं। अप्पा वाजपेयिन के संस्कृत संस्करण का नाम है 'सुनीति कुसुममाला'[1], और उसके साथ लेखक की संस्कृत टीका भी है, और एक और अच्छा तथा आधुनिक संस्करण सुसंगठित अनुष्टुप् में है, जिसका नाम 'सूक्ति-रत्नाकर' है और जो शंकर सुब्रह्मण्य शास्त्री[2] द्वारा रचा गया और क्रमशः सहृ० (१३) में छपा है। उसी पत्रिका में कंबन की तमिळ रामायण का 'रसग्रहण' (१५) छपा है और तमिळ संत पट्टिनतार (१३) का परिचय भी छपा है। संस्कृत कालेज, त्रिवेंद्रम के एस० नीलकंठ शास्त्री ने तमिळ की 'कम्ब रामायण' का संस्कृत में अनुवाद किया और इसके कुछ अंशों का प्रकाशन 'श्रीरामचरित्रम्' के नाम से किया है। कडय्यकुडी के सुब्रह्मण्य शास्त्री ने तमिळ के नीति-प्रधान अभिजात 'नलाडियर' को अपनी चतुष्पदी में अनूदित किया है। नेम्मारा (केरल राज्य) के सी० नारायण नायर ने तमिळ महाकाव्य 'शिलप्पधिकारम्' को छः सर्गों के संस्कृत-काव्य में अनूदित किया है, जिसका नाम 'कण्णक्कीकोबलम्'[3] है।

वी० वेंकटराम शास्त्री के 'कथाशतक'[4] की कहानियाँ मूल देशी भाषाओं से ली गई हैं। शेष सूरि ने संस्कृत की चार हज़ार कहावतें जमा कीं (म० सं० का० मै० मै०, १९४९), जिनमें से अधिकतर तमिळनाड और अन्य दक्षिण भारतीय प्रदेशों में से हैं। गद्य-पद्य में प्रसिद्ध तमिळ साहित्यिकों के छोटे वर्णन भी प्रकाशित हुए हैं, उदाहरणार्थ : के० एस० नागराजन (बैंगलोर) ने वैष्णव रहस्यवादी कवयित्री आण्डाळ पर (अ० वा०, १९४७) लिखा। वाई० महालिंग शास्त्री ने 'द्राविडार्य-सुभाषित-सप्तति' में तमिळ की विदुषी अव्वै (तिरुवलंगाडु, १९५२) के मूल्यवान पद्यों में से चुनी हुई रचनाएँ जमा की हैं। तमिळ लोग-गीतों और प्रसिद्ध धार्मिक गीतों की धुनें संस्कृत में दक्षिण भारत के विद्वान् संगीत रचनाकारों और कवियों ने ग्रंथित कीं : नौका-गीत, झूले के गीत, तिरुप्पुह, कुम्मी, कोलाट्टम् इत्यादि। इनमें से कई मौखिक परंपरा में सुरक्षित हैं, और कुछ पांडुलिपियों में। कडय्यकुडि के सुब्रह्मण्य शास्त्री की प्रकाशित रचनाओं में से एक में

१. कुम्भकोणम्, १९२७।
२. इन्हें 'शब्द तरंगिणी' पुस्तक पर १९७० का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।
३. सैलम, १९५५।
४. मैसूर, १८९८।

कई लोक-गीतों की धुनों का उपयोग किया गया है। नरसिंह संस्कृत कालेज, चिट्टिगुडूर के एस० टी० जी० वरदाचारियर ने संस्कृत में तेलुगु के प्रसिद्ध शतक-काव्यों को पद्यबद्ध किया : वेमनाशतक, सुमतिशतक, दाशरथीशतक, कृष्णशतक और भास्करशतक और कलहस्तिस्वरशतक[१]। डॉ० जी० बी० सीतापति ने स्फुट तेलुगु पद्यों को संस्कृतबद्ध किया, जिनमें क्षेत्रज्ञ के कुछ तेलुगु पद हैं, जो भरत-नाट्य में अभिनय के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं और गुरज़ाड अप्पाराव की 'पूर्णम्मा' नामक एक तेलुगु कविता भी है। आंध्र वीमेंस संस्कृत कालेज, राजमुंद्री के वाई० मल्लिकार्जुन राव ने तेलुगु रोमांस 'कलापूर्णोदय' का संस्कृत गद्य-रूपान्तर प्रस्तुत किया है। के० यज्ञनारायण दीक्षित ने अल्लसणि पेद्दन्ना के 'मनुचरित्र' के रूपान्तर का प्रथम खंड प्रकाशित कर दिया है।

मलयालम में, केरल के तीन प्रधान आधुनिक कवि उल्लूर परमेश्वर, ऐयर, वल्लत्तोल नारायण मेनन और कुमारन् आशान के अनुवाद ई० वी० रामण नम्बूतिरी[२] और एन० गोपाल पिल्लई[३] ने किये हैं। मलयालम से संस्कृत में अन्य पद्यानुवादों में उल्लेखनीय हैं—'चन्द्रिका' (हरिप्पाद, १९५५), 'केशवीयम्' तथा 'नलिनी' काव्य। महाराष्ट्र में एम० आर० तेलंग नामक स्वर्गीय गुणी विद्वान ने, जिसकी सब रचनाएँ हस्तलिखित रूप में हैं, ज्ञानेश्वर की एक छोटी कविता का अनुवाद संस्कृत में प्रकाशित किया है (एम० आर० मई, १९४७)। सातारा के सखाराम शास्त्री भागवत और पूना के एम० पी० ओक ने 'ज्ञानेश्वरी' का संस्कृत में अनुवाद किया है। पंडित ओक का कार्य न्यायाधीश ए० वी० खासनीस ने आगे बढ़ाया। डी० टी० साकोरीकर का 'गीर्वाणकेकावली' (भोर, १९४६) मोरोपन्त की 'केकावली' का संस्कृत रूप है। एन० सी० केलकर के प्रसिद्ध मराठी उपन्यास 'बलिदान' का संस्कृत अनुवाद लटकर शास्त्री ने किया (कोल्हापुर, १९४०)। बंगाली संस्कृतज्ञों ने दक्षिण भारतीय बंधुओं के ढंग पर सुसंगत कार्य किया है। बंगाली महाकाव्य 'मेघनादवध' संस्कृत में प्रकाशित हुआ (सं० सा० प० प० १९३३-३४, नित्यगोपाल विद्याविनोद)। भास्करानन्दस्वामिन ने संस्कृत में चैतन्य की जीवनी पर 'चैतन्यचरित्रामृत संस्कृत अनुवादः' (सं० सा० प० प०,

१. चिट्टिगुडूर और मद्रास, १९५४ और १९५५।

२. महाकवि कृतयः, त्रिवेन्द्रम्, १९४५; 'केरलभाषाविवर्तः', त्रिवेन्द्रम्, १९४८।

३. 'सीताविचारलहरी', त्रिवेन्द्रम्, १९४२।

१९५४, खंड १ अलग से प्रकाशित, १९५६-५७) लिखा है। बंकिमचन्द्र और शरच्चन्द्र के अनुवादों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कई कविताएँ और छोटी गद्य-कृतियाँ भी फटिकलाल दास ने संस्कृत में अनूदित कीं : उर्वशी, स्पर्शमणि, अभिसारिका, असारदानम्, निष्फल उपहार, राष्ट्रनः प्रतिबुध्यताम्, मस्तकविक्रयः, तुच्छ क्षतिः, स्वर्ण-मृगः ये सब रचनाएँ मंजूषा (१९५४-५५) में प्रकाशित हुईं; और 'प्रतिनिधि' (सं० सा० प० प०, अक्तूबर १९५५) तथा 'पूजार्थिनी', धीरेन्द्रनाथ द्वारा अनूदित (स० सा० प० प०, अक्तूबर १९५४) हुई। एस० पार्थसारथी ने ठाकुर के 'कचदेवयानी' का संस्कृत-रूपान्तर मद्रास संस्कृत कालेज में १९२४-२५ में रंगमंच पर अभिनीत किया। हिन्दी कविता को संस्कृत में उतारने का कार्य जयपुर के मथुरानाथ शास्त्री ने बड़े विस्तृत ढंग पर किया। वे 'जयपुरवैभव'[1], 'साहित्यवैभव'[2] और 'गीतिवीथी'[3] नामक ग्रन्थों में कई छन्द और गीत-रूप ब्रजभाषा और हिन्दी और उर्दू से संस्कृत में लाये। उनका उद्देश्य संस्कृत-पण्डितों को प्रादेशिक छन्दों के सौंदर्य से परिचित कराना था; उन्होंने 'बिहारी-सतसई' का भी संस्कृत में अनुवाद किया। होशियारपुर के जगद्राम शास्त्री ने अपनी 'सगीत रामायण' में आजकल प्रचलित हिन्दी लोकधुनों का समावेश किया है। संस्कृत मासिक 'सूर्योदय' में प्रसिद्ध हिन्दी-निबन्धों के संस्कृत-रूपान्तर मिलते हैं। विपुलानन्द ने तुलसीदास के विनय-पद का अनुवाद (अ० वा०, १९५०) किया है और मैसूर के के० तिरुवेंकटाचार्य ने हस्तलिखित रूप में तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का संस्कृत-रूपान्तर तैयार किया है। 'संस्कृतम्' (३-४-५६) में बम्बई की गुजराती रहस्यवादी कवयित्री निर्मला उपनाम 'श्यामा' पर लेख है और इसी पत्रिका के दिसम्बर (१९५७) अंक में राहुल सांकृत्यायन की 'निशा' का अनुवाद है, जिसमें ६००० ई० पू० में वोल्गा के उत्तरी तट पर आदिम भारोपीय जीवन की एक कथा कही गई है।

आधुनिक संस्कृत की समृद्धि में विभिन्न भाषाओं और साहित्यों के अनुवादों ने बड़ा योग दिया है। अंग्रेजी कविता से अनुवाद का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उमर ख़ैयाम की रुबाइयात की ओर संस्कृत-लेखक भी स्वाभाविक रूप से

---

१. जयपुर, १९४७।

२. जयपुर, १९३०

३. बम्बई।

आकर्षित हुए हैं : हरिचरण ने, जिन्होंने 'कपाल कुण्डला' का संस्कृत अनुवाद किया था और विजयनगरम् के आदि माटल नारायणदास ने उमर ख़ैयाम का संस्कृत अनुवाद किया है; उनके बाद गिरिधर शर्मा[1] ने ('अमर-सूक्ति-सुधाकर')[2], प्रोफ़ेसर एम० आर० राजगोपाल अयंगार ने[3] तीसरा, और पी० वी० कृष्णन नायर ने उमर ख़ैयाम का चौथा अनुवाद 'मदिरोत्सव'[4] नाम से किया। उमर ख़ैयाम का सबसे हाल में जो अनुवाद हुआ, वह है सदाशिव डांगे का 'भावचषक' (बम्बई, १६५६)। मध्य-पूर्व के साहित्य के अनुवादों में 'अलीबाबा और चालीस चोर'[5] कहानी का संस्कृत अनुवाद जी० के० मोडक ने किया और 'अलादीन और उसका जादुई चिराग़' (सहृ० ४) और 'गुलिस्ताँ' के दो अनुवाद, 'प्रसून वाटिका' रामस्वामी ने सं० सा० प० प० (१६२३-२४) में और 'पुष्पोद्यान' दो भागों में आर० वी० गोखले[6] ने प्रकाशित किया। 'आवेस्ता' को भी, जो कि 'ऋग्वेद' की संस्कृत के निकटतम है, अनुवाद के लिए लिखा गया, विशुद्ध संस्कृतज्ञों द्वारा नहीं बल्कि पारसियों द्वारा; पुराने अनुवाद 'कलेक्टेड संस्कृत राइटिंग आफ़ दि पारसीज़' नामक सीरीज़ में प्रकाशित हुए और आधुनिक पारसी लेखकों में भाषा-शास्त्रज्ञ डॉक्टर आई० जे० एस० तारापोरवाला ने मंजूषा के पृष्ठों में 'आवेस्ता' की प्रार्थना के संस्कृत-अनुवाद के कुछ नमूने दिए हैं; और प्रसिद्ध गुजराती कवि ए० एफ़० ख़बरदार ने कई प्रार्थनाओं के संस्कृत-रूप अपने 'न्यू लाइट आन दि गाथाज आफ़ होली जरथुस्त्र' (बम्बई, १६५१) में दिए हैं। बौद्ध पालि साहित्य से, म० म० विधुशेखर भट्टाचार्य का मिलिन्दपन्ह' का (सं० सा० प० प०, दिसम्बर १६३६); मंजूषा में 'धम्मपद' का क्रमशः (सितम्बर, १६५२) संस्कृत-अनुवाद प्रकाशित हुआ। प्राचीन ईसाई स्रोतों के और यूनानी मुहावरों और संस्कृत समानार्थी कहावतों के संस्कृत अनुवाद आर० आंत्वान एस० जे० और के० सी० चटर्जी ने प्रकाशित किये (मंजूषा, १६५१ और १६५३)। जापानी साहित्य से

१. श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी को 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' पर १६६१ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

२. झालरापटन, १६२६।

३. मद्रास, १६४०।

४. त्रिचूर, १६४५।

५. लांगमैन्स, १६३४।

६. बेलगाँव, १६३५।

कुछ अनुवाद 'मित्रगोष्ठी' में प्रकाशित किये गए।

संस्कृत के लेखकों ने अपने उन बंधुओं की ओर भी ध्यान दिया है जिन्होंने अंग्रेज़ी माध्यम के द्वारा अपने साहित्यिक गुणों को व्यक्त किया। 'अहो वलीयस्त भवितव्यताय:' पी शंकर सुब्रह्मण्य शास्त्री ने एक मनोरंजक दार्शनिक कहानी के संस्कृत-अनुवाद (सह० १२) के रूप में प्रस्तुत की है, जो मूल अंग्रेज़ी में बी० आर० राजम् अय्यर के 'रैम्बलस इन दि वेदान्त' नाम से थी। वी० वी० श्रीनिवास अयंगार मद्रास में अव्यावसायिक रंगमंच के सस्थापकों में से एक थे; उन्होंने अंग्रेज़ी में कई मनोरंजक नाटिकाएँ लिखीं, जिनमें से एक का संस्कृत रूपान्तर 'दामु कुटुम्बक' नाम से उ० प० (खंड ४) में प्रकाशित हुआ। 'उमादर्श' नामक सी० वेंकटरामैया (बैंगलोर, १९३७) की कविता का अनुवाद है। प्रसिद्ध भारतांग्ल लेखक के० एस० वेंकटरमणी के 'ए डे विथ शम्भू' (बच्चों के लिए उपदेशात्मक रचना) का संस्कृत अनुवाद वाई० महालिंग शास्त्री ने 'शम्भु-चार्योपदेश'[1] नाम से किया है। श्री अरविन्द के काव्यों में कुछ रचनाओं का संस्कृत में अनुवाद टी० वी० कपाली शास्त्री ने 'कवितांजलि' (मद्रास, १९४६) नाम से किया।

राष्ट्रीय आंदोलन

नया आन्दोलन वस्तुत: एक नवजागरण और भारत की आत्मा की एक नई खोज था। आधुनिक शिक्षा और आलोचनात्मक दृष्टि से विकास के साथ-साथ, भारतीय इतिहास अधिक गहराई से पढ़ा जाने लगा, भारतीय परम्परा के महत्त्व का नया अनुभव सामने आया। संस्कृतज्ञ प्राचीन भारत के वैभव की ओर उत्साह से मुड़े और नवजागरण के नये प्रयत्न की ओर प्रोत्साहित हुए। भारतीय संस्कृति के उच्चतर आध्यात्मिक मूल्य और आधुनिक सभ्यता का भौतिक स्वरूप, नई शैलियों और रूपों का विकास, पश्चिम का दासत्व-भरा मर्कटानुकरण, इन सबसे एक प्रतिक्रिया पैदा हुई और भारतीय आत्मा की पुन: प्रतिष्ठा की भावना उसमें से जागी। राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता-आन्दोलन का जन्म हुआ और सार्वजनिक आन्दोलनों के नेताओं के एक समूह का उदय हुआ। इनकी देशभक्ति, त्याग, वक्तृत्व-शक्ति और अभियानों ने बुद्धिजीवियों और जनसाधारण को एक साथ

१. मद्रास १९३१।

झकझोर दिया। संस्कृतज्ञ भी राजनैतिक आन्दोलनों से प्रभावित हुए और इस युग के संस्कृत-लेखक में नवयुग का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। वस्तुतः इस नई भावना से अनुप्राणित साहित्य ही समकालीन संस्कृत का सबसे बड़ा भाग है।

इस वर्ग में सबसे पहले वे कविताएँ हैं जिनमें उच्छ्वसित ढंग से स्वप्निल लेखक भारत की महत्ता तथा पतन की चर्चा करता है, और भावी पुनर्निर्माण के स्वप्न देखता है। 'तदातीतम् एवं' (वह सब बीत गया) भारत की प्राचीन श्रेष्ठता की स्मृति दिलाने वाली विलापिका है, जो अन्नदाचरण तर्कचूड़ामणि (सं० चं०, खं० ५) ने लिखी है। 'भारती मनोरथ'[1] में एम० के० ताताचार्य, (पी० डब्ल्यू० डी०, मद्रास) ने समुद्र के किनारे अपनी एक तन्द्रा का वर्णन किया है, जिसमें वे इस देश की ऊंची संस्कृति और आधुनिक काल में उसके पतन के चित्र देखते हैं। एस० टी० जी० वरदाचारियर के 'सुषुप्ति वृत्त'[2] में भी तीन सर्गों में एक स्वप्न है, जिसमें पहले प्राचीन गौरव की तुलना में अँधेरा चित्र दिया गया है; बाद में क्षितिज पर महात्मा गांधी की आकृति आती हुई दिखाई गई है, जो अँधेरा दूर करती है। पच्चीस मदाक्रान्ता छन्दों में एम० वी० सुब्रह्मण्य अय्यर (सं० सा० प० प०, १९२५-२६) ने 'भारत-वधू-विषाद' में भारतीय परम्परा के ह्रास के प्रति शोक व्यक्त किया है। 'भारत-भाग्य-विपर्यय'[3] के० एस० कृष्णमूर्ति शास्त्री की एक बड़ी लम्बी कविता है, जिसका विषय भी यही है। 'भारत गीता' (सहृ० १) में भारतमाता पर आर्याएँ लिखी हैं। किसी भी संस्कृत पत्रिका का शायद ही कोई ऐसा अंक निकलता हो जिसमें भारतमाता पर कविता प्रकाशित न हुई हो। टी० वी० कपाली शास्त्री ने अपने 'भारती-स्तव'[4] में परम देवी माता के ही दर्शन भारतमाता के रूप में किये हैं। लक्ष्मी अम्माल देवी की 'भारती गीता' में तीन सर्गों में, भारत की प्रतिष्ठा और पतन का वर्णन है और भारतमाता के पुत्रों को उसके सर्वांगीण पुनर्जागरण के लिए कटिबद्ध होने का आवाहन है। 'शारदा प्रसाद'[5] मोचेर्ल रामकृष्ण की रचना है, जिसमें भारतीय

१. प्रथम विश्व-युद्ध के समय प्रकाशित।

२. चिट्टिगूडूर, मद्रास, १९३७।

३. म० वा० में क्रमशः प्रकाशित।

४. अरविंद आश्रम, पांडिचेरी, १९४९।

५. नेल्लोर, १९४९।

संस्कृति के अनुयायियों की दुर्दशा वर्णित है। पुरी के म० म० दामोदर शास्त्री ने भारत की महानता पर 'भारत-गौरव' नामक एक कविता की रचना की है।

आधुनिक घटनाओं का प्रभाव

इसके बाद राष्ट्रीय आन्दोलन से संबंधित नेताओं के विषय में साहित्य आता है। 'संस्कृत चन्द्रिका' के बाद से सभी पत्रिकाओं में नेताओं की जीत और उपलब्धियों के विषय में कविताएँ और वर्णन प्रकाशित होते रहे हैं। सं० चं० के पांचवें खण्ड में 'टिळकावतार' पर ३७ छन्दों की एक कविता है। सहृ० में गोखले का गद्य-वर्णन है, उनकी मृत्यु पर एक विलापिका (६, १०) है, और सरोजिनी नायडू पर एक कविता है। हाल के लोकमान्य टिळक-उत्सव के अवसर पर एम० एस० अणे, के० डब्ल्यू० चितळे, वासुदेव शास्त्री बागेवाडिकर तथा 'मधुरवाणी' के सम्पादक पंडारिनाथाचार्य गलागलि ने चार टिळक-जीवनियाँ संस्कृत में लिखी हैं। बैंगलोर के श्री नागराजन ने 'भारतीय देशभक्त चरित्रम्'[1] नाम से एक जीवनी-माला लिखी, जिसमें टिळक, एंड्रयूज, विवेकानन्द[2], राधाकृष्णन् आदि की जीवनियाँ हैं। कुरुक्षेत्र के पंडित भिक्षराम ने गद्य में मालवीय, राजेन्द्र प्रसाद, पटेल और नेहरू की जीवनियाँ लिखी हैं। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्रज्ञ आशुतोष मुखर्जी पर कालिपाद ने 'संस्कृत पद्यवाणी' पत्रिका में 'आशुतोष अवदान' लिखा। वी० सूर्यनारायण शास्त्री ने आंध्र के सम्पादक, देशभक्त और वयोवृद्ध नागेश्वर राव की एक छोटी-सी जीवनी 'जीवित चरित्र' लिखी है। लक्ष्मी नारायण शण-भोग के 'राष्ट्रसभापतिगौरव'[3] में सभी कांग्रेसाध्यक्षों का वर्णन है, सुभाष बोस पर एक विशेष कविता है, और कांग्रेस के १९३५ के स्वर्ण-जयन्ती अधिवेशन की स्मृति का विशेष उल्लेख है। सं० र० (नवम्बर, १९४८) में एक विशेष कविता नेहरू पर है; और हाल में ही नागपुर के एस० बी० वर्णेकर ने नेहरू पर 'जवाहर तरंगिणी' नाम से सौ श्लोक लिखे हैं।

फिर भी, महात्मा गांधी के व्यक्तित्व में, राजनैतिक कार्य के साथ भारत के महात्माओं के आदर्श और व्यवहार का ऐसा मिश्रण हुआ था कि संस्कृत के

१. बैंगलोर, १९५२।
२. अलग से प्रकाशित, बैंगलोर, १९४७।
३. बम्बई, १९३८।

लेखकों का सबसे अधिक ध्यान उनकी ओर ही आकर्षित हुआ, और उन पर नई गीताएँ और महाकाव्य रचे गए, जैसे किसी आधुनिक राम या बुद्ध पर लिखे गए हों। सत्याग्रह की कथा, जो आधुनिक भारत में एक गाथा की भाँति पढ़ी जाती है, कई काव्यों का विषय बनी। क्षमा राव की 'सत्याग्रह गीता'[1] और 'उत्तर सत्याग्रह गीता'[2] प्रसादपूर्ण महाकाव्यशैली में लिखी गई हैं। सी० पांडुरंग शास्त्री की 'सत्याग्रह-कथा' (म० वा०), जाझर (रोहतक) के सत्यदेव वशिष्ठ का 'सत्याग्रह नीति काव्य' और पूना के ताडपत्रीकर द्वारा गांधी-विचार का सार, जिसमें भगवद्गीता की पर्याप्त प्रतिध्वनियाँ मिलती हैं (गीता गांधी जी का प्रिय ग्रन्थ था) इसके उदाहरण हैं : प्राचीन महाकाव्य शैली में स्वामी भगवदाचार्य ने अपने महाकाव्य के तीन खंड लिखे हैं : 'भारत पारिजात', 'पारिजातापहार और' पारिजात सौरभ'[3]। दरभंगा के साधुशरण मिश्र ने 'श्रीमद् गांधी चरित्र' (पांडु-लिपि) नामक महाकाव्य बीस सर्गों में लिखा है। 'गांधी दर्शन' की टीकाओं में डी० एस० शर्मा का 'गांधी-सूत्र'[4] उल्लेखनीय है। इसमें लेखक ने प्राचीन सूत्र शैली को प्रयुक्त किया है। इसमें गांधी जी की रचनाओं और भाषाओं में से अंग्रेज़ी टीकायुक्त संकलन के रूप में जमा किए गए हैं। गांधी जी और उनके उपदेशों पर छोटी कविताएँ कई पत्र-पत्रिकाओं में तथा काव्य-संग्रहों में बिखरी हुई हैं। उदाहरणार्थ अ० वा० (१९४५) में एस० कृष्णभट्ट की 'गांधी-सप्ताह' और डॉ० छाबड़ा की 'स्वर्णबिंदु', जिसमें प्रयुक्त वैदिक छंद से यह सुझाया गया है कि महात्मा गांधी भारतीय ऋषियों की परम्परा में थे। गांधी जी के विचारों का जो निरूपण सबसे हाल में हुआ है वह है 'गांधी सूक्ति मुक्तावली'। इसके लेखक सी० डी० देशमुख ने विभिन्न छन्दों में गांधी जी की सौ चुनी हुई सूक्तियों का रूपान्तर किया है।

उन कहानियों का उल्लेख पहले किया जा चुका है जो स्वतन्त्रता के आन्दो-लन पर आधारित हैं। प्रस्तुत लेखक का 'गोप-हम्पण्ण'[5] एक कथाकाव्य है, जो

---

१. पेरिस, १९३२।

२. बम्बई, १९४९।

३. द्वितीय पूर्ण सस्करण, अहमदाबाद, १९५१।

४. मद्रास, १९३८, १९४६।

५. अ० वा० १९४७; अलग से भी प्रकाशित।

कुछ शराबी ब्रिटिश सिपाहियों की कुदृष्टि से एक ग़रीब हिन्दू स्त्री को बचाने में रेलवे के पाइंट्समैन की वीर-मृत्यु की सत्यकथा पर आधारित है। इस आन्दोलन पर एक पूरा नाटक 'भारत मंगलम्' (सं० सा० प० प०, १९५१) छपा है, जिसमें जनता के ऐक्य या इच्छा-शक्ति का 'गण-शक्ति' नाम से वर्णन है। इसका एक ओर चंडीमाता और दूसरी ओर भगवद्गीता पात्र बनकर समर्थन करती हैं। इसमें मातृ-मुक्ति का उद्देश्य सिद्ध किया गया है। १९५७ के आन्दोलन का जो शताब्दी-समारोह हाल में हुआ था, उसके अवसर पर इस प्रथम भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के प्रति कई रचनाएँ संस्कृत में लिखी गई, यथा : वासुदेव शास्त्री बागेवाडिकर ने गद्य में 'क्रांति-युद्ध' लिखा, और 'मधुरवाणी' (मई, १९५७) में इस संग्राम के नायकों पर 'क्रांति-वीराणाम् अद्भुतकथा:' नामक रचना प्रकाशित हुई।

पत्र-पत्रिकाओं में राजनीतिक स्थिति और राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों से सम्बद्ध अनेक लेख भी प्रकाशित होते रहे हैं। सं० चं० में 'वैदेशिक वाणिज्यं भारतदेशीय: धर्मश्च' लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें सादे राष्ट्रीय जीवन और स्वदेशी वस्तुओं के प्रसंग में उन पाश्चात्त्य उत्पादकों की निन्दा की गई थी, जो कि भारत में तेल-साबुन की भरमार किए दे रहे थे। 'श्री' (खंड १०, अंक ३-४) में एक कविता 'खादी' पर है।

सं० र० में रियासती राजाओं से जनसाधारण और किसानों की स्थिति सुधारने की प्रार्थना की गई है (१९३९) और जनता को अपनी सत्ता देने की बात है (अक्तूबर १९४७)। सं० र० में एक कविता 'देश-दशा' (१९४२) छपी है, जिसमें देश के सर्वांगीण विकास के लिए क्या किया जा सकता है, यह लिखा गया है। विनोबा भावे का नवीनतम भूदान आन्दोलन भी भारती (१९५३) में 'भूदान-चतु: श्लोकी-गीता' नामक कविता का विषय है।

'गांधी-सूत्र' की तरह 'ग्रामिज़्म' ग्रंथ के लेखक राम राय ने 'राष्ट्र-स्मृति'[१] नाम से कुछ छोटी गद्य-सूक्तियाँ दी हैं जो प्रत्येक देश-भक्त को प्रतिज्ञा की भाँति याद रखनी चाहिए।

स्वतन्त्रता-आन्दोलनों के अभियानों और सभाओं में संगीत की आवश्यकता थी और स्वयंसेवकों और जनसाधारण के उत्साहवर्धन के लिए कई राष्ट्रीयतापूर्ण

१. अहमदाबाद, १९५०।

गीत लिखे गए । ऐसे राष्ट्रीय गीतों की बड़ी बाढ़ आई । इसमें संस्कृत का भी अपना योग है। 'भारत भजन'[१] में दक्षिण भारत के एक प्रसिद्ध संगीत रचनाकार मयूरम् विश्वनाथ शास्त्री ने संस्कृत के एक लोकप्रिय रूप को अपनाया। कई प्रचलित हिन्दुस्तानी तथा कर्नाटक संगीत-पद्धतियों का भी इनमें समावेश किया गया, ताकि वे दूर-दूर तक गाए जा सकें। मथुरानाथ शर्मा के 'साहित्य-वैभव' में कई 'देश-गीत' हैं।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति का संस्कृत कविता में स्वागत किया गया। देवकीनन्दन शर्मा का 'स्वतन्त्र भारत' (सं० र०, अगस्त १९४७ में प्रकाशित), प्रस्तुत लेखक की रचना 'स्वराज्य केतु' 'हिन्दू' में प्रथम स्वातन्त्र्य-दिवस-उत्सव के समय प्रकाशित, कुञ्ञान् राजा की 'भारत-प्रशस्ति' (अडयार लायब्रेरी बुलेटिन, फरवरी १९५० में प्रकाशित) और बैंगलोर के एम० रामकृष्ण भट्ट की 'स्वातन्त्र्य ज्योतिष' उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। पं० प्रभुदत्त शास्त्री ने राष्ट्रध्वज और चरखा पर कविताएँ लिखी हैं।

महात्मा जी के शोकपूर्ण अवसान के बाद कई विलापिकाएँ और लम्बी कविताएँ लिखी गईं। प्रस्तुत लेखक की 'महात्मा'[२], अमरचन्द्र की 'महात्मा' (सं० सा० प० प०, फ़रवरी १९४८), सुधाकर की 'हा विश्ववंद्य गांधी' (सं० र०, फ़रवरी १९४८), के० एल० वी० शास्त्री की 'महात्मा विजय'[४], जी० सी० झाला की श्रद्धांजलि'[३], वी० नारायण नायर की 'महात्मा निर्वाण'[५], बद्रीनाथ झा की 'शोक श्लोकाष्टक'[६] आदि रचनाओं में देश-भर में फैले हुए विषाद और राष्ट्रपिता की मृत्यु से जनता की हानि का वर्णन है। इन सब कविताओं में, संक्षेप या विस्तार से, गांधी जी जो आदर्श हमारे लिए छोड़ गए हैं, उनका वर्णन है।'

डॉ० सी० कुञ्ञान् राजा के कारण स्वतंत्र भारत का संविधान संस्कृत में अनूदित किया गया। डॉ० कुञ्ञान् राजा ने कुछ अंशों का प्रारूप 'भारत राष्ट्र-

---

१. मद्रास, १९४८ ।

२. 'वेदान्त केसरी', मद्रास, १९४८; अलग से भी ।

३. पालघाट, १९४९।

४. 'वन्दे मातरम्' और उनका 'सुषमा' नामक संग्रह, १९५५ ।

५. त्रिचूर, १९५४, लेखक की टीका सहित ।

६. दरभंगा, १९५३ ।

संगठन'[१] नाम से प्रस्तुत किया। इस दिशा में दूसरा प्रयत्न (शासकीय समिति ने जब यह कार्य उठाया उससे पहले) बेजवाड़ा के वकील जी० कृष्णमूर्ति ने किया। उन्होंने ८-१-१९४९ तक विधान-सभा द्वारा स्वीकृत धाराओं का अनुवाद संस्कृत में किया।

स्वातंत्र्योत्तर काल की राजनैतिक घटनाएँ, विशेषत: कश्मीर की नाटकीय घटनाएँ, जिनका अन्त शेख़ अब्दुल्ला की गिरफ़्तारी में हुआ, एन० भीमभट्ट ने 'कश्मीर-सन्धान-समुद्यम्'[२] में वर्णित की हैं।

स्वतन्त्र भारत की कई समस्याएँ संस्कृत-पत्रिकाओं में विवेचित हैं। कांग्रेस सरकार के दोष, भ्रष्टाचार, काला बाज़ार और दूसरी बुराइयाँ, स्वदेशी विद्याओं और संस्कृत के प्रोत्साहन का अभाव आदि पर 'संस्कृत भवितव्यम्' (२१-८-१९५४) में पी० करमलकर शास्त्री ने 'स्वतंत्र्याभास' नामक कविता में शोक व्यक्त किया है। संस्कृत और उसकी सद्य:स्थिति एक चर्चित विषय है। 'विज्ञान-चिंतामणि' में प्रकाशित एक नाटक का उल्लेख पहले किया जा चुका है, जिसमें संस्कृत का भविष्य एक ओर अंग्रेज़ी और दूसरी ओर प्रादेशिक भाषाओं को पात्र रूप में रखकर किया गया है। उसी के समान अन्य रचनाएँ भी लिखी गई हैं; उदाहरणार्थ प्रभुदत्त शास्त्री ने सस्कृत-हिन्दी-मिश्रित शैली में 'संस्कृत वाग्विजय' नामक पंचांक नाटक (दिल्ली, १९४२) लिखा। काशी कृष्णम्माचार्य की 'भारती-सप्तक-त्रय' और उससे पुराने आर० वी० कृष्णमाचारियर की 'वाणी-विलाप' ('कुम्भकोणम्' १९२६) संस्कृत-विद्या की दु:खद दशा पर कविताएँ हैं। पत्र-पत्रिकाओं में इस प्रकार की अगणित कविताएँ छपी हैं।

संस्कृत-जगत् की आँखें अब उत्सुकता से साहित्य अकादेमी और उसकी संस्कृत-परामर्शदात्री समिति की प्रेरणा से निर्मित संस्कृत कमीशन[३] की ओर केन्द्रित हुई हैं।

इस सर्वेक्षण से यह स्पष्ट लक्षित होगा कि संस्कृत न तो सोई है और न वह प्राचीन विचार-बन्धों को ही पुनः दुहरा रही है। परिवर्तन के युग में स्थित्यन्तर

१. अडयार लाइब्रेरी, १९४८।

२. अ० वा० बैंगलोर, ११-१२, १९५२-५३।

३. इस कमीशन की रिपोर्ट अब प्रकाशित हो गई है और सरकार उसकी सिफ़ारिशों पर विचार कर रही है।

में संस्कृतज्ञ भी अपना हाथ बँटाना चाहते हैं और चारों ओर घटित घटनाओं के प्रति अपने मन की प्रतिक्रियाएँ और आकांक्षाएँ व्यक्त कर रहे हैं।

संस्कृत का भविष्य

संस्कृतज्ञ बड़े शौर्य से अपनी भाषा को जीवित बनाये रखने का यत्न कर रहे हैं, और उसे केवल पुरातन विद्या और अतीत की कला-कृतियों का प्राचीन भांडार ही बनाये रखना नहीं चाहते। वे अब यह अनुभव करने लगे हैं कि निरी प्राच्य विद्या के शोध पर विलियम जोन्स और मैक्समूलर के कथनों की उद्धरणी या प्राचीन की स्तुति गाने मात्र से काम नहीं चल सकता और न इस प्रकार इस भाषा को एक जीवित भाषा का स्तर दिया जा सकता है। उसकी पूर्व प्रतिष्ठा क़ायम रखने के लिए समकालीनों द्वारा उस भाषा का उपयोग और उसमें मौलिक रचना ही एकमात्र उपाय है। पंडितों के साथ-साथ अंग्रेज़ी पढ़ा-लिखा शिक्षित संस्कृतज्ञ भी अब मुक्त रूप से संस्कृत में लिखने और बोलने लगा है। विश्वविद्यालयों में भी संस्कृत के माध्यम द्वारा परीक्षा में उत्तर दिये जाने लगे हैं और स्नातकोत्तर शोध-प्रबंध भी लिखे जाने लगे हैं। अब नियमित रूप से संस्कृत-परिषदें होने लग गई हैं। संस्कृत कठिन भाषा है। इस तर्क के खंडन में संस्कृत को सरल बनाने के प्रयत्न और उसे सुधारने के यत्न भी किये जा रहे हैं। संस्कृत अध्यापन के इस पक्ष को लेकर अनेक पुस्तक-पुस्तिकाएँ संस्कृत में प्रकाशित हुई हैं। गत जन-गणना में बहुत अधिक लोगों ने अपनी मातृभाषा संस्कृत लिखवाई है। अपने अन्य कार्यों के बीच भूतपूर्व वित्त मंत्री महोदय जैसे व्यस्त सार्वजनिक कार्यकर्त्ता भी संस्कृत में मौलिक रचना की शक्ति का अभ्यास बढ़ाते जाते हैं।

संस्कृत में इस नई आत्मा की कुछ मुख्य विशेषताएँ हैं—पाश्चात्य साहित्य के विचारों और रूपों का प्रभाव, प्रादेशिक साहित्यों के साथ घनिष्ठ सम्बन्धों का पुनर्नवीकरण, समकालीन भारत का संस्कृत-साहित्य में प्रतिबिम्ब, और आज देश को जिन विचारों और आदर्शों ने अनुप्राणित किया है, उनका प्रसार। इस विस्तार में कुछ ऐसी भी बातें आ गई हैं, जिनका महत्त्व बतलाना बहुत आवश्यक है। अन्य भारतीय भाषाओं की भाँति संस्कृत को अंग्रेज़ी और अन्य विदेशी भाषाओं से कुछ शब्दों को आत्मसात् कर लेना चाहिए; परन्तु संस्कृत जैसी भाषा में वैज्ञानिक साहित्य की परम्परा है और उसमें शब्द-निर्माण की अपेक्षाकृत अधिक सुविधा

है, अतः संस्कृत के नये लेखक अधिक समतल, प्रगल्भ और मधुर शब्दावली एवं शैली निर्मित कर सकते हैं। किन्हीं-किन्हीं उत्तर भारतीय संस्कृत पत्रिकाओं में जैसे अन्य प्रयोग किये जाते हैं; यथाः सरकारस्य, कार्ड, बिलम् इत्यादि, वे न किये जायँ तो अच्छा होगा। संस्कृत में भी बड़े अच्छे नये पर्यायवाची शब्द निर्मित हो सकते हैं; जैसे कुछ संस्कृत-पत्रिकाओं और निबन्धों में प्रयुक्त होते हैं, यथाः कृष्णआपण (ब्लैक मार्केट), उच्च शिक्षण (हायर एजुकेशन), अनावृत-पत्र (ओपेन लेटर), विलीनीकरण (मर्जर) आदि। प्रादेशिक भाषाओं में संस्कृत तत्सम और तद्भव शब्दों के अर्थ देश के विभिन्न भागों में विभिन्न रूप लेते रहे हैं। उनके प्रयोग को एक स्थिर रूप देना होगा। विशेषतः भारत में स्थानों के नाम और स्वयं 'इंडिया' शब्द संस्कृत में उसी ग़लत और विकृत रूप में प्रयुक्त नहीं होने चाहिए, जैसा कि अंग्रेज़ों ने प्रयुक्त किया था। यूरोप में, कांटिनेंट के लोग एक भी स्थल का नाम उस तरह नहीं लिखते-बोलते जैसे कि उसे अंग्रेज़ी में लिखा और बोला जाता है। अंग्रेज़ी के ग़लत रूपों को आधार मानकर उसको संस्कृत रूपों में ढालना ऐसी शब्द-विकृति पैदा करना है, जिसका निवारण किया जा सकता है।

अपनी मातृभाषाओं के प्रभाववश, कई उत्तर भारतीय संस्कृतज्ञ अनुष्टुप् छन्द की शुद्ध लय का निर्वाह नहीं कर पाते; बल्कि प्रामाणिक लिख जाते हैं और छन्द की यति को तोड़ने वाला संयुक्त व्यंजन लिख जाते हैं। इस प्रकार, इस नियम का पालन नहीं होता कि सम चरण के अन्त में ही लघु गुरुत्व प्राप्त कर सकता है, या कि वह अगले शब्द के लिए सन्धि-विरहित रखा जाय। संस्कृत में अधिकाधिक रचना द्वारा ही इन बातों के लिए उचित श्रुति पाई जा सकती है। ऐसे युग में, जब कि संस्कृत शिक्षा व्यापक या गहरी नहीं है, साहित्यिक कार्य की वृद्धि से भी ऐसे व्याकरण-दोष आ जाते हैं, परन्तु आश्चर्य तो यह है कि अधिकतर लेखक शुद्ध लिखते हैं। एक सरल-सीधी गद्य-शैली का विकास बहुत लाभदायक होगा, परन्तु मुहावरों, शैली और रचना में अंग्रेज़ियत की बू कम होनी चाहिए और वह शैली संस्कृत भाषा की परम्परा के अनुकूल होनी चाहिए। बाण-पूर्व युग में, पुराने भाष्यों में, आरम्भिक नाटक और लोक-गाथा साहित्य में बड़ी सुन्दर शब्दावली और प्रसादयुक्त शैली है, जिसे हम पुनः प्रयोग में ला सकते हैं। साहित्यिक शिल्प और विधाओं में छोटी कविता, लघु कथा, दीर्घ कथा, नाटिका, बड़े नाटक, निबन्ध-

प्रबन्ध आदि जैसी पुरातन साहित्य में भरपूर प्रातिनिधिक रचनाएँ हैं, जिनका पुनः उपयोग किया जा सकता है।

नाटक में पश्चिमी नाटक के ढंग पर अंकों का दृश्यों में विभाजन कोई महत्त्व-पूर्ण शोध नहीं है। वे सब बातें हमें अपना लेनी चाहिए जो संस्कृत-नाटक के ढाँचे में अच्छी तरह जम सकती हों। संस्कृत-नाटक की शब्द-बहुलता को कम करके नया रूप देना, उसके चरित्रों को अधिक मांसल और सशक्त बनाना, तथा कथा-नक को अधिक कार्ययुक्त बनाना ज़रूरी है; फिर भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि संस्कृत-नाटक जब उन्नति पर था, तब उसकी अपनी अपूर्व शैली और सिद्धान्त थे। आज जब पश्चिम में ट्रेजेडी का पुराना रूप बदल गया है और इलियट जैसे आलोचक नाटक का उद्देश्य भरत और आनन्दवर्धन के ढंग पर निरूपित करने लगे हैं, तब संस्कृत-लेखकों को चाहिए कि पश्चिम के घिसे-पिटे नमूनों का अनु-करण करने से पहले थोड़ा रुकें और आत्म-निरीक्षण करें। कलात्मक मूल्यों के तत्त्वों को समोकर उनका एक सांग-स्वरूप स्थिर करना चाहिए। कालिदास ने जो आदर्श सामने रखा था कि 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' और शक्तिभद्र ने जो कहा था कि 'गुणाः पूजास्थानं' न कि वह स्थान जहाँ से कोई वस्तु आती है; उन्हींका अनुकरण करते हुए हमें इसके लिए यत्नशील होना चाहिए कि संस्कृत पुनः एक रचनात्मक भाषा के नाते जीवित और जागरित हो, तथा उसके लम्बे इतिहास में नई-नई उपलब्धियाँ भी जुड़ें।

सिंधी

ला० हृ० अजवाणी

भाषा

सिंधी भाषा, जैसा कि डॉक्टर ट्रम्प ने अपने 'व्याकरण' (१८७२) में कहा है, "विशुद्ध संस्कृत से निकली हुई भाषा है और उत्तर भारत की किसी अन्य देशी भाषा की अपेक्षा विदेशी तत्त्वों से अधिक मुक्त है। पुराने प्राकृत वैयाकरणों के चाहे जो कारण रहे हों, कि वे आधुनिक सिंधी को अपभ्रंश से निकली हुई मानते थे और प्राकृत उपभाषाओं में सबसे निचला स्थान उसे देते थे; परन्तु आज हम सिंधी की उसकी प्राकृत उपभाषा-भगिनियों के साथ तुलना करते हैं तो व्याकरण की दृष्टि से हमें उसे प्रथम स्थान देना होगा।" (भूमिका, पृष्ठ १)। विद्वान डॉक्टर ट्रम्प से भी पहले, कैप्टेन जार्ज स्टेक ने सिंधी व्याकरण लिखा है, और उन्होंने इस प्रवृत्ति को बुरा कहा है कि सिंधी भाषा को केवल मसखरों के लिए उचित भाषा समझा जाए। उन्होंने लिखा है कि "भाषा वैज्ञानिक के लिए सिंधी किसी भी अन्य भारतीय उपभाषा से अधिक मनोरंजक अध्ययन का विषय है। सर्वनामों और कारकों के विना शब्दों को प्रत्यय चिह्न लगाना, क्रमणी प्रयोग का नियमित रूप, भावी प्रयोग की अधिकता, कारणात्मक क्रियाओं का पुनर्द्वित्व और अन्य ऐसी बातें, जो कि सिंधी सीखने वाला विद्यार्थी धीरे-धीरे विशेष रूप से जानेगा, अन्य भारतीय भाषाओं से सिंधी की विशेष सुन्दरता प्रकट करते हैं।" (भेरूमल मेहरचन्द के सिंधी भाषा पर 'सिंधी प्रबन्ध' (१९५६) में पृष्ठ ७७ पर उद्धृत)। जो सिंधी लिपि आजकल प्रयुक्त होती है, वह ब्रिटिश शासकों ने १०० वर्ष पूर्व निर्मित की थी, और उसके अरबी लिपि होने के कारण यह बात छिप जाती है कि सिंधी संस्कृत से निकली है और अन्य प्राकृतों में सबसे पुरानी है, अब्दुल करीम संडेलो नामक एक मुस्लिम प्रोफ़ेसर ने हाल में प्रकाशित एक पुस्तक में सिंधी शब्दों की व्युत्पत्ति ('तहकीक लुगात सिंधी', १९५५) में यह

सिद्ध किया है कि अधिकतर सिंधी शब्द संस्कृत से निकले हैं। साथ ही यह भी जानना चाहिए कि सिंधी भाषा की शब्दावली मिश्रित है और उसमें हज़ारों शब्द फ़ारसी-अरबी-स्रोत वाले हैं, कुछ द्राविड़ और अन्य आर्य-पूर्व शब्द भी हैं। मुस्लिम आक्रमणकारियों ने जहाँ पहले भारतीय प्रदेश में हमला किया (७१२ ई०), वह सिंध था और इस हमले के पहले भी यूनान और ईरान, सीथिया और अफ़ग़ानिस्तान की टोलियाँ बराबर इस प्रदेश पर आक्रमण करती रहीं। इस प्रकार, सिंध के रक्त में कई जातियों और राष्ट्रिकों का रक्त मिश्रित है। सिंधियों को छुआछूत या विदेशयात्रा-निषेध जैसे धार्मिक बंधनों का कभी भी पता नहीं रहा। सिंधी व्यापारियों ने सदियों तक रेगिस्तान और समुद्र पार करके ऐसे दूर-दराज़ की जगहों में अपने-आपको स्थापित किया जहाँ कोई दूसरा भारतीय शायद ही कभी पाया जाता हो। यह स्वाभाविक है कि उनकी भाषा कई विदेशी स्रोतों से प्राप्त उपहारों से समृद्ध होती गई।

यह सुविदित है कि सिंधियों के इतिहास के आरम्भ-काल से सिंधी एक सुसंस्कृत जाति रही है और यह आशा की जाती है कि शायद सिंधी भाषा के साहित्य में उस सभ्यता का कुछ लेखा हो। सिंध के इतिहास और उसकी सभ्यताओं का एक विशेष रूप मोहनजोदड़ो या 'मुर्दों के टीले' की पुनरावृत्ति है। सभ्यता की कई सतहों के नीचे दबे हुए ये टीले पाए गए हैं। न पत्थर, न संगमरमर, न कविता, न चित्रकला—किसी भी रूप में इस महान सभ्यता के वैभव का कोई चिह्न अब बचा नहीं था; तभी सहसा एक राखाल दास बैनर्जी ने कई शतकों के बाद कुछ उत्खनन किया और उस लुप्त भूतकाल के कुछ अवशेष पाए। सिन्धु नदी का प्रवाह और किनारे हमेशा अदलते-बदलते रहे हैं, और इसी कारण सिंधी प्रदेश में रेगिस्तान छा गया।

कविता : शाह और उनके अनुवर्ती

इसलिए यह कोई विचित्र बात नहीं है कि सिंधी साहित्य का पहला बड़ा नाम पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में मिलता है। अरबों के राज्य के दिनों में कुछ छुट-पुट कविता मिलती है, और 'दोदो चनेसर' नामक कहानियाँ और पद्य में पहेलियाँ, जैसे कि मामुई भविष्य वाणियाँ आदि गाँवों में प्राचीन काल से चली आती थीं; परन्तु प्रथम सिंधी कविता जो लिखित रूप में मिलती है, वह क़ाज़ी

क़ाज़न (पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में) के पद्यों में पाई जाती है। यह दोहा-रूप में है और इसमें सिंधी कविता का वह विशेष स्वर मिलता है जो बार-बार दोहराया गया है कि 'प्रिय के दर्शन के बिना' (अनन्त की साधना के बिना) बाह्य गुण, जैसे विद्वत्ता या पवित्रता इत्यादि व्यर्थ हैं। ये सब तो उन राक्षसों की तरह हैं जो किसी भी समय हमें पाताल या नरक-लोक में खींचकर ले जाएंगे। क़ाज़ी क़ाज़न ने जोगी या योगी का बार-बार शुक्रिया अदा किया है, जिसने उनको मानसिक आलस्य से जागरित किया। और इस प्रकार सिंधी कविता के सबसे महत्त्वपूर्ण गुण का प्रमाण मिलता जाता है—हिन्दू दर्शन और मुस्लिम विश्वासों की दो धाराओं का संगम, इसी में से विशेषतः जिसे सूफ़ी कविता कहते हैं, वह उमड़ पड़ी।

क़ाज़ी क़ाज़न की कविता में अभिव्यक्त यह प्रेरणा उस महान आध्यात्मिक जागृति या आन्दोलन का परिणाम है, जिसके कारण कबीर और चैतन्य, नानक और तुकाराम जैसी ईश्वर-प्रेमोन्मत्त आत्माएँ पैदा हुईं। सिंध में यह आन्दोलन भिट के शाह अब्दुल लतीफ़ (१६८९–१७५२) के रूप में अधिक आगे बढ़ा। इनका 'रिसालो' का काव्य-ग्रन्थ दुनिया के महान ग्रन्थों में से एक है और सिंधी जनता की मूल्यवान साहित्यिक परम्परा का अंग है। शाह अब्दुल लतीफ़ के पूर्ववर्त्ती कई कवि थे, जिनमें मुख्य थे—उनके पिता के प्रपितामह, बुलरी के शाह अब्दुल करीम (१५३८–१६२३)। इनकी दार्शनिक कविता 'रिसालो' में उनके प्रसिद्ध वंशज ने संगृहीत की है।

शाह अब्दुल लतीफ़ को केवल 'शाह' की संज्ञा दी जाती है, वे प्रकृति के कवि, गद्यकार और रहस्यवादी सब एक साथ थे। उनके बहुत-से 'सुर' या संगीतमय अध्याय पाठक के सम्मुख सिंध और वहाँ की जनता को समुपस्थित करते हैं—महान सिंध नदी और उसके मछुआरे, अनतिदूर रेगिस्तान और ऊँट वाले, राजा के महल की बुर्जियाँ और पनघट, बगीचे में शहज़ादी और फ़ारस की खाड़ी की ओर वापस जाने वाला, मोती बेचने वाला व्यापारी, करघे पर काम करने वाले बुनकर और अपने चक्के पर काम करने वाला कुम्हार, वर्षा से सुखी किसान और लड़ाई में कूद पड़ने वाला वीर इत्यादि का वर्णन इस कविता में है। इन दृश्यों के आस-पास सिंधी वीर-गाथाओं की नायिकाओं की कहानियाँ इस महाकवि ने बुनी हैं। ये कहानियाँ बहुत उदात्त और करुण हैं। शाह के सस्सुई और मारुई, सुहिणी और नरी, लीला और मूमल आदि चरित्र उन्हें उस महाकवि के

निकट ले जाते हैं, जिसके बारे में यह कहा गया है कि उसकी रचनाओं में नायिकाएँ ही हैं, नायक नहीं; शाह की हर कहानी में एक गहरा आध्यात्मिक अर्थ भी छिपा है। शाह के रेगिस्तानी संगीत से एक प्रकार का अलौकिक स्वप्न हमारे सामने उपस्थित होता है, जिसमें सारी स्थूलता मिट जाती है। प्रेमी, प्रेमिका और प्रेम यह त्रयी ही केवल नहीं है, तीनों के मेल से एक ऐसी मूर्ति निर्मित होती है, जो कि बची रहती है, जब कि अनेक परिवर्तन होते जाते हैं। शाह के सरल शब्दों ने कुछ विदेशियों को भरमाया है और वे समझते हैं कि वे एक साधारण कवि हैं। परन्तु जो सिंधी अधिक अच्छी तरह जानते हैं, वे कह सकते हैं कि ये महाकवियों और मर्मियों की उस कोटि में आते हैं, जिसमें तुलसीदास और सूरदास, रूमी और हाफ़िज़ हैं। सिंधी लोग शाह को उस अखंड कोष की तरह मानते हैं, जिससे वे निरन्तर प्रेरणा और आनन्द ग्रहण करते रहे हैं।

शाह के साथ-साथ दो और अमर सिंधी कवियों के नाम लिये जाते हैं, और ये तीनों मिलकर एक ऐसा नक्षत्र-समूह बनता है, जिससे अधिक आलोक सिंधी साहित्याकाश में अभी तक किसी ने नहीं पाया। सचल (१७३९–१८२६), जिनका उपनाम 'सरमस्त' था और सामी (१७४३–१८५०), जिनका नाम उनके गुरु (स्वामी) पर रखा गया, ऐसे दो अन्य कवि हैं जिनकी किसी भी सिंधी कवि से तुलना नहीं की जा सकती। सचल का दिमाग़ इकसुरिया था और उनकी विशेषता उनके गीतों में है। उन्होंने कोई कहानी नहीं कही है, कोई दृश्य हमारे सामने उपस्थित नहीं किया है, वे तो अपनी प्रेयसी की उपस्थिति से इतने प्रेमोन्मत्त थे कि और कोई भौतिक बात सोच ही नहीं सकते थे। उनके लिए व्रत, उत्सव, कर्मकाण्ड का कोई अर्थ नहीं था। जिसने परम सुन्दर की एक झलक खिड़की में पा ली, उसे प्रार्थना और अध्ययन की क्या आवश्यकता? सचल की 'काफ़ियाँ' बहुत मधुर, ओजस्वी, अलौकिक आनन्द के रस से भरी हुई हैं; वे आज भी सब वर्गों के सिंधियों द्वारा गाई जाती हैं। सामी के 'सलोक' अपार शान्ति से और अविद्या (अज्ञान या माया) को दूर करने वाली वेदांती प्रेरणा से भरे हुए हैं; उनमें आत्मा के प्रकाश को पाने की छटपटाहट है। शाह, सचल और सामी में मुख्यत: सामान्य बात है: आत्मा की परमात्मा के लिए टोह, किरण की सूर्य की ओर वापस यात्रा, बुद्बुद का फूटना तथा बिन्दु और सिन्धु की एकाकारिता।

शाह, सचल और सामी के ग्रन्थों ने सिंधी कविता का जो रूप निश्चत किया

वह आज तक नहीं बदला है। सिंधी कविता सूफ़ियानी है, बह सम्प्रदायवाद से मुक्त है। अनेक में एक की उपस्थिति की चेतना से वह ऊर्जित है। सिंधी कवि के लिए ईश्वर का पिता होना और सब मनुष्यों का भाई-भाई होना कोई मानी नहीं रखता: उसका विश्वास है कि मैं, तुम और वह केवल एक हैं। यदि 'अ' ने 'ब' को मारा तो वह वस्तुत: अपने-आपको मार रहा है। किसी भी तरह का अलगाव मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति से उसे लगाने वाला माना जाता है। शाह, सचल और सामी के अनुयायियों में सबसे प्रसिद्ध कवि 'बेदिल' (१८१४–१८७३) ने लिखा है: "मेरा (अलग) नाम बेदिल निरा बहाना या मन का छलावा है, मेरी एकमात्र इच्छा प्रियतम से मिलने की है।" उसे कर्मकाण्ड या औचित्य की चिन्ता नहीं है; उसे किसी तरह का भय या लज्जा भी नहीं है। सिंधी कविता की सूफ़ी प्रवृत्ति और सर्वमत-समभाव का एक परिणाम यह हुआ कि कविता कट्टरपन, जातीयता या संकीर्ण सम्प्रदायवाद से मुक्त रही: सूफ़ी 'ला कूफी' (बिना किसी पन्थ या सम्प्रदाय का) है। रोहल (मृत्यु १७८२), और दलपत (मृत्यु १८४१) एक मुस्लिम और दूसरा हिन्दू, दोनों ने पन्थ और मतवाद से स्वतन्त्रता प्रकट की है। रोहल सब पन्थों को छोड़कर एक राह पकड़ना जानता है, जिसका नाम 'राह प्रींअ जी' (प्रियतम का रास्ता) है, वह उन हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को कोसता है, जिन्होंने तीसरा 'वैर का धर्म' प्रचारित किया है। दलपत सहज भाव से पूछता है, "यदि काबा परमात्मा का घर है, तो बुतख़ाने को क्यों छोड़ते हो?" वह इस वात पर शोक करता है कि दुनिया के लोग मज़हब और फिरकों में बँटे हैं। सिंध में कभी-कभी धर्मों के मिश्रण से ऐसा भी हुआ है कि मुसलमान कवि अपने-आपको गोपी और ईश्वर को कृष्ण कहकर कविता लिखते हैं। सूफ़ी कवियों की इस निरन्तर धारा ने शान्ति और आत्मा के प्रकाश की सिंधियों की प्यास को बुझाया है। ऊपर जो छ: नाम दिये गए हैं वे इन कवियों में सबसे अधिक संस्मरणीय हैं, उनके अलावा हैं: हमल लुगारी, मुराद, दर्याख़ान, बेकस (बेदिल का पुत्र) और जीवतसिंह। उनमें से कइयों ने सिराइकी बोली में कविता लिखी है, जिसमें सीमा के लोगों की भाषा की सहजता और मधुरता मिलती है।

यह मानना होगा कि सिंध की अधिकांश उत्तम सूफ़ी कविता ब्रिटिश-पूर्व दिनों की है और उसकी विषय-वस्तु तथा कला पक्ष (दोहा रूप) हिन्दी, पंजाबी

और अन्य उत्तर भारतीय भाषाओं से मिलते-जुलते हैं। ये संबंध सामान्यत: १८४३ में अंग्रेज़ों के आने के बाद कुछ बिगड़ गए। फ़ारसी दरबारी भाषा नहीं रही। पढ़े-लिखे लोग साधारण वोल-चाल और उत्तम रचना के लिए अपनी भाषा की ओर मुड़े तथा इस तरह सिंधी में क़सीदा, ग़ज़ल, मनसवी, रुबाइयाँ, मुसद्दस, मुखम्मस इत्यादि लिखे जाने लगे। अंग्रेज़ों की विजय के पहले कोई-कोई सिंधी कवि कभी-कभी फ़ारसी कवियों के ढंग पर सिंधी में मर्सिये या क़सीदे लिखता था, जैसे साबित अली शाह (१७४०–१८१०)। परन्तु ख़लीफ़ा गुल मोहम्मद (१८०९–१८५६) जब तक अपना दीवान या ग़ज़ला का खण्ड सिंधी में नहीं लाए तब तक फ़ारसी छन्द शास्त्र, पुराने दोहे और श्लोक रूपों पर हावी होते रहे। गुल को कोई बड़ा कवि नहीं कहा जा सकता, परन्तु उनके आदर्श ने सिंधी कवियों को फ़ारसी छन्द शास्त्र और फ़ारसी कल्पना-चित्रों की ओर मोड़ा; यहाँ तक कि सिंधी कविता फ़ारसी मुहावरों और अन्तर्कथाओं से बोझिल हो गई। वही बुलबुल और गुलाब, वही कांटे और गुल, वही शमा और परवाना, वही लाल शराब और साक़ी, वही झरने और सुगन्धित बगीचे, वही आहू जैसी आँखें और सरो जैसे ऊंचे क़द और यूसूफ़-ज़ुलेखा, लैला-मजनूँ, शीरीं-फ़रहाद इत्यादि कथाएँ! सिंधी भाषा को इस तरह फ़ारसी छन्द-रूपों में ढालना या वदलना, सिंधी भाषा और साहित्य के लिए कहाँ तक उपयोगी हुआ, यह सन्देह की बात है। गुल के बाद जो १०० वर्ष बीते, उनमें एक भी ऐसा कवि नहीं पैदा हुआ जिसकी ग़ज़ल, रूबाइयात, क़सीदा या मुसद्दस इस स्तर की हों, जिसकी तुलना सिंधी के मोरियो (१८७६) और लाल (१८९०) जैसे अप्रसिद्ध कवियों की काफ़ी, बैत, वाई और सुर से की जा सके। इन कवियों ने ससुई-पुन्हू, राय-ड्याच, मारुई, कामसेन-कामरूप इत्यादि के बारे में गाया है। यह उल्लेखनीय है कि प्रमुख सिंधी कवि (उदाहरणार्थ बेदिल), जिन्होंने सिंधी में फारसी ढंग की कविता लिखने की कोशिश की, आज उन पद्यांशों के लिए नहीं पढ़े जाते, उन्हें तो सिंधी काफ़ियों या शुद्ध गीतों के लिए याद किया जाता है। सांगी (१८५१–१९२८), 'ख़ाकी' (लीला रामसिंह), मिर्ज़ा कलीच बेग़ (१८५३–१९२४), हैदरबख़्श जतोई ('हारी हक़दार' नेता), शमशुद्दीन बुलबुल (जिनकी ग़ज़ल की किताब १८९१ में छपी), और लेखराज अज़ीज़[1]

१. इन्हें अपने 'सुराही' काव्य-संकलन पर १९६६ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

(अधिकतर अनुकरणात्मक कवि) कुछ ऐसे नाम हैं जोकि विगत १०० वर्षों की फ़ारसी ढंग की सिंधी कविता का लेखा लेते समय सामने आते हैं। परन्तु इनमें से कोई भी कवि ऐसा नहीं है, जिसे महान या लोकप्रिय कवि कहा जाय। वैसे तो सिंधी में ग़ज़लों, क़सीदों इत्यादि के दीवान या संग्रह प्रकाशित करनेवाले सैकड़ों है, उदाहरणार्थ, क़ासिम, फ़ाज़िल, वासिफ़, काज़िम और अन्य; परन्तु उनकी कविताएँ सिर्फ़ पद्य की कसरत हैं, और कुछ नहीं। मिर्ज़ा कलीच बेग़ का 'उमर ख़ैयाम की रूबाइयात' का अनुवाद, मसरूर की मुसद्दस के रूप में महान रचना, अबोजो का उर्दू कवि हाली के आदर्श पर मुसद्दस और जतोई का सिंध नदी के प्रति प्रसिद्ध सम्बोधन, ये कुछ थोड़ी कविताएँ हैं जो कि फ़ारसी के ढंग पर हैं और शायद अधिक स्थायी रूप से याद की जायँगी। इधर पाकिस्तान में और भारत में फ़ारसी ढंग पर हँसी और तंज की हल्की कविता लिखने की ओर कवियों का रुझान रहा है। शेख़ अय्याज़ ('बाग़ी' के लेखक) पाकिस्तान में और परसराम ज़िया भारत में इस तरह की कविता लिखते हैं। मगर लेखराज अज़ीज़ का नवीन प्रकाशन, 'आबशार' (झरना) जिस तरह बेअसर साबित हुआ, उससे यह सिद्ध होता है कि फ़ारसी कविता के कृत्रिम और आलंकारिक अनुकरण का सिंधी मन पर अच्छा असर या प्रभाव नहीं पड़ेगा।

समकालीन कविता

समकालीन सिंधी कविता में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण धारा क़रीब ३० वर्ष पूर्व शुरू हुई जब कि मोहनजोदड़ो की खोज और सक्खर बाँध के निर्माण के बाद नया सिंध स्थापित हुआ। सिंधी साहित्य सोसायटी और सिंधी मुस्लिम अदबी सोसायटी जैसी साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाएँ स्थापित हुईं और विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में सिंधी पढ़ाई जाने लगी। फ़ारसी अनुकरण के जंगल से सिंधी कविता को मुक्त करके घरेलू बोलचाल की स्वाभाविक सिंधी भाषा की ओर मोड़ने का श्रेय एक ग़रीब स्कूल मास्टर किशनचन्द बेवस (मृत्यु १९४७) को है, जिन्होंने ग़रीबों की गाथा गाई, प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन किया और बच्चों के लिए सरल गीत लिखे। उनकी पुस्तकों के नाम 'शीरीं शैर', 'गंगाजूँ लहरूँ', इत्यादि हैं। चाहे बेवस में कला-पक्ष की विशेषताएँ बहुत उच्च न हों और उन्होंने सिंधी परम्परित छन्द को फ़ारसी छन्द-रूपों के साथ

मिला दिया हो, फिर भी उनकी रचना सदा ताज़ी, मौलिक और विशेषतापूर्ण है। उनकी बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने कवियों का एक दल स्थापित किया, जिसमें हरिदिलगीर ('कोड' या 'सीप' के लेखक), हूंदराज दुखायल ('संगीत फूल' के लेखक), राम पंजवाणी[1], गोविन्द भाटिया और अन्य थे। इन्होंने अपने गुरु की कविताओं को एक लोकप्रिय संस्करण के रूप में प्रस्तुत किया, (इस प्रकाशन की भूमिका लिखने का सौभाग्य प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को मिला है)। इन शिष्यों ने गुरु की उदार परम्परा को आगे बढ़ाया।

समकालीन सिंधी कविता का दूसरा बड़ा गुण यह है कि नवीन आन्दोलन में विद्यार्थी, अध्यापक और प्रोफ़ेसर भाग ले रहे हैं। एन० वी० थढाणी ने 'भगवत् गीता' का (१९२३ में) सिंधी पद्य में अनुवाद किया। पद्य तो फ़ारसी बहर पर हैं, किन्तु भाषा संस्कृत धर्म-ग्रन्थों से ली है। ऐसे ही गीता के कुछ स्मरणीय अनुवाद मेघराज कलवाणी, मूलचन्द लाला और चैनराय बूलचन्द ने किये हैं और अन्तिम उल्लेख्य अनुवाद मुक्तछन्द में टी० एल० वासवाणी का है। हैदरबख़्श जतोई ने इक़बाल के ढंग पर 'शिकवा' लिखा, जिससे कि सनातनियों में बड़ा तूफ़ान उठ खड़ा हुआ, मगर उनकी 'दरियाये-सिन्ध को ख़िताब' (जिसका उल्लेख पहले हो चुका है) और 'आज़ादी-ए-क़ौम' (१९४७) नामक कृतियाँ साहित्य की स्थायी निधि बनी रहेंगी। जब बहुत-सी ग़ज़लें लोग भूल जायँगे तब भी वे किताबें याद की जायँगी। जतोई ने गुल और सांगी की धारा के अनुयायी के नाते साहित्य में आरम्भ किया, किन्तु राजनीति और साहित्य दोनों क्षेत्रों में वे क्रान्तिकारी बन गए। नई सिंधी कविता में बेबस के बाद दूसरा नाम उन्हीं का आता है। नये युग के दूसरे कवि, जिनका नाम उल्लेखनीय है, डेवनदास आज़ाद हैं जिन्होंने आर्नल्ड के 'लाइट आफ़ एशिया', 'पूरब संदेश' (१९३७) नाम से अनुवाद किया। सिंधी कविता-प्रेमियों में यह अनुवाद बहुत लोकप्रिय है।

सिंधी कविता की नई धारा न तो शाह, सचल और सामी के परम्परित पद्य का अनुकरण करने की है और न सूफ़ी परम्परा वाली है, वह फ़ारसी छन्द-शास्त्र और कल्पना-चित्रों से विवश होकर या पंडिताऊ ढंग से चिपटे रहने की भी नहीं

---

१. राम पंजवाणी को अपनी 'अनूखा अजमूदा' पुस्तक पर १९६४ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

है, बल्कि मुक्त-छन्द का ऐसा रास्ता, वस्तुतः यूरोपीय साहित्य के आधार पर, ग्रहण करने की है। वह लेखक जिसने इस नई धारा को शुरू किया, सिंधी संस्कृति के इतिहास में सबसे बड़ा लेखक है। दयाराम गिडूमल (१८५७–१९२७) विद्वान संत थे, उन्होंने क़रीब ३० वर्ष पूर्व अपनी दार्शनिक कविता का बड़ा ग्रंथ 'मन-जा-चाबूक' (मन के चाबुक) प्रकाशित किया—इन कविताओं के मुक्त छंद और आशय ने विचारवान और उदीयमान सिंधी तरुणों की रुचि में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। सिंधी में मुक्त छन्द को लोकप्रिय बनाने का दूसरा प्रयत्न कई प्रकार के लेखकों ने कई तरह से छन्दों और गद्य-काव्यों का प्रयोग करके किया। इन अनुवादकों में मंघाराम मलकाणी, लालचन्द अमरडिनोमल, अर्जन हसराणी और हरीराम मारीवाला (जिनके 'फल्ल चूँड' या टैगोर के 'फ्रूट गेदरिंग' का अनुवाद गत वर्ष प्रकाशित हुआ) हैं। दूसरे भारतीय कवियों के अनुवादों (उदाहरणार्थ, दयो मंशारमाणी कृत नज़रुल इस्लाम का अनुवाद) ने भी मुक्त छन्द की प्रवृत्ति को आगे बढ़ाया। दो सच्चे कवि इस मुक्त छन्द की धारा से पैदा हुए—नारायण श्याम[1], 'माक-जा-फुडा' (ओस-कण) के आंशिक लेखक और सिंधी में सानेट के लेखक; और अय्याज़, जो कि बहुमुखी प्रतिभा वाले लेखक हैं और इस समय जीवित सिंधी कवियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। दूसरे नाम हैं—अंचल और राही, गोरधन महबूबाणी और खियलदास फ़ानी, 'गुमनाम' (बलदेव गाजरिया), मोती प्रकाश, अर्जन शाद (हिन्दुस्तान में) और वाई० के० शेख, बशीर मोरियाणी, बुर-द-सिंधी, अबुल करीम गदाई (पाकिस्तान में)। समकालीन सिंधी कविता में दो बड़ी प्रभावशाली कविताओं में एक अय्याज़ ने लिखी है; वह शाह के प्रति सम्बोधित है, जिससे कि वर्ड्सवर्थ की कविता 'मिल्टन! तुम यदि आज जीवित होते' की याद हो आती है, दूसरी, खियलदास फ़ानी की 'ओ मेरे वतन! मेरे वतन' नामक अविस्मरणीय रचना है। भारत के विभाजन के समय उसे अपने वतन को छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा; उन भावनाओं की अभिव्यंजना इस कविता में दी गई है। टी० एल० वासवाणी के सिंधी मुक्त छन्द में दूर-दूर तक पहुँचने वाले उपदेशों ने सिंधी मन को फ़ारसी छन्द-शास्त्र और कल्पना-चित्रों की दासता से मुक्त किया है। तोलाराम बालाणी नामक एक लेखक ने अपने पद्य और गद्य से बड़ी आशाएँ पैदा की थीं, परन्तु

१. 'वारी-ए बार्यो पलांद' (काव्य) पर १९७० का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

उनकी अकाल-मृत्यु हो गई।

नाटक

अन्य देशों में कविता और नाटक अधिकतर साथ-साथ चलते हैं। सिंध में कविता बहुत आगे बढ़ गई और नाटक पिछड़े रहे। सिंधी लोक-नृत्य (भगत) ने भी कोई नाटक नहीं निर्मित किया। केवल दो नाटक-क्लब अब तक सिंध में चलते रहे, एक 'डी० जे० सिंध कालेज अमेच्योर ड्रामेटिक सोसाइटी' जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में शुरू हुई और दूसरा, 'रवीन्द्रनाथ लिटरेरी एण्ड ड्रामेटिक क्लब', जो १६२० के क़रीब शुरू हुआ। पहली नाटक-मंडली ने शेक्स-पीयर के नाटकों के अनुवाद (जिनमें से मिर्ज़ा कलीच बेग का 'शाह इलिया' या 'किंग लीअर' सबसे अच्छा था) और कुछ चुने हुए नाटक खेले, जिनमें से सेवासिंह अजवाणी का 'कनिष्ठ' (१६०२), जो कि शेरेडन के 'पिज़ारो' पर आधारित था, बहुत अच्छा था। कुछ नाटक रामायण और महाभारत से लिये गए (उदा-हरणार्थ लीलारामसिंह का 'द्रौपदी', 'रामायण', और 'हरिश्चन्द्र')। आर० एल० डी० सी० का सबसे सफल नाटक था 'उमर-मारुई'; यह नाटक लालचन्द्र अमरडिनोमल ने लिखा था, इसकी कहानी और कविता के अंश शाह से लिये गए थे। इस क्लब की सच्ची 'खोज' थे, के० एस० दरयानी, जिन्होंने 'मुल्क-जा-'मुदब्बर' (इब्सन के 'पिलर्स आफ़ सोसाइटी') और 'बुख-जो-शिकार' (भूख के शिकार) लिखा। मंघाराम मलकाणी ने कई सामाजिक नाटक लिखे और एकांकी लेखन उन्हीं से शुरू हुआ (पाँच छोटे नाटक)। वे ही आज के जीवित लेखकों में सबसे महत्त्वपूर्ण नाटककार हैं। शिकारपुरी ड्रामेटिक क्लब ने सिंधी में 'गामटू' (प्रिटेन्डर्स) नामक कई नाटक जेठानन्द नागराणी द्वारा लिखित दिए, परन्तु उरसाणी के 'बदनसीब थरी' (अभागा थरी) की ही तरह ये नाटक प्रहसनों से अधिक कुछ नहीं हैं।

शान्त अध्ययन-गृह में जिन नाटकों का आनन्द उठाया जा सकता है, ऐसे साहित्यिक नाटकों में निस्सन्देह दो सर्वोत्तम हैं, मिर्ज़ा कलीच बेग का 'खुर्शीद', जो कि एक शानदार नाटक है। उसके गीत बहुत सुन्दर हैं और यह १८७० में लिखा गया। दूसरा है, लीलाराम फेरवाणी का 'हित रात' (१६३६); शाह की 'सुर लीला चनेसर' से यह कहानी ली गई और उसमें थोड़ा-सा परिवर्तन किया

गया है। दयाराम गिड़ूमल के 'सत्त सहेल्यूँ' में संवाद और कौड़ामल चंदनमल कृत 'रत्नावली' (१८८८) अनुवाद, जिज्ञासु पाठकों के लिए ही महत्त्वपूर्ण हैं। राम पंजवाणी का 'मूमल राणो' एक उत्तम नाटक है। पढ़ने में और मंच के लिए वह ख़ासा अच्छा है पर कल्याण अडवाणी[1] के 'शाकुन्तल' के अनुवाद के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती।

गद्य

गत १०० वर्षों में सिंधी गद्य ने बड़ी प्रगति की है। पहले 'जाम भम्बो ज़मींदार' की देहाती कहानियाँ मिलती हैं (१८५३)—(गुलाम हुसैन द्वारा लिखित) और सादी के 'गुलिस्ताँ' की नक़ल पाई जाती है, जैसे कि केवलराम सलामतराय की 'सूखरी' और गुलमालाओं में, 'अरेबियन नाइट्स' या अलिफ़ लैला के मनोरंजन के व्यंग्य-चित्र आ अखुंदलुत्फ़ल्लाह के 'गुल कन्द' (१८८२) में मिलते हैं। सिंधी गद्य इस प्रकार अनुवादों से समृद्ध होता गया। १८५७–१९०७ की पहली आधी शती अनुवाद का युग है, इस युग को कई व्याकरण-शास्त्रियों और कोशकारों ने सहायता दी, जैसे अंग्रेज़ी में ट्रम्प, शर्ट, स्टेक और ग्रियर्सन! उधाराम थाँवरदास (व्याकरण) और झमटमल नारुमल (वैतपती कोश) के ग्रन्थ सिंधी में हैं। इस काल के अनुवादकों में दो बड़े नाम हैं, एक तो मिर्ज़ा कलीच बेग, जिन्होंने अपनी महान विश्व कोश जैसी रचना का आरम्भ बेकन के 'एसेज़' ('मिकालात अल हिकमत' इसका नाम था) के अनुवाद से १८७७ से शुरू किया। इसके बाद 'चचनामा' का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित हुआ और गज़ाली के 'किमिआई-इसादत' जैसे श्रेष्ठ ग्रन्थों का सिंधी में अनुवाद प्रकाशित हुआ। कौडोमल चंदनमल (१८४४–१९१६) ने पहले स्त्रियों की शिक्षा के विषय में एक पुस्तिका 'पक्को पह' (१८७२) प्रकाशित की, फिर बच्चों के लिए कई किताबों के अनुवाद किये, जैसे 'कोलम्बस का इतिहास', 'आर्य नारी चरितर', और (बंकिम की) 'राधारानी'। एक अनुवाद, जो सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ था, जानसन के 'रासेलास' का था। यह अनुवाद नवलराय और उधाराम (१८७०) ने किया था; इस अनुवाद की प्रेरणा से और अनुवाद आगे होने लगे, जैसे कि

---

१. इन्हें अपनी पुस्तक 'शाह-जो रसालो मुजामल' पर १९६८ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

स्काट का 'टेलिस्मैन' नवलराय के भाई हीरानन्द ने प्रस्तुत किया। एक और अनुवादक, जो कि अनुवादक से अधिक मौलिक लेखक थे, दयाराम गिदूमल (योग दर्शन, जप साहिब, गीता-जो-सार इत्यादि) थे। जिन लोगों ने पाठ्य-ग्रंथों का अनुवाद किया (नन्दीराम, नारायण जगन्नाथ, बूलचन्द कोडुमल इत्यादि) उनमें वह नाम जो आज तक मिर्ज़ा कलीच बेग़ और कौडीमल चंदनमल के साथ ही चला आ रहा है, बूलचन्द कोडुमल का है। उन्होंने 'इंगलैंड के इतिहास' का तर्जुमा उत्तम गद्य-शैली में किया। वासुमल जैरामदास ने तुलसीदास की रामायण का और मिसिर जैकिशन ने महाभारत के अंकों का अनुवाद करने का महत्त्वाकांक्षापूर्ण प्रयत्न किया।

सिंधी साहित्य के सिंहावलोकन में चार व्यक्तियों का उल्लेख चार स्तम्भों की तरह करना चाहिए, जिनपर सिंधी गद्य की इमारत खड़ी है। इनमें से तीन नाम पहले ही आ चुके हैं, वे थे मिर्ज़ा कलीच बेग़, कौडोमल चंदनमल और दयाराम गिदूमल—चौथे का नाम अभी नहीं दिया गया। वे थे, परमानन्द मेवा-राम, जो कि अपने निबन्धों और नैतिक रचनाओं के लिए सिंधी के एडीसन माने जाते हैं। मिर्ज़ा साहिब (१८५३–१९२९) अनुवादक थे और कई क्षेत्रों में अग्रणी और मौलिक लेखक भी थे। उनका 'ज़ीनत' (१८९०) सिंधी भाषा का पहला मौलिक उपन्यास है। प्रीतमदास के 'अजीब भेट' (१८९२) के साथ-साथ इस उपन्यास को यह श्रेय है कि उपन्यासों में चरित्र-निर्माण और सिंधी जीवन की झाँकी इसमें दी गई है। शाह की रचनाओं का 'शब्द-क्रम' इनका, विद्वत्ता और समालोचना की दृष्टि से, सिंधी में पहला बड़ा काम था। इन्होंने क़रीब ३०० किताबें ज्योतिष, खेती, प्राणि-शास्त्र और स्त्रियों के विषय में लिखीं। कौड़ोमल चंदनमल की सिंधी साहित्य को बड़ी देन उनका 'सामि-जा-श्लोक' का १८८५ में सम्पादित पाठशुद्ध संस्करण है। सारे उपदेश शुद्ध सिंधी में दिये गए हैं। दयाराम गिदूमल के गद्य ने मिर्ज़ा साहब के उमर-ख़ैयाम के अनुवाद और कौडोमल के 'सामि-जा-श्लोक' की भूमिकाएँ प्रस्तुत कीं। सिंधी गद्य की ये सर्वोच्च उड़ानें थीं क्योंकि इनकी भाषा ओजस्वी और उदात्त है। परमानन्द मेवाराम ने सिंध की साहित्यक पत्रिका 'जोग' के सम्पादन-काल में, जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्ष से बीसवीं शताब्दी के मध्य तक चलती रही, सिंधी-भाषी जनता को जो दो बहुत अच्छे निबन्ध-संग्रह दिये, उनमें से पहला 'गुल फुल्ल' और दूसरा

'विचार' नामक संग्रह था (जो कि प्रस्तुत लेखक द्वारा डी० जे० सिंध कालेज मिस्लेनी में से चुना गया था)। परमानन्द मेवाराम का 'इमिटेशन आफ़ क्राइस्ट' का अनुवाद (क्राइस्ट-जी-पैरवी) गद्य की एक उत्तम पुस्तक है और उनकी सिंधी भाषा की डिक्शनरी (१९१०) अभी भी सर्वोत्तम है। परमानन्द मेवाराम दूसरे उत्तम निबन्धकार को भी प्रकाश में लाए, जिनका नाम वाधुमल गंगाराम था। उन्होंने सामाजिक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं।

१९०७–५७ के पचास साल सिंधी गद्य में तेज़ विकास के वर्ष हैं, विशेषतः अन्तिम १० वर्ष। इन पचास वर्षों में १९०७–२७ के २० वर्ष तैयारी के वर्ष कहे जाने चाहिए और बाद के ३० वर्ष पूर्ति के या समकालीन सिंधी साहित्य-युग के वर्ष माने जाते हैं। ये वर्ष नये सिंध के उत्थान के साथ-साथ चलते हैं। तैयारी के वर्षों में सिंधी गद्य के तीन शैलीकारों के नाम सामने आते हैं, ये तीनों फ़ारसी, इस्लाम और सूफ़ी मत के विद्वान् थे और सिंध के प्रेमी थे। निरमलदास फ़तेहचन्द ने 'आईना' (पत्रिका) में अपनी रचनाओं, और 'सरोजनी' और 'दलूराई-जी-नगरी' नामक कहानियों द्वारा कई विद्वान् मुसलमानों को अपने फ़ारसी, अरबी और इस्लाम के ज्ञान से चकित कर दिया। सिंधी के वे उच्चकोटि के लेखक हैं और उनको समझने के लिए डिक्शनरी की सहायता ज़रूरी है। उनके पुत्र सोभराज अपने पिता के हल्के पूरक हैं। हरू सदारंगाणी (खादिम) और दयो मंशारमाणी जैसे हिन्दू विद्वानों ने इन्हीं निर्मलदास की परम्परा को आगे बढ़ाया। फ़तेह मोहम्मद सेवहाणी वैद्य और विद्वान् थे, 'आफ़ताब-इ-अदब' (साहित्य का सूर्य), 'अबुलफ़जल और फ़ैज़ी' और 'सीरत-ए-नबी' नामक ग्रन्थों के वे लेखक हैं, मुस्लिम आलोचनात्मक विद्वत्परम्परा के वे अग्रणी हैं। १९१३ में मुस्लिम अदबी सोसाइटी क़ायम हुई, जिससे यह परम्परा आगे बढ़ी। जोयो और नबी-बख़्श बलूच, उसमान अंसारी और दीन मोहम्मद वफ़ाई जैसे विद्वानों का मुस्लिम अदबी बोर्ड बना और यह काम आगे बढ़ा। फ़तेह मोहम्मद सेवहाणी हिन्दू-मुस्लिम एकता के बड़े ईमानदार कार्यकर्ता थे। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में उनका काम महत्त्वपूर्ण है। उनका गद्य प्रवाहपूर्ण और मार्मिक है।

सिंधी गद्य के इतिहास में इससे भी बड़ा नाम जो कि सिर्फ़ मिर्ज़ा कलीच बेग से महानता में कम है, होतचन्द गुरबक्शाणी का है, जिनका शाह का संस्करण (१९२४) यद्यपि अधूरा है, फिर भी बाद के सब लेखकों के लिए एक

आदर्श उपस्थित करता है। आग़ा सूफ़ी का संस्करण 'सचल सरमस्त' बीसवीं शती के चौथे दशक में, दाउदपोटा का संस्करण 'शाह अब्दुलकरीम' (१९३७), मुस्लिम अदब सोसाइटी का संस्करण 'गुल' (१९३३), शाहवाणी का संस्करण 'शाह' (१९५०), मुसवी का संस्करण, 'बेदिल' का (१९५४), नागराणी का संस्करण 'सामी' (१९५६), ये सब गुरुबक्शाणी के महान् कार्य की पूर्ति करने वाले ग्रन्थ हैं। हरेक में गद्य-भूमिका गुरुबक्शाणी के ढंग की है। गुरुबक्शाणी का गद्य, जो कि 'नूरजहाँ और शाह' की भूमिका (मुक़द्दमाए लतीफ़ी) और 'लवारी-जा-लाल' में है, फ़ारसी मुहावरों से बोझिल होने पर भी सिंधी लेखकों के लिए एक आदर्श है।

समकालीन गद्य

समकालीन सिंधी गद्य तीन बड़े लेखकों के प्रवाह से बढ़ा, तीस साल पहले, जब कि ऊपर जिन चार बड़े लेखकों का उल्लेख है, वे सब अपना कार्य पूरा कर चुके थे (मिर्ज़ा की मृत्यु १९२९ में हुई, दयाराम की १९२७ में और कौडोमल की १९१६ में)—सिंधी गद्य को हमारे युग में क़ायम रखने, प्रतिष्ठित करने और लोकप्रिय बनाने का सारा श्रेय जेठमल परसराम (मृत्यु १९४८), भेरूमल मेहेर-चन्द (मृत्यु १९५०) और लालचन्द अमरडिनोमल (मृत्यु १९५४) को है। जेठमल परसराम थियोसफ़ी, सूफ़ी मत और हिन्दू-मुसलमान एकता के आजीवन प्रचारक रहे। शेक्सपीयर के सानेटों में भी उन्हें सूफ़ी धर्म दिखाई दिया! वे सिंधी के सबसे बड़े व सबसे पहले सिंधी पत्रों में लेख लिखने वाले और शाह के रहस्य के भाष्यकार थे (देखिये 'शाह की कहानियाँ')। उनके उत्साह से सिंध अपने रहस्यवादियों, सन्तों और सूफ़ियों के प्रति अधिक जागरूक हुआ। उनके व्यक्तित्व का एक दूसरा मज़ेदार पहलू भी था, जो उन्होंने अज्ञात नाम से, 'चमरापोश की कहानियाँ' लिखकर व्यक्त किया, इन कहानियों में अमीरों के लोभ और लालच का मज़ाक उड़ाया गया है। सिंधी साहित्य में जेठमल पहले सोशलिस्ट थे, और भेरूमल मेहेरचन्द सिंधी के व्याकरणकार और इतिहासकार थे। उनकी आलोचनात्मक दृष्टि बहुत सही थी, उनमें कार्य करने की विपुल शक्ति थी और यात्रा का प्रेम था। उन्होंने 'जोहर नज़म' नाम से सिंधी कविता का पहला संग्रह सम्पादित किया, शाह की यात्रा पर लिखा, 'आनन्द-सुन्द्रिका'

नामक उपन्यास। कई पुस्तकों के अनुवाद किये, जिनमें जासूसी कहानियाँ भी हैं, और अपने जीवन की खोजों और अन्वेषणों को 'सिंधी व्याकरण', 'सिंधी भाषा का इतिहास' (१९४१) और 'सिंध के हिन्दुओं का इतिहास' (१९४७) जैसे अधिकारपूर्ण ग्रन्थों में समाहित किया। भेरूमल मेहेरचन्द की शैली में कोई विशेषता नहीं थी, वे सहज भाव से लिखते थे, उनकी रचनाओं का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कई तरुण लेखकों पर प्रभाव पड़ा। उदाहरणार्थ सिंधी गद्य का महान् श्रेष्ठ ग्रन्थ,'सैरे-कोहिस्तान (कोहिस्तान की सैर १९४२) जो अल्ला बचायो ने लिखा, वह भेरूमल मेहेरचन्द के 'सिंधी-जो-सैलानी' का परिणाम है। और चेतन मारीवाला जैसे ऐतिहासिक विषयों पर लिखने वाले (तारीख़ी मज़मून सिंध-जो-इतिहास); मोहम्मद सिद्दीक़ मेमण और लुत्फ़ुल्लाह बदवी जैसे सिंधी कविता या साहित्य का इतिहास लिखने वाले; 'शाह', 'सचल' और 'सामी' पर पुस्तक लिखने वाले कल्याण अडवाणी जैसे जीवनी और समालोचना के लेखक; और महात्मा गांधी, नेहरू इत्यादि की जीवनियाँ लिखने वाले लेखकों ने भेरूमल मेहेर-चन्द और गुरबक्शाणी से भी कुछ सीखा है। भेरूमल मेहेरचन्द के पुत्र प्रिभदास ने 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' के अनुवाद (सालिक-जो-सफ़र) में अपने पिता की गद्य-शैली को अच्छी तरह पकड़ा है।

लालचन्द अमरडिनोमल भारत और पाकिस्तान में सिंधी साहित्य के सबसे बड़े बुज़ुर्ग माने जाते हैं। १९५४ में उनकी मृत्यु पर सब सिंधियों को बहुत शोक हुआ। सिंध और सिंधी साहित्य के वे अविश्रान्त प्रेमी थे। उन्होंने अपना साहित्य-कार्य हज़रत मोहम्मद की जीवनी से शुरू किया। फिर शाह की आलोचना, हुर डाकुओं की कहानी और नई योजना पर 'चौथ-जो-चण्ड्र' (चौथ का चन्द्रमा) नामक एक साहसपूर्ण उपन्यास लिखा। १९१४ में सिंधी साहित्य सोसाइटी, सरनानन्द हासोमल के साथ-साथ स्थापित करके सिंधी पाठकों की रुचि को उन्होंने बदल दिया। जब उन्होंने लिखना शुरू किया था, तब सिंधी लोग या तो यूरोपीयन साहित्य से या बंगाली साहित्य से प्रभावित थे और सिंधी में 'गुल-बकावली' (१८८९) और 'मुमताज दमसाज़' के ढंग की पुरानी कहानियाँ या 'चन्द्रकान्ता' जैसे उपन्यास, जिनमें तहख़ानी और जादुई-ऐयारी तिलस्मी बातें अधिक होती थीं, प्रचलित थे। उन्होंने जनता की रुचि को परिष्कृत किया और सिंधी घरेलू विषयों पर घरेलू भाषा में लिखी कहानियाँ पढ़ने लगे। निस्सन्देह वे

इस क्षेत्र के अग्रणी थे। उनका उदाहरण विभिन्न लेखकों ने अनुसरित किया जैसे, आसानन्द मामतोरा (उथल-पुथल कर देने वाले परिच्छेदों के एक रोमांटिक उपन्यास 'शायर' के लेखक), शेवक भोजराज, (आत्मकथा-सम्बन्धी उपन्यासों 'आशीर्वाद' और 'दादा श्याम' के लेखक), नारायण भम्भानी (सामाजिक उपन्यासों 'विधवा' आदि के लेखक), राम पंजवाणी ('पद्मा', 'क़ैदी' और कलात्मक प्रकृति और भाव-चैतन्ययुक्त मनुष्यों के कुछ रेखा-चित्रों के लेखक) और मंघाराम मलकाणी (जिन्होंने लालचन्द अमरडिनोमल के 'सदा गुलाब' से टैगोर-शैली के लेखन की कला सीखी)। उनका प्रभाव नारायणदास मलकाणी ('अनारदाणा' के लेखक) और तीरथ वसन्त[1] ('चिणगूँ' के लेखक और जेठमल परसराम के साथी) जैसे निबन्धकारों पर भी है।

लालचन्द अमरडिनोमल का नाम समकालीन सिंधी साहित्य के अन्तिम २० वर्षों को इस दशक से जोड़ता है। यह दशक हिन्दी गद्य के इतिहास में कई दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। १९४७ में भारत का विभाजन हुआ, ऐसा लगा कि सिंधी साहित्य का अब कंठावरोध हो गया, हिन्दू शरणार्थी बन गए, सिंध के मुस्लिमों में शरणार्थी आ गए। परन्तु एक बड़ी आश्चर्यजनक बात हुई कि तरुण लोग, जिन्हें लिखने का कोई अनुभव नहीं था, पत्र निकालने लगे। उन्होंने साहित्यिक संस्थाएं बनाईं और अपनी भाषा और साहित्य के प्रति उनमें आश्चर्यजनक उत्साह पाया गया। सिंध में और 'हिन्दुस्तान' साहित्य की रचना गत १० वर्षों में बहुत ही विपुल है। सिंध में सिंधी भाषा और साहित्य की शोध का आन्दोलन चल पड़ा, जिसका कि उत्तम स्मारक साहित्यिक पत्रिका 'मेहरान' है। भारत में सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक उपन्यासों एवं कहानियों का प्रचलन है। ये कहानियाँ और उपन्यास पत्र-पत्रिकाओं में छपती हैं, जिनकी संख्या बहुत बढ़ गई है। एक सिंधी साप्ताहिक पत्रिका 'हिन्दवासी' भारत में है, जिसके पढ़ने वालों की संख्या हज़ारों में है।

इस दशक की साहित्यिक हलचलों की एक विशेषता है—स्त्रियों का लेखन-कार्य। भारत-विभाजन के पहले, सारे साहित्यिक क्षेत्र में एक सिंधी महिला साहित्यिक के नाते प्रसिद्ध थीं : गुली सदारंगाणी, जिन्होंने टैगोर के 'गोरा' का

---

१. इन्हें 'कँवर (आत्मकथा) नामक पुस्तक पर १९५९ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

अनुवाद किया था और एक उपन्यास 'इत्तहाद' लिखा था, जिसकी बड़ी आलोचना हुई थी (क्योंकि उसमें यह दिखाया गया है कि एक हिन्दू लड़की मुसलमान के साथ शादी करती है)। अब तो स्त्रियाँ साहित्य के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ गई हैं : इस समय सिंधी पत्रिकाओं में सबसे अधिक लोकप्रिय साहित्यिक एक स्त्री ही है। पोपटी हीरानन्दाणी; और एक-दो सफल उपन्यासकारों में हैं सुन्दरी उत्तमचन्दाणी, जो कि 'कोशान' (कहानियों) की लेखिका हैं। 'किरन्दर देवारियूँ' (गिरती दीवारें) नामक एक सामाजिक उपन्यास भी उन्होंने लिखा है जिसमें मनोवैज्ञानिक ढंग से सिंधी जीवन का ज्ञान और सहज भाषा शैली इतनी अच्छी है कि वे अकेले गोबिन्द माल्ही को छोड़कर अन्य सब सिंधी गद्य-कथा लेखकों से श्रेष्ठ मानी जाएँगी। गोविन्द माल्ही इस समय सिंधी साहित्य के सबसे सशक्त व्यक्तित्व हैं। उनका 'पखियडा वल्लर खाँ विछुड़चा' (झुण्ड से बिछड़े हुए पक्षी) सिंधी शरणार्थियों पर एक सप्राण रचना है, परन्तु उनके उपन्यासों की सूची 'आँसू' से 'लोक आहे बोक' (१८५७) तक ग्रंथों की एक वड़ी सूची है। कहानी-लेखकों में आनन्द गोलाणी कदाचित् सबसे अच्छे हैं, यद्यपि उनसे कम अच्छे और भी दर्जनों मिल जाएँगे, जैसे सुगन आहूजा, कीरत बाबानी, उत्तम, बिहारी छाबरिआ, चावला इत्यादि। इस दशक के दूसरे प्रसिद्ध लेखकों में राम पंजवाणी 'आहे-न-आहे' के लेखक हैं, जिसमें ऐसे कलाकार की कहानी दी गई है जो कि ईश्वर पर विश्वास करता है। मंघाराम मलकाणी[1] नाटककार, निबन्धकार और साहित्यिकार हैं। वे 'अदबी उसूल' नामक एकमात्र सिंधी आलोचना-सिद्धांत-ग्रन्थ के लेखक हैं।

१९४७-५७ के दशक में लिखे गए साहित्य की दो बड़ी विशेषताएँ हैं : सिंध, उसकी भाषा और साहित्य (विशेषकर शाह) के प्रति प्रत्येक लेखक का अत्यंत अनुराग; और मनुष्य एवं वस्तुओं के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण में दिग्दर्शित प्रगतिशीलता। कुछ समय तक—स्वाभाविक रूप से तरुण लेखकों में—'यौन-प्रधान लेखन' की अस्वास्थ्यकर प्रवृत्ति भी दिखाई दी थी, पर अब इस प्रवृत्ति को निन्दनीय समझा जाने लगा है। आज के सिंधी लेखकों में अपने प्रति और अपनी जाति तथा भाषा के प्रति वड़ी आस्था है और यह भविष्य के लिए एक

१. इन्हें 'सिंधी नसर-जी-तारीख़' (साहित्य-इतिहास) पुस्तक पर १९६९ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

शुभ लक्षण है।

सिंधी में बाल-साहित्य अभी-अभी लिखा जाने लगा है। सरल कहानियाँ और बच्चों के लिए कविताएँ प्राथमिक कक्षाओं के उपयोग के लिए बनी पाठ्य-पुस्तकों के लिए लिखी गई। बच्चों के लिए लिखने वालों में सबसे अधिक रचनाएँ कौडोमल चंदनमल की लेखनी से निकली हैं। भेरूमल मेहेरचन्द के लिखे कुछ बालोपयोगी पद्यों को कक्षा से बाहर भी लोकप्रियता मिली। विशेषतः 'बूढ़े राजा काल' शीर्षक एक अंग्रेज़ी कविता का अनुवाद। सिंधी में बच्चों के साहित्य के पहले प्रसिद्ध लेखक थे, परमानन्द मेवाराम, जिनकी 'जोत' नामक कृति में वालकों के लिए मनोरंजक और शिक्षाप्रद सामग्री भरपूर है। 'दिल बहार' शीर्षक से उनकी बच्चों की कुछ कहानियाँ संगृहीत हैं। प्रथम महायुद्ध के आस-पास टैगोर के 'क्रीसेण्ट मून' (बालचंद्र) और 'पोस्ट आफ़िस' (डाकघर) जैसे ग्रंथ और बंकिमचंद्र की कहानियाँ अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुई थीं। उनके सरल सिंधी गद्य और पद्य में कई अनुवाद और रूपांतर प्रकाशित हुए, जिनसे बालकों को बड़ा आनन्द मिला।

सिंधी में बच्चों के लिए ही लिखी गई पहली लेखमाला और कविताएँ 'बाल-कन-जी-बारी' नामक अखिल भारतीय बाल संस्था ने और उसके 'दादा' (शेवक भोजराज) ने रचीं। इस संस्था ने गत तीन दशाब्दियों से अच्छे बाल-साहित्य को प्रकाशित करने की अपनी परम्परा क़ायम रखी है। इसमें से कई रचनाएँ स्वयं बच्चों द्वारा लिखी हुई हैं। बालकन-जी-बारी न होती तो शिशु-गीत और बच्चों की लोक-कथाएँ आज सिंधी में न होतीं। बीसवीं सदी की तीसरी शताब्दी के अंत में, रेवाचन्द थढाणी नाम के वकील ने सिंधी में अर्थहीन तुकबंदियाँ लिखने का बड़ा साहसपूर्ण यत्न किया। उदाहरणार्थ, 'भगत भंभोर जो, बाबो आहे चोर जो' (भंभोर में एक भगत है जो चोर का बाप है)। लेकिन अब ये सब तुकबंदियाँ मिलती ही नहीं। बच्चों के लिए विशेष रूप से एक सिंधी साहित्य-विभाग खोलने का श्रेय फ़तहचंद (मंगतराम वासवाणी) नामक एक राजस्व अधिकारी को देना चाहिए, जो अपने भाई मेलाराम के नाम से 'सुन्दर साहित्य' लिखते थे। फ़तहचन्द के प्राथमिक कार्यों ने कई अनुकरण करने वालों को आकर्षित किया। उच्च बाल-कविता सिंधी में मुख्यतः 'वेवस' (किशनचन्द खत्री) और उनके शिष्य 'दुखायल' ने लिखी। इनके गीत सिंध के देहातों में गाये जाते हैं और वे

अब जन-जन को मानो कंठस्थ हैं। चौथे और पाँचवें दशक में सिंधी के कई प्रसिद्ध लेखक बच्चों के लिए किताबें लिखने की ओर मुड़े, जिनमें सबसे मेहनती थे लालचन्द अमरडिनोमल।

सिंधी में तकनीकी या गंभीर वैज्ञानिक ग्रंथ नहीं के बराबर हैं। सिंधी के केवल एक लेखक ने ऐसे ग्रंथ लिखने का यत्न किया है। उनका नाम मिर्ज़ा कलीच बेग है, और उनकी रचनाएँ भी मुख्यतः अनुवाद हैं। हरीसिंह और पोकरदास जैसे प्रकाशकों ने साहस किया और गम्भीर ग्रन्थ छापे, विशेषतः चिकित्सा और कारख़ानों के बारे में। ये उर्दू से अनूदित थे, लेकिन इनका साहित्यिक मूल्य बहुत कम है। सिंधी में सरकारी प्रकाशन (खेती, अर्थशास्त्र, उद्योग इत्यादि पर) सदा की भाँति काठ-से कोरे और नीरस हैं। सिंधी कोशों के प्रथम लेखक यूरोपीय विद्वान् थे—यथा : स्टैक, ट्रंप और शर्ट; और उनके वाद कई शब्द-सूचियों और छोटे-मोटे कोशों के लेखक आये, जैसे नारूमल और दूलामल बूलचन्द। अब तक सिंधी में सबसे आधिकारिक कोश बहुमुखी प्रतिभाशाली लेखक परमानन्द मेवाराम द्वारा सम्पादित है। परन्तु वह भी ५० साल पहले प्रकाशित हुआ था और उसका पुनर्शोधन आवश्यक है।

संदर्भ ग्रन्थ

शाह लतीफ़—लीलाराम वातणमल

सिंध ऐंड इट्स सूफ़ीज़—जेठमल परसराम; थियोसाफ़िकल पब्लिशिंग हाउस, अडयार, मद्रास; १९२४

शाह अब्दुल लतीफ़ आफ़ भिट—एच० टी० सोर्ले, आक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस; १९४०

डेज़र्ट वायसेज़—टी० एल० वासवाणी, गणेश ऐंड को०, मद्रास

लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया—जी० ए० ग्रियर्सन, खंड ८, भाग १, पृष्ठ १–२३१

हिन्दी

सच्चिदानन्द वात्स्यायन

ऐतिहासिक पृष्ठिका

हिन्दी परम्परा से विद्रोह की भाषा रही है। प्रारम्भिक काल से ही हिन्दी-रचना का एक बहुत बड़ा अंश न्यूनाधिक संगठित वर्गों द्वारा किसी न किसी प्रवृत्ति के विरोध की अभिव्यक्ति रहा है। यह विरोध का स्वर सदैव प्रगति का स्वर रहा हो, ऐसा नहीं है; कभी-कभी यह स्वर परिवर्तन के विरोध का; प्रतिक्रिया का, जीर्ण परम्परा अथवा पुराने विशेषाधिकारों की रक्षा की भावना से प्रेरित संकीर्णता का स्वर भी रहा। किन्तु विरोध भाव उसमें सदैव रहा; अर्थात् लेखक सदैव किसी न किसी रूप में एक आन्दोलनकारी, उपदेशक, सन्देशवाहक या प्रचारक रहा है; उसका लक्ष्य चाहे धर्म, दर्शन, आस्तिकवाहक रहा हो, चाहे आक्रान्ता, आततायी और मूर्ति-भंजक म्लेच्छ, चाहे वैरागी, संन्यासी और गृहस्थ, चाहे प्रकृति अथवा काम-शास्त्र अथवा स्वयं साहित्य ही।

निस्सन्देह इस प्रवृत्ति के ऐतिहासिक कारण रहे। हिन्दी उस प्रदेश की भाषा रही जो आरम्भ से ही भारतीय इतिहास की लीला-भूमि रहा। और जिसमें निरन्तर साम्राज्यों और राज-वंशों के भाग्यों का निर्णय होता रहा संस्कृत के, जो कि उच्चतर अभिजात वर्ग के शिष्ट आदान-प्रदान और कला-विलासों की भाषा थी, विपरीत प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से जन साधारण के अन्तर्जीवन को अभिव्यक्ति देने का उत्तराधिकार पाकर हिन्दी अपना दायित्व-क्षेत्र निरन्तर बढ़ाती गई। बौद्ध विचार-धारा के प्रभाव से कर्मकाण्ड और जात-पाँत के विरोध से आरम्भ करके शीघ्र ही उसे तन्त्रवाद से सम्बद्ध उन जटिल प्रभावों का विरोध करना पड़ा जो जनसाधारण को अगर वैराग्य की ओर नहीं तो कम से कम साधारण गृहस्थ-जीवन के उत्तरदायित्व के निषेध की ओर ले जा रहे थे। विदेशी आक्रमणकारियों के अत्याचार और इस्लाम की वृद्धि ने विद्रोह के स्वभाव में एक

नया परिवर्तन उत्पन्न किया। अपने सन्देशवाहकों की क्रूरता और असहिष्णुता के बावजूद सामाजिक दृष्टि से इस्लाम समता और सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति की प्रेरणा देता था। उसके प्रतिकार में हिन्दी एक संघटित प्रतिक्रिया की भाषा बनी। संघर्ष के रूप ने प्रतिक्रिया के रूप को निश्चित किया। एक धर्म-विश्वासों के मामले में पूरी स्वन्त्रता के साथ कर्मकाण्ड के कड़े बन्धनों का आग्रह करता था, दूसरा एक विश्वास अथवा धर्म-बीज पर कट्टर आग्रह के साथ कर्म की यथेष्ट स्वतन्त्रता देता था। मध्यकालीन हिन्दी एक ऐसे समाज की भाषा रही जो व्यूह रचकर, अपने अनुशासन को और कड़ा करके, आत्म-रक्षा करना चाहता था। इस्लाम के क्रमिक विस्तार और मुस्लिम शासन-सत्ता के दृढ़तर संगठन के साथ-साथ हिन्दी क्रमशः अधिकाधिक एक उत्पीड़ित जाति की भाषा होती गई। उत्पीड़ित जाति की भाषा होने की यह स्वरूप-कल्पना और भावना अनन्तर ब्रितानी शासन काल में और बढ़ती गई। अंग्रेज़ी राज्य की भेद-नीति के और उर्दू को दिये जाने वाले संरक्षण के प्रभाव ने इस सूक्ष्म विरोध-भाव को और तीव्र किया। उर्दू का प्रोत्साहन एक भाषा के नाते उसके गुणों और उसकी विशेषताओं का प्रोत्साहन नहीं था, वरन् एक संरक्षित, कृपा-पात्र जाति की भाषा का प्रोत्साहन था। इतना ही नहीं, उर्दू के इस रूप अथवा पद की भ्रान्त धारणा अंग्रेज़ी शासकों द्वारा न केवल बढ़ावा पाती थी, बल्कि बहुत दूर तक उन्हीं के द्वारा उत्पन्न की गई थी। उन्नीसवीं शती के अनेक सुधारवादी आन्दोलनों और उनके समानान्तर साम्प्रदायिक भावनाओं की वृद्धि ने हिन्दी की इस प्रवृत्ति को और बढ़ाया, यद्यपि साम्प्रदायिक प्रभाव उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना कि राष्ट्रीयता के व्यापक विकास का प्रभाव। हिन्दी सहज ही राष्ट्रीय भावना की सबसे महत्त्वपूर्ण (और जनसंख्या की दृष्टि से सबसे अधिक प्रबल) वाहिका बन गई।[१] यह कहा जा सकता है कि इस काल का पुनरुत्थानवाद भी वास्तव में संस्कृति की एक नई और अधिक लौकिक कल्पना का परिणाम था और उसकी तत्कालीन अभिव्यक्ति धार्मिक सुधारवादी आन्दोलन में हुई। सन् १८७५ में संस्थापित आर्य समाज निस्सन्देह एक धार्मिक पुनरुत्थानवादी आन्दोलन था, जिसमें तीव्र बुद्धिवादी आग्रह भी था,

---

१. इस कथन का उद्देश्य बंगाल की देन की अवज्ञा करना नहीं है। बंगाल में जो पुनर्जागरण हुआ, हिन्दी ने उसका प्रभाव सीधा भी और अनुवादों द्वारा भी ग्रहण किया। किन्तु बंगाल की प्रादेशिक सीमा और हिन्दी की संख्या-शक्ति दोनों का प्रभाव बहुत गहरा था।

किन्तु इस बात के बढ़ते हुए ज्ञान ने, कि संस्कृति एक समूची जाति की परम्परा, समष्टिगत अनुभव और रचनात्मक प्रवृत्तियों का नाम है, समाज के एकीकरण में अधिक महत्त्व का काम किया।

अपने इतिहास के अधिकतर भाग में हिन्दी की जो विशेष अवस्थिति रही उसने एक दूसरे विरोधाभास को जन्म दिया। 'मध्य देश' की भाषा होने के नाते हिन्दी भाषा आरम्भ से हिन्दू दर्शन की मुख्य धारा की वाहिका रही और इसलिए उसकी परम्परा और प्रवृत्ति सर्वदा व्यक्तिवादी रही हैं, किन्तु हिन्दी-साहित्य का कृतित्व मुख्यतया व्यक्ति का कृतित्व नहीं रहा। अर्थात् उसके इतिहास में प्रमुख स्थान अलग-अलग महान् साहित्यिक प्रतिभाओं का न रहकर वैचारिक आन्दोलनों अथवा संवेदना के रूप-परिवर्तनों का रहा है। हिन्दी-साहित्य (उल्लेखनीय अपवादों के रहते हुए भी) व्यक्तिगत कृतित्व की अपेक्षा प्रवृत्तियों का साहित्य रहा है। लेखक व्यक्ति की महत्ता का विचार तो विशेष रूप से उन्नीसवीं शती से ही आरम्भ हुआ, जब से पश्चिम की यह धारणा प्रचार पाने लगी कि कलाकार एक विशिष्ट, अद्वितीय और स्वतन्त्र व्यक्ति है। कलाकार के कृतित्व की परिकल्पना में होने वाला यह परिवर्तन इतना मौलिक है कि इसे 'कलाकार का स्वातन्त्र्य-लाभ' भी कहा जा सकता है। वर्तमान शती के तीसरे दशक में मार्क्सीय आलोचना ने कलाकार के पद का नया निरूपण करने का प्रयत्न किया—पहले साधारण स्थापनाओं द्वारा, और फिर उसे दल के नियमों और आदेशों द्वारा अनुशासन में लाने का यत्न करके—किन्तु इस प्रयत्न को केवल आंशिक सफलता मिली। इसकी चर्चा यथास्थान होगी। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि यह धारणा केवल उन्नीसवीं शती से प्रचलित और स्वीकृत होने लगी कि साहित्यिक रचना अनिवार्यतया व्यक्ति लेखक के विशिष्ट चरित्र और प्रतिभा को प्रतिबिम्बित करती है और उसका वैसा करना उचित है। इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिन्दी में शैली का महत्त्व साहित्यिक मूल्यों में एक नई चीज़ है। यह बात कदाचित् सभी भारतीय भाषाओं में सच होगी, किन्तु अन्य भाषाओं की चर्चा यहाँ प्रासंगिक नहीं है।

हिन्दी की समकालीन प्रवृत्तियों के अध्ययन में इन बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। किसी साहित्य की परम्परागत अवस्थिति और प्रवृत्ति को तथा किसी विशेष सन्दर्भ में अपने ध्येय और कार्य के बारे में समकालीन लेखक की

धारणाओं को, ध्यान में रखे बिना किसी क्षेत्र में प्रभाव रखने वाली विशेष शक्तियों को पहचानना अथवा विभिन्न साहित्यकारों के कृतित्व का मूल्यांकन सदैव जोखम का काम होता है—ऐसे व्यक्ति के लिए और भी अधिक जो स्वयं उस क्षेत्र में क्रियाशील हो—किंतु साहित्य-रचना सर्वत्र अनिवार्यतया अधिकाधिक सचेतन और सोद्देश्य कला होती जा रही है और इसलिए लेखक को निरन्तर समकालीन रचना का मूल्यांकन करना पड़ता है। देश-काल की दूरी ही अनासक्ति और निरपेक्षता देती है। लेकिन संघर्ष को निकट से देखना भी अपने ढंग की स्फूर्तिप्रद अनुभूति होती है।

भाषा

आधुनिक सन्दर्भ में हिन्दी-साहित्य का अर्थ प्रायः सम्पूर्णतया खड़ी बोली का साहित्य है, यद्यपि प्रतिष्ठित साहित्यिक माध्यम के रूप में खड़ी बोली का इतिहास एक शती से अधिक पुराना नहीं है, और कविता की मुख्य धारा की वाहिका के रूप में तो खड़ी बोली की प्रतिष्ठा बीसवीं शती में ही हुई। उस समय तक परम्परागत काव्य-भाषा ब्रजभाषा थी, यद्यपि अवधी, मैथिली और अन्य जन व मातृ-भाषाओं में भी कविता लिखी जाती थी। हिन्दी-क्षेत्र के सीमा-निरूपण के बारे में विद्वानों में सदैव मतभेद रहा है और नई राजनीतिक परिस्थितियों तथा प्रादेशिक भाषाओं में नये आत्म-गौरव की भावना ने परिस्थिति को और भी उलझा दिया है। भाषा-शास्त्र के अध्ययन ने भी समस्या की जटिलता बढ़ाने में ही योग दिया है, क्योंकि उसकी खोज ने ऐसा नया साक्ष्य उपस्थित किया है जो हिन्दी के परम्परागत अथवा ऐतिहासिक पद का समर्थन नहीं करता है। यहाँ पर हिन्दी के क्षेत्र की परम्परागत रूप-रेखा दे देना ही यथेष्ट होगा; क्योंकि हिन्दी के अपने इतिहासकार अब भी निरपवाद रूप से इसी को मानते हैं और अध्येता को हिन्दी में जो सामग्री मिलेगी वह इसी को पुष्ट करने वाली होगी।

पारम्परिक परिभाषा में हिन्दी उस भाषा के प्रामाणिक रूप का नाम है जो पंजाब की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार की पूर्वी सीमा तक और नेपाल की सीमा से लेकर मध्य प्रदेश तक के क्षेत्र में बोली जाती है। अन्य भाषा-क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र का अपना पृथक् कोई नाम नहीं है और इसे केवल 'मध्य देश' की अभिधा दी जाती है। अन्य भाषाओं से हिन्दी इस बात में भी भिन्न है कि उसके

अन्तर्गत आने वाली बोलियाँ और मातृ-भाषाएँ सब प्रत्यक्ष रूप से एक ही उत्स से निकली हुई नहीं जान पड़तीं और किसी-किसी का दूसरी भाषा की प्रतिवेशी बोली से अधिक निकट सम्बन्ध जान पड़ता है। एक तरह से यह भी कहा जा सकता है कि प्रामाणिक हिन्दी के रूप में खड़ी बोली का अभ्युदय होने तक हिन्दी किसी एकरूप भाषा का नहीं, बल्कि एक परम्परा का नाम था—एक संघटनशील केन्द्रोन्मुखी प्रवृत्ति का, जो सारे प्रदेश के रचनात्मक अथवा उपदेशात्मक साहित्यिक उद्योग को एक प्रामाणिक एकरूपता की ओर ले जाती थी और प्रदेश के भीतर विभिन्न बोलियों के क्षेत्रों के आपसी सम्पर्क का साधन उपस्थित करती थी। केन्द्रोन्मुखता की यह परम्परा ही हिन्दी का सम्बन्ध आठवीं शती की अपभ्रंश भाषा से जोड़ती है और हिन्दी के इतिहासकार को यह अधिकार देती है कि वह उसके साहित्य का आरम्भ बौद्ध सिद्धों के दोहों और गीतों से करे। निस्सन्देह आठवीं शती में कई अलग-अलग अपभ्रंश भाषाएँ प्रचलित थीं, लेकिन यह मान लेने के पर्याप्त कारण हैं कि सारे उत्तर भारत में प्रचलित साहित्यिक अपभ्रंश भाषा का एक प्रामाणिक रूप था। और यह तो निर्विवाद है कि अपभ्रंश की साहित्यिक परम्परा उत्तर भारत की किसी दूसरी भाषा की अपेक्षा हिन्दी में ही अधिक सुरक्षित रही। मध्यकाल के भक्ति-आन्दोलनों का दाय भी हिन्दी और उनकी बोलियों में ही सबसे अधिक सुरक्षित है। सन्त कवियों की उपदेशात्मक, रहस्यमयी या भावविभोर बानियाँ भी मुख्यतया ब्रजभाषा और अवधी में ही सुरक्षित हैं, यद्यपि विभिन्न कवियों के जन्म अथवा प्रवास के क्षेत्र के अलग-अलग प्रभाव इन भाषाओं ने ग्रहण किये। सूरदास, तुलसीदास, कबीर और दादूदयाल तो हिन्दी-क्षेत्र के थे ही, किन्तु पूर्व, पश्चिमोत्तर और दक्षिण के भक्त कवियों का काव्य भी हिन्दी को प्राप्त हुआ और हिन्दी-माध्यम से पुनः अपने-अपने प्रदेश में गया।

यहाँ इस जटिल और विवादास्पद विषय की अधिक चर्चा की आवश्यकता नहीं है। इस समय इतना स्मरण रखना पर्याप्त है कि हिन्दी आज निर्विवाद रूप से लगभग १५ करोड़ जनता की भाषा है। और उसका क्षेत्र भारतीय संघ की भूमि का लगभग आधा भाग है।

आधुनिक काल : आरम्भ

हिन्दी की केन्द्रोन्मुखी परम्परा को ध्यान में रखकर ही यह बात समझ में

आ सकती है कि खड़ी बोली को मुख्य साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित कर देने वाले शक्तिशाली आन्दोलन का आरम्भ बनारस में कैसे हुआ, जो कि आज भी भोजपुरी बोली का क्षेत्र है; और कैसे इस आन्दोलन को अवधी प्रदेश से सक्रिय सहायता मिली। बल्कि खड़ी बोली का अपना प्रदेश इस दृष्टि से पीछे ही रहा; और उसकी उदासीनता ब्रज प्रदेश की उदासीनता से कुछ ही कम थी, यद्यपि ब्रज का ब्रजभाषा के प्रति मोह सहज और स्वाभाविक था और यह भाषा उस समय काव्य की प्रतिष्ठित भाषा थी।

खड़ी बोली हिन्दी के अपने प्रदेश में विकास पर एक और बात का गहरा प्रभाव पड़ा। वह बात यह थी कि उसी क्षेत्र पर ही नहीं बल्कि उसी परम्परा पर उर्दू का भी दावा था। उर्दू को सरकारी संरक्षण[1] मिलने पर भी हिन्दी क्रमशः अधिक उन्नति क्यों करती गई, इसका कारण उसकी संस्कृति का विस्तृत लौकिक आधार ही था, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। उर्दू, जो कि दरबारों से सम्बद्ध अत्यन्त संस्कारी शहरी भाषा थी, अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण अपेक्षया दुर्बल भी थी। उसमें वह लचकीलापन और प्रत्युत्पन्न प्रतिभा नहीं थी जो कि देश-व्यापी हलचल के साथ चल सकने के लिए आवश्यक थी। हिन्दी में परिमार्जन और भाषा के सुनिश्चित प्रतिमानों की कमी रहते हुए भी उसमें यथेष्ट लचकीलापन और जीविष्णुता थी, यद्यपि उसकी प्रारम्भिक साहित्यिक रचनाएँ आज अत्यन्त अटपटी और ऊबड़-खाबड़ जान पड़ सकती हैं। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध के हिन्दी लेखक संस्कृत के अतिरिक्त उर्दू-फ़ारसी का ज्ञान प्रदर्शित करना मानो आवश्यक समझते थे; अथवा अवचेतन भाव से वे इस प्रकार मानो इस बात की ही सफ़ाई देते थे कि जान-बूझकर एककम परिमार्जित, यद्यपि अधिक सन्तोषप्रद माध्यम चुनने पर भी वे साहित्यकार होने के लिए अपात्र नहीं हैं। यह प्रवृत्ति वर्तमान शती के तीसरे दशक तक लक्षित होती रही; जब तक कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०–१८८३) से लेकर महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६८–१९३८) तक हिन्दी लेखकों की परम्परा के अविराम उद्योग से साहित्यिक भाषा का एक प्रतिमान स्थिर नहीं हो गया। और जब प्रेमचन्द (१८८०–१९३६) ने, जो कि उर्दू के उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध हो चुके थे, चुपचाप

१. सन् १८३७ में फ़ारसी के स्थान पर 'फ़ारसी-मिश्रित उर्दू' सरकारी भाषा घोषित कर दी गई थी।

हिन्दी का वरण कर लिया तब मानो भाषाओं के बीच अन्तिम रूप से निबटारा हो गया। दोनों भाषाओं के बीच वाद-विवाद और संघर्ष इसके बाद भी होता रहा और अधिक कटु रूप लेता रहा तो उसका कारण साहित्यिक नहीं, शुद्ध राजनीतिक था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रचनात्मक साहित्य को आज कदाचित् बहुत उच्च-कोटि का नहीं समझा जायगा; और महावीरप्रसाद द्विवेदी की रचनाओं का स्थान तो इससे भी कुछ नीचा ही होगा; किन्तु देश के सांस्कृतिक पुनरुत्थान पर भारतेन्दु का प्रभाव गहरा और दूर-व्यापी था और उनकी बहुमुखी प्रतिभा, अतिक्रान्त उदारता और निर्भीक तेजस्विता ने प्रभाव को और गहरा कर दिया है। और द्विवेदी जी की एक सम्पादक के रूप में निस्पृह कर्मठता और उत्साह ने उन्हें आधुनिक हिन्दी-गद्य के निर्माता के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया है। भारतेन्दु और उनके समवर्तियों के कृतित्व मात्रा में यथेष्ट और वस्तु की दृष्टि से वैविध्य-पूर्ण थे। कला की दृष्टि से वे सर्वथा दोष-रहित न भी रहे हों, पर उनका प्रभाव व्यापक और उनकी प्रेरणा स्फूर्तिदायिनी थी। इस केन्द्रीय मण्डल का प्रभाव क्रमशः फैलता गया और उनके भाषा-सम्बन्धी विद्रोह ने शीघ्र एक सामाजिक, सांस्कृतिक जन-आन्दोलन का रूप ले लिया। अंग्रेज़ी साहित्य से परिचय का प्रभाव भी इन लेखकों द्वारा अपनाए गये साहित्यिक रूपों पर पड़ा। काव्य, नाटक, प्रहसन, व्यंग्य और विवादात्मक, आलोचनात्मक तथा हास्यमूलक निबन्धों के अतिरिक्त ललित गद्य भी लेखक अपनाने लगे और क्रमशः कहानी और उपन्यास भी। भारतेन्दु के समय से उन्नीसवीं शती के अन्त तक अंग्रेज़ी का प्रभाव प्रायः बंगला के माध्यम से ग्रहण किया जाता रहा, क्योंकि कलकत्ता तत्कालीन ब्रिटिश राजधानी और अंग्रेज़ी शिक्षा का केन्द्र था।[1] बीसवीं शती के आरम्भ में यह प्रभाव हिन्दी द्वारा सीधा-सीधा ग्रहण किया जाने लगा और दूसरे यूरोपीय प्रभाव भी (अंग्रेज़ी के माध्यम

१. पहला अंग्रेज़ी कालेज, कलकत्ता में सन् १८३० में स्थापित हुआ। कलकत्ता बुक सोसायटी की स्थापना १८५७ में हो चुकी थी, आगरा में ऐसी ही एक संस्था १८३३ में बनी। बाइबल का अनेक भारतीय भाषाओं में अनुवाद १८३२ में हुआ। पहली हिन्दी पत्रिका कलकत्ता से सन् १८२६ में प्रकाशित हुई। सन् १८२९ में एक और पत्र हिन्दी, बँगला, अंग्रेज़ी और फ़ारसी में निकलने लगा। राजा राममोहन राय, द्वारिकानाथ ठाकुर इत्यादि इसके मालिक थे। लगभग इसी समय राजा राममोहन राय ने पहले अंग्रेज़ी विद्यालय की स्थापना की। सन् १८८४ में अंग्रेज़ी का ज्ञान सरकारी नौकरी के लिए अनिवार्य हो गया।

से) प्रकट हुए। इसमें रूसी उपन्यास-साहित्य और कुछ कम मात्रा में फ़्रांसीसी उपन्यास-साहित्य और काव्य का प्रभाव उल्लेखनीय है। हिन्दी के अथवा बँगला से अनूदित कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक उपन्यासों ने ऐयारी-तिलस्मी की कहानियों और हल्की-फुल्की प्रेम-गाथाओं का स्थान ले लिया, जो कि उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक साहित्यिक मनोरंजन का मुख्य साधन थीं। हिन्दी-लेखक अंग्रेज़ी के विक्टोरियन युग के साहित्यकारों की रचनाओं से भली भाँति परिचित हो गया; काव्य के क्षेत्र में रोमांटिक कवियों से उसका अन्तरंग परिचय हुआ, किन्तु पोप, ड्राइडन, मिल्टन-गोल्डस्मिथ आदि कवियों और प्रबन्धकारों से भी वह अपरिचित न रहा। ह्यूगो और ड्यूमा की रचनाओं से भी उसका परिचय हुआ और न्यूनाधिक मात्रा में मोलियेर, बालाज़ाक, फ्लायबेर, मोपासाँ और ज़ोला की रचनाओं से भी। तोल्स्तोय, तुर्गेन्येव, चेखव परिचित नाम होने लगे।

किन्तु वास्तव में हिन्दी ने आधुनिक काल में प्रवेश पहले महायुद्ध के बाद ही किया और समकालीन प्रवृत्तियों का विवेचन तो इसके और एक पीढ़ी बाद से भी माना जा सकता है। अन्य देशों में इस काल के साहित्यालोचकों ने 'सम्भ्रान्ति युग' और 'चिन्ता के युग' की चर्चा की है, हिन्दी में यह दोनों समवर्ती और लगभग पर्यायवाची हुए। इतना ही नहीं, दोनों महायुद्धों के बीच के काल को हिन्दी के सन्दर्भ में एक और भी नाम दिया जा सकता है—यदि इससे भ्रम उत्पन्न होने की आशंका न होती—कुण्ठा का युग। वास्तव में ये तीनों नाम एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व की उस खोज के तीन अलग-अलग और अनिवार्य पक्षों के नाम थे जो कि जाने-अनजाने इस काल के साहित्य की, और उसकी कटुता और उड़ान, झल्लाहट और तन्मयता की मूल प्रेरणा रही। भारतीय परम्परा में युग सदैव कृतिकार से अधिक महत्त्व रखता रहा है और परिणामतः साहित्य की प्रवृत्ति व्यक्ति-चरित्र के निर्माण की अपेक्षा उसके सांचों (टाइप) के निर्माण की ओर अधिक रही है। काव्य में भी व्यक्ति की संवेदना की अपेक्षा रूढ़ अभिप्रायों और कल्पना का महत्त्व अधिक होता रहा है। एक व्यक्ति के रूप में आत्म-साक्षात्कार होने के साथ-साथ हिन्दी लेखक ने अनुभव किया कि कृतिकार के रूप में उसका सम्बन्ध व्यक्ति-

हिन्दी के क्षेत्र में पहली पत्रिका सन् १८४४ में बनारस से निकली, इसके सम्पादक बंगाली थे और इसकी भाषा फ़ारसी-मिश्रित थी। बनारस से १८५० में और आगरा से १८५३ में अन्य हिन्दी पत्र निकले।

चरित्र से ही होना चाहिए। यह अनुभव सहज ही प्राप्त हुआ हो या बिना मानसिक द्वन्द्व के स्वीकार कर लिया गया हो, ऐसा नहीं है; आत्म-साक्षात्कार और आत्म-स्वीकृति दोनों ही क्रियाएँ कष्टकर रहीं। किन्तु इसके बाद के साहित्य में जो परिपक्वता और सन्तुलन लक्षित हुआ वह सूचित करता है कि नई परिस्थिति को लेखक ने कैसी शीघ्रता से और कितनी दूर तक आत्मसात् कर लिया।

छायावाद और प्रगतिवाद

दोनों महायुद्धों के बीच के काल में यद्यपि परम्परागत शैली में साहित्य लिखा जाता रहा और इस बात का प्रयत्न होता रहा कि परम्परागत रूपान्तरों और शिल्प को छोड़े बिना नये विचार और संवेदना से समझौता किया जा सके, तथापि इस काल की विशेषता दो साहित्यिक आन्दोलनों में प्रकट हुई, जिनमें से एक का क्षेत्र मुख्यतया काव्य था, किन्तु दूसरे का अधिक व्यापक। परम्परागत रूपाकारों की मर्यादा न उलाँघते हुए नई संवेदना का ग्रहण करने में मैथिलीशरण गुप्त (१८८६–* इस अवधि में इनका देहावसान हो गया।) के काव्य को असाधारण सफलता मिली। उनकी फुटकर कविताओं पर छायावाद का प्रभाव न लक्षित होता हो, ऐसा नहीं है, तथापि उनका काव्य इस धारा के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता और उनके ५० वर्ष का काव्य-कृतित्व नये को अग्राह्य न करती हुई परम्परा के निर्वाह का उदाहरण है। भाषा की दृष्टि से वह प्रतिमानों की प्रतिष्ठा के उस आन्दोलन के, जिसके नियामक महावीरप्रसाद द्विवेदी थे, मुख्य उदाहर्त्ता हुए; और प्रामाणिक हिन्दी के व्यापक स्वीकार में उनके कृति-साहित्य का योग अद्वितीय है।

नये साहित्यिक आन्दोलनों में काव्य का आन्दोलन व्यक्तिगत संवेदना और सौन्दर्य-चेतना का आन्दोलन था और उसके मूल में पूर्ववर्ती साहित्य की इतिवृत्ति या उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति के विरुद्ध व्यक्ति का विद्रोह था। छः शताब्दी पहले के भक्ति-आन्दोलन की भाँति यह नया आन्दोलन छायावाद की रूढ़ि के बन्धनों के विरुद्ध हृदय की पुकार थी। कवि ने यह पाया था कि ऐसा भी कुछ है जो उसका एकान्त अपना है और उसकी अभिव्यक्ति के लिए वह छटपटा रहा था। अभिव्यक्ति के जो साधन—भाषा, काव्य, रूप, छन्द, शिल्प और तत्सम्बन्धी वर्जनाओं का समूह—उसे उपलब्ध थे, उनकी असमर्थता और अपर्याप्तता

उसके लिए असहनीय थी। आवश्यकता की भट्ठी में उसने नये साधनों का निर्माण किया। 'निराला' (सूर्यकान्त त्रिपाठी, १८९६–* इस अवधि में इनका देहावसान हो गया।) और सुमित्रानन्दन पन्त[१] (१९००–) इस आन्दोलन के आधार-स्तम्भ थे और दोनों ने उच्च कोटि का काव्य रचा। जयशंकर प्रसाद (१८८९–१९३७) और महादेवी वर्मा (१९०७–) का काव्य भी हिन्दी के गौरव की वस्तु है, किन्तु इन दोनों को उसी अर्थ में प्रवर्तक नहीं माना जा सकता और न उनमें उसी कोटि की मौलिकता और रचनाशीलता है। पन्त और निराला की सूक्ष्म शब्द-चेतना, स्वरों का उपयोग और भाषा-संगीत का गहरा बोध, और प्रकृति के प्रति उनका सहज स्फूर्त भाव उन्हें न केवल अपने पूर्ववर्तियों और दूसरी शैली के समवर्तियों से अलग करता है बल्कि नये छायावादी कवियों से भी। छायावादी आन्दोलनों को रोमांटिक आन्दोलन कहा गया है और कदाचित् यह नाम किसी भी दूसरे विदेशी नाम से अधिक उपयुक्त है। इसमें भी सन्देह नहीं कि अंग्रेज़ी रोमांटिक कवियों का विशेषतया पन्त पर बहुत प्रभाव पड़ा। किन्तु इस प्रकार की तुलनाओं में जोखम भी हो सकता है। हिन्दी के छायावादी आन्दोलनों को अंग्रेज़ी के रोमांटिक आन्दोलनों का प्रतिरूप मान लेना कितना भ्रान्तिपूर्ण होगा, यह इसी से प्रकट होता है कि रोमांटिकवाद का उतना ही गहरा प्रभाव इसी काल के दूसरे और विरोधी आन्दोलन प्रगतिवाद पर भी था। छायायाद में रोमांटिकवाद का प्रकृति-प्रेम और विस्मय-भाव तो था किन्तु सौन्दर्य की घातकता का और काल रूपी नर-नारियों का प्रभाव नहीं जो कि पाश्चात्य रोमांटिकवाद की विशेषता है; इसके अतिरिक्त छायावाद के मूल में आस्तिकता की एक गहरी अन्तर्धारा भी प्रवाहित हो रही थी। प्रगतिवाद भी एक भारतीय प्रगतिवाद था; जिसमें प्रतिलोम रोमांटिकवाद भी निहित था जिसमें प्रकृति की विरूपता, निर्ममत्व और अनैतिकता पर ज़ोर था, किन्तु साथ ही उनके प्रति सहानुभूति का आग्रह भी, जो अब तक काव्य के उपेक्षित रहे थे—समाज के दलित और उत्पीड़ित वर्ग या अंग। संक्षेप में कहा जा सकता है कि छायावाद पूर्ववर्ती रोमांटिकवाद और वेदान्तवाद का समन्वय था; प्रगतिवाद परवर्ती रोमांटिकवाद और वेदान्तवाद का समन्वय था; प्रगतिवाद परवर्ती रोमांटिक-

१. श्री पंत को 'कला और बूढ़ा चाँद' (काव्य) पर १९६० का साहित्य अकादेमी पुरस्कार तथा 'चिदंवरा' काव्य पर १९६९ का ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रदान किया गया।

वाद और मार्क्सीय द्वन्द्ववाद का संगम।

छायावाद के प्रेरणा-स्रोत को ध्यान में रखते हुए यह स्वाभाविक माना जा सकता है कि इसके सौंदर्यवादी कवियों में उत्पीड़ित साधारण जनता के कष्टों का उतना तीखा बोध नहीं है। किन्तु यह भी ध्यान में रखना होगा कि प्रगतिवादी पक्ष के अनेक लेखकों ने मानव जाति के अपमान और उत्पीड़न के जो लोमहर्षक वर्णन किये उनमें मूलत: उसी प्रकार की अस्वस्थ मनोवैज्ञानिक भावना का पर्याप्त अंश था जो कि पश्चिम के उत्तरकालीन रोमांटिकवादी (डिकेडेंट) में लक्षित होता था। मार्क्सवाद की क्रमश: लम्बी होती हुई जो छाया पश्चिमी रोमांटिक-वाद पर पड़ी थी, और जिसके कारण (उदाहरणतया) वर्ड्स्वर्थ और शेली, बायरन और स्विनबर्न, सभी के रोमांटिक होते हुए भी प्रथम दोनों और अन्तिम दोनों में एक मौलिक अन्तर आ गया था, उसका या उसी ढंग का प्रभाव हिन्दी में भी लक्षित हुआ। यों तो उन्नीसवीं शती के अन्तिम वर्षों से ही हिन्दी लेखक मानव जाति और उसके उद्योग को एक नये प्रकाश में, अनेक स्तरों पर मुक्ति के लौकिक आन्दोलन के सन्दर्भ में, देखने लगे थे। आर्थिक-सामाजिक स्तर का आन्दोलन इन्हीं स्तरों में से एक था, और लेखक की दृष्टि की लौकिकता स्वयं मुक्ति का एक पहलू थी। किन्तु प्रगतिवाद का उद्दिष्ट इस प्रकार की व्यापक, उदार, प्रगतिशील दृष्टि (जिसका उत्तम उदाहरण प्रेमचन्द है) नहीं था, यद्यपि अपने प्रारम्भिक दिनों में प्रगतिवादी आन्दोलन ऐसी प्रवत्तियों का सहयोग चाहता रहा है। एक बहुमुखी और किसी हद तक दिग्विमूढ़ आंदोलन से, जिसका उद्देश्य लेखक की सामाजिक सहानुभूतियों का क्षेत्र विस्तृत करना था, आरम्भ करके प्रगतिवादी आन्दोलन क्रमश: एक कट्टर सिद्धांतवादी कम्युनिस्ट आन्दोलन बनता गया और एक-एक करके उदार प्रगतिशील परम्परा के उन लेखकों का तिरस्कार एवं बहिष्कार करता गया जिन्होंने आरम्भ में उसका समर्थन किया था। ज्यों-ज्यों प्रगतिवाद एक रूढ़ कम्युनिस्ट संगठन बनता गया, त्यों-त्यों लेखक अधिक स्पष्टतया अनुशासित और अभिप्रेरित होता गया और उसमें रोमांटिकवाद का स्पर्श निषिद्ध माना जाने लगा। किन्तु अपनी असहिष्णुता द्वारा अपने को विफल कर लेने के पूर्व भी उसके योग्यतम प्रतिपादकों में सादवादी (परपीड़न में रस लेने वाली) प्रकृति का आभास मिलता था। यशपाल (१९०४–) और नागार्जुन (१९११–), जो दोनों समर्थ और शक्तिशाली लेखक हैं और जिनमें से प्रथम

समकालीन हिन्दी आख्यान-साहित्य के सबसे अधिक कुशल शिल्पियों में से एक हैं, यदा-कदा इस ढंग की चीज़ें लिखते रहे हैं। 'अंचल' (रामेश्वर शुक्ल, १९१५–) और नरेश मेहता (१९२४–) भी इसके अच्छे उदाहरण हैं, यद्यपि इनका साहित्यिक पद यशपाल अथवा नागार्जुन के तुल्य नहीं है।[1] प्रगतिवाद के अनेक भाषाव्यापी प्रभाव को देखते हुए यदि हिन्दी से बाहर के उदाहरण देना क्षम्य हो तो कृष्णचन्द्र और ख्वाजा अहमद अब्बास का उदाहरण भी दिया जा सकता है। दोनों ही पटु और लोकप्रिय शिल्पकार हैं, और दोनों में मानव-व्यक्ति की अप्रतिष्ठा में रस लेने की प्रवृत्ति बहुधा पाई जाती है।

इस भ्रान्त धारणा के कारण कि प्रगतिशील लेखक वही हो सकता है जिसका सम्बन्ध संघर्परत किसान अथवा मज़दूर से हो, प्रगतिवाद ने फिर सांचे-ढली परिस्थितियों में सांचे-ढले चरित्रों को देखना आरम्भ किया। इस प्रकार जिस शोचनीय परिस्थिति से प्रेमचन्द ने अभी-अभी हिन्दी-उपन्यास को उबारा था वही परिस्थिति फिर उत्पन्न हो गई। अधिकतर लेखक क्योंकि मध्यवर्गीय शहरी थे, (और वह भी उद्योग-प्रधान शहरों के नहीं) इसलिए प्रायः उन्हें उन व्यक्तियों की मानसिक प्रवृत्तियों और सामाजिक परिपाटियों का कोई अभाव या ज्ञान नहीं होता था जिनका चित्रण करने के लिए वे अपने को वाध्य मानते थे। फलतः यथार्थवाद का आभास देने वाली रचनाओं की भरमार होने लगी; इनका समर्थन और संगठित रूप से प्रशंसा करने वाले दलगत आलोचक भी प्रकट हुए, जिनका दुराग्रह आश्चर्य का विषय हो गया है। यह भी उतने ही आश्चर्य का विषय है कि इन लेखकों ने प्रेमचन्द के साहित्य की ओर इतना कम ध्यान दिया, यद्यपि प्रेमचन्द को वे हिन्दी का गोर्की और अपना नेता और गुरु घोषित करते थे। प्रेमचन्द हिन्दी के पहले आख्यान-लेखक थे जिनकी रचनाओं को आधुनिक अर्थ में उपन्यास कहा जा सकता है, और उन्होंने बहुत सोच-समझकर अपने उपन्यासों का क्षेत्र चुना।

१. 'उग्र' (पांडेय बेचन शर्मा) की उन कहानियों में जो पहले सत्याग्रह-आंदोलन के समय प्रकाशित हुई थीं, सामाजिक आक्रोश और परिवर्तन की माँग कम नहीं थी, किन्तु उन कहानियों के मूल में सादवादी भावना का कितना प्रभाव था यह 'उग्र' की रचनाओं की परिणति में लक्षित होता है। 'उग्र' अपनी इस ह्रासोन्मुखी रोमांटिक प्रवृत्ति को किसी राजनैतिक विचारधारा से पुष्ट नहीं कर सके और उस प्रेरणा के चुक जाने पर उनकी रचनाशीलता समाप्त हो गई; किन्तु जिन्होंने राजनैतिक सिद्धान्तवाद का आसरा लिया उनकी राजनीति के कारण इस प्रवृत्ति को अनदेखा करना आलोचक की भूल होगी। —लेखक

उनके अधिकतर पात्र समाज के उन अंगों से लिये गए थे जिनसे उनका घनिष्ठ परिचय था—अर्थात्, किसानों के वर्ग से अथवा निचले मध्यवर्ग से। कभी-कभी ही उन्होंने ह्रासशील सामन्तवादी अभिजात वर्ग के व्यक्तियों का या नवोदित बुद्धिजीवी का चित्रण करने का प्रयत्न किया; उनके ऐसे चरित्र उतने सफल या विश्वासोत्पादक नहीं हो सके। कृषक वर्ग के जीवन का चित्रण उन्होंने बहुत सच्चाई और सहानुभूति के साथ किया। उनके उपन्यासों में सर्वदा एक स्पष्ट और सुगठित घटना-चक्र होता है और उसके द्वारा चरित्रों का व्यक्तित्व विशिष्ट होकर उभरता आता है। आरम्भ के सुधारवादी काल में उनके ग्राम-समाज के चित्रण में भावुकता की झलक रहती थी, किन्तु क्रमशः उनमें एक परिपक्व तटस्थता आती गई और इससे उनकी रचनाएँ अधिक प्रभावशाली हो गईं। आरम्भ के काल्पनिक समझौते को छोड़कर उन्होंने सामाजिक संघर्षों के नक्शे को पहचानकर दृढ़तापूर्वक उसका चित्रण किया (गांधी-युग के उपन्यास की एक विशेषता थी, आश्रम-समाजों की परिकल्पना—आश्रम सेवा और बलिदान द्वारा संघर्षों के निराकार के प्रतीक थे)। रचना-शिल्प की दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास प्रेमचन्द से कहीं आगे बढ़ गए हैं, किन्तु विस्तृत मानवीय सहानुभूति की दृष्टि से परवर्ती उपन्यासकार प्रेमचन्द को नहीं पा सके हैं। प्रगतिवादियों ने सुधारवादी राष्ट्रीयता से बढ़कर सामाजिक संघर्षों के यथातथ्य चित्रण तक प्रेमचन्द की यात्रा का यह अर्थ लिया कि उन्होंने वर्ग-युद्ध के सिद्धान्तों को पूरी तरह मान लिया है, और हिन्दी उपन्यास को प्रेमचन्द की जो वास्तविक देन था—प्रामाणिक व्यक्ति-चरित्रों का चित्रण—उसे सम्पूर्ण रूप से अनदेखा कर दिया।

किन्तु प्रगतिवादी आन्दोलन का एक रचनात्मक पक्ष भी था। उसने लेखक की सहानुभूतियों के क्षेत्र को कुछ बढ़ाया और उसकी संघर्षशीलता ने अपेक्षया स्वतन्त्र लेखकों को आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा दी और आत्म-सन्तोष अथवा वस्तु-स्थिति के प्रति सहज स्वीकार-भाव को दूर किया। छायावाद ने भाषा को जो नया लचकीलापन, अर्थ-गौरव और गहराई दी थी, उसे प्रगतिवाद से मिली हुई नई परीक्षणशीलता और प्रखरता ने पुष्ट किया और इससे परवर्ती साहित्य का रूप और स्वाद बदल गए। प्रगतिवाद ने लोक-जीवन के अध्ययन को और लोक-साहित्य तथा प्रादेशिक संस्कृतियों को भी प्रोत्साहन दिया। लोक-जीवन के प्रति इस नई उन्मुखता के मूल में भी दो भिन्न प्रकार की प्रेरणाएं थीं। एक पक्ष

का आग्रह लोक अथवा जन पर अधिक था : इस पक्ष की दृष्टि आधुनिक थी, किन्तु उसका आग्रह मुख्यतया राजनीतिक था। दूसरा पक्ष संस्कृति पर बल देता था, इसकी दृष्टि अतीतोन्मुखी थी (यद्यपि उसमें संस्कृति की अनेकोन्मुखता और विविधता की स्वीकृति अधिक थी)। प्रगतिवादी आन्दोलन कुछ ऐसे वर्गों या क्षेत्रों से भी नये लेखकों को प्रकाश में लाया जिनसे साधारणतया लेखक को सामने आने में अधिक देर लगती अथवा अधिक कठिनाई होती। छायावाद और प्रगतिवाद दोनों आन्दोलनों का विकास किसी हद तक बलाकृष्ट था, क्योंकि दोनों में ही थोड़े-से वर्षों के व्यास में ऐसी अनेक शक्तियों का घनीभूत प्रभाव संचित हो गया था जिन्हें अन्यत्र पीढ़ियों का समय लग जाता। इसी संकुलता का यह परिणाम है कि यद्यपि साहित्यिक आन्दोलन के रूप में छायावाद और प्रगतिवाद दोनों ही जीर्ण हो गए हैं; तथापि दोनों रीतियों का काव्य अभी तक लिखा जा रहा है; जैसे कि परम्परागत पद्धति का काव्य इन दोनों वादों के युग में भी लिखा जाता रहा और अब भी लिखा जा रहा है। मैथिलीशरण गुप्त की श्रेष्ठ रचनाओं का काल भी छायावाद और प्रगतिवाद का ही काल है। उन्होंने परम्परागत नैतिक मर्यादाओं और रूढ़ काव्य-शिल्प का निर्वाह करते हुए भी आधुनिक मानववादी विचारों को ग्रहण और आत्मसात् करके असाधारण प्रतिभा दिखलाई। माखनलाल चतुर्वेदी[1] (१८८८–१९६७) और 'नवीन' (बालकृष्ण शर्मा, १८९७–* इस अवधि में इनका देहावसान हो गया।) दोनों रोमांटिक राष्ट्रीयतावादी हैं, और दोनों में रहस्यवादी शब्दावली के व्यवहार की प्रवृत्ति है। 'दिनकर'[2] (रामधारी सिंह, १९०८–) भी रोमांटिक राष्ट्रीयतावादी हैं, किन्तु उन्होंने पौराणिक वस्तु का आधुनिक सन्दर्भ में उपयोग भी किया है और मुहावरेदार बोलचाली भाषा में उपदेशात्मक अथवा उद्‌बोधन-काव्य भी लिखा है। भाषा के व्यवहार करने की दृष्टि से इन कवियों की छायावादी कवियों से और आधुनिक कवियों से तुलना बहुत रोचक है। 'नवीन' सिद्धान्ततः शुद्धिवादी हैं और मानते हैं कि हिन्दी के शब्द-भण्डार में संस्कृत-व्युत्पन्न शब्दों को छोड़कर दूसरे शब्द नहीं होने चाहिए

१. 'हिम तरंगिणी' (काव्य-संकलन) पर इन्हें १९५५ में साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

२. 'संस्कृति के चार अध्याय' पुस्तक पर इन्हें १९५९ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

किन्तु व्यवहार में वह किसी शब्द को उपयोगी पाने पर उसके कुल-शील-संस्कार के अन्वेषण की चिन्ता नहीं करते हैं। इसके प्रतिकूल अन्य दोनों कवियों में ऐसा कोई पूर्वग्रह नहीं और वे काम दे जाने वाले किसी भी शब्द को ग्रहण करने को तैयार हैं। किन्तु छायावाद के कवियों में शब्द-संकेत की जो सूक्ष्म भावना है वह इन तीनों कवियों में नहीं है; न ही उसमें उस प्रकार का ध्वनि-विचार अथवा शब्द-ध्वनियों का वैसा सोद्देश्य और सार-गर्भ उपयोग है जो नई कविता का लक्ष्य है।

बालकृष्ण राव (१९११–) की प्रारम्भिक रचनाओं का छायावाद से निकट सम्बन्ध था, किन्तु पाश्चात्य साहित्य के उनके अध्ययन ने उन्हें छायावादी प्रवृत्तियों के साथ एकात्म नहीं होने दिया। उन्होंने चतुर्दशपदी (सानेट) के कुछ आकर्षक प्रयोग किये हैं। उनकी भाषा सरल और वाक्य-रचना साधारण बोल-चाल के निकट होती है। उनका काव्य-विषय प्रायः हल्का होता है, किन्तु उनका रूप-बोध उनके काव्य को आनन्ददायक बना देता है।

'सुमन' (शिवमंगल सिंह, १९१६–) के काव्य में एक सहज उत्फुल्लता और मस्ती है, जो उनकी रोमांटिक प्रवृत्तियों की द्योतक है; किन्तु साथ ही प्रगतिवादी सिद्धान्त के प्रति उनकी निष्ठा प्रकट और मुखर है। यह सिद्धान्तवादी जामा उनकी चुलबुली मानवोन्मुखता पर फबता नहीं, और उनकी लम्बी कविताओं का वक्तव्य चेष्टित जान पड़ता है। एक सहज विनोदशीलता भी उनके काव्य के स्वभाव में ही न होती तो उनकी लम्बी कविताएँ निरा वाग्जाल हो जातीं। किन्तु उनकी गीतात्मक रचनाओं की स्निग्धता, भोलापन और सख्य भाव उनकी एक बहुत आकर्षक विशेषता है।

ऐसे और भी अनेक लेखक, विशेषतया कवि हैं जिन्हें स्पष्ट रूप से उपरि-लिखित दोनों वादों में से किसी के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता, किन्तु जिनकी प्रवृत्ति साधारणतया रोमांटिक है, भले ही उसमें वेदान्तवाद का या अन्य कोई पुट हो। 'बच्चन'[१] (हरिवंश राय, १९०७–) स्वच्छन्दतावाद के लोकप्रिय कवि हैं। उनके काव्य में काल-रूप नारी और पुरुष, प्रलय के पूर्व-संकेत, मृत्यु-चिन्ता, रात्रि-पूजा आदि रोमांटिक प्रवृत्ति के अनेक उपकरण मिलते हैं; उनकी भाषा

१. 'दो चट्टानें' (काव्य) पर डा० बच्चन को १९६८ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

साफ़-सुथरी, मुहावरेदार और लोक-व्यवहार के निकट है, यद्यपि कभी-कभी अनुप्रास का मोह उन्हें स्खलित कर देता है। समकालीन काव्य-भाषा पर 'बच्चन' का कितना प्रभाव पड़ा, यह कहना कठिन है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद-काल के पाठक की इस धारणा को बदलने में उनकी रचनाओं ने सबसे अधिक काम किया कि काव्य की भाषा अनिवार्यतया लोक-व्यवहार की भाषा से अलग कुछ होती है। नरेन्द्र शर्मा (१९१६–) अपनी सूक्ष्म संवेदना के कारण दोनों वादों में कभी इधर और कभी उधर झुकते रहे हैं और शिल्प की दृष्टि से भी उनकी कविता बीच-बीच में परम्परागत पद्धतियों से दूर हटती रही है, किन्तु क्रमशः अन्तर्वस्तु की दृष्टि से उनका काव्य वेदान्तवादी और भारतीय संस्कृति-परक हो गया है और वहिर्रूप की दृष्टि से उन्होंने छन्द, तुक आदि के बन्धन को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया जान पड़ता है। भगवतीचरण वर्मा[1] (१९०३–) का काव्य रौमांटिक प्रतीक और संकेतों से पूर्ण है, किन्तु साथ ही उनके विचार-पक्ष में एक ठोस व्यावहारिकता भी है। उनकी कहानियों और उपन्यासों में बहुधा जो खंडनात्मक उपहास-वृत्ति पाई जाती है वही कभी-कभी उनके काव्य में भी प्रकट होती है। उनकी इस ढंग की रचनाएं तात्कालिक प्रभाव तो रखती हैं, लेकिन अभी तक उनमें उस कोटि का व्यंग्य अथवा गहराई नहीं है जो काव्य के क्षेत्र में उसे स्थायी प्रतिष्ठा दे सके। छन्द की दृष्टि से अन्य कवियों की भांति भगवतीचरण वर्मा भी न केवल आग्रहपूर्वक शास्त्रीय पद्धति का पालन करते हैं वरन् उससे बाहर काव्य के अस्तित्व की सम्भावना ही अस्वीकार करते हैं।

गिरिजाकुमार माथुर (१९१७–) भी मूलतया रोमांटिक प्रवृत्ति के गीतकार हैं—अथवा कम से कम उनका उत्तम काव्य उसी प्रवृत्ति का है—किन्तु उन्होंने रूप और शिल्प की दृष्टि से कई प्रयोग भी किये हैं। अब जिसे 'नई कविता, कहा जाने लगा है उसके रूप और मुहावरे के विकास में गिरिजाकुमार माथुर का निश्चित योग रहा है। किंतु अपने अमरीका-प्रवास से लौटकर उन्होंने जो कविताएँ लिखी हैं उनसे कुछ ऐसा जान पड़ता है कि वह प्रयोग की एक बँधी लीक में पड़ गए हैं और उस लीक को अति की सीमा तक ले जा रहे हैं। फलतः उनके इधर के लेखन में संवेदना अथवा अनुभूति के नये स्तरों की अपेक्षा एक अति-

१. 'भूले-बिसरे चित्र' (उपन्यास) पर श्री वर्मा को १९६१ में साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

रंजित शैली-वैचित्र्य ही प्रतिबिम्बित होता है।

दोनों महायुद्धों के अन्तराल के कवियों में सियारामशरण गुप्त पर विदेशी प्रभाव कदाचित् सबसे कम पड़ा, है—इस काल के मुख्य कवियों में कदाचित् वही एक ऐसे भी रहे जिनके शिक्षण में अंग्रेज़ी का कोई योग नहीं रहा। उनकी रचनाओं में सूक्ष्म अनुभूति और निर्मम चिंतन के साथ-साथ एक शांत और संतुलित घरेलूपन है। भारतीय भूमि का धैर्य, सहिष्णुता और उर्वरता मानो उनके काव्य में प्रतिबिम्बित हो उठी है। सुभद्राकुमारी चौहान (१९०४–१९४८) की ओज-भरी राष्ट्रीय कविताएँ और गृहस्थ जीवन की सहज, सरल, स्नेह-भरी, अंतरंग झाँकियाँ उन्हें इस काल के कवियों में एक अद्वितीय स्थान देती हैं। ऐसी ही सहज आत्मीयता होमवती (१९०४–१९५१) की कहानियों में मिलती है; उनकी कविताओं में यह गुण तो है लेकिन अपनी भावना के प्रति वह तटस्थता नहीं है जो उसे महत्ता प्रदान करती। सुभद्राकुमारी चौहान की भारतीयता उनके काव्य की ओजस्विता में प्रकट हुई तो होमवती की भारतीयता उनकी कहानियों की व्यंग्यात्मकता में।

जैनेन्द्रकुमार (१९०५–)[1] एक और लेखक हैं जिन्हें समकालीन हिन्दी-साहित्य के साधारण प्रवाह में नहीं रखा जा सकता। उनके उपन्यास और कहानियाँ आलोच्य काल की सबसे अधिक अभिप्राय-भरी रचनाओं में गिनी जा सकती हैं। यद्यपि उनकी भाषा बहुधा अपनी चेष्टित सरलता और अतिवैशिष्ट्य के कारण दूषित हो जाती है और उनकी परवर्ती रचनाएँ हेतुवाद और निरी शब्द-क्रीड़ा के स्तर तक उतर आती हैं, तथापि उन्होंने कई स्मरणीय व्यक्ति-चरित्रों का निर्माण और सुस्पष्ट अंकन किया है जो उनकी गम्भीर अन्तर्दृष्टि, मानवीय भावनाओं में उनकी पैठ और उसे प्रयुक्त करने की उनकी क्षमता तथा चरित्रों की कर्म-प्रेरणाओं के घात-प्रतिघात के निर्मम विश्लेषण की साक्षी हैं। गांधी-दर्शन के अकर्म विरोध के सिद्धान्त को उन्होंने रचनात्मक अभिव्यक्ति दी और उसे उसकी तर्कसंगत चरम सीमा तक ले जाकर उसका चित्रण किया, जहाँ वह पाप के प्रति अवरोध और दुःख के स्वीकार का रूप ले लेती है। उनका लघु उपन्यास 'त्याग-पत्र' एक प्रबल कृति है। उनकी अनेक कहानियाँ भी आख्यान-कला के उत्कृष्ट उदाहरण होने के साथ-साथ एक मौलिक, पैनी और उत्तेजना

१. 'मुक्तिदूत' (उपन्यास) पर इन्हें १९६६ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

तथा स्फूर्ति प्रदान करने वाली बुद्धि का संकेत करती हैं। उनके उत्तम निबन्धों में भी यह लक्षित होता है, किन्तु कहीं-कहीं स्तर निरी वाक्-चातुरी तक गिर जाता है।

उपर्युक्त दो काव्य-आन्दोलनों की मूल प्रेरणा क्रमशः पश्चिमी रोमांटिकवाद[1] और मार्क्सवाद थी, किन्तु पश्चिम में वैज्ञानिक चिन्तन की साधारण प्रवृत्ति का प्रभाव भी हिन्दी गद्य पर और विशेष रूप से आख्यान-साहित्य पर पड़ा। पुराणों के सम्बन्ध में नई ऐतिहासिक दृष्टि के प्रभाव से नये प्रकार के ऐतिहासिक उपन्यास सामने आये। पौराणिक नायक ऐसे घटना-चक्र द्वारा आवेष्टित कर देने-भर के, जो पाठक के विश्वास पर अधिक ज़ोर न डाले, प्रयत्न को छोड़कर ऐतिहासिक उपन्यासकार अब एक ऐतिहासिक काल के पुनःसंगठन की ओर उन्मुख हुआ। किसी काल की सामाजिक परिस्थिति और उसके लोक-जीवन का ऐतिहासिक चित्रण ही उपन्यासकार का उद्देश्य हो गया। भगवतशरण उपाध्याय ने एक गल्प-माला में वैदिक काल से लेकर मध्य युग तक भारतीय समाज के (१९१०–) विकास का चित्रण किया। राहुल सांकृत्यायन[2] (१८९५–* इस अवधि में इनका देहावसान हो गया।) ने प्राचीन गणराज्यों के समाज और जीवन का पुर्नानिर्माण करने का यत्न किया और रांगेय राघव (१९२२–* इस अवधि में इनका देहावासन हो गया।) ने मोएं-जो-दड़ो के नागरिक राज्य का जीवन प्रतिचित्रित किया। इस प्रकार के चित्रण कभी-कभी लेखक के ज्ञान और पांडित्य के बावजूद अनैतिक सिद्ध हो जाते रहे, क्योंकि लेखक जहाँ एक ओर वर्णित काल अथवा समाज के बहिरंग और जीवन-विधियों के प्रति अत्यन्त सतर्क था और तत्कालीन वेश-भूषा, खाद्य-सामग्री, रीति-कर्म आदि की विशेषताओं का सजग निर्वाह करता था, वहाँ दूसरी ओर वह उसके अन्तरंग पर

---

१. पश्चिम का रोमांटिकवाद स्वयं बहुत दूर तक पूर्वीय प्रभावों का परिणाम था, जो पूर्वीय साहित्यों के अनुवाद और अध्ययन के माध्यम से क्रमशः पश्चिम में और विशेष रूप से तत्कालीन तीनों प्रमुख साहित्यों में पहुँचे—अंग्रेज़ी, फ़्रांसीसी और जर्मन साहित्यों में। ये प्रभाव 'अलिफ़ लैला' से लेकर 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' और 'कामसूत्र' से लेकर 'गीता-उपनिषदों' तक सभी प्रकार के ग्रन्थों के अनुवादों से आए थे। भारतीय प्रभाव किस प्रकार पाश्चात्य संवेदना में से छनकर अंग्रेज़ी, फ़्रांसीसी और अन्य यूरोपीय साहित्यों में प्रकट हुए और वहां से लौटकर फिर भारतीय काव्य-रचना पर रोपे गए, इसकी चर्चा लेखक ने अन्यत्र की है।

२. 'मध्य एशिया का इतिहास' पुस्तक पर इन्हें १९५८ के साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

आधुनिकता का आरोप कर देता था—आज की मनोवृत्तियाँ, सामाजिक संघर्ष और प्रवृत्तियाँ सुदूर अतीत पर आरोपित हो जाती थीं। यह नहीं कि उपन्यास-कार जानबूझकर इतिहास को एक मिथ्या रूप देना चाहता था; केवल उसका वैचारिक आग्रह और समाज-विकास के किसी विशेष सिद्धांत को उदाहृत करने का उत्साह उसे अनैतिहासिकता की ओर बहा ले जाता था। राहुल सांकृत्यायन द्वारा सचेतन वर्ग-संघर्ष का अथवा यशपाल द्वारा नारी-आन्दोलन का आरोप उदाहरण के रूप में दिया जा सकता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी (१९०७–) की 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' सम्पूर्ण युगसत्य और ऐतिहासिक निर्वाह के उदाहरण रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। कादम्बरीकार की कल्पित आत्म-कथा के माध्यम से एक समकालीन समाज का पुनर्निर्माण करते हुए लेखक ने न केवल वहिरंग का पूरा निर्वाह किया है वरन् तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं और संवेदना के प्रति भी पूरी सचाई बरती है। अपरकालीन समाज को मूर्त्त करने में लेखक ने जिस विद्वत्ता और निष्ठा का परिचय दिया है, केवल उसी के कारण नहीं बल्कि हिन्दी में एक ऐसी शैली और पद्धति की रचना के कारण भी जिसमें बाणभट्ट की गर्वीली, गरिष्ठ और अत्यलंकृत संस्कृत का पूरा आस्वाद पाया जा सकता है, 'बाणभट्ट की आत्मकथा' समकालीन हिन्दी-साहित्य में एक अद्वितीय स्थान रखेगी। वह एक ऐतिहासिक युग-चित्र ही नहीं, एक श्रेष्ठ उपन्यास भी है। विद्वान लेखक, आचार्य और आलोचक के इस प्रथम और अभी तक एकमात्र उपन्यास को उसके गौरव के अनुकूल मान्यता अभी तक नहीं मिली है। वृन्दावन-लाल वर्मा (१८८८–* इस अवधि में इनका देहावसान हो गया।)के उपन्यासों का काल सामन्तवाद के ह्रास का काल है। उनके अनेक उपन्यास लोकप्रिय भी हुए हैं और सम्मानित भी, किन्तु बहुधा उनका रूप-शिल्प अधूरा और त्रुटिपूर्ण हुआ है और कभी-कभी उपन्यास गाथा अथवा ऐतिहासिक वृत्तान्त के निकट आ जाते हैं। रूप-विधान की इस कमी का कारण कभी-कभी कथावस्तु से लगाव भी होता है, जैसा कि 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' में लक्ष्य है। लघु उपन्यास 'मुसाहिबजू' उनकी उत्तम रचना कही जा सकती है।

फ्रायड और उसके परवर्ती मनस्तत्त्वविदों का प्रभाव हिन्दी पर पड़ना स्वाभाविक ही था। यह विशेष रूप से हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में प्रकट हुआ, यद्यपि हिन्दी-आलोचना पर भी उसके प्रभाव कुछ तो प्रत्यक्ष और कुछ समकालीन

पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य के उदाहरण से पड़े। ये प्रभाव भारतीय साहित्य में केवल हिन्दी तक ही सीमित नहीं रहे और इसलिए हिन्दी-साहित्य के विवरण में उसका पृथक् विश्लेषण करना आवश्यक नहीं है। यों ऐसे उपन्यास हिन्दी में अधिक नहीं हुए हैं जिन्हें सीधा मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास कहा जा सके। कदाचित् इलाचंद्र जोशी (१६२०–) इस कोटि के एकमात्र उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं। उन्होंने ऐसे अनेक चरित्रों का वर्णन किया जिनका व्यक्तित्व न्यूनाधिक मात्रा में विघटित है और जो विषाद, कुंठा और हताशा के बोझीले वातावरण में अपनी समस्या के आस-पास चक्कर काटते हैं। इन अनेक उपन्यासों का प्रभाव और अधिक हो सकता था किन्तु इस कारण न हुआ कि उनमें वर्णित घटनाओं के असम्भव न होते हुए भी उनके पात्रों की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं में अतिरंजना की उतनी मात्रा थी, जो उन्हें स्वीकार करना कठिन बना दे। लेखक की प्रिय आत्म-कथा-मूलक शैली के कारण पात्रों में एक प्रकार की एकरूपता रही। आत्म-कथा के रूप में वृत्तान्त कहने वाला व्यक्ति भी प्रायः प्रतिकूल स्वभाव का एक कुंठित अथवा निरुद्देश्य व्यक्ति होता, जो एक के बाद एक नई और किसी हद तक आश्चर्यमयी घटना पढ़ता चलता और इस प्रकार वृत्तान्त को एक सूत्र अथवा अनुक्रम दे देता। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में चरित्र का विकास बहुत कम होता है, विश्लेषण द्वारा उसका क्रमिक उद्घाटन ही उनका विषय होता है। 'संन्यासी', जो कि उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में से है, कदाचित् उनकी सर्वोत्तम कृति है; बाद के उपन्यासों में आवृत्ति और वृत्तात्मकता अधिक है।

इस काल की एक विशेषता उसके कृतिकारों की अनेकोन्मुखी प्रवृत्ति थी। अधिकतर लेखक कविता और आख्यान दोनों लिखते रहे और बहुधा आलोचनात्मक गद्य भी। उदाहरणतया भगवतीचरण वर्मा ने उपन्यास और नाटक भी लिखे हैं, सियारामशरण गुप्त ने उपन्यास, नाटक और कहानी के अतिरिक्त निबन्ध भी; 'बच्चन', नरेन्द्र शर्मा और सुभद्राकुमारी चौहान ने कहानियाँ; माखनलाल चतुर्वेदी और 'दिनकर' ने निबन्ध इत्यादि। किन्तु उनकी कविता परम्परागत पद्धति का निर्वाह करती रही। वह छंद-शास्त्र की अनुगता, तुक-ताल और अलंकारों से युक्त रही और उसका रूप मुख्यतया गेय अथवा श्रव्य रहा। सियारामशरण गुप्त ही इसके उल्लेखनीय अपवाद रहे। इस प्रकार

'निराला' और 'पन्त' के बाद आधुनिक प्रवृत्ति अभिव्यक्ति की प्रतीक्षा ही करती रही। यों तो काव्य की नई आवश्यकता का अनुभव दूसरे महायुद्ध से पहले ही होने लगा था और यत्र-तत्र कुछ कवियों ने उसके अनुरूप प्रयोग भी किये थे, किन्तु परम्परागत पद्धतियों के विरुद्ध एक समवेत स्वर सन् १९४३ में 'तार-सप्तक' के प्रकाशन के साथ प्रकट हुआ। पक्षधर आलोचना में बहुधा इससे पहले के प्रयोगों का उल्लेख किया जाता है, किन्तु ऐसे पूर्व-संकेतों के रहते हुए भी उनकी विरलता के कारण एक व्यापक प्रवृत्ति का आरम्भ वहाँ से नहीं माना जा सकता। वास्तव में प्रगतिवादी सम्प्रदाय के कवियों में से कुछ को काव्य की अथवा अभिव्यक्ति की समस्याओं का भी बोध था, किंतु अपने मुख्य (आर्थिक) आग्रह के कारण वे उधर को ही झुक गए और अभिव्यक्ति की समस्याएँ उनके निकट नगण्य नहीं तो गौण अवश्य हो गईं। परवर्ती अथवा अन्य कवियों के साहसपूर्वक इन समस्याओं का सामना करने, और आरम्भ में अटपटे किंतु क्रमशः स्पष्टतर उत्तर पाने के बाद ही प्रगतिवादी सम्प्रदाय के कवि उनके प्रयोगों को उपयोग में लाये। इसीलिए इन प्रयोगों के आन्दोलन को परवर्ती मानना ही युक्तिसंगत है। यों उसकी पूर्व-पीठिका में 'निराला' और पंत के अतिरिक्त श्रीधर पाठक (१८७६–१९२८) और शिवाधार पाण्डेय के नाम भी लिये जा सकते हैं।

मानववाद और व्यक्तित्व की खोज

दोनों महायुद्धों के अन्तराल में एक गम्भीर परिवर्तन भी हो रहा था, यद्यपि वह उतना लक्ष्य नहीं था। यह न तो छायावाद की भाँति सम्पूर्णतया अन्तर्वस्तु अथवा संवेदना पर आधारित था, न प्रगतिवाद की भांति बाह्य वस्तु-सम्बन्धों पर। इसका उद्देश्य मानव के प्रति एक नई दृष्टि प्राप्त करना था। उसके मूल में मानव की अद्वितीय सम्पूर्णता और मानव की व्यष्टि की अखण्डता का गहरा बोध था। यह साहित्यिक चेतना का एक नया स्तर, संवेदना का एक नया आयाम था। यह भी कहना अनुचित न होगा कि उपर्युक्त दोनों साहित्यिक आन्दोलन इसी ज्वार के ऊपरी स्तर की तरंगें थीं। छायावाद जिस प्रकार अपने पूर्ववर्ती युग के नीरस उपदेशवाद और नैतिक शुद्धिवाद की प्रतिक्रिया था, प्रगतिवाद उसी प्रकार छायावाद के भाव-संकुल और रूप-कल्पना की प्रतिक्रिया-सा प्रकट हुआ; किन्तु

ये तीनों प्रवृत्तियाँ परिवर्तन की उस गहरी अन्तर्धारा की ऊपरी हिलोरें थीं, जिसे व्यक्तित्व की खोज का नाम दिया जा सकता है।

परिवर्तन के इस विस्तीर्ण प्रभाव को एक साहित्यिक आन्दोलन के, अथवा समूचे भारत के भी सन्दर्भ में ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। न ही उसे केवल विदेशों से केवल आयातित राजनीतिक विचार-धाराओं के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। वह वास्तव में समूचे पश्चिम के आघात की प्रतिक्रिया है। व्यक्तित्व की खोज के मूल में पश्चिम के प्रति एक उचित और सन्तोषप्रद मनोभाव की स्थापना की, और उसके साथ पूर्व की एक आध्यात्मिक तृप्तिप्रद और सारपूर्ण मूर्ति की प्रतिष्ठा की समस्या थी। अर्थात् व्यक्तित्व की खोज वास्तव में पश्चिम को सही-सही निरूपित करने और उसके मुकुर में अपने सामूहिक प्रतिबिम्ब को देखने और पहचानने की समस्या थी। निम्न स्तर पर वह आत्मरक्षा के किसी सहज मन्त्र की, जीवित रहने के उपाय की खोज थी; उच्चतम स्तर पर वह एक कठिन आत्म-परीक्षण, आध्यात्मिक चिन्तन, तपस्या और सभी मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन की समस्या थी। और इस समस्या के सम्मुख सभी प्रकार की प्रतिक्रियाएं देखने को मिलीं। एक ओर प्राचीन परम्पराओं और शास्त्र-सम्मत मूल्यों के सम्पूर्ण खण्डन से लेकर आधुनिक परिस्थिति से आत्म-संतोष की परिधि से होते हुए एक कट्टर मतग्राही धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद तक सभी स्तरों के आग्रह व्यक्त हुए—ठीक उसी प्रकार जैसे कि भारत के सामाजिक-राजनैतिक चिन्तन में उद्योगवाद और औद्योगिक समृद्धि के प्रति उत्साह से लेकर पश्चिम के भौतिकवाद के प्रति घोर वितृष्णा तक सभी तरह की प्रतिक्रियाएँ लक्षित हुईं। विशाल मध्यदेश की संवेदना की वाहिका के रूप में हिन्दी ने इन सभी प्रभावों को प्रतिबिम्बित किया।

इस लेख की परिधि में इस विशाल संघर्ष और आन्दोलन का विवेचन न तो सम्भव है और न आवश्यक ही। और कदाचित् इस बात का उल्लेख भी प्रासंगिक न होगा कि इस संघर्ष के परिणाम में 'पूर्व' का एक भारतीय कल्पना-चित्र बन खड़ा हुआ, जो पश्चिमी अध्येता को उतना ही भ्रान्त और मनोरंजक जान पड़ेगा जितना हमें 'प्राच्य' का पश्चिमी कल्पना-चित्र जान पड़ता है। साहित्यिक प्रवृत्तियों के विवेचन में उल्लेखनीय बात इतनी है कि इस संघर्ष के अन्तिम वैज्ञानिक परिणति तक पहुँचने और एक व्यापक संश्लिष्ट दृष्टि के उपलब्ध होने तक के

समय में एक के पीछे एक कई आदर्श अथवा प्रतीक-पुरुषों की परिकल्पना हुई। उपदेशवादी, रोमांटिक और प्रगतिवादी तीनों युगों के अपने-अपने प्रतीक-पुरुष अथवा नायक रहे। छायावाद का प्रतीक-पुरुष उत्कट देश-भक्त और परम्परागत आध्यात्मिक मूल्यों का रक्षक था; प्रगतिवाद का प्रतीक-पुरुष पार्टी आर्गेनाइज़र आंदोलनकारी कामरेड था अथवा युयुत्सु किसान-मज़दूर। स्वदेश-भक्ति की प्रवृत्ति अनिवार्यतया वेदान्त की ओर हो जाती थी, क्योंकि वेदान्त पश्चिम के भौतिकवाद के निषेध का पर्याय हो जाता था। वही इस काल में लिखी गई अनेक हिमालय-वन्दनाओं का, और देश-भक्ति की भावना के साथ रहस्यवादी शब्दावली के उस गुम्फन का रहस्य है जो माखनलाल चतुर्वेदी अथवा 'नवीन' के काव्य में पाया जाता है।

प्रतीक-पुरुष की निष्क्रान्ति

समकालीन सन्दर्भ में इस संघर्ष का केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है। आज भारत आधी शताब्दी या एक पीढ़ी पहले की अपेक्षा संसार से कहीं अधिक सम्पृक्त हो गया है और पूर्व-पश्चिम का विरोध आज उतना तीखा या मौलिक नहीं रहा है। आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त स्वीकार और आत्मसात् कर लिया गया है और यह कहना कठिन है कि तरुण भारतीय लेखक और पश्चिमी लेखक की संवेदना में कोई आधारभूत अन्तर है। अतएव हिन्दी में यह स्वाभाविक ही है कि छायावाद और प्रगतिवाद की नायक-पूजा का स्थान एक वैज्ञानिक मानववाद ले ले। समकालीन प्रवृत्ति नायकवाद के विरुद्ध नहीं तो उसके प्रति उदासीन अवश्य है। लेखक अब मानव के निर्माण का प्रयत्न छोड़कर उसके परिचय और अनुसंधान से ही सन्तुष्ट है; क्योंकि वह उसकी गम्भीर महत्ता को स्वीकार करता है। समकालीन हिन्दी-लेखन की दृष्टि साधारण मनुष्य की ओर है। वह उसकी साधारणता को, और उसके राग-विराग, उसकी आशा-आकांक्षा, उसके सुख-दुःख, उसकी भूख-प्यास, उसके भय, त्रास, आनन्द और दुश्चिन्ताओं की साधारणता को स्वीकार करता है। वह साधारणता और अद्वितीयता में कोई विरोध नहीं देखता। मानव साधारण है; साथ ही साथ प्रत्येक मानव-व्यष्टि अद्वितीय है: समकालीन लेखक इसी प्रतिज्ञा से मानव का अनुसन्धान और आस्था की खोज आरम्भ करता है। यह आस्था की खोज, उसकी अनिवार्यता का संकेत भी

समकालीन लेखन का, और विशेषतया नई कविता का एक लक्षण है। रोमांटिक कवियों के निराशावाद, अथवा प्रगतिवादियों के भविष्यत् स्वर्ण-युग के प्रति चेष्टित आशावाद, दोनों के स्थान में मानव के प्रति आस्था की एक नई दृष्टि प्रकट हुई है जो मानव की त्रुटियों और मर्यादाओं को स्वीकार करती है। वर्गानुशासन, व्यापक सत्तावाद, राजकीय निर्देशन और संरक्षण के विरुद्ध जो प्रबल भावना आज लक्षित होती है उसके मूल में यह ज्ञान है कि अपनी साधारणता के कारण भाव को अपने बुनियादी मूल्यों की साधना से फुसलाया और बहकाया जा सकता है और अपनी बहुमूल्य निधि—अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता—को खो देने की दुर्बलता और उसके जोखम—नया काव्य इन सभी को मानवीय अवस्थिति के रूप में स्वीकार करता है। इसी विशेषता के कारण सतही आलोचक नई कविता पर अनास्था का आरोप लगाते हैं। वास्तव में नये कवि में मूल्यों के प्रति एक नई और गम्भीरतर आस्था है और उसके साथ उन मूल्यों और प्रतिमानों की वास्तविकता और सात्विकता का बोध है। कुछ वर्ष पहले के लेखक ने अपने को जिस नैतिक खंडहर के बीच खड़ा हुआ पाया था उसके पुनर्निर्माण की तात्कालिकता का बोध नये कवि को है। मूल्यों के मूल स्रोत के बारे में आज जितना आग्रह है उतना पहले कभी नहीं था। इतना अवश्य है कि मानव के बाहर मूल्यों के किसी आधिदैविक स्रोत का आग्रह आज नहीं है। और मानवीय मूल्यों का उद्भव भी साधारण मानव से है, किसी काल्पनिक आदर्श अथवा प्रतीक-पुरुष से नहीं।

प्रयोगवाद : नई कविता

व्यक्तित्व की खोज के नये आधुनिक मानवतावादी आन्दोलन को प्रयोगवाद का नाम कुछ-कुछ वैसे ही व्यंग्यात्मक भाव से दिया गया था जिससे छायावाद को वह नाम दिया गया था। निस्सन्देह नई प्रवृत्ति के पहले संकलित प्रकाशन 'तार सप्तक' की भूमिका में जिज्ञासा और अन्वेषण की प्रवृत्ति पर ज़ोर देते हुए 'प्रयोग' शब्द का व्यवहार किया गया था; इसी सूक्ष्म डोरे से यह नया नाम आन्दोलन के साथ बाँध दिया गया। नये आन्दोलन की प्रगतिशीलता केवल भाषा अथवा शिल्प के नये प्रयोगों तक सीमित हो, ऐसा नहीं है। नैतिक जिज्ञासा, नये मूल्यों और प्रतिमानों की खोज, तथा उन आधारों और स्रोतों का अन्वेषण जहाँ

से मूल्य उत्पन्न होते हैं, उसकी मूल प्रवृत्ति है। स्वयं इस प्रवृत्ति के कवि अपनी कविता को 'नई कविता' की अभिधा देना पसन्द करते हैं; यह नाम उसकी प्रवृत्तियों की विवेचना करते समय 'अज्ञेय'[१-२] द्वारा सुझाया गया था।

जैसा सभी साहित्यक आन्दोलनों में सर्वत्र होता रहा है और होता है, नई कविता के आन्दोलन के साथ भी ऐसे लोग सम्पृक्त हैं जो उसे हल्का अथवा उसके प्रभाव को दुर्बल करते हैं। नये रूप-शिल्प की खोज की आड़ में बहुत-सी अध-कचरी, भोंड़ी, रूपाकार-विहीन रचनाएं नई कविता होने का दावा करने लगी हैं; निरा नयापन अथवा वैचित्र्य मौलिकता का, और अनघड़पन प्रतिभा का दावा करने लगे हैं। और भी दुखद बात यह है कि साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक,—जिनमें (इने-गिने अपवादों को छोड़कर) सामूहिक रूप से दृष्टि अथवा साहित्यक परख का आधिक्य कभी नहीं रहा और जिन्होंने साहित्यिक पत्रकारिता के प्रारम्भिक दिनों को छोड़कर अपने विश्वासों को कार्यान्वित करने का विशेष नैतिक साहस भी नहीं दिखाया,—अब कोई रचनात्मक प्रभाव नहीं रखते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाओं का चयन विवेकपूर्ण नहीं होता। कहीं अमुक एक अथवा अमुक दूसरे प्रकार की रचनाओं का सम्पूर्ण बहिष्कार है तो कहीं सभी प्रकार की रचनाओं का उतना ही विवेकहीन स्वीकार। साहित्यक पत्रिकाओं के सम्पादन में इतना स्वैराचार और पूर्वग्रह कभी नहीं देखा गया जितना आज लक्ष्य होता है। समीक्षकों ने भी अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं किया है। देशी और विदेशी आलोचना-शास्त्र के अनुवाद अथवा अनुकरण के द्वारा आलोचना-सिद्धान्त का निरूपण और हिन्दी की ग्रंथ-वृद्धि अवश्य हुई है; पर समकालीन साहित्य के प्रति समीक्षा के उत्तरदायित्व के प्रति बहुत कम समीक्षक सजग रहे हैं। भारत की अपनी परम्परा को देखते हुए, जहां सहानुभूतिपूर्ण व्याख्या और विशदीकरण पर अधिक बल दिया जाता था और मूल्यांकन पर कम—साहित्यक महत्त्व का निर्णय पाठकों की पीढ़ियों पर छोड़ दिया जाता था—यह बात और भी विचित्र मालूम होती है कि आज का समीक्षक सबसे पहले मूल्यों का निर्णायक बनना चाहता है, और उसके बाद कुछ नहीं। जहां

१. सच्चिदानन्द वात्स्यायन का उपनाम।

२. श्री अज्ञेय को 'आँगन के पार द्वार' (काव्य) पर साहित्य अकादेमी का १९६४ का पुरस्कार प्राप्त हुआ।

लेखक और पाठक के बीच की दूरी यों ही आधुनिक जीवन के विशेषीकरण के कारण बढ़ती जाती है वहाँ समीक्षक उसे पाटने अथवा दोनों के बीच सेतु बनाने के अपने सनातन दायित्व की और भी उपेक्षा करता रहा है। कहा जा सकता है कि सहयोग की कमी के बावजूद, बल्कि किसी हद तक उसी से प्रेरणा पाकर समकालीन लेखक पहले की अपेक्षा अधिक प्रबुद्ध और निष्ठावान् कलाकार तथा शिल्पी हो गया है। पूर्ववर्ती साहित्य के अध्ययन और आन्तरिक अनुशासन के महत्त्व को वह और अधिक स्वीकार करता है।

सभी नई कविता को प्रयोगवादी, अथवा सभी प्रयोगशील कविता को नई कविता मान लेने से भ्रान्ति हो सकती है, क्योंकि वास्तव में नई साहित्यिक संवेदना का क्षेत्र भी राजनीतिक विचारों के कारण बँट गया है। नई संवेदना की दृष्टि से जिन कृतिकारों के नाम एकसाथ लिये जाते, राजनीतिक मताग्रहों के आधार पर विवेचन करते समय उन्हें अलग-अलग, और किसी हद तक परस्पर विरोधी वर्गों में बाँटना पड़ता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि प्रगतिवादी सम्प्रदाय के कुछ कवियों ने नई कविता के अनेक प्रयोगों को अपनाया अथवा उनसे लाभ उठाया; और यह स्वाभाविक भी था कि जनता के लिए लिखने का दावा करने वाले कवि क्रमशः ऐसे प्रयोगों को अपनाते चले जो दूसरों के द्वारा किए गए थे और जो प्रारम्भ में एक शिक्षित अथवा दीक्षित समाज तक सीमित रहे भी हों तो क्रमशः सर्वमान्य हो गए। किन्तु नई संवेदना के निर्माण में भी कुछ ऐसे व्यक्तियों का हाथ रहा जो साधारणतया नई कविता के आंदोलन में नहीं गिने जाते अथवा जो साधारणतया किसी दूसरे सम्प्रदाय में गणित होते हैं। शमशेर बहादुर सिंह (१९११–) और भवानीप्रसाद मिश्र (१९१४–) का नाम इस कोटि के कवियों में लिया जा सकता है (दोनों 'दूसरे सप्तक' में संकलित हुए)। दोनों ही अपने-अपने ढंग से अद्वितीय हैं। शमशेर बहादुर सिंह की कविता में उर्दू की रंगत के साथ-साथ उसका परिमार्जन भी है और संवेदना की सूक्ष्मता के साथ भावों की सघनता और संकुलता भी। उनकी चित्रकल्पी प्रतिभा ने उन्हें जापानी कविता की ओर भी आकृष्ट किया है। किन्तु उनकी कठोर अनुशासित और मितभाषी भाव-संकुलता ही उनके जनसाधारण का कवि होने में बाधक होती है। उनकी काव्य-प्रतिभा असन्दिग्ध है, लेकिन वह जनता के नहीं कवियों के कवि हैं। भवानीप्रसाद मिश्र भाषा और भाव-व्यंजना की दृष्टि से जन-

साधारण के अधिक निकट जा सके हैं। उनकी भाषा न केवल शब्द-चयन और वाक्य-रचना की दृष्टि से लोक-भाषा के निकट है वरन् उसका मुहावरा और उसके स्वरों का उतार-चढ़ाव भी साधारण बोल-चाल का है। 'बच्चन' रूढ़ छन्द-शास्त्र के बन्धनों को मानते हुए जिस पथ पर चले थे, भवानीप्रसाद मिश्र ने उसी पथ पर चलते हुए छन्द और ताल के नये बोध का निर्वाह किया है और इस प्रकार समकालीन प्रवृत्ति को आगे बढ़ाया है।

नई कविता के सामने मूल्यों का प्रश्न मुख्य रूप से रहा है, किन्तु रचनात्मक गद्य में नई मानवतावादी प्रवृत्ति अनेक रूपों में प्रकट हुई है। निस्सन्देह जिस उभयचारिता का उल्लेख पहले किया गया वह नये लेखकों में भी पाई जाती है और ऐसे बहुत कम हैं जिन्होंने अपने को केवल एक साहित्य-रूप तक सीमित रखा हो। कवियों में से अनेक ने कविता के और साहित्यिक मूल्यों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक गद्य लिखा है और कुछ ने अपनी जिज्ञासा का क्षेत्र रचना की प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं तक फैलाया है। धर्मवीर भारती (१९२६–), एक तरुण और प्रतिभाशाली कवि हैं, जिन्होंने उपन्यास और नाटक के क्षेत्र में भी प्रवेश किया है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना (१९२६–), रघुवीरसहाय (१९१९–), 'मदन वात्स्यायन', कुँवर नारायण, जगदीश गुप्त विजयदेव नारायण साही, हरि व्यास (१९२३–), प्रयागनारायण त्रिपाठी (१९१९–) आदि अनेक तरुण साहित्यकारों के नाम लिये जा सकते हैं, जो हिन्दी के कृती साहित्य के भावी उत्कर्ष की आशा बँधाते हैं।

प्रगतिवाद के उत्थान काल में ही एक और आन्दोलन भी प्रकट हुआ, जो कि नई कविता की साधारण धारा से अलग होते हुए भी मूलतः प्रगतिशील था—बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि ऐसे आन्दोलनों में सबसे अधिक मता-ग्रह था। इसका प्रभाव मुख्यतः प्रादेशिक रहा और बिहार के बाहर कदाचित् ही कोई इसकी ओर आकृष्ट हुआ हो। इस आन्दोलन के प्रेरणा-स्रोत एज़रा पाउण्ड और ई० ई० कमिंग्स प्रभृति अंग्रेज़ी कवि थे। अपने प्रवर्त्तकों के नामों के (नलिन विलोचन शर्मा, केसरी, नरेश) आद्याक्षरों के आधार पर इसे 'नकेनवाद' कहा गया; स्वयं प्रवर्त्तकों ने अनन्तर इसे 'प्रपद्यवाद' का नाम दिया है। जैसा कि इस नाम से भी ध्वनित होता है। यह आन्दोलन मुख्यतः काव्य-रूप से सम्बन्ध रखता है, और उसमें कोई विशिष्ट सामाजिक अथवा विषय-वस्तु-सम्बन्धी आग्रह

नहीं है। प्रपद्यवाद के प्रतीक रोचक भी हैं और हिन्दी-काव्य के समकालीन शिल्प-विकास के अध्ययन में उपादेय भी, किन्तु उसे अभी तक कोई बहुत बड़ी उपलब्धि हुई है, यह मानना कठिन है।

प्रामाणिकता की खोज ने प्रादेशिक अथवा आंचलिक उपन्यास-कहानियों को बल दिया। इसी की और इसके साथ-साथ एक अधिक व्यापक मानवीय सहानुभूति की प्रेरणा से गद्य और पद्य में देहाती और लोक-जीवन के कई भावपूर्ण चित्र रचे गए। नगरों की जीवनियाँ लिखी गईं। निस्सन्देह कविता में 'गाँवों की ओर' जाने की प्रवृत्ति के कारणों का विवेचन करते समय नयेपन का आकर्षण और नये काव्य-रूप अथवा ताल के प्रति कुतूहल को भी उचित स्थान देना होगा और जनता के लिए जनता की भाषा में लिखने के वैचारिक आग्रह को भी। कविता के क्षेत्र में यहाँ पर शम्भूनाथ सिंह, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री (१९१९–), केदारनाथ सिंह आदि के नाम लिये जा सकते हैं; यद्यपि लोक-गीतों की धुनों का आकर्षण औरों ने भी अनुभव किया। 'रेणु' (फणीश्वरनाथ, १९२१–), मार्कण्डेय (१९३१–), केशवप्रासद मिश्र, मनोहर श्याम जोशी, शिवप्रसाद सिंह प्रभृति तरुण गद्यं-लेखकों ने विभिन्न अंचलों के जीवन-चित्र, कहानी अथवा उपन्यास प्रस्तुत किये हैं। 'रेणु' का 'मैला आँचल' नये प्रादेशिक अथवा आंचलिक उपन्यासों में विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रादेशिक उपन्यास के क्षेत्र में 'रुद्र' (१९११–* इस अवधि में इनका देहावसान हो गया।) की 'बहती गंगा' में काशी नगरी की परम्परागत जीवन-पद्धति को मूर्त किया गया है। नागार्जुन और अमृतलाल नागर[1] की देन भी उल्लेखनीय है। अमृतलाल नागर के उपन्यास विशिष्ट प्रदेश के जीवन का नहीं, किसी विशिष्ट समाज या वर्ग के जीवन का ही चित्रण करते हैं। लेकिन क्षेत्र को जान-बूझकर इस प्रकार मर्यादित करना प्रामाणिकता के आग्रह का ही परिणाम है। उनका शिष्ट और संयत हास्य उनके चित्रण की प्रामाणिकता को पुष्ट करता है और उसे अधिक व्यापक आकर्षण देता है। गीति-नाट्य और संगीत-रूपक लिखने की प्रवृत्ति भी इधर लक्षित हुई है। निस्सन्देह ऐसी रचनाओं को रेडियो से भी विशेष प्रेरणा मिली, किन्तु वही इन रचानाओं का मूल कारण रहा हो, ऐसा नहीं

१. 'अमृत और विष' (उपन्यास) पर श्री नागर को १९६७ साहित्य अकादेमी का पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।

माना जा सकता। रेडियो के लिए विशेष रूप से अनेक नाटक और एकांकी लिखे गए, लेकिन इनका स्तर भारत में रेडियो-प्रसारण के साधारण स्तर से ऊँचा कदाचित् ही उठता है। जो नाटक विशेष रूप से रेडियो के लिए नहीं लिखे गए उनमें कोई-कोई अच्छे हैं, किन्तु एक जीवित रंग-परम्परा और रंगमंच के साथ लेखक के सक्रिय सम्बन्ध की अनुपस्थिति नाटक के विकास में बाधक रही है। उपेन्द्रनाथ अश्क (१९१०–), राजकुमार वर्मा (१९०५–), लक्ष्मी-नारायण मिश्र (१९०३–), जगदीशचन्द्र माथुर (१९१६–) और भारत भूषण अग्रवाल (१९१९–) की नाटक रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

जिस काल की विवेचना यहाँ की गई है उसमें अनेक गीतकार भी हुए जिनमें से कुछ की रचनाएँ अपने ढंग की अच्छी रचनाएँ हैं और लोकप्रिय भी हुई हैं। किन्तु एक तो गतानुगतिक रचना अच्छी होकर भी नई प्रवृत्तियों के विवेचन में स्थान नहीं रखती (जब तक कि गतानुगतिकता स्वयं नई प्रवृत्ति न मान ली जाय) और दूसरे, समकालीन प्रवृत्ति गीत और कविता को पर्यायवाची मानने की नहीं है। विश्व का कोई भी साहित्य आज अपने गीतकारों को अपने कवियों में नहीं गिनता है। यदि यह पूर्वग्रह है, तो इतना व्यापक कि उसे प्रवृत्ति मानना चाहिए; दूसरे, लेखक को उससे इन्कार भी नहीं है।

समकालीन साहित्य का विवेचन कृती साहित्य के विवेचन तक ही सीमित रह सकता है। समकालीन आलोचना की आलोचना दोहरे जोखम का काम है, क्योंकि उसमें पूर्वग्रह द्विगुणित हो जाता है। फिर भी जहाँ तक आलोचना की नई प्रवृत्तियाँ रचनात्मक अथवा प्रासंगिक हैं उनका उल्लेख यहाँ हो गया है।

समकालीन साहित्य-प्रवृत्तियों की कोई भी रूपरेखा विवाद से परे या पूर्वग्रह से सम्पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकती। तटस्थता के लिए देश की नहीं तो काल की यथेष्ट दूरी अपेक्षित होती है।

प्रस्तुत रूपरेखा हिन्दी-साहित्य से परिचित पाठक को फिर से अपनी मान्यताओं की परीक्षा करने की और अपरिचित पाठक को रसास्वादन करने की प्रेरणा दे सके तो लेखक के लिए इतना यथेष्ट है। लेखक के पूर्वग्रहों की जगह पाठक निस्सन्देह अपना पूर्वग्रह बैठा लेगा; इसका न्याय तो भविष्य ही कर सकता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

इंडो-आर्यन ऐंड हिन्दी—डा० एस० के० चटर्जी; गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी।

माडर्न वर्नाक्यूलर लिटलेचर आफ़ हिन्दुस्तान—जी० ए० ग्रियर्सन; कलकत्ता, १८८९

हिस्ट्री आफ़ लिटरेचर—ई० ग्रीव्ज

हिस्ट्री आफ़ हिन्दी लिटरेचर—एफ़० ई० के०; हेरिटेज आफ़ इण्डिया सीरीज़

हिन्दी लिटरेचर—आर० द्विवेदी; बनारस, १९५३

लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया—जी० ए० ग्रियर्सन, खण्ड ९, भाग १, पृष्ठ १–६०५।

अंग्रेज़ी
(भारतीयों द्वारा लिखित साहित्य)

के० आर० श्रीनिवास आयंगर

सामान्य परिचय

भारत में ब्रिटिश प्रभाव के कारण और जो भी चीज़ हुई हो, अंग्रेज़ी में बहुत-सा महत्त्वपूर्ण लेखन शुरू हुआ, जिसे कि सुविधा के लिए 'इण्डो-इंग्लिश, साहित्य कहा जाता है। परन्तु यह वस्तुतः द्विमुख साहित्य है। पहले तो वह साहित्य है जो भारत में रहनेवाले अंग्रेज़ों ने लिखा—या बहुत कम ऐसा भी हुआ कि भारत की ओर आकर्षित हुए अंग्रेज़ों ने रोमांटिक दूरी से भारत के बारे में लिखा है। इन सब लेखकों ने भारत को अपने लेखन का विषय बनाया। चौसर के समय से अंग्रेज़ लेखक निःसन्देह अपनी रचनाओं में भारत का कहीं-कहीं अस्पष्ट उल्लेख करते रहे हैं। परन्तु 'ऐंग्लो-इंडियन साहित्य' अर्थात् वह साहित्य जो कि भारतीय विषयों पर भारतीय दृष्टि से प्रेरित होकर अंग्रेज़ों द्वारा रचा गया, सर विलियम जोन्स के साथ शुरू होता है, १८वीं शती के अन्त में। दो समृद्ध संस्कृतियों के परस्पर प्रभाव से नई निर्मिति अनिवार्य थी, परन्तु वस्तुतः 'ऐंग्लो-इंडियन' लोगों ने ऐसे मौक़े का फायदा नहीं उठाया। जोन्स और लेडेन, सर अलफ़्रेड लियाल और सर एडविन आरनोल्ड ने शुरूआत तो बड़ी अच्छी की, मगर यह प्रारम्भ ही मानो उसका अन्त भी था। ये अच्छे इरादों वाले लोग थे, फिर भी 'एंग्लो-इंडियन' लोगों में जातीय श्रेष्ठता की भावना ग्रंथि के रूप में थी, और इस कारण इन दोनों संस्कृतियों का सच्चा संश्लेषण कभी नहीं हो सका। इसमें श्रद्धा और दिलचस्पी दोनों का अभाव था, 'ऐंग्लो-इंडियन' लेखक (मिस्टर ई० एफ़० औटेन को उद्धृत करूँ तो) 'निरर्थकता और उद्देश्यहीनता की चट्टानों और जंगलों में' खो गया था। फ़ॉर्स्टर का 'पैसेज टु इंडिया' जैसे श्रेष्ठ ग्रंथ और (इसी क्रम में बिलकुल विपरीत छोर पर) निकल्स का 'वर्डिक्ट ऑन इंडिया' जैसी भयानक पुस्तक अंग्रेज़ी

साहित्य में केवल संयोग के रूप में है; वे 'ऐंग्लो-इंडियन' साहित्य के उत्कृष्ट या निकृष्ट नमूने नहीं हैं। भारत में स्वतंत्रता के आगमन के पश्चात् 'ऐंग्लो-इंडियन' साहित्य ने उसकी विशेष स्थिति स्वाभाविक रूप से खो दी, यद्यपि अभी भी अंग्रेज़ों (और अमरीकियों) द्वारा किताबें लिखी जा रही हैं, जिनमें कम या अधिक मात्रा में पहचानी जा सकने वाली भारतीय पार्श्व-भूमि होती है।

दूसरी तरफ़ वह साहित्य है जो भारतीयों ने अंग्रेज़ी में लिखा है, और इसे 'इण्डो-ऐंग्लियन' साहित्य कहना अनुचित न होगा। यद्यपि मिस्टर जार्ज सैम्पसन ने टैगोर, मनमोहन घोष और श्री अरविन्द जैसे भारतीय लेखकों को अपने अंग्रेज़ी साहित्य के 'संक्षिप्त कैम्ब्रिज इतिहास' में शामिल किया है और 'ऐंग्लो-इण्डियन' साहित्य-विभाग में उनकी रचनाओं पर अपने विचार भी दिए हैं; फिर भी वे अंग्रेज़ जो कि भारतीय विषयों पर लिखते हैं, और वह भारतीय जो अंग्रेज़ी को अपनी कलात्मक अभिव्यंजना का माध्यम मानते हैं : दोनों में हमें अन्तर करना ही होगा। १८८६ में कलकत्ता में एक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसका शीर्षक था 'इण्डो-ऐंग्लियन साहित्य; इसमें देशी विद्यार्थियों की रचनाओं के नमूने थे। इधर हाल में, विशेषतः विगत २५ वर्षों में 'इंडो-ऐंग्लियन' शब्द बहुत-कुछ चल गया। इसका कोई जातीय या धार्मिक अर्थ नहीं है। यह केवल वर्णनात्मक शब्द है और यह विशेषण लेखक तथा साहित्य, दोनों के लिए प्रयुक्त किता जा सकता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि यह शब्द अब आम हो गया है।

प्रस्तुत लेखक की पी० ई० एन० द्वारा प्रकाशित 'इंडो-ऐंग्लियन साहित्य' पुस्तक की भूमिका में स्वर्गीय डॉ० सी० आर० रेड्डी ने घोषित किया था :

> 'इंडो-ऐंग्लियन' साहित्य भारतीय साहित्य से मूलतः भिन्न नहीं है। वह उसका भाग है, वह उसी गौरव का आधुनिक पहलू है जो कि उसे वेदों से मिलता है; उसका सौम्य प्रकाश सामने और इतिहास की ऊँची-नीची अवस्थाओं में से कभी कम और कभी अधिक चमक के साथ फैलता आता रहता है : टैगोर, इक़बाल और अरविन्द घोष के आधुनिक समय तक यह प्रकाश चला आ रहा है; वह फैलता ही जाता है और हमारी मानव-जाति की विस्तृत होती जाने वाली भवितव्यता का वह संकेत है।"

अब, भारतीय साहित्य भी आधुनिक अवस्था में, एक शताब्दी से कुछ ही अधिक आयु वाला है। १७वीं और १८वीं शताब्दी में इस विस्तृत महाद्वीप में, जो

कि एक समय विद्या, कला और संस्कृति का घर था, शायद ही कोई सुव्यवस्थित शिक्षा प्रचलित थी, जिसका कि उल्लेख किया जा सके। उस समय कोई गम्भीर प्रयत्न भी नहीं हुआ—शायद परिस्थितियों-वश ही, ताकि जो थोड़े-बहुत परम्परित ज्ञान के बढ़ते हुए केन्द्र थे, उनमें और अशिक्षित लाखों लोगों के बीच में बढ़ती हुई खाई पाटी जा सके। अकथनीय शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक आलस्य, भारतीय जनता को ग्रसे हुए था। भारतीय संस्कृति का प्रभाव राष्ट्रीय दासता की तप्त मरुभूमि में मानो खो गया था।

ब्रिटिश प्रभाव ने समय के पूरे होने पर हमें तीन आवश्यक प्रेरणाएँ दीं। श्री अरविन्द के शब्दों में "प्रसुप्त बौद्धिक और आलोचनात्मक शक्ति उसने पुनर्जीवित की; जीवन को उसने फिर से बसाया और नये सृजन की इच्छा जाग्रत् की; पुनर्जाग्रत् भारतीय आत्मा को नवीन परिस्थितियों और आदर्शों के सामने रख दिया, और उन्हें समझने, अपनाने और जीतने की आवश्यकता के प्रति चेतन बनाया।" नये विचार और नये साहित्य की यदि जड़ें जमानी थीं और उन्हें फलना-फूलना था, तो विचार और उद्देश्य का नया वातावरण भी निर्मित करना आवश्यक था। यह वही परिचित भारतीय भूमि हो सकती थी, परन्तु आधुनिक उपकरण और समृद्ध खाद का स्वागत भी बहुत आवश्यक था। राजा राममोहन राय, एक द्रष्टा, महापुरुष थे। उनमें बड़ी प्रतिभा और शक्ति थी। उन्होंने नये सशक्त भारत का स्पष्ट स्वप्न देखा और उसे पूर्ण करने के लिए तुरन्त भरसक प्रयत्न भी उन्होंने किये। ईसाई मिशनरियों ने सारे देश में छापेखाने शुरू कर दिए थे और भारत की प्रादेशिक भाषाओं में 'बाइबल' के सस्ते संस्करण प्रकाशित किये थे। प्राच्यविद्यावादियों ने भारतीय विद्वत्ता को एक नया मोड़ दिया, कई प्राचीन ग्रंथों का विस्मृति के गर्भ से उद्धार किया और संसार के लिए उन्हें सुलभ बनाया। उस समय तक अंग्रेज़ी के पक्षधर और देशी शिक्षा के मानने वाले बड़े अर्से तक शाब्दिक लड़ाई लड़ते रहे, परन्तु सुधारक अन्ततः जीत गए। राममोहन और उनके साथियों के क्रांतिकारी उत्साह, मिशनरियों के शिक्षा के प्रयत्न और १८३५ में सरकार द्वारा मेकाले की अंग्रेज़ी के माध्यम से आधुनिक शिक्षा की योजना की मान्यता ने कम से कम एक सदी के लिए भारतीय शिक्षा और संस्कृति का एक साँचा निश्चित कर दिया।

धीरे-धीरे, किन्तु निश्चयात्मक गति से, ऐसे स्कूल और कालेज, जो कि

अंग्रेज़ी के माध्यम से शिक्षा देते थे, संख्या में बढ़ते गए और उनकी प्रतिष्ठा भी बढ़ती गई, और एक-दो पीढ़ियों के अन्दर भारतीयों की बहुत बड़ी संख्या, यूरोपीय (और विशेषत: अंग्रेज़ी) साहित्य और संस्कृति की विविध समृद्धि से परिचित होने लगी। बहुत-से तरुण, जिन्हें इस गतिशील शिक्षा का वरदान नई शालाओं द्वारा मिला, यह दिल से चाहते थे कि भारत को फिर से दुनिया के सांस्कृतिक नक्शे में प्रतिष्ठित किया जाय। उनकी आकांक्षाएँ थीं कि इस मौन देश को फिर से मुखर किया जाय। इसका स्वाभाविक अर्थ यह था कि उन्हें या तो अंग्रेज़ी में या अपनी मातृभाषा में लिखना चाहिए था। उन्हें अंग्रेजी में इसलिए लिखना आवश्यक था कि अपने अंग्रेज़ स्वामियों का ध्यान वे इस प्रकार आकर्षित कर सकते थे और विभिन्न भाषा-क्षेत्रों के देशवासियों तक पहुँच सकते थे; तथा वे अपनी मातृभाषा में इसलिए लिखना चाहते थे कि उसके बिना वे अपनी आत्म-तृप्ति नहीं पा सकते थे, और जनसाधारण को शिक्षित करने की आशा नहीं रखते थे। और चाहे उन्होंने अंग्रेज़ी में लिखा या अपनी मातृभाषाओं में, आदर्श ग्रहण किया अंग्रेज़ी साहित्य से। आधुनिक यूरोपीय साहित्य में यही एकमात्र आदर्श उनके सामने था। पश्चिमी प्रभाव का आघात लगते ही यहाँ की धरती गोड़ी गई थी, अंग्रेज़ी साहित्य ने मानो इस क्षेत्र को और उपजाऊ बनाया; धीरे-धीरे आधुनिक भारतीय साहित्य जन्म लेने लगा। आधुनिक बँगला, हिन्दी, मराठी, तेलुगु, तमिल और गुजराती साहित्य की भाँति 'इंडो-ऐंग्लियन' साहित्य भी एक भारतीय साहित्य ही है, जिसकी अपनी उज्ज्वल परम्परा है, और जो समृद्ध जीवन और शक्ति के चिह्न अभी भी प्रदर्शित करता है।

'इंडो-ऐंग्लियन' साहित्य की कहानी पांच अ-समान हिस्सों में बाँटी जा सकती है :

१८२०–१८७० : आरंभ—महान् अग्रदूतों का युग ;

१८७०–१९०० : आत्मा का पुनर्जागरण—धार्मिक और साहित्यिक जागृति का युग ;

१९००–१९२० : राजनैतिक जागृति का युग—'वन्देमातरम्' और होमरूल का युग ;

१९२०–४७ : गांधीवादी क्रांति का युग—आधुनिक 'वीरता' का युग ;

१९४७ : स्वतंत्रता का युग।

यह एक सुविधाजनक विभाजन है; इसे न तो अन्तिम मानना चाहिए, और न ही इसमें का एक भाग दूसरे भाग से बिलकुल अलग है।

१८२०—१८७०

जैसी कि आशा की जा सकती है, भारतीयों का अंग्रेज़ी में प्रथम लेखन गद्य में था और राममोहन राय पहले इण्डो-ऐंग्लियन लेखक थे। राममोहन राय सचमुच अग्रदूत थे। उनका व्यक्तित्व महान् था, हमारे राष्ट्रीय जीवन के कई अंगों में उन्होंने सोद्देश्य सुधार आरम्भ किया और जो कुछ उन्होंने किया वह एक निर्माता का कार्य था। यह उनका सौभाग्य था कि उन्होंने बहुत-सी ज़मीन साफ़ की और आने वाले नये भारत की नींव डाली। और बातों के अलावा वे अंग्रेज़ी गद्य के अधिकारी लेखक भी थे। उनका आकर्षक और शक्तिशाली व्यक्तित्व 'प्रिसेप्ट्स आफ़ जीसस' (१८२०) जैसी पुस्तकों में और अगणित अन्य पुस्तिकाओं और ट्रैक्टों में व्यक्त हुआ।

यदि राममोहन राय आत्मविश्वासी और अधिकारयुक्त सहजता से अंग्रेज़ी लिखनेवाले पहले भारतीय थे, तो हेनरी डेरोज़ियो प्रथम इण्डो-ऐंग्लियन कवि थे। इनका जन्म १८०७ में हुआ। जीवन कुछ उखड़ा-सा रहा, और हैज़े से वे १८३० में मर गए। उन्होंने अपने पीछे काफ़ी अंग्रेज़ी कविता लिख छोड़ी, जिसमें 'दि फ़क़ीर आफ़ जंघीरा' नामक एक लम्बा कथा-काव्य भी है। अर्ध-भारतीय, अर्ध-पुर्तगाली डेरोज़िओ अपने भावों में पूर्णतया भारतीय थे और भारत का राष्ट्रीय वीर-कवि बनने की इच्छा रखते थे। कविता के क्षेत्र में उनकी उपलब्धि उल्लेखनीय है। जो कुछ उन्होंने लिखा है, उसमें बड़ी सम्भावनाएँ छिपी हुई थीं। दूसरे अग्रदूत काशीप्रसाद घोष 'शायर और दूसरी कविताएँ' (१८३०) के निर्माता थे; परन्तु उनकी कृतियों में बहुत कम वास्तविक काव्य-गुण हैं।

बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के विश्वविद्यालय १८५७ में स्थापित हुए। एक नई पीढ़ी जाग उठी जो कि मिल्टन की महान कविता की तुतलाहट और बर्क के गर्जनायुक्त भाषणों की पुनरावृत्ति अपने गद्य और पद्य में करने लगी; और इण्डो-ऐंग्लियन लेखक को ऐसा लगा कि उसके पढ़ने वालों और रसिकों की संख्या बढ़ रही है। अंग्रेज़ी पत्रकारिता ने कई तरुणों को आकर्षित किया, परन्तु कविता के अपने अलग रसिक थे। इनमें माइकेल मधुसूदन दत्त का स्थान बहुत उच्च है।

वे एक भारतीय ईसाई थे, और इनके भाग्य-नक्षत्र भी काफ़ी अनिश्चित थे। वे प्रथमतः बंगाली साहित्य में लिखते रहे, बाद में उन्होंने अंग्रेज़ी अखबार का सम्पादन किया और अंग्रेज़ी में एक लम्बी कविता लिखी जिसका शीर्षक था 'दि कैप्टिव लेडी' (१८४६)। इसमें पृथ्वीराज और रानी संयोगिता की कहानी सजीव ढंग से कही गई है।

१८७०–१६००

यह थे अग्रदूत; परन्तु केवल अनुकरण करने वाले, ऐसे लेखक (जिन्होंने व्यर्थ ही भारतीय विचार या भावना का विवाह अंग्रेज़ी रूप-शिल्प के साथ करना चाहा।) कई थे। अंग्रेजी रोमांटिक—१६वीं शताब्दी के आरम्भिक काल के कवि और उपन्यासकार—उन्हें भयानक रूप से आकर्षित करते थे, परन्तु इण्डो-ऐंग्लियन प्रयोग अधिकतर बिलकुल ही निकम्मे थे। साथ ही साथ युग की आत्मा कई अलौकिक स्त्री-पुरुषों के रूप में व्यक्त हुई, जिन्होंने बार-बार यह सिद्ध किया कि वे अंग्रेज़ी के माध्यम द्वारा बड़ी सफल आत्माभिव्यंजना कर सकते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम तीन दशकों में एक ऐसे ही आध्यात्मिक पुनर्जागण का बसन्त भारत में आया। रामकृष्ण परमहंस ने भारत की आँखें खोल दीं, जो कि कुछ समय के लिए पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध से मानो अन्धी हो गई थीं। इन आँखों ने आत्मा के व्योम का वैभव देखा। विवेकानन्द अपने स्वामी का संदेश सभ्य संसार के कोने-कोने तक ले गए, वेदान्त के भाष्य और मिशनरी प्रचार के उद्देश्य से उन्होंने अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया। ब्रह्म समाज, आर्य समाज और प्रार्थना-समाज आंदोलन के कई प्रचारकों ने अंग्रेज़ी भाषा का बड़ा अधिकारपूर्ण और प्रवाहपूर्ण उपयोग किया।

आरु दत्त और तोरु दत्त के रूप में इंडो-ऐंग्लियन कविता के इतिहास की सफलता का सच्चा सार्थक अध्याय सम्पूर्ण होता है—परन्तु इस सफलता के साथ-साथ शोक भी मिश्रित था। आरु १८७४ में और तोरु १८७७ में स्वर्गवासी हो गईं; तब उनकी आयु क्रमशः २० और २१ थी। डेरोज़िओ की तरह आरु और तोरु भी 'ऐसी कीर्ति की अधिकारिणी थीं जो कि अपूर्त ही रह गईं।' ये कवयित्रियाँ महान् सम्भावनाएँ लिये हुए थीं और उनकी उपलब्धि भी कम नहीं है। रोमांटिक स्कूल के फ्रेंच भाव-गीतों का अंग्रेज़ी अनुवाद उन्होंने १८७६ में प्रकाशित किया;

उसका शीर्षक है 'ए शीफ़ ग्लीन्ड इन फ्रेंच फ़ील्ड'। जब आरु अपने प्रसिद्ध 'मॉर्निंग सेरेनेड' नामक कविता-संग्रह की नई रचनाएँ लिख रही थीं तब उसे देखकर एडमंड गॉस 'आश्चर्य और आनन्द से भर उठे' थे। तोरु की मूल प्रेरणा उनके पीछे-पीछे थी और वस्तुतः केवल उनका नाम ही मुख पृष्ठ पर छपा था। १८८२ में उनका 'एन्शेण्ट बेलैड्स एण्ड लीजेंड आफ़ हिन्दुस्तान' नामक संग्रह उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ और उससे यह भी सिद्ध हुआ कि एक विदेशी माध्यम से काव्योद्गार व्यक्त करने की उनकी शक्ति कितनी सहज थी और उन्हें अंग्रेज़ी पर कैसा अद्भुत अधिकार प्राप्त था। सावित्री और सीता, ध्रुव और प्रह्लाद की कहानियाँ ही इन कविताओं में पुनः नई ताज़गी और आकर्षण के साथ कही गई हैं। तोरु दत्त की कविता के प्रथम प्रकाशन को आज ८० साल बीत चुके हैं, फिर भी यह निश्चित है, जैसा मिस्टर एच० ए० एल० फ़िशर ने कहा है कि उनकी कविता, 'अंग्रेज़ी कवियों की महान् परम्परा में गिनी जायगी।'

आरु और तोरु दत्त से विपरीत रमेशचन्द्र का जीवन लम्बा और सम्मानपूर्ण था। 'ए हिस्ट्री आफ़ सिविलाइज़ेशन इन ऐन्शेण्ट इंडिया' (१८९०), 'इकानामिक हिस्ट्री आफ़ ब्रिटिश इंडिया' (१९०२) और 'इंडिया इन दि विक्टोरियन एज' (१९०४) जैसे ग्रंथों के अलावा उन्होंने रामायण और महाभारत के अंग्रेज़ी पद्यानुवाद प्रकाशित किये; उनके दो बंगाली उपन्यास भी अंग्रेज़ी में छपे हैं, जिनके नाम हैं, 'दि लेक आफ़ पाम्ज़' और 'दि स्लेव-गर्ल आफ़ आगरा'। रमेशचन्द्र के रामायण और महाभारत संक्षिप्तिकरण के महान् उदाहरण हैं, क्योंकि उन्होंने मूल रामायण के २,४००० श्लोकों को और महाभारत के २,००,००० श्लोकों को अंग्रेज़ी के दो चरणों के ४,००० पद्यों में उतारा है। और यह कार्य भद्दे ढंग से मूल महाकाव्यों को संक्षिप्त करके नहीं सिद्ध किया, बल्कि कई मूल घटनाओं को छोड़कर और कई मूल वर्णनों को कम करके और जहाँ आवश्यक था वहाँ गद्य में सूत्रबद्ध सुझाकर किया गया। रमेशचन्द्र के कार्य के लिए यह कहना पर्याप्त प्रशंसा होगी कि समय की कसौटी पर ये ग्रंथ सफल साबित हुए हैं और अब भी अंग्रेज़ी को हमारे साहित्य का, हमारे राष्ट्रीय महाकाव्यों का सर्वोत्तम परिचय इन ग्रंथों से ही मिलता है। अंग्रेज़ी के अन्य लेखकों में रामकृष्ण पिल्लई ('टेल्ज़ आफ़ इड' १८९५), 'बेहराम जी मालाबारी' ('दि इंडियन म्यूज़

इन इंग्लिश गार्ब', १८७६; और 'दि इंडियन आई ऑन इंग्लिश लाइफ़', १८९३) और नागेश विश्वनाथ पै ('स्ट्रे स्केचेज़ इन चकमकपोर', १८९४ और 'दि ऐंजल आफ़ मिसफोरचुन', १९०४) थे। पै इन तीनों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण लेखक थे; थियोफ्रेस्टस की तरह उन्होंने कई व्यक्ति-चित्र खींचे हैं और वर्णनात्मक कविता भी लिखी है। दोनों तरह के लेखन में अंग्रेज़ी माध्यम का निर्वाह करके उन्होंने भारतीय वातावरण पूरी तरह व्यक्त किया है और इससे उनके लेखन में एक विशेषता और चमत्कार उत्पन्न हुआ है। रामकृष्ण पिल्लई ने भी दो उपन्यास लिखे: 'पद्मिनी' (१९०३) 'दि डांस आफ़ डेथ' (१९१२)। यह दोनों ही साधारण कोटि के हैं।

१९००–१९२०

अब हम दो महान् लेखकों की ओर मुड़ते हैं, टैगोर और श्री अरविन्द। ये दोनों ऐसी महान् शक्तियाँ थीं कि इन्होने एक ही क्षेत्र में कार्य नहीं किया, वरन् अनेक क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा व्यक्त की। इन दोनों व्यक्तियों ने क़रीब आठ वर्ष तक अपना प्रभाव दिखलाया। उन्नसवीं और बीसवीं शताब्दी के बीच में ये लेखक पुल की तरह थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से राजनैतिक मोर्चे पर बहुत-कुछ हलचल शुरू हो गई थी। इस सदी से प्रथम दशक में राष्ट्रीय आन्दोलन को एक ज्वलन्त सोद्देश्यता और प्रयोजन प्राप्त हुआ। 'वन्दे मातरम्' भारत की जागरूक राष्ट्रीयता का मन्त्र वन गया और पहले बंगाल और बाद में सारे भारत के लोगों ने कर्मक्षेत्र की पुकार का उत्तर देना शुरू किया, जब कि एक विदेशी सत्ता ने उन्हें जेल में डाल दिया। रातो-रात साहित्यिक कर्मवीर वन गए और कर्मवीर साहित्यिक। श्री अरविन्द को अलीपुर जेल की कोठरी में 'नारायण-दर्शन' हुए, और तिलक ने मांडले जेल में 'गीता-रहस्य' लिखा। बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों में 'वन्दे मातरम्' और 'होमरूल' आन्दोलन ऐसे थे कि उनसे बड़ी हलचल और वीरोचित वेदना जाग उठी। इस काल का साहित्य—और इसमें इण्डो-ऐंग्लियन साहित्य भी कम नहीं है—जनता के परिश्रम और सहन-शक्ति, पराजय और सफलता का पूरा प्रतिबिम्ब है।

यद्यपि यह सच है कि टैगोर का स्थान—और काफ़ी बड़ा स्थान—बंगाली साहित्य में है, फिर भी परिस्थितियों ने उन्हें मजबूर किया (जैसा कि कई लेखकों

को भी) कि वे द्विभाषिक बनें, और इस तरह इण्डो-ऐंग्लियन साहित्य में भी उन्होंने एक चिरन्तन स्थान ग्रहण कर लिया। अपनी कविता और नाटकों के अंग्रेज़ी अनुवाद उन्होंने किये, इसके अलावा अंग्रेज़ी में 'दि चाइल्ड' लिखा। यह सब तरह के स्त्री-पुरुषों के सन्तोष-मन्दिर की काल्पनिक तीर्थ-यात्रा का वर्णन है, इसमें मानो इब्सन की किस्म के नाटक को उन्होंने पुनर्जीवित किया है। उनकी गद्य-कृतियाँ भी—विशेषतः 'साधना', 'नेशनैलिज़्म', 'परसनैलेटी', 'दि रिलिजन आफ़ मैन' (१९३०) मूलतः अंग्रेज़ी में, अन्तर्राष्ट्रीय पाठकों के लिए लिखी गई थीं। चाहे जिन मानदण्डों को काम में लाइए, टैगोर की प्रमुख उपलब्धियों की ओर ध्यान आकर्षित होता ही है। वे केवल बंगाल के नहीं, अपितु भारत और सारे विश्व के हैं। कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, दार्शनिक, शिक्षा-शास्त्री और उज्ज्वल मानवतावाद के मसीहा के नाते जाग्रत् भारत के इस महान् राष्ट्र-कवि के विभिन्न पहलू ऐसे बड़े व्यक्तित्वों में समाए हुए हैं, जिन्हें कि रवीन्द्रनाथ कहा जाता है और जो इन सबसे ऊपर और कुछ अधिक हैं। "हमारे दरवाज़े पर उसने दस्तक दी और उसकी सब रुकावटें जैसे टूट गईं। हमारा दरवाज़ा एकदम खुल गया।"

अरविन्द घोष और उनके बड़े भाई मनमोहन की शिक्षा इंग्लैंड में हुई और वहीं उन्होंने यश की मालाएँ ग्रहण कीं। आस्कर वाइल्ड मनमोहन की कविताओं से इस तरह प्रभावित हुए कि उन्होंने 'पाल माल गज़ट' में लिखा : "मिस्टर घोष किसी न किसी दिन हमारे साहित्य में बड़ा नाम प्राप्त करेंगे।" 'लव सांग्स ऐंड एलेजी' (१८९८) और उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित 'सांग्स आफ़ लव ऐंड डेथ' (१९१६) में मनमोहन का सबसे स्थायी कृतित्व है। 'इम्मार्टल ईव' और 'ऑर-फ़िक मिस्ट्रीज़' नामक दो लम्बी कविताएँ सच्चे करुण रस और विशुद्ध काव्य की भव्यता से आप्लावित हैं। दुःख उनके जीवन में था, मगर उससे वे एकदम कड़वे नहीं हुए; बाह्यतः वे गहरी उदासी में डूबे हुए थे। मन-मोहन अन्त तक "उस महान् लय को पकड़े रहे जिसकी गर्जना आनन्दमयी होती है।"

मनमोहन के भाई अरविन्द की शिक्षा 'सेण्टपाल', लन्दन से शुरू होकर कैम्ब्रिज में समाप्त हुई। वे आई० सी० एस० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, फिर भी सौभाग्य से वे उसके बन्धनों से मुक्त हो गए। कुछ समय तक वे बड़ौदा कालेज में पढ़ाते

रहे और जल्दी ही राजनीति की ओर आकर्षित हुए। साथ ही साथ वे योग का अभ्यास भी कर रहे थे। १९०७-१९०९ तक राजनीति में प्रमुख भाग लेने के बाद वे पांडिचेरी में अध्ययन और मनन के लिए चले गए, और तब से दिसम्बर १९५० में अपनी मृत्यु तक वे वहीं रहे। उन्हें कई भाषाओं का ज्ञान था—ग्रीक और लैटिन, अंग्रेज़ी और फ्रेंच, जर्मन और इटालवी, संस्कृत और बँगला—कई ज्ञान और विज्ञानों के वे स्वामी थे। समय आने पर वे एक 'महापुरुष', 'महायोगी' और अनन्त के तीर्थ-यात्री बन गए। उनके आस-पास पांडिचेरी में साधकों का एक दल जमा हुआ और जो आश्रम उन्होंने स्थापित किया था, वहाँ उनके देहावसान के उपरान्त, एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र विकसित हो गया है।

केवल कवि और जीवन तथा साहित्य के आलोचक के नाते श्री अरविन्द हमारे समय के महान् चिन्तकों में से एक हैं। उनकी कविता के दो बड़े खण्डों—'कलक्टेड पोएम्स ऐंड प्लेज़' (१९४२) में १८९० से लगाकर नवीनतम प्रयोगों तक उनकी कविता के नमूने हैं। अनुवादक और वर्णनात्मक कवि के नाते, छन्द और शब्दों के कारीगर के नाते, गीत-कवि और नाट्य-कवि के नाते, एक प्रयोग-कर्ता और अन्वेषक के नाते, और सबसे बढ़कर एक भविष्यवक्ता कवि के नाते श्री अरविन्द का काव्य-कृतित्व अतुलनीय है। 'उर्वशी' और 'लव ऐंड डेथ' दिव्य मुखर पद्य-गाथाएँ हैं, जब कि 'बाजी प्रभु' प्रथम कोटि का वीर-काव्य है; 'परसि-यस, दि डिलीवरर' मुक्त छन्द में एक नाटक है, उसका प्रभाव आत्मशुद्धिकारी है 'दि रोज़ ऑफ़ गॉड' और 'थॉट दि पैरॅक्लीट' उत्तम रहस्यवादी कविता के नमूने हैं। श्री अरविन्द ने पुराने परिमाणात्मक छन्दों को सफलतापूर्वक अपने उद्देश्य के लिए ढाला और 'आहना' और 'इल्योन' नामक कविताओं में बहु-निन्दित 'हेक्सामीटर', छन्द को प्रयुक्त करके उन्होंने नई लयात्मकता को जन्म दिया।

श्री अरविन्द गद्य के बड़े शैलीकार तो थे ही और बहुत कुछ सर टामस ब्राउन और डी क्विन्सी की परम्परा में लिखते थे; किन्तु आवश्यकता पड़ने पर वे बहुत सादा और सहज स्वाभाविक गद्य भी लिखते थे। 'दि लाइफ़ डिवाइन', 'एसेज़ ऑन दि गीता' 'दि सिनथेसिस आफ़ योग', 'दि सोशल साइकल', 'दि आइडियल आफ़ ह्यूमन यूनिटी', 'दि फ़्यूचर पोएट्री' (जो मूलतः १९१४ से १९२१ तक 'आर्य' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी और उसके बाद अब पुस्तक के रूप में प्रका-शित हुई है) आदि ग्रन्थों में जो विचार उन्होंने व्यक्त किए हैं, उनमें एक ऐसी

अखण्डता है, जिसमें कि शोधक की लगन और कवि की उत्साही कल्पना-शक्ति तथा एक चिन्तक का रचनात्मक दृष्टिकोण व्यक्त होता है। उनके छोटे गद्य-ग्रन्थों में 'दि मदर', 'हेराक्लिटस' और 'दि रेनेसाँ इन इण्डिया' प्रसिद्ध हैं।

अरविन्द की भाँति सरोजिनी नायडू ने भी कविता से शुरू किया, परन्तु बाद में राजनीति ने उन्हें खींच लिया और गांधी-युग में उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण कार्य पूरा किया। उनका पहला कविता-संग्रह 'दि गोल्डेन थ्रेशहोल्ड' (१६०५) उन्हें एक प्रसिद्ध कवयित्री के नाते प्रतिष्ठित करता है। १६०६ में जब वे एक वक्ता के नाते प्रसिद्ध हुईं, तब गोखले ने कहा था :

"आपके भाषण उच्चकोटि के बौद्धिक आनन्द से अधिक थे। वे एक सम्पूर्ण कला की वस्तु थे। उन्हें सुनकर हम सबको उस समय लगता था कि हम एक उच्च भाव-लोक में पहुँच गए हैं।"

बहुत कालान्तर के बाद 'दि बर्ड आफ़ टाइम' (१६१२) और 'दि ब्रोकेन विंग' (१६१७) नामक उनके दो और कविता-संग्रह प्रकाशित हुए। कवयित्री के नाते सरोजिनी नायडू का छन्द पर अधिकार इतना उत्तम था कि 'पद्म पर आसीन बुद्ध के प्रति' और 'वृन्दावन का बंसी वाला' जैसे निर्दोष भाव-गीत वे लिख सकीं। उनके 'काल-पक्षी' की तरह सरोजिनी ने भी अपनी कविता में बहुत बड़ा क्षेत्र व्याप्त किया है, यद्यपि उनका विशेष क्षेत्र परिचित वस्तुओं के सौन्दर्य का अंकन है। बाद के ग्रन्थों में सचेष्ट रूप से करुणा की टेक अधिक सुनाई देती हैं; संयमित चित्रोपमता है, गहरा संगीत और अधिक परिपक्व 'बुद्धि की प्रार्थना' है, और यद्यपि उनका काव्यासव एक-सा रहा है, फिर भी बाद की कविताओं में 'दि गोल्डेन थ्रेशहोल्ड' से अधिक प्रौढ़ावस्था के दर्शन होते हैं। उनके अंतिम कविता-संग्रह में, 'दि टेम्पल : ए पिलग्रिमेज आफ लव' नामक तीन लम्बी गीत-सरणियाँ हैं, प्रत्येक में आठ कविताएँ हैं, और मिस्टर जॉन गॉस्वर्थ ने इनकी तुलना श्रीमती ब्राउनिंग के 'सानेट्स फ्राम दि पोर्चूगीज़' से की है। यद्यपि सरोजिनी नायडू ने एक बार कहा था कि 'स्त्री की बुद्धि राजनीति उच्च विचरणों को पकड़ नहीं सकती,' फिर भी उन्होंने भारत माता की अन्त तक सेवा की क्योंकि गांधी-युग में, उनके लिए राजनीति एक प्रकार का प्रेम था, और राजद्रोह एक प्रकार की कविता।

१९२०–१९४७

प्रथम महायुद्ध के अन्त तक भारत ने अपने-आपको एक नये युग की देहली पर पाया, जिसमें विलक्षण सम्भावनाएँ भरी थीं। दृश्य अब बदल गया था, नाटक के पात्र भी बदल गए थे। अब फीरोजशाह मेहता नहीं थे, गोखले और तिलक नहीं थे, विपिन पाल की साग्निक वाणी मौन हो गई थी और सुरेन्द्रनाथ के भाषणों का पहले वाला जादू कम हो गया था, श्री अरविन्द पांडिचेरी में बंद थे। नये दृश्य, नये अभिनेता, नये रूप सामने आए। इंडो-ऐंग्लियन पत्रकारिता अधिक चटपटी और तीखी हो गई, हमारे वक्ताओं के भाषण संक्षिप्त और ओजस्वी बनने लगे, हमारे गद्य-लेखक मैकाले के ढंग को छोड़कर अधिक स्वाभाविक रूप से लिखने लगे, जिसमें सौम्य अभिव्यंजना अधिक थी। गांधीजी के नेतृत्व के फलस्वरूप अंग्रेजी शिक्षा की चकाचौंध कुछ कम हुई, फिर भी १९१७ में अंग्रेज़ी के जो ६१,००० कालेज-विद्यार्थी थे, वे १० वर्ष बाद ८४,००० हो गए। गांधीजी स्वयं अपने अंग्रेज़ी पत्रों पर अवलम्बित थे—पहले 'यंग इंडिया' और बाद में 'हरिजन'—इन्हीं के द्वारा वे अपने विचार, कार्यक्रम, प्रार्थना-भाषण और नारे प्रसारित करते थे। दूसरे नेता—मुख्यत: सी० आर० दास, मोतीलाल नेहरू, लाजपतराय, टी० प्रकाशम्, पट्टाभि सीतारमैया—भी अपने-अपने दैनिक या साप्ताहिक अंग्रेज़ी पत्र चलाते थे और उनके द्वारा राष्ट्रीय दृष्टिकोण को व्यक्त करते थे, इनमें से किसी में व्यक्तिगत आग्रह अधिक था तो किसी में कम। कालेज के प्रोफ़ेसर भी अपनी व्यंजना के लिए अंग्रेज़ी पर ही निर्भर रहते थे, चाहे उनकी कृति गद्य-शोधग्रंथ के रूप में हो या अधिकतर कविता-संग्रह के रूप में। प्रादेशिक भाषाओं में साहित्य बढ़ रहा था, परन्तु भारतीयों का अंग्रेज़ी में लिखना कम नहीं हुआ था, उसमें कम शक्ति नहीं थी और उतनी ही विविधता भी व्यक्त हो रही थी। १९२० और १९३० के दशकों में ब्रिटिश या यूरोपीय साहित्यिक दृश्य में अभिरुचि की जो क्रान्ति हुई, उसी की प्रतिगूँज सुदूर भारत में उठ रही थी और रूढ़ि तथा विद्रोह, परम्परा और प्रयोग के बीच का संघर्ष यहाँ भी उसी तरह चल रहा था जैसे कि अन्यत्र, और उसके परिणाम भी उतने ही अनिश्चित थे।

१९२० में जा इंडो-ऐंग्लियन लेखक विशेष प्रसिद्ध हुए, उनमें के० एस०

वैंकटरमणी अपने विचारों में सबसे अधिक स्फूर्तिदायक और प्रतिभा में बहुमुखी थे। उनकी पहली पुस्तक 'पेपर बोट्स' (१९२१) दक्षिण भारत के जीवन की कुछ झाँकी देती है। इन झाँकियों में एक कवि और परिहास-लेखक का कलात्मक स्पर्श दिखाई देता है। 'आन दि सैंड-ड्यून्स' (१९२३) गद्य-काव्य की पुस्तक थी। इसमें संवेदनशील मानवता पर सभ्यता ने जो प्रहार किया, उसके विषय में शोक व्यक्त किया गया है और कभी-कभी यह दुःख घोर चीत्कार का रूप ग्रहण करता है। 'मुरुगन, दि टिलर' (१९२७) नामक पुस्तक के प्रथम प्रकाशन के बाद मद्रास के पढ़े-लिखे लोगों में जैसे एक आँधी आ गई। गाँव के जीवन के स्पष्ट चित्र, शहराती में विशेष रूप से व्यक्त विचार और कर्म की आग, व्यंग्यपूर्ण वर्णन, चरित्रों का गहरा अध्ययन, काव्यमयता और परिहास, आदर्शवाद और यथार्थवाद का मिश्रण आदि गुणों से यह सक्रांति-कालीन भारत का प्रथम कोटि का श्रेष्ठ उपन्यास बन गया, 'मुरुगन' के बाद बच्चों की एक किताब उन्होंने लिखी, जिसका नाम 'ए डे विद शम्भु' था। बाद में एक सामयिक पुस्तिका 'दि नेक्स्ट रंग' नाम से लिखी। वैंकटरमणी का दूसरा उपन्यास 'कन्दन दि पैट्रिअट' (१९३२), गांधीजी के सन् १९३०-३१ के राष्ट्रीय आंदोलन से प्रभावित था; इसमें राजनीति को भी उसी तरह आदर्शीकृत किया गया था, जैसे कि 'मुरुगन' में ग्रामीण अर्थशास्त्र को। दोनों में इतना ही अंतर है कि दोनों परस्पर पूरक हैं। मद्रास के दूसरे लेखक शंकर राम ने, दो कहानी-संग्रह लिखे ('चिल्ड्रेन ऑफ़ दि कावेरी' और 'क्रीचर्स आल') और बाद में एक मर्मस्पर्शी उपन्यास प्रकाशित किया, जिसका नाम 'लव ऑफ़ डस्ट' (१९३८) है। इसमें एक किसान का धरती के प्रति आकर्षण वर्णित है। उपन्यास-लेखक के नाते शंकर राम मानवीय जीवन के आध्यात्मिक विघटन के उन मनोवेगों का बहुत अच्छा चित्रण करते हैं जहाँ अश्रु और हास्य के बीच की सीमा-रेखा बहुत झीनी होती है।

ऊपर के सब लेखकों से अधिक लिखने वाले मुल्कराज आनन्द भारतीय समाज के शोषितों और दलितों में उलझे हैं। उनके चार उपन्यासों : 'टू लीव्ज़ ऐंड ए बड', 'दि कुली', 'दि अनटचेबल', और 'दि विलेज' (१९३९) में निम्न वर्गों का चित्रण केवल प्रोत्साहनपूरक न होकर सहानुभूतिपूर्ण है; उन्हें मनुष्य मात्र की तरह आदर दिया गया है। भंगी, किसान, बागान के मज़दूर, शहर के कुली, सिपाही, सबके चित्र उनके उपन्यासों में बड़े सजीव ढंग से उभरे

हैं—ये दु:खी और भूखे मनुष्य हैं, जो अंधविश्वास और खण्डित व्यक्तित्व से पीड़ित हैं। उनके कुण्ठित उद्देश्यों के बावजूद उनका चित्रण बहुत ही स्पष्ट हुआ है। इसी प्रकार निरतर सतोष देने वाले दूसरे कलाकार हैं, आर० के० नारायण[1], जिनके उपन्यासों और कहानी-संग्रहों मे से कुछ ये हैं: 'बैचलर आफ़ आर्ट्स', 'दि डार्क रूम' (१९३८), और 'दि इंग्लिश टीचर' (१९४५)। दक्षिण भारत के शिष्ट समाज की विचित्रताओं का वर्णन करने में वे बहुत सफल हैं। नारायण का विशेष लक्ष्य अंग्रेज़ियत से भरा भारतीय है, उनके उपन्यासों और कहानियों में उसका वर्णन उसके खंडित व्यक्तित्व आत्मवचना और मूर्खता आदि के साथ किया जाता है। राजा राव के 'कंठपुर' की तरह ही नारायण का नया उपन्यास 'वेटिंग फ़ार दि महात्मा', इस बात का अध्ययन है कि गांधीवादी क्रान्ति की भारतीय जनसाधारण पर कैसी प्रतिक्रिया हुई। ये राजनैतिक प्रचार की पुस्तकें नहीं हैं, बल्कि गद्य की कला-कृतियाँ हैं।

इस युग के नये उपन्यासकारों में विशेष उल्लेखनीय हैं—हुमायुन कबिर ('मेन ऐंड रिवर्स' १९४५), डी० एफ़० कराका ('देअर लें दि सिटी', १९४१), कुमार गुरु ('लाइफ्ज़ शैडो', १९३८), अहमद अली ('ट्वाइलाइट इन देहली', १९४०), ए० एस० पी० अय्यर ('बालादित्य', १९३० और के नागराजन ('अथावर हाउस')।

कवियों का पुन: विचार करें: प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के बीच जो २० वर्ष बीते, उनमें इंडो-ऐंग्लियन कवियों ने बहुत-सी रचनाएँ लिखीं। हरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने आध्यात्मिक विचारों और भावनाओं की रंग-बिरंगी विचित्रताओं से भरी कई चमकीली चीज़ें लिखीं। कई प्रोफ़ेसरों ने लिखा—पी० शेषाद्रि, जी० के० चेट्टूर, बी० एन० भूषण, हुमायुन कबिर, उमा महेश्वर, एन० बी० थढानी—ये अधिकतर परम्परा का निर्वाह करते रहे और सिद्ध करते रहे कि इंडो-ऐंग्लियन कविता की उपयोगिता और विविधता कितनी है। गोआ के कवि थे—जोसेफ़ फुर्टैडो, आरमेंडो मेनेज़ेस, मैनुएल सी० रोड्रीग्यस—इन्होंने निर्वासितों की कविता को नई गहराई दी। एस० आर० डोंगरकेरी ने रूढ़ि की वीणा को चतुरता से बजाया और हमें 'दि आइवरी टावर' नामक पुस्तक दी; और फ्रेदून काबराजी के 'ए माइनर जार्जियन्स स्वान सांग' में कई सुन्दर और ओजस्वी अंश हैं।

१. 'दी गाइड' नामक उपन्यास पर इन्हें १९६० का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

विद्रोही और नये कवि भी प्रचुर मात्रा में आगे आये। शाहिद सुहरावर्दी के 'एसेज इन वर्स' (१९३७) में ४० कविताएँ प्रखर विप्लवकारिणी करुणा से भरी हैं; इनमें हमारी पतनोन्मुख सभ्यता का बढ़ता हुआ बुखार और अनिश्चित हृदय-स्पन्दन चित्रित हैं। यद्यपि मंजरी एस० ईश्वरन् और पी० आर० कैंकिणी ने तीसरे दशक के आरम्भ में अपना काव्य-कृतित्व शुरू में आदर्शवादी और रूढ़िवादी के नाते आरम्भ किया, परन्तु व्यक्तिगत और बाह्य सघर्षों के कारण वे अधिकाधिक वाम पक्ष की ओर झुकते गए। ईश्वरन् के 'केटगट्स' और 'ब्रीफ़ औरिसान्स (१९४१) तीव्र अतिवाद के उदाहरण हैं। स्वप्न-भंग के कारण उनकी कविता में भयानक तेज़ी पैदा हुई है, फिर भी कभी-कभी उनमें मधुर गीतमयता पाई जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ कैंकणी, जिनकी पहली दो किताबें 'गीतांजलि' के ढंग की थीं, अब रक्त और युद्ध की कविता लिखने लगे। अन्य 'आधुनिकतावादियों' में उल्लेखनीय हैं: बी० राजन ('मान-सून', १९४५), कृष्ण शुंगल् ('द नाइट इज हेवी' १९४३), निस्सिम इज़ेकील ('ए टाइम टु चेंज' और 'सिक्स्टी पोएम्स'), शुभो टैगोर, सुधीन्द्रनाथ दत्त, सीरिल मोडक, नीलिमा देवी, जे० विजयतुंग, पी० लाल, ए० के० रामनुजन, तथा आर० एल० बार्थोलोम्यू। आदि के ७ सेट नामक एक रोचक कवि ने सच्ची भावना और भव्यता के साथ मुक्त छन्द में कविता लिखी है ('द लाइट एबव द क्लाउड्स), और सन्त गुरदयाल मल्लिक ने अपने जीवन के ६२वें वर्ष में परम-तत्त्व की परमानुभूति का संस्पर्श पाकर अपनी कविता ('हाउंड आफ़ द हार्ट') में अपनी आत्मा की अनथक खोज का दैनन्दिन विवरण दिया और प्रभु के प्रति परम भक्ति-भावना के साथ उनकी महिमा का गुण-गान किया।

कविता के अतिरिक्त अन्य साहित्य-रूपों में भी इंडो-ऐंग्लियनों ने रचना की। नाटककार तो थोड़े ही हुए, क्योंकि उनके नाटकों के रंगमंच पर खेले जाने की संभावना बहुत कम थी; लेकिन जिन लेखकों ने यह सिद्ध किया कि भारतीयों द्वारा अंग्रेज़ी में नाट्य-रचना भी संभव है, उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं: बी० वी० श्रीनिवास आयंगर ('ड्रामेटिक डाइवर्टाइज़मेंट्स'), ए० एस० पी० ऐयर ('सीताज़ च्वायस' और 'स्लेव आफ़ आइडियाज़'), फ़ैज़ी रहमीन ('डाटर आफ़ इंड'), भारतीय साराभाई ('द वेल आफ़ द पीपुल' और 'टू वीमेन'), मृणालिनी साराभाई ('कैप्टिव स्वायल'), जे० एम० लोबो-प्रभु ('एप्स इन द

पार्लर' और 'द फ़ेमिली केज'), पुरुषोत्तम त्रीकमदास ('सॉस फ़ार द गूज़'), टी० पी० कैलाशम ('कर्ण', 'फ़ुलफ़िलमेंट' और 'द वर्डेन'), तथा हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ('फ़ाइव प्लेज़')। हास्यात्मक निबन्ध, हल्के-फुल्के रेखाचित्र, जान्सन के 'मन के मुक्त विहार' के-से और मॉन्तेन् के 'मुखरित चिन्तन' के-से निबन्ध भी हाल में भारतीयों द्वारा अंग्रेज़ी में लिखे गए हैं। इनमें से श्रेष्ठतम हैं: एस० वी० वी० के 'सोप बबुल्स', 'मोर सोप बबुल्स' और 'चैफ़ एण्ड ग्रेन'; आर० बंगरुस्वामी का 'माई लार्ड कुकुड़ूँ कूँ'; ईश्वर दत्त का 'ऐंड आल दैट'; एन० जी० जोग का 'ओनियन्स ऐंड ओपीनियन्स'; आर० के नारायण, चेलापति राव, शान्ता रंगाचारी और एम० कृष्णन के छोटे स्फुट निबन्ध; और वाक (खासा सुब्बाराव) का कालम 'साइडलाइट्स'; पोटन जोसेफ़ का कालम 'ओवर ए कप आफ़ टी' और विदनेश्वर (एन० रघुनाथ ऐयर) का कालम 'सोटो बोस'। समर्थ साहित्यालोचन भी हुआ, यथा: एन० के० सिद्धान्त ('द हीरोइक एज आफ़ इंडिया'), अमरनाथ झा, अमिय चक्रवर्ती, सी० नारायण मेनन (शेक्सपीयर पर आलोचना) हुमायुन कबिर ('पोएट्री, मोनाड्स ऐंड सोसायटी'), बी० के० गोकाक ('द पोएटिक एप्रोच टु लैंग्वेज'), एम० एम० भट्टाचार्जी, एस० सी० सेन गुप्त (शेक्सपीयरियन कामेडी), सी० डी० नरसिंहय्या और के० स्वामीनाथन के द्वारा। श्री अरविन्दो द्वारा लिखित साहित्यिक आलोचना ('द फ़्यूचर पोएट्री') और आनन्द कुमारस्वामी की कला-समीक्षा ('हिस्ट्री आफ़ इंडियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट', 'द डांस आफ़ शिव', और 'ऐन इंट्रोडक्शन टु इंडियन आर्ट') एक अन्य ही श्रेणी में आती हैं। सर होमी मोदी ('फ़ीरोज़ शाह महेता'), सर रुस्तम मसानी ('दादाभाई नौरोजी', १९३९), वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री ('माई मास्टर गोखले', १९४६), पी० सी० रे ('लाइफ़ ऐंड टाइम्स आफ़ सी० आर० दास'), जदुनाथ सरकार ('शिवाजी'), डी० वी० ताम्हणकर ('लोकमान्य टिलक: फ़ादर आफ़ इण्डियन अनरेस्ट ऐंड मेकर आफ़ माडर्न इण्डिया'), रामगोपाल ('लोकमान्य तिलक') फ्रैंक मोरेस ('जवाहरलाल नेहरू'), और आर० आर० दिवाकर ('महायोगी') ने अच्छे जीवन-चरित्र लिखे हैं। आत्मकथा-लेखकों में महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू का प्रमुख स्थान है। नीरद सी० चौधरी की पुस्तक 'आटोबायोग्राफ़ी आफ़ ऐन अननोन इण्डियन' भी बहुपठित और बहुचर्चित रही है। इस पुस्तक की अपनी सीमाएँ हैं—यह बोझीली, उदास और ग़मग़ीन है,

लेकिन इसमें पांडित्य की गरिमा और साहसपूर्ण ईमानदारी का श्रेष्ठ गुण भी है। जिन अन्य भारतीय लेखकों ने इस कठिन, किन्तु बाह्यतः सरल विधा में अपने-अपने ढंग से दक्षता प्राप्त की है, उनमें से कुछ हैं : कृष्णा हठीसिंह ('विथ नो रीग्रेट्स'), भारतन कुमारप्पा ('माई स्टडेंट डेज़ इन अमेरिका'), राजेन्द्र प्रसाद, चिमनलाल सीतलवाड ('रीकलेक्शंस ऐंड रीफ़्लेक्शंस'), के० ईश्वरदत्त ('द स्ट्रीट आफ़ इंक'), के० एम० मुंशी ('आई फ़ालो द महात्मा' और 'द एण्ड आफ़ ऐन एरा'), परमहंस योगानन्द, कृष्णलाल श्रीधराणी ('माई इण्डिया, माई अमेरिका'), पी० ई० दस्तूर ('अमेरिकन डेज़'), उन्नी नायर ('माई मदर'), और स्वर्गीय एम० एन० राय। इतिहास और दर्शन के क्षेत्रों में एम० जी० रानडे, आर० सी० दत्त, तिलक, जदुनाथ सरकार, बृजेन्द्रनाथ सील, पी० टी० श्रीनिवास आयंगर, बैरिस्टर सावरकर, आर० सी० मजूमदार, एम० एन० राय, आर० डी० रानडे, एस० राधाकृष्णन् और पी० एन० श्रीनिवासचारी जैसे वयोवृद्ध लेखकों तथा पी० टी० राजु, एस० गोपाल और एम० एन० श्रीनिवास जैसे तरुण लेखकों ने कार्य किया है। पत्रकार, न्यायाधीश, वक्ता, राजनीति एवं अर्थशास्त्र के लेखक अगणित हैं; और इनमें से जो श्रेष्ठ हैं, यथा : फ़्रैंक मोरेस और चेलापति राव जैसे पत्रकार, आशुतोष मुकर्जी और सुब्रह्मण्य अय्यर जैसे न्यायाधीश, श्रीनिवास शास्त्री और सी० आर० रेड्डी जैसे वक्ता, एम० रूथनास्वामी और के० एम० पणिक्कर जैसे प्रचारक, सी० राजगोपालाचार्य जैसे तर्कशास्त्री और डा० लक्ष्मण-स्वामी मुदालियार जैसे शिक्षाशास्त्री—वे अपने-अपने क्षेत्र में सर्वोत्तम अंग्रेज़ अथवा अमरीकी गद्य-शैलीकारों की तुलना में किसी भी प्रकार कम सिद्ध न होंगे।

उपर्युक्त गद्य-लेखकों में तीन या चार अलग से दिखाई देते हैं, क्योंकि उनका व्यक्तित्व विशिष्ट और सप्राण है। उनके विचारों की कोटि भिन्न है, और उनकी शैली विलक्षण औचित्यपूर्ण है। गांधीजी की आत्मकथा, 'दि स्टोरी आफ़ माई एक्सपेरीमेंट्स विथ ट्रुथ' वस्तुतः महादेव देसाई का अंग्रेज़ी में किया हुआ अनुवाद है। इस शिष्य ने अपने गुरु की शैली का इस तरह अनुकरण किया है कि वह अभूतपूर्व है। गांधीजी ने जो कुछ लिखा, उसपर और विशेषतः इस पुस्तक के हर पृष्ठ पर गम्भीरता और सौन्दर्यमय शान्ति चमकती है। गांधीजी के गद्य में कहीं भी कोई तीखापन नहीं है और विकृति भी नहीं है : सब कुछ स्पष्टतः

नियोजित है; विचित्र ढंग की सादगी उनके लेखन का प्रधान गुण है, उसकी आत्मनिर्भरता बाइबल की तरह है, उसमें कहीं भी कोई अस्पष्टता या हेर-फेर नहीं है। ताजे पानी की तरह साफ़, स्वच्छ और स्वस्थ उनकी शैली आदर्श, सरल और निर्दोष है।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू की 'आटोबायोग्राफ़ी' और 'डिसकवरी आफ़ इण्डिया' अंग्रेज़ी गद्य के दूसरे महान् लेखक की कृतियाँ हैं। उनका अंग्रेज़ी साहित्य का अध्ययन बहुत व्यापक और गहरा है। यूरोप के साहित्य और विचारों के प्रवाहों से वे सुपरिचित हैं, भारत की या एशिया की परम्पराओं में जो कुछ भी सप्राण है, उससे वे प्रेरणा लेते हैं। नेहरू का अंग्रेज़ी-लेखन स्वाभाविकता, सहजता, सूक्ष्म संवेदनशीलता और तटस्थ संकेतमयता से भरा है। उनके लेखन के बारे में यह कहा जा सकता है कि "शैली ही व्यक्तित्व है।" चाहे वे बोलें या लिखें, उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व—उनकी संस्कृति, शक्ति, मानवता—आईने की तरह साफ़ झलकती है, और ऐसे व्यक्तियों के प्रति सहज प्रशंसा और प्रेम के भावों का उदय होता है।

प्रोफ़ेसर राधाकृष्णन् गद्य के दूसरे अधिकारी लेखक हैं। उनकी श्रेष्ठ कृति 'हिस्ट्री आफ़ इण्डियन फ़िलासफ़ी' दो खण्डों में है। अंग्रेज़ी में भारतीय दार्शनिक लेखन का आदर्श उन्होंने स्थापित किया है। अपने स्पष्टीकरण में आकर्षक, विभिन्न दार्शनिक शाखाओं को स्पष्ट करने में विवेकयुक्त, तर्कमय आग्रही प्रो० राधाकृष्णन् ने भारतीय दर्शन को एक सजीव और सप्राण परम्परा का गुण प्रदान किया। उनकी बाद की कृतियाँ—विशेषतः 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू आफ़ लाइफ़'—उनके रचनात्मक दर्शन को स्पष्ट व्यक्त करती है। उनकी गद्य-शैली हर मानी में समुचित, रंगीन, समृद्ध, वक्रतापूर्ण, पश्चिम और पूर्व के साहित्यों से चुने हुए उद्धरणों से भरी हुई—ऐसी है कि वह बड़ा प्रभाव डालती है। भाषण देने में जैसे अजस्र, उसी प्रकार से लेखन में प्रोफ़ेसर राधाकृष्णन् कुशल हैं, उनमें एक पण्डित, द्रष्टा और व्यावहारिक मनुष्य का बड़ा अद्भुत संगम हुआ है, और इसी कारण उनकी अंग्रेज़ी गद्य-शैली को भी भक्ति और सौन्दर्य प्राप्त हुआ है।

एक और लेखक का उल्लेख करना चाहिए। श्री सी० राजगोपालाचारी को अधिकतर बड़े अच्छे तर्क-शास्त्री के नाते जाना जाता है, पर यह उनके व्यक्तित्व का पूरा वर्णन नहीं। निस्सन्देह उन्होंने अपनी अभिव्यंजना में बड़ा संयम प्राप्त

किया है। परन्तु उनके व्यक्तित्व के भी भावनाशील और आध्यात्मिक पहलू हैं, जो कि उनके लेखन में प्रतिबिम्बित हैं। राजाजी का गद्य गांधीजी की भांति बाह्यत: वर्णहीन नहीं है, और न उतना समृद्ध, प्रेरणादायक एवं जीवन के प्रकाश से आलोकित है, जितना कि नेहरू का। वाक्यों का प्रवाह सन्तुलित है, लगता है कि एक प्रमेय गणित के बाद दूसरा प्रमेय गणित आता जाता है और पूरा भाष्य इस प्रकार प्रभावशाली बनता जाता है। फिर भी शान्त सतह के नीचे गहरे संकेतों के प्रवाह छिपे रहते हैं। महाभारत और रामायण के उनके नये रूपान्तर आधुनिक बौद्धिक परिभाषा देने के साथ ही व्यास और वाल्मीकि का सार प्रस्तुत करते हैं।

स्वतन्त्रता के बाद

१९४५ में दूसरा महायुद्ध समाप्त हुआ, परन्तु भारतवासी विजय का आनन्द नहीं मना सके, क्योंकि वातावरण में निराशा व्याप्त थी। गांधी-ज़िन्ना वार्ता असफल हो गई थी, आज़ाद हिन्द फ़ौज के नेताओं पर चलने वाले मुक़दमे और भूलाभाई देसाई की शानदार वकालत ने उस समय भारत की स्थिति को और भी उलझा दिया था। २ सितम्बर, १९४६ को (जापान के पतन के ठीक एक वर्ष बाद) अन्तरिम सरकार की स्थापना हुई, जो कि हमारे इतिहास में महान् दिवस था, परन्तु आनन्द के साथ दुःख भी मिला हुआ था, क्योंकि मुस्लिम लीग रूठकर अलग हो गई थी। कलकत्ता, नोआखाली, बिहार और पंजाब में साम्प्रदायिक दंगे उठ खड़े हुए और इतिहास के पाठ को, सामान्य समझदारी या विवेक को, महात्मा गांधी की अन्तर्दृष्टि और चेतावनियों को ठुकराकर कांग्रेस के नेताओं ने देश के विभाजन को क़बूल कर लिया। जो दुःखद घटनाएँ चारों ओर बढ़ रही थीं, उनके कारण मानो गहरी निराशा से यह निर्णय लिया गया। १५ अगस्त, १९४७ को स्वतन्त्र भारत और पाकिस्तान का जन्म हुआ।

आज़ादी आ गई थी, मगर यह ठीक से वह आज़ादी नहीं थी, जिसका कि सपना बीते काल के लेखकों ने देखा था या जिसके बारे में उन्होंने गीत रचे थे या जिसकी देशभक्तों की पीढ़ियों ने कल्पना की थी और जिसके लिए उद्यम किया था। यह एक तरह की लांछित स्वतन्त्रता थी तथा अत्यन्त भयानक साम्प्रदायिक दंगों और अविश्वसनीय वहशियत तथा बर्बरता की घड़ी में जन्मी हुई थी।

करोड़ों लोगों ने सीमाएँ पार कीं, घर टूटे, ज़िन्दगियाँ तहस-नहस हो गई, मानवीय मूल्य पैरों तले रौंदे गए, फिर भी यह एक महान् चमत्कार है कि भारत जीवित रहा। ३० जनवरी, १९४८ को जो अमानवीय शोकपूर्ण घटना घटित हुई उसमें से भी, दैवी चमत्कार कहें कि, भारत जीवित रहा। भारतीय साहित्य १९४६-४८ के इन आघातों से पूरी तरह मुक्त नहीं हुआ है: क़त्ल किये हुए निरीह लोग, महात्माजी की शहादत और इन घटनाओं के बाद अपमान, दुःख, घोर निराशा आदि आते गए; और जो लेखक इन सबमें से जीवित रहे, उन्हें इस सारे अनुभव को कला के माध्यम से व्यक्त करना अत्यन्त कठिन जान पड़ता है।

महीने बीतते गए, वर्षों पर वर्ष उसी एकरस नियमितता से बीतते गए, मन्त्रिमण्डल बदले, नई राजनैतिक पार्टियाँ आईं, कण्ट्रोल और डिकण्ट्रोल आँख-मिचौनी खेलते रहे, देश योजनाओं के साथ खेलता रहा। रचनात्मक लेखक को यह लगा कि हल्के-गहरे व्यंग्य, परिहास, सुखान्त नाटक, प्रहसन, खंडन, मेलो-ड्रामा आदि के लिए तो पर्याप्त सामग्री उसके पास है, परन्तु सम्पूर्ति के महा-काव्य, अथवा प्रशंसा के भाव-गीतों के लिए सामग्री कहां है? सब ओर एक तरफ़ से, प्रयत्नों में पीलापन, मृत्यु का निरंतर ह्रास दिखाई दे रहा है; देश के लोगों में एक नई तरह का स्वार्थ-पोषण और अपना ही महत्त्व बढ़ाना बढ़ रहा है, जिसका कि शंखनाद है, 'चलो दिल्ली'। आत्म-वंचना ने विस्तृत राष्ट्रीय रूप ग्रहण कर लिया है। यद्यपि पंडित नेहरू देश और विदेश के आदर और प्रशंसा के उचित पात्र हैं, फिर भी अवसरवाद और साहसिकता की शक्तियों के सामने वे भी मानो शक्तिहीन हो गए हैं। ये अवसरवादी और अतिसाहसिक शक्तियां स्वतन्त्रता के साथ मानो खुलकर खेल रही हैं। विश्वविद्यालय, जो कि देश को उचित मार्ग-दर्शन कराते, मानो सबसे बुरे अपराधी बन गए हैं; इनके ऊपर ऐसे छोटे दिलों के लोग हावी हो गए हैं जिनकी दृष्टि में स्वतंत्र चिन्तन या रचनात्मक मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं है।

दूसरी ओर पंचवर्षीय योजनाओं की प्रगति के साथ-साथ ऐसे भी प्रयत्न हो रहे हैं कि जनता की रचनात्मक शक्तियों को एक दिशा में प्रवाहित किया जाय। साहित्य अकादेमी कुछ ही वर्ष पूर्व स्थापित हुई, वह निर्भयतापूर्वक "जनता की अभिरुचि को शिक्षित करने और साहित्य-साधना बढ़ाने का प्रयत्न कर रही है।" 'बुक-ट्रस्ट' स्थापित हो गए हैं, पत्रकारिता को नई स्वतन्त्रता और ज़िम्मे-

दारी मिल रही है। यह सब होने पर भी न अकादेमियाँ, न ट्रस्ट, न चार्टर, कोई भी उत्तम साहित्य के निर्माण का आश्वासन नहीं दे सकता। सच्ची साहित्यिक कृति तो ऐसी होती है, मानो एक व्यक्ति अनेक व्यक्तियों से बोल रहा हो। वह भाव-स्पन्दनों का विनिमय है, हमारे विजड़ित व्यक्तित्वों का पिघलना है, जिससे कि एक आत्मा दूसरी आत्मा से सम्बन्ध स्थापित कर सके और विविध मन साथ-साथ बह सकें। साहित्य के गुण अन्ततः व्यक्तिगत लेखक के गुणों पर निर्भर करते हैं। जितने अधिक व्यक्तियों में (जैसा कि प्रोफ़ेसर राधाकृष्णन् ने कहा था) "अपने मन में अकेले होने का साहस होगा", जितने अधिक लेखक राजनीति, राजाश्रय या प्रचार के दबाव से, या कोरे नवीनता के आकर्षण से या निरी रूप-शिल्प की कसरत आदि से बच सकेंगे, और उनका मुक़ाबला करने की ताक़त अपने में विकसित कर सकेंगे, उतनी ही मात्रा में वे अपने अमृतपूर्ण स्वप्नों को चिरन्तन कला में व्यंजित करने में सफल हो सकेंगे।

स्वतन्त्रता के युग की एक महान् घटना श्री अरविन्द की 'सावित्री : ए लीजेंड ऐंड ए सिंबाल' का १९५०-५१ में प्रकाशन है। गत शताब्दी के अन्तिम चरण में आरम्भ होकर, 'उर्वशी' और 'लव ऐंड डेथ' की तरह 'सावित्री' भी पचास वर्षों में लिखी गई। उसमें अनेक बार संशोधन हुए, कभी काम रुक गया, कभी फिर से शुरू हुआ, नई-नई प्रेरणाओं की अग्नि ने उसमें विलक्षण चमत्कार उत्पन्न किया। अपने अन्तिम रूप में यह मुक्त छन्द का महाकाव्य तीन खण्डों में है, जिसके कि १२ अध्याय या ४८ सर्ग हैं। कुल मिलाकर २४,००० पंक्तियाँ इस महाकाव्य में हैं। महाभारत की सावित्री-सत्यवान की कथा इसका आधार है। मगर श्री अरविन्द ने उसे एक एक रहस्यवादी रंग और उदात्तता प्रदान की है, और कदाचित् भावी साहित्यिक इतिहासकार 'पैरेडाइज़ लॉस्ट' के बाद इसे अंग्रेज़ी का सबसे बड़ा महाकाव्य कहेंगे। 'दि फ्यूचर पोयट्री' नामक उत्तम आलोचनात्मक गद्य में श्री अरविन्द ने क़रीब ४० वर्ष पूर्व भावी कविता के विस्तृत क्षेत्र पर विचार किया था। यदि कविता का आदर्श आत्मा से आत्मा की बातचीत है तो मँझली बाधाएँ जितनी ही कम होती जायँगी, कविता का परिप्रेषण उतना ही उत्तम होगा। इसके पहले कि बुद्धि कल्पना-चित्रों को विश्लेषित करे, वाक्यों की शव-परीक्षा करे, या व्याकरण का व्यायाम शुरू करे, काव्योद्गार पहले ही क्षण में इस प्रकार से अभिव्यंजना कर चुका होता है जैसे कि कोई स्वर

कानों को छू दे, प्रकाश किसी वस्तु को व्याप्त कर ले या कि मंत्र आत्मा में पैठ जायँ। कविता के शब्द विचारों के परिवर्ती शार्टहैंड नहीं होते, बल्कि वे रचनात्मक जीवन की चिनगारियाँ होते हैं। अग्नि-परीक्षा द्वारा अलौकिक काव्यमय शब्दों को पुनः-पुनः गढ़ना नई कविता के लिए चुनौती के समान है। सावित्री की रचना के पीछे यह महान् उद्देश्य था—दिव्य जीवन (लाइफ़ डिवाइन) को 'पृथ्वी पर अवतरित करने की बात को कविता के माध्यम से मुखर करना। इस कविता में ज्ञान का निर्मल संयमित प्रकाश, ऊर्जा का व्यापक भाण्डार और रचनात्मक जीवन की महान् लय छिपी हुई है। इस कारण इस कविता को सचमुच 'पृथ्वी की ज्योति और फिर भी देवताओं का स्वर्गीय दूत' कहा जा सकता है।

श्री अरविन्द के अतिरिक्त उनकी प्रेरणा से जो और लेखक आये, उन्होंने भी नई आध्यात्मिक कविता की धारा को बढ़ाया। के० डी० सेटना के 'दि ऐडवेंचर ऑफ़ दि एपोकेलिप्स' (१७४९), उनकी पहली पुस्तक दि सिक्रेट स्प्लेंडर' के समान ही उनकी अलौकिक आध्यात्मिक सत्य की अनुभूति का स्पष्ट वर्णन है। दिलीप कुमार राय की 'आइज़ आफ़ लाइट' (१९४८) में एक लम्बी दार्शनिक कविता मिलती है जो कि भागवत की प्रह्लाद की कहानी पर आश्रित है। उनके कई गीत 'योग' की प्रेरणा से लिखे गए हैं, जिनमें निरन्तर चमत्कार का रूप अभिव्यंजित है। नीरद बरन के 'सब-ब्लासम्स' (१९४७) में 'भावी कविता के विकास के धीमे-धीमे खुलने वाले मार्ग के सुनिश्चित सोपान' का वर्णन किया गया है। नलिनी कांत गुप्त ('टु दि हाइट्स'), निशिकांतो ('ड्रीम केडेंसेज़') पुञ्जलाल ('रोज़ेरी' और 'लोटस पेटल्स'), पृथ्वीन्द्र ('रोमेन और तेहमी) इत्यादि और कुछ कवि हैं, जिनकी मूल प्रेरणा श्री अरविन्द हैं। रहस्यवादी कविता, जैसा कि ऊपर वर्णित है, किसी भी प्रकार पलायनवादी नहीं है। सच्चा रहस्यवाद, वस्तुतः किन्हीं भी ऐसे युग-दोषों के लिए उत्तम सुधार का काम करता है, जिनके मूल्य और स्तर बाह्यतः खो गये हों। फिर से ज़मीन की ओर लौटना—सब चीज़ों के मूल्य और बीज की ओर लौटना—पुनर्नवीकरण का उत्तम मार्ग है। अरविन्दवादी कविता की धारा का मुख्य उद्देश्य, मंत्र के रूप में, आज के अस्पष्ट निराश वर्तमान में से ही 'नवीन मानव' और 'नवीन विश्व' के स्वप्न का निर्माण प्रस्तुत करना है।

कथा-साहित्य में भी एक आध्यात्मिक रुझान के दर्शन होते हैं जैसाकि दिलीपकुमार राय के एक असामान्य उपन्यास 'दि अपवर्ड स्पाइरल' में देखा जा सकता है। यह उपन्यास आकांक्षा और उपलब्धि की प्रक्रियाओं पर एक कल्पनाशील निबन्ध है। और यद्यपि विचार-विमर्श गूढ़ हो गया है, फिर भी अन्तर्निहित यौगिक लक्ष्य भली भाँति सिद्ध हो सका है। दूसरी ओर राजनीतिक स्वाधीनता, नवीन राष्ट्रीय चेतना, पिछली दशाब्दी में प्रादेशिक भाषाओं की प्रगति आदि तथ्यों के कारण अंग्रेज़ी में भारतीय लेखन की मात्रा अथवा गुण में कोई विशेष कमी नहीं हुई है। कदाचित् किन्हीं क्षेत्रों में अंग्रेज़ी का प्रचलन कुछ बढ़ा ही है! स्वाधीनता, विभाजन एवं योजना ने हमारे युग में यत्नशीलता की एक विशेष हलचल पैदा की है। हमारा यह युग अपनी उत्तेजनाओं, उत्कंठाओं और उपलब्धियों तथा असफलताओं, निराशाओं और तिरस्कृतियों के साथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गया है। रचनात्मक लेखक और विशेषकर उपन्यासकार के लिए यह निश्चय ही एक प्रकार का आमंत्रण है—साथ ही एक चुनौती और एक स्वर्णिम अवसर भी है। धूप में जिस तरह अकस्मात् फुहार पड़े और कोई उसे पकड़ने का यत्न करे, कुछ-कुछ वैसा ही है—अतीत की दीर्घ सुषुप्तावस्था से उठे हुए हमारे राष्ट्र के बहुरंगी स्वरूप को लेखनीबद्ध करने का प्रयत्न। हमारी उपलब्धियों के महाकाव्य कौन रचेगा, हमारे श्रम-उद्योग के गान कौन गुँजाएगा, हमारी आत्मवंचना के व्यंग्य और असफलताओं के करुण शोक गीतों को कौन मुखरित करेगा?

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में और चौथे दशक के प्रारम्भ में जिन कथाकारों को ख्याति मिली, उनमें से कुछ—जैसे कि आनंद और नारायण ने अपनी रचनात्मकता और लोकप्रियता को अक्षुण्ण बनाए रखा, और भवानी भट्टाचार्य, कमला मार्कण्डेय, खुशवन्तसिंह, शान्तारामाराव, सुधीन घोष तथा अन्य नवागन्तुकों ने समकालीन साहित्यिक क्षेत्र में अतिशय उत्साह और आशा का वातावरण निर्मित किया है। इसमें सन्देह नहीं कि स्वाधीनता-संग्राम के कारण इन अपेक्षाकृत नये लेखकों के कथा-प्रयोगों को प्रमुखता मिली, विशेषकर वेणु चिताले का 'इन ट्रांज़िट' (१९५१), ख्वाजा अहमद अब्बास का 'इंक़िलाब', भवानी भट्टाचार्य का 'सो मेनी हंगर्स' (१९४८) कमला मार्कण्डेय का 'समइनर फ्यूरी' और खुशवन्तसिंह का 'ट्रेन टु पाकिस्तान' उल्लेखनीय हैं। लैम्बर्ट मैसकै-

रेनहस के उपन्यास 'सारोइंग लाइज़ माई लैंड' में पुर्तगाली शासन के दमन-चक्र से गोवा के मुक्ति-संघर्ष की कथा है। अन्य समसामयिक उपन्यासों में ग्राम-जीवन, नागरिक-जीवन की नफ़ासत, साधन-संपन्नों और साधनहीनों के बीच संघर्ष, पश्चिम और पूर्व के बीच बाह्यतः दिखाई देने वाली खाई तथा परम्परा और विद्रोह की परस्पर विरोधी शक्तियों के संघर्ष का दिग्दर्शन कराया गया है। कुछ अन्य उपन्यासों में काल्पनिकता का भी सफल प्रयोग हुआ है जैसे कि पुरुषोत्तम त्रीकमदास ने एक रोचक कथावस्तु का निर्माण इस कल्पना के आधार पर किया है कि एक व्यक्ति का सिर दूसरे के शरीर में लगा दिया जाता है और कथा में उन मनोवैज्ञानिक संभावनाओं का उद्घाटन किया है जो कि इस स्थिति के फल-स्वरूप उत्पन्न हो सकती थीं। अस्तु, उनकी 'द लिविंग मास्क' एक रोचक और रहस्यपूर्ण रचना बन गई है। सुधीन घोष के 'द वरमीलियन वोट, ऐंड गैज़ेल्स लीपिंग' तथा 'द फ़्लेम आफ़ द फ़ारेस्ट' में एक प्रकार की प्राच्य-विलक्षणता है, जो कि विषय-वस्तु की सूक्ष्मता और तत्त्व की तरलता के बावजूद रुचिकर और सन्तोषप्रद ज्ञात होती है। इसके अतिरिक्त जे० बी० देसाणी का उपन्यास 'आल एबाउट मिस्टर हैटर' भी है, जो स्पष्टतः जेम्स ज्वायस से प्रभावित जान पड़ता है।

डा० भवानी भट्टाचार्य[1] के तीन उपन्यासों 'सो मेनी हंगर्स', 'म्यूज़िक फ़ार मोहिनी' और 'ही हू राइड्स ए टाइगर' (१९५४) ने उन्हें एक रचनात्मक कथाकार के नाते सुप्रतिष्ठित कर दिया है। 'सो मेनी हंगर्स' में युद्धकालीन बंगाल का निर्मम, यथार्थवादी चित्रण है, और यह उपन्यास विश्व-भर में लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। 'म्यूज़िक फ़ार मोहिनी' में मोहिनी नामक एक ब्राह्मण युवती की संवेदन-शील कथा है; वह अपने विद्वान पति जयदेव के साथ अपना विवाहित जीवन सफल बनाने की चेष्टा करती है। 'ही हू राइड्स ए टाइगर' की पृष्ठभूमि भी दुर्भिक्षग्रस्त बंगाल ही है लेकिन उसका स्वर किंचित् हल्का-फुल्का है और समाज के प्रति कालो के व्यावहारिक मजाक विशुद्ध आनन्ददायक हैं। कलकत्ता में जीवन की गति, नागरिक व्याधियाँ और नफ़ासत-नज़ाकत, सामूहिक आंदोलनों और आवेगों का दबाव—इन सभी चीज़ों ने मिलकर उक्त उपन्यास को एक विशेष गुण से युक्त कर दिया है। उपन्यासकार के रूप में श्री भट्टाचार्य में अनेक विशेष-

१. इन्हें अपने उपन्यास 'शैडो फ़ाम लद्दाख' पर १९६७ का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

ताएँ लक्षित होती हैं, यथा : व्यंग्यात्मक परिहास, सामाजिक चेतना, चरित्रों की ध्वनियों का बोध, और इस सबसे अधिक दुःख और यातना के सभी स्वरूपों के प्रति अप्रतिहत करुणा।

कमला मार्कण्डेय के 'नेकटार इन ए सीव' और 'सम इनर फ़्यूरी' (१६५६) को पढ़कर स्वर्गीय के० एस० वैंकटरमणी के क्रमशः 'मुरुगन द टिलर' और 'कंदन द पैट्रियाट' का स्मरण हो आता है। 'नेकटार इन ए सीव' ग्रामीण लोगों की कथा है, अर्थात् उन लोगों की करुण कथा, जो कि औद्योगिकता और आधुनिक टेकनालोजी के प्रभाव में पड़कर नितान्त असहाय जीवन विताने को विवश हो गए हैं, लेकिन वर्णनकर्ता-नायिका रुक्मिणी का सशक्त अंकन हुआ है और वह दुःखग्रस्त जननी के रूप में प्रकट हुई है। 'सम इनर फ़्यूरी' का कथानक और भी कठिन है; इसमें अगस्त, १६४२ के 'करो या मरो' आन्दोलन की पृष्ठभूमि में एक अंग्रेज़ के प्रति एक भारतीय युवती का प्रेम दिखाया गया है। 'सम इनर फ़्यूरी' राजनीति-संबंधी एक दुखान्त उपन्यास है, उसी प्रकार जैसे कि पूर्वोक्त उपन्यास भारतीय आर्थिक जीवन का एक दुखान्त चित्र था; लेकिन दोनों के ही प्रमुख चरित्र आर्थिक एवं राजनीतिक दुर्भाग्यों की विभीपिका का डटकर सामना करते हैं और मनुष्य की अजेय वृत्ति को पुनर्स्थापित करते हैं। कमला मार्कण्डेय की प्रतिष्ठा का सुदृढ़ आधार है—उनका विशुद्ध एवं सांकेतिक गद्य।

शान्ता रामाराव का प्रथम उपन्यास 'रेमेम्बर द हाउस' अत्यन्त आशाप्रद है। बाला नामक लड़की का विकास इस उपन्यास में दिखाया गया है और जैसे-जैसे जीवन के नये-नये अवसर उसके सम्मुख आते हैं, उसकी चेतना भी विकसित होती जाती है। लेकिन असफलता और स्वप्न-भंग से भी वह उतना ही लाभ उठाती है जितना कि सफलता और आत्मतुष्टि से। रोमांस उसे आकृष्ट करता है, पर वास्तविकता क़दमों को बांध देती है। नवीनता चित्ताकर्षक ज्ञात होती है, लेकिन परम्परा से छुटकारा पा सकना भी आसान नहीं है। नयनतारा सहगल ने पहले 'प्रिज़न ऐंड चाकलेट केक' (१६५४) नामक एक रोचक आत्मकथात्मक पुस्तक लिखी थी और अभी हाल में ही, उन्होंने स्वाधीनता-पूर्व वर्षों के सम्बन्ध में 'ए टाइम टु बी हैपी' (१६५७) नामक उपन्यास प्रकाशित किया है, इसमें शैवाल-परिवार और सहाय-परिवार दो विशिष्ट वर्गों के समान हैं और एक युग का चित्र होने के साथ-साथ यह उपन्यास एक अच्छी कथा भी है। आनन्दलाल के उपन्यास

'द हाउस आफ़ आदमपुर' में १६४७ से पहले के दिल्ली और सामान्यतः पंजाब के 'अभिजात' जीवन का पर्दाफ़ाश किया गया है। उस समय परस्पर विरोधों के बीच घर के लोग एक में रहते थे, वे भिन्न-भिन्न संसारों में विचरण करते थे और भीषण असन्तोष उनके भीतर घुन की तरह लगकर उन्हें खाए डालता था। दूसरी ओर, एम० वी० राय शर्मा का 'द स्ट्रीम' एक अज्ञात व्यक्ति गोपालम् की कथा है, जो किसी क़दर हार्डी के जूड की भांति दो औरतों के बीच में पड़ जाता है और उनमें से किसी के भी साथ सरलतापूर्वक सन्तोषप्रद सम्बन्ध नहीं स्थिर कर पाता। एस० वाई० कृष्णस्वामी के 'कल्याणीज़ हस्बैंड' (१६४७) में से भी हार्डी के 'द वुडलैंडर्स' के फ़िट्जपायर्स की ध्वनि मिलती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कल्याणी के पति शेखर का चरित्र रोचक है, पर वह वास्तविक नहीं ज्ञात होता। शेखर के चरित्र से हमें माइलापुर के एक अन्य पतनग्रस्त श्रीसंपन्न चरित्र 'केदारी' का स्मरण हो आता है, जिसका कि चित्रण वेंकटरमणी ने अपने 'मुरुगन द टिलर' में किया है; लेकिन न तो माइलापुर की स्थानीय प्रतिभा के उद्घाटन में और न नायक के जटिल अन्तर्विरोधों के प्रकटीकरण में ही कृष्णास्वामी अपने पूर्वगामी उपन्यासकार की भाँति सफल हो सके हैं।

खुशवन्तसिंह का 'ट्रेन टु पाकिस्तान' (१६५६) एक विशिष्ट उपन्यास है—वह उस नारकीयता का भयानक चित्र उपस्थित करता है जो कि भारत के दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन के अवसर पर पंजाब में खुलकर सामने आई थी। देश का दो भागों में मनमाना विभाजन कर दिया जाना एक अशुभ कार्य था और इस अशुभ का परिणाम और भी अशुभ हुआ। जातीय भेदभाव का विष एक बार डाल दिए जाने के बाद, यह स्वाभाविक ही था कि उसका असर फैला और अपार जनसमूह उसके कारण नष्ट-भ्रष्ट और विध्वस्त हो गए। अपराध-प्रतिशोध, और भी अधिक अपराध! क्या यह सिलसिला अनन्त था? नहीं, मनुष्य का सहज स्वभाव प्रेम है, घृणा नहीं, और तूफ़ान का ज़ोर ख़त्म होने के बाद, आखिरकार शांति स्थापित होती ही है। जगतसिंह नामक गुंडा एक मुसलमान लड़की नूरन को प्यार करता है और स्वयं सिक्ख होते हुए भी वह अपनी जान की बाज़ी लगाकर उस ट्रेन की रक्षा करता है जिसमें उसकी प्रेमिका सहित कितने ही अन्य मुसलमान शरणार्थी भारत से पाकिस्तान को जा रहे थे। खुशवन्तसिंह एक रूमान-विरोधी कलाकार हैं और असत्य तथा पाखंड को क़तई सहन नहीं कर सकते, ख़ास तौर से उस दशा में जबकि ये

बुद्धिमानी और ईमानदारी के जामे में सामने आते हों। इस विशेषता के दर्शन न केवल उनके 'रक्त और आँसू' वाले इस उपन्यास में बल्कि 'द मार्क आफ़ विष्णु' में भी मिलते हैं जोकि उनकी कहानियों का संग्रह है। ईश्वरन का 'पेन्टेड टाइगर्स' हाल में प्रकाशित एक और उल्लेखनीय कहानी-संग्रह है।

उपन्यासों और कहानियों का प्रकाशन दिनोदिन बढ़ता ही जा रहा है, क्योंकि पत्रिकाओं को इनकी आवश्यकता प्रतीत होती है और पाठक इनके लिए आतुर रहते हैं। इसके अतिरिक्त, अमरीकी और अंग्रेज़ी प्रकाशक भी अंग्रेज़ी भाषा में भारतीयों द्वारा लिखित अच्छे कथा-साहित्य को बढ़ावा देने के प्रति उदासीन नहीं हैं। लेकिन सुलिखित उपन्यास-कहानी तथा ज़बर्दस्ती लिखे गए कल्पनात्मक कथा-साहित्य में अन्तर तो रहता ही है। सच तो यह है कि उपर्युक्त उपन्यास किसी न किसी रूप में उत्तेजक और संतोषदायक भले ही हों, किन्तु उनमें से किसी में भी हमारे स्वाधीनता-संग्राम का अनुपम रचनात्मक संपूर्णता के साथ समावेश नहीं हो सका है। अत: कोई भावी उपन्यासकार ही उस प्रकार की महान गद्य-रचना हमें दे सकेगा, जैसी कि टालस्टाय की 'वार ऐंड पीस' है। बहुत-से लोग लिखेंगे, तभी उनमें से कुछ उभरकर सामने आयँगे। बहरहाल, इंडो-ऐंग्लियन कथा-साहित्य का भविष्य तब तक सुरक्षित है, जब तक कि ऊपर बताए गए उपन्यासकारों और कहानीकारों के सदृश लेखकगण इस माध्यम की ओर आकृष्ट होते रहेंगे। प्राची और प्रतीची का अथवा नवोन्मेष और परम्परा का संघर्ष—अर्थात् वह संघर्ष जो विभिन्न स्तरों पर दिग्दर्शित किया जा सकता है, एक नि:शेष विषय है और निश्चय ही अतीत की भाँति भविष्य में भी कथाकार और नाटककार दूसरी ओर आकृष्ट होते रहेंगे।

यह सर्वेक्षण समाप्त करने से पूर्व, भारत की अंग्रेज़ी पत्र-पत्रिकाओं के विषय में भी दो शब्द कहना समीचीन होगा। हमारे राष्ट्रीय पुनर्जागरण के प्रारम्भिक काल में, 'द हिन्दू' (मद्रास) और 'अमृतबाज़ार पत्रिका' (कलकत्ता) जैसे पत्रों ने क्रमश: स्व-शासन के मसले पर जनमत बनाने और संग्रह करने के कार्य में महत्त्वपूर्ण योग दिया था। यह देखकर संतोष होता है कि आज भी वे विकासोन्मुख राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं। एक ज़माने में, जो अन्य पत्र अत्यन्त प्रतिष्ठित एवं प्रचलित हुए थे, यथा : 'इन्दुप्रकाश' (बम्बई), और 'वंदेमातरम्' (कलकत्ता), वे अब अतीत की वस्तु बन चुके हैं। जिन राष्ट्रीय नेताओं ने अपने-अपने समय में,

अपने विचारों की सार्वजनिक अभिव्यक्ति के लिए पत्र-पत्रिकाओं को माध्यम बनाया, उनमें से प्रमुख हैं : श्री अरविन्द ('बन्देमातरम्' और 'कर्मयोगिन'), लाजपत राय (द पीपुल), सी० आर० दास (फ़ारवर्ड), गांधी जी ('यंग इंडिया और 'हरिजन'), सी० वाई० चिन्तामणि ('द लीडर'), पट्टाभि सीतारमैया (जन्मभूमि'), सुभाष बोस ('फ़ारवर्ड ब्लाक'), एम० एन० राय ('इन्डिपेण्डेण्ट इण्डिया' और 'द मार्क्सियन वे'), लोकमान्य टिलक ('द मराठा'), आचार्य कृपलानी ('विजिल') और के० एम० मुंशी ('द सोशल वेलफ़ेयर')। हमारे अपने समय में, 'द हिन्दू', 'द पत्रिका', 'इण्डियन एक्सप्रेस', 'हिन्दुस्तान टाइम्स', 'बाम्बे क्रानिकल' और 'नेशनल हेराल्ड' ही नहीं, बल्कि पिछले काल के तथाकथित एंग्लो-इंडियन पत्र—'टाइम्स आफ़ इण्डिया', 'स्टेट्समैन', और 'मेल' भी—आश्चर्यजनक रूप से अपने-आपको भारतीय गणराज्य की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप बना सके हैं, और वे सभी पत्र पत्रकारिता का अच्छा स्तर क़ायम रखकर और प्रश्नों पर सामान्यत: प्रगतिशील और अखिल भारतीय अथवा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करके सार्वजनिक सेवाकार्य में संलग्न हैं। सदा से लोकप्रिय एक 'इलस्ट्रेटेड वीकली' को छोड़कर, साप्ताहिक पत्रों में से किसी की भी स्थिति दैनिकों की भाँति सुदृढ़ नहीं है, गोकि एक समय ऐसा भी था, जब 'इण्डियन सोशल रिफ़ार्मर' और 'द सर्वेण्ट आफ़ इण्डिया' जैसे पत्रों की देश में बड़ी प्रतिष्ठा थी। फिर भी, 'म्राई इण्डिया' (बैंगलोर), 'थाट' (दिल्ली), 'स्वराज्य' (मद्रास), और 'रैडिकल ह्यूमैनिस्ट' (कलकत्ता) जैसे कुछ पत्र आज भी हमारे राष्ट्रीय जीवन में उपयोगी कार्य संपन्न कर रहे हैं और, यथावश्यक 'अल्पसंख्यकों' के दृष्टिकोण को स्पष्टता और शक्ति के साथ प्रस्तुत करते हैं। मासिक पत्रिकाएँ भी हैं, जिनकी देन संसार के अन्य भागों में प्रकाशित मासिक पत्रिकाओं जैसी ही है। 'कलकत्ता रिव्यू', 'माडर्न रिव्यू' और 'इण्डियन रिव्यू' दीर्घकाल से उपयोगी कार्य करती आई हैं; 'प्रबुद्ध भारत', 'वेदान्त केसरी' और 'मदर इण्डिया' का स्तर अच्छा बना हुआ है लेकिन उनका रुझान वेदान्त और अध्यात्म की ओर विशेष है। 'द आर्यन पाथ' लगभग ३० वर्षों से सच्ची और उत्तम सेवा करता रहा है। वह शाश्वत मूल्यों और सत्य के प्रचार-कार्य में संलग्न रहा है और अपने समीक्षा-स्तम्भ के द्वारा इस पत्र ने देश में पुष्ट आलोचना-परम्परा निर्मित करने का भी प्रयत्न किया है। त्रैमासिक और पाक्षिक पत्रों का उल्लेख

भी मुझे करना ही चाहिए, जैसे; 'विश्वभारती क्वार्टरली', 'क्वेस्ट' (बम्बई), 'ऐडवेण्ट' (पांडिचेरी) और 'लिटरेरी क्राइटीरियन' (मैसूर)। इनके अतिरिक्त 'विद्वत्तापूर्ण' पत्रिकाएँ भी हैं, जिनका प्रकाशन विश्वविद्यालयों अथवा अन्य विद्वत्-सभाओं द्वारा किया जाता है। ये पत्रिकाएँ भी अपनी ख्याति के अनुरूप स्तर बनाए रखने का यत्न करती हैं।

कविता हो या नाटक, उपन्यास या कहानी, इतिहास या जीवनी, दार्शनिक या राजनीतिक ग्रंथ, वक्तृत्व-कला या पत्रकारिता—अंग्रेज़ी में भारतीयों का लेखन कहीं भी ह्रास अथवा समाप्ति की स्थिति में नहीं दिखाई देता। निस्संदेह इण्डो-ऐंग्लियन साहित्य अपनी निजी दृष्टि और स्वर के साथ, अन्य समसामयिक भारतीय साहित्यों की ही भाँति, विकसित होता रहेगा। वह क्रमशः शक्ति ग्रहण करता जाएगा और हमारे नये राष्ट्र और नवजीवन के—वस्तुतः आधुनिक राष्ट्र और प्रगतिशील जीवन के निर्माण में सहायक होगा। यही नहीं, वह राष्ट्रीय पुनर्जागरण और अन्तर्राष्ट्रीय शांति-सद्भाव के कार्य में भी प्रतिश्रुत होगा।

संदर्भ-ग्रंथ

इण्डियन राइटर्स आफ़ इंग्लिश वर्स—लतिका वसु, १९३३

ऐन ऐन्थालोजी आफ़ इण्डो-ऐंग्लियन वर्स—ए० आर० चिडा, १९३५

इण्डो-ऐंग्लियन लिट्रेचर—के० आर० श्रीनिवास आयंगर, १९४३

लिट्रेचर ऐंड आथरशिप इन इण्डिया—के० आर० श्रीनिवास आयंगर, १९४३

इण्डियन कांट्रीब्यूशन टु इंग्लिश लिट्रेचर—के० आर० श्रीनिवास आयंगर, १९४५

इण्डियन मास्टर्स आफ़ इंग्लिश—संपादक : ई० ई० स्पेट, १९३४

इण्डियन शार्ट स्टोरीज़—संपादक : इक़बाल और मुल्कराज आनन्द, १९४७

कलेक्टेड पोएम्स ऐंड प्लेज़—श्री अरविंदो, १९४२

द महाभारत ऐंड द रामायण—आर० सी० दत्ता; (एवरीमैन्स सीरीज़)

ऐन्शेंट लीजेण्ड्स ऐंड बैलड्स आफ़ हिन्दोस्तान—तोरु दत्त, १८८२

द सेप्टर्ड फ़ल्ट—सरोजिनी नायडू, १९४५
कलेक्टेड पोएम्स ऐंड प्लेज़—रवीन्द्रनाथ टैगोर, १९३७
आटोबायोग्राफी—जवाहरलाल नेहरू, १९३६
डिस्कवरी आफ़ इंडिया—जवाहरलाल नेहरू, १९४६
ईस्टर्न रेलीजन्स ऐंड वेस्टर्न थाट—एस० राधाकृष्णन्, १९३९
कलेक्टेड वर्क्स—स्वामी विवेकानन्द (अद्वैताश्रम संस्करण)

परिशिष्ट १

लेखक-परिचय

१. असमिया—**डॉक्टर बिरिंचिकुमार बरुआ** एम० ए०, पी-एच० डी० (लन्दन); उपनाम—बीना बरुआ, कल्पना बरुआ। जन्म-वर्ष और स्थान—१९१०, नौगांग (असम)। रचनाएँ अंग्रेज़ी में—'अँसमीज़ लिटरेचर' (१९४४); 'ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ़ अँसम (१९५१); 'स्टडीज़ इन अर्ली अँसमीज़ लिटरेचर' (१९५३); तथा असमिया में—'अंकिया नाट' का सम्पादन तथा 'जीबनर बाटत' (१९४५); 'पट-परिवर्तन' (११४८); 'असमिया भाषा अरु संस्कृति' (१९४७) इत्यादि। उपन्यासकार और आलोचक; गुवाहाटी विश्वविद्यालय में यूनिवर्सिटी क्लासेज़ के प्रमुख। साहित्य अकादेमी की असमिया परामर्शदात्री समिति के संयोजक। पता : गुवाहाटी (असम)।

२. उड़िया—**डॉक्टर मायाधर मानसिंह** एम० ए०, पी-एच० डी० (डरहैम); सम्पादक 'ओडिया विश्वकोश', उत्कल विश्वविद्यालय; जन्म-वर्ष और स्थान—१९०५, नन्दला (पुरी)। रचनाएँ, उड़िया में—(काव्य) 'कमलायन', 'धूप', 'हेमशस्य', 'पुजारिणी', 'जेमा', 'साधवझिया', 'कूश'; (गद्य-ग्रंथ) 'शिक्षा', 'शिक्षक ओ शिक्षायतन', 'पश्चिम पथिक', 'साहित्य ओ समाज', 'कवि ओ कविता', 'बुद्ध' और 'अन्वेषण। कवि और आलोचक; 'कालिदास और शेक्सपीयर' के तुलनात्मक अध्ययन पर अंग्रेज़ी में प्रबन्ध। साहित्य अकादेमी की उड़िया परामर्शदात्री समिति के संयोजक। पता : कटक।

३. उर्दू—**डॉक्टर ख़्वाजा अहमद फ़ारुक़ी** एम० ए०, पी-एच० डी० (दिल्ली); दिल्ली-विश्वविद्यालय में उर्दू विभाग के अध्यक्ष। जन्म-वर्ष और

स्थान—१९१७, बछराँव (मुरादाबाद, उत्तर प्रदेश)। रचनाएँ, उर्दू में—'मीर तक़ी मीर' (साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत); 'उर्दू में ख़तूत'; शौक़ 'लखनवी', 'क्लासिकी अदब'। आलोचक। पता : दिल्ली।

४. कन्नड—**प्रो० वि० कृ० गोकाक,** एम० ए० (आक्सफ़र्ड) एलिस स्कालर तथा विल्सन फिलौलाजिकल लेक्चरर (बम्बई विश्वविद्यालय); संप्रति प्रिंसिपल, धारवाड़ कालेज, धारवाड़। जन्म-वर्ष और स्थान—१९०९; सावनूर (धारवाड़)। रचनाएँ, अंग्रेज़ी में—'दि साँग आफ़ लाइफ़' (कविताएँ); 'दि पोएटिक अप्रोच टु लैंग्वेज' (आलोचना); कन्नड—'कलोपासक' (१९३४); 'समुद्र-गीत' (१९४०); 'जीवन के मन्दिर में' (१९५३); 'समरसवै जीवन' (१९५७); 'युगान्तर'; 'नव्यते' (१९५६); 'जीवन पथगानु' (१९४९); 'चेलुविन नीलुकु' (१९४७)। कवि, उपन्यासकार और आलोचक। साहित्य अकादेमी की कन्नड परामर्शदात्री समिति के सदस्य। पता : धारवाड़।

५. कश्मीरी—**प्रो० पृथ्वीनाथ 'पुष्प'** एम० ए०; अमरसिंह कालेज, श्रीनगर, में संस्कृत तथा हिन्दी के विभागाध्यक्ष; हिन्दी आयोग के सदस्य। जन्म-वर्ष और स्थान—१९१७, कश्मीर। रचनाएँ; १९३९ में 'चन्द्रोदय' का सम्पादन, कश्मीरी, हिन्दी, अंग्रेज़ी, उर्दू में कश्मीरी भाषा और साहित्य पर कई शोध-लेख। साहित्य अकादेमी की कश्मीरी परामर्शदात्री समिति के सदस्य। पता : श्रीनगर (कश्मीर)।

६. गुजराती—**प्रो० मनसुखलाल झवेरी,** एम० ए०; बम्बई विश्वविद्यालय के फ़ेलो तथा आकाशवाणी बम्बई के गुजराती कार्यक्रमों के निर्देशक। जन्म-वर्ष तथा स्थान—१९०७, जामनगर (सौराष्ट्र)। रचनाएँ (कविताएँ): 'फुलडोल', 'आराधना', 'अभिसार', 'अनुभूति'; (आलोचना): 'थोड़ा विवेचन लेखो' 'पर्येषणा', 'गुजराती साहित्य नुं रेखादर्शन', 'गुजराती भाषा—व्याकरण अने लेखन'। साहित्य अकादेमी की गुजराती परामर्शदात्री समिति के सदस्य। पता : बम्बई।

७. तमिल—**ति० पी० मीनाक्षिसुन्दरम्**, एम० ए०, बी० एल; विद्वान्; मद्रास हाईकोर्ट में वकील; अन्नामलाई विश्वविद्यालय में तमिल विभागाध्यक्ष (१९४४-४६)। जन्म-वर्ष—१९०१। रचनाएँ—'मनत शास्त्रन', 'वल्लुवर का नारी राज्य' तथा 'प्रेम-चित्रण'। पता: मद्रास।

८. तेलुगु—**को० रामकोटीश्वर राव,** बी० ए०, बी० एल०। शिक्षा—नाबेल कालेज, मसुलीपट्टनम तथा लॉ कालेज, मद्रास। जन्म-वर्ष और स्थान—१८९४—नरसारावपेट (गुन्तूर), प्रिंसिपल, नेशनल कालेज, मसुलीपट्टनम् (१९२३-२७); सम्पादक 'त्रिवेणी'; मुख्य सम्पादक, सदर्न लैंग्वेज बुक ट्रस्ट। रचनाएँ—तेलुगु, 'काऊर प्रधानी' (जीवन-चरित्र); 'महाराष्ट्र वीरलु' (रेखा-चित्र) इत्यादि। साहित्य अकादेमी की तेलुगु परामर्शदात्री समिति के सदस्य। पता: मद्रास।

९. पंजाबी—**सरदार खुशवन्तसिंह**, एल-एल० बी० (लन्दन) बैरिस्टर। जन्म-वर्ष और स्थान—१९१५, हदली (पश्चिमी पंजाब)। पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर में १९४७ तक प्रोफ़ेसर; लन्दन में हाई कमिश्नर के प्रेस सहचारी और जनसम्पर्क अधिकारी (१९४७-५१); आकाशवाणी में १९५१-५२; यूनेस्को में १९५२-५६ में; सम्प्रति 'योजना' के सम्पादक; रचनाएँ—अंग्रेज़ी में—'दि सिख्स', 'दि मार्क आफ़ विष्णु', 'ट्रेन टु पाकिस्तान', पंजाबी—'नाम विच्च की पिया है।' साहित्य अकादेमी की पंजाबी परामर्शदात्री के सदस्य। पता: नई दिल्ली।

१०. बंगला—**क़ाज़ी अब्दुल वदूद**, एम० ए०, ढाका कालेज में बँगला के प्राध्यापक; रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा विश्व भारती में १९३५ में निज़ाम लेक्चर्स के लिए आमन्त्रित। जन्म-वर्ष और स्थान—१८९६, बागमारा (फ़रीदपुर)। रचनाएँ—'शाश्वत बंग', 'कविगुरु गोइटे', 'व्यावहारिक शब्दकोश', 'बांग्लार जागरण'; अंग्रेज़ी में—'क्रिएटिव बंगाल'। साहित्य अकादेमी की बँगला परामर्शदात्री समिति के सदस्य। पता: कलकत्ता।

११. मराठी—**प्रो० मंगेश बिट्ठल राजाध्यक्ष,** एम० ए०, जन्म-वर्ष तथा स्थान—१९१३, बम्बई। एल्फ़िन्स्टन कालेज, बम्बई, में अंग्रेज़ी के अध्यापक, प्रसिद्ध आलोचक तथा निबन्धकार। रचनाएँ : 'पाँच कवि', अंग्रेज़ी तथा मराठी में विविध लेख। पता : बम्बई।

१२. मलयालम—**डॉक्टर सी० कुञ्ञान् राजा।** जन्म-वर्ष और स्थान—१८९५, केरल। (आक्सफ़र्ड तथा जर्मन विश्वविद्यालयों में शिक्षा); मद्रास विश्वविद्यालय, तेहरान विश्वविद्यालय तथा आंध्र विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक, कई संस्कृत-ग्रन्थों के पाठशुद्ध संस्करण तथा अनुवाद प्रस्तुत किए; शिप्ले के 'एनसाइक्लोपीडिया आफ़ वर्ल्ड लिटरेचर' में 'मलयालम लिटरेचर' पर लेख। पता : वाल्टेयर।

१३. संस्कृत—**डॉक्टर वे० राघवन्,** पी-एच० डी०, कविकोकिल, जन्म-वर्ष और स्थान—१९०८, तिरुवांकुर (तंजौर)। १९३५ से मद्रास में संस्कृत-विभाग से सम्बद्ध, अब आचार्य। २९ ग्रन्थों तथा २५० लेखों के रचयिता। सूचना-प्रसार तथा शिक्षा-मन्त्रालय की विविध समितियों के सलाहकार। अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या-परिषद् के मंत्री तथा साहित्य अकादेमी की संस्कृत-परामर्शदात्री समिति के संयोजक। संस्कृत आयोग के सदस्य। पता : मद्रास।

१४. सिन्धी—**प्रो० ला० ह० अजवाणी,** एम० ए०। जन्म-वर्ष और स्थान—१८९९, खेरपुर मीर्स (सिन्ध)। प्रिंसिपल नेशनल कालेज, बान्दरा, बम्बई। रचनाएँ, अंग्रेज़ी में—'इम्मार्टल इण्डिया'; सिन्धी में—(सम्पादित)—'शैर जी सुखरी', 'विचार', 'उमंग', 'नवदौर'। साहित्य अकादेमी की सिन्धी परामर्शदात्री समिति के सदस्य। पता : बम्बई।

१५. हिन्दी—**श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन;** उपनाम—'अज्ञेय' बी० एस-सी०; जन्म-वर्ष तथा स्थान—१९०९, कसिया, गोरखपुर; क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बद्ध राजबन्दी; सम्पादक 'सैनिक', 'विशाल भारत', 'आरती', 'प्रतीक', 'वाक'; आकाशवाणी में हिन्दी शब्दकोश तथा समाचार विभाग से सम्बद्ध; गत

महायुद्ध में आसाम के मोर्चे पर सम्पर्क अधिकारी, दक्षिण-पूर्वी एशिया के सांस्कृतिक अध्ययन में रुचि; रचनाएँ—(कविताएँ) : 'भग्नदूत', 'चिन्ता', 'इत्यलम्', 'हरी घास पर क्षण भर', (उपन्यास) : 'शेखर—एक जीवनी' (दो भाग), 'नदी के द्वीप'; (कहानी-संग्रह) : 'विपथगा', 'परम्परा', 'कड़ियाँ', 'जयदोल'; (सम्पादित) : 'तारसप्तक', 'नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ'; अंग्रेज़ी में—'प्रिज़न डेज़ ऐंड अदर पोयम्स'। साहित्य अकादेमी की हिन्दी परामर्शदात्री समिति के सदस्य। पता : नई दिल्ली।

१६. अंग्रेज़ी—**डॉक्टर के० आर० श्रीनिवास अयंगार**, डी० लिट्०। जन्म-वर्ष—१९०८। पी० ई० एन० के १९३८ से सदस्य; आंध्र विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के अध्यापक। प्रकाशन, अंग्रेज़ी में—'लिटन स्ट्रैची', 'म्यूज़िंग्ज़ आफ़ बसव', 'इण्डो-ऐंग्लियन लिटरेचर ऐंड आथरशिप इन इण्डिया', 'आन ब्यूटी', 'श्री अरविन्दो' 'ज़ेरार्ड मैनली हापकिन्स', 'आन दि मदर', 'दि माइंड ऐंड हार्ट आफ़ ब्रिटेन'। साहित्य अकादेमी की अंग्रेज़ी परामर्शदात्री समिति के सदस्य। पता : वाल्टेयर।

परिशिष्ट २

नामानुक्रमणी

ख

स

० ० ०